भारतीय साहित्य का अनुशीलन

[वैदिक, पौराणिक, लौकिक संस्कृत, हिन्दी एवं भोजपुरी के साहित्यों से सम्बद्ध विविध विषयों का गम्भीर अध्ययन]

•

लेखक

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूतपूर्व संचालक

अनुसन्धान संस्थान

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

•

१९८५

शारदा संस्थान

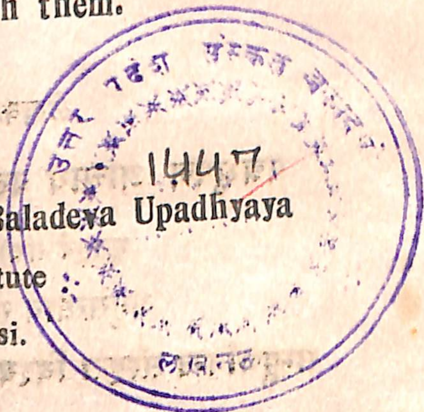
प्रकाशक :
शारदा संस्थान
३७ बी, रवीन्द्रपुरी,
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

●

BHARATIYA SAHITYA KA ANUSHILANA

A comprehensive account of various important topics connected with the Vedic, Pauranika, Classical Sanskrit, Hindi and Bhojapuri Literatures. Copious illustrations have been given to present them in a very clear and convincing manner along with Reminisenses of some very famous personages connected with them.

●



Author
Padmabhushan Acharya Baladeva Upadhyaya
Ex-Director, Research Institute
Sanskrit University, Varanasi.

मूल्य रु० ८० मात्र

प्रथम संस्करण : १९८५

मुद्रक :
सुदर्शन मुद्रक
४२, उत्तर बेनिया बाग,
वाराणसी-२२१००१

आमुख

नमस्तमस्वती - कान्त - खण्ड - मण्डित - मौलये।
तापान्धकार - निर्वेद - खेद - विच्छेद - वेदिने॥

'भारतीय साहित्य का अनुशीलन' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी एवं भोजपुरी के साहित्यों से सम्बद्ध मेरे छोटे-बड़े लेखों का संग्रह है। ये निबन्ध भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में लेख, साहित्य सभाओं के अध्यक्षीय भाषण, ग्रन्थों की प्रस्तावना के रूप में एवं संस्मरण के रूप में प्रकाशित हुये थे। आज से चालीस-पचास वर्ष पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में ये अधिकांश निबन्ध मुद्रित हुये थे। इन लेखों का यह सुव्यवस्थित संग्रह जिज्ञासु पाठकों एवं शोध छात्रों की सुविधा के लिए यहाँ एकत्र प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ में छह खण्ड हैं। प्रथम खण्ड मुख्यतया वैदिक साहित्य से सम्बन्ध रखता है। ग्रन्थ का आरम्भ काशी में विरचित साहित्य के एक उपयोगी सर्वेक्षण से होता है। 'संस्कृत साहित्य के संवर्धन में काशी का योगदान' शीर्षक निबन्ध काशी के पण्डितों द्वारा वेद, तन्त्र, व्याकरण, न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, ज्योतिष, काव्य एव अलंकार शास्त्र के विषय में निबद्ध प्रसिद्ध ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है—विशेष कर मध्ययुगीन साहित्य का। काशी की पाण्डित्य परम्परा के इस मननीय एवं माननीय संक्षिप्त विवेचन के द्वारा समग्र संस्कृत साहित्य पाठकों के सामने हस्तामलकवत् उपस्थित हो जाता है।

वैदिक साहित्य से सम्बद्ध लेखों में तत्कालीन लोकसंस्कृति का भी पूर्ण परिचय दिया गया है। वेद में रुद्र के स्वरूप के विश्लेषण के अनन्तर 'वेदों में लोक-संस्कृति', 'अथर्ववेद में कौटुम्बिक अभिचार', 'गृह्यसूत्रों में लोक संस्कृति' के अध्ययन से अनुशीलन की एक नयी दिशा का उद्बोधन होता है। साधारणतया समझा जाता है कि 'लोक संस्कृति' का अध्ययन वेद से बहुत पीछे के युग में प्रारम्भ होता है, परन्तु पूर्वोक्त अनुशीलन वेद एवं वेदांग काल में भी उसकी सत्ता का प्रतिपादन कर एक नूतन तथ्य का आविष्करण करता है। 'वैदिक आख्यान' में इस आख्यानों का समृद्ध स्वरूप, एवं आध्यात्मिक-लौकिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। विशेष कर अध्यात्म-शिक्षण में इनकी उपयोगिता का यहाँ विवेचन प्रस्तुत है। एक दूसरे लेख में 'गीतिकाव्य का वैदिक उद्गम' का निरूपण है जिसमें दिखलाया गया है कि ऋग्संहिता के मन्त्रों में गीति काव्य का सरस उदाहरण उपलब्ध होता है। अन्तिम लेख में वैदिक उच्चारण के साथ ही साथ सामान्य उच्चारण से सम्बद्ध नितान्त रोचक तथ्य अपनी अभिव्यक्ति पा रहे हैं।

द्वितीय खण्ड 'पौराणिक साहित्य' से सम्बद्ध है जिसमें विशिष्ट पुराणों के स्वरूप-निर्देश, महत्त्व-प्रतिपादन तथा गम्भीर विवेचन किये गये हैं। प्रथम लेख श्रीमद्भागवत के वैशिष्ट्य का प्रतिपादक है, तो द्वितीय लेख श्रीमद्भागवत की महापुराणता का प्रकाशक है, जो नाना शास्त्रीय युक्तियों के द्वारा सिद्ध करता है कि श्रीमद्भागवत ही अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत महापुराण है। साधारणतः भागवत के नाम से महापुराणरूपेण प्रख्यात 'देवी भागवत' तो केवल उपपुराण है। इसी प्रकार तृतीय लेख सिद्ध करता है कि 'वायुपुराण' ही महापुराण है। अनेक खण्डों में विभक्त विशालकाय 'शिवपुराण' महापुराण की योग्यता नहीं पा सकता। इसी लेख में शिवपुराण के निर्माण का काल भी निर्णीत किया गया है। चतुर्थ लेख अग्निपुराण के विषय की मीमांसा प्रस्तुत करता है। यह विषय इस कारण भी महत्त्वपूर्ण है कि अग्निपुराण यथार्थ में सब उपयोगी विषयों को अपने में समाविष्ट करने वाला वस्तुतः विश्वकोष ही है जिसमें उल्लिखित विषयों की जानकारी दी गई है। इसमें समाविष्ट विद्याओं का संक्षिप्त निर्देश करने के बाद अग्निपुराण का प्राचीन वह्निपुराण से पार्थक्य का तथा रचनाकाल का निरूपण किया गया है।

पञ्चम लेख 'कालिका पुराण' का तान्त्रिक विश्लेषण करता है। शाक्त तन्त्रों से स्वरूपतः तथा विषयतः सम्बद्ध यह पुराण शक्ति-पूजा के विशिष्ट अनुष्ठान तथा पूजार्चा का प्रामाणिक विवरण देने में नितान्त प्रसिद्ध है। कामरूप-मण्डल में विरचित यह पुराण कामरूपस्थित भगवती की महिमामयी पूजा-विधि का प्रतिपादन करता है। नवरात्र में नवमी पूजा का विशिष्ट रूप से निर्णय कर शक्ति-पूजा के पूरे संभार का यहाँ महत्त्वपूर्ण विवेचन है। षष्ठ लेख हनुमानजी के पौराणिक चरित्र एवं वैदुष्य का विवेचक है।

तृतीय खण्ड का सम्बन्ध लौकिक संस्कृत साहित्य के गवेषणीय विषयों के विवेचन, परिबृंहण एवं विश्लेषण से है। आरम्भ के तीन लेखों की एक इकाई है जिसमें बृहत्तर भारत में विरचित संस्कृत साहित्य, संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना एवं संस्कृत काव्य-शास्त्र का राजकीय संरक्षण क्रमशः निरूपित हैं। अगले छः लेखों की इकाई में संस्कृत के रूपकों का तत्त्व बड़ी प्रौढ़ता से प्रतिपादित किया गया है। इस खण्ड के चतुर्थ लेख में श्रव्य-काव्य से दृश्य-काव्य की वरीयता के मौलिक कारणों का गम्भीर उपन्यास है, तो पञ्चम लेख में संस्कृत नाटक की आकृति एवं प्रकृति का विशद विवेचन है। षष्ठ लेख में नाटकों में शान्त-रस की समस्या का विशद समाधान है तथा शान्त-रस के विषय में अत्यन्ताभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी आचार्यों के मत का प्रामाणिक उपन्यास है। सप्तम लेख संस्कृत नाटक की कथावस्तु की विवेचना से सम्बद्ध है। अष्टम लेख रंगमंच का विस्तार से निरूपण करता है, तो नवम लेख 'यवनिका' के स्थान पर

'जवनिका' शब्द के औचित्य की विस्तृत मीमांसा करता है और इसी शब्द को मौलिक शब्द सिद्ध कर संस्कृत नाटकों के ऊपर यूनानी नाटक के प्रभाव का विस्तरशः खण्डन करता है।

दशम लेख कालिदास के आध्यात्मिक चिन्तन एवं उनके दिव्य-सन्देश का वर्णन बड़े विस्तार से प्रमाण-पुरःसरा प्रस्तुत करता है। इसमें महाकवि कालिदास के उदात्त दार्शनिक विचार बड़ी विशदता से निरूपित हैं। तथा उनका अमर संदेश विश्वभर में आध्यात्मिकता का प्रचार प्रसार बतला कर मानवता के आदर्श को मान्य बतलाता है एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अमरवाणी का रहस्य समझाता है। एग्यारहवें लेखमें 'संस्कृत में कोषविद्या' का प्रामाणिक इतिहास विन्यस्त है जो वैदिक काल से आरम्भ होकर आजतक निर्मित कोषों के स्वरूप तथा माहात्म्य का विस्तरशः निरूपण करने में अपने को चरितार्थ करता है।

बारहवें लेखमें 'पाणिनिकाल की लेखनकला' 'प्राकृत कविता में गतिशीलता' तथा 'बालरामायण' की रम्यता के विवेचन के अनन्तर पत्नी और धर्मपत्नी के अर्थ की मीमांसा व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा कवि-प्रयोग के विविध प्रकारों से की गई है और यह सिद्ध किया गया है कि हिन्दी संसार में 'धर्मपत्नी' के 'पत्नी' से भिन्नार्थक होने की जो कल्पना प्रचलित है वह कितनी अप्रामाणिक तथा असंगत है। वस्तुतः 'धर्मपत्नी' शब्द 'पत्नी' से भिन्न किसी अर्थ की द्योतना नहीं करता।

हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध चतुर्थ खण्ड में ८ लेख हैं। प्रथम तीन लेखों की एक इकाई है। ये तीनों लेख समीक्षाशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इस खण्ड का 'कलाकार की प्रेरणा' शीर्षक प्रथम लेख मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है कि कलाकार अपनी कला की अभिव्यक्ति किन कारणों से करता है। इसमें फ्रायड, ऐडलर तथा युंग जैसे मनोविज्ञान के यूरोपीय आचार्यों के मतों का कला के उद्देश्य को लेकर संक्षेप में निरूपण है। द्वितीय लेख में 'काव्य के प्रयोजन' का प्रतिपादन है, तो तृतीय लेख 'कवि और काव्य' के परस्पर सम्बन्धों पर विचार प्रस्तुत करता है। इन तीनों मनोवैज्ञानिक लेखों का सम्बन्ध काव्य की अनेक समस्याओं के समाधान से है और वे तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। चतुर्थ तथा पञ्चम लेख तुलसीदास विषयक हैं जिसमें 'मानस की महत्ता' का निरूपण कर तुलसीदास पर 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता जयदेव की उत्तमर्णता सिद्ध की गई है। तुलसीदास के निधन के त्रिशती वर्ष (१९८० वि० सं०) के अवसर पर लिखित यह निबन्ध इस विषयका प्रथम लेख है जिसमें मानस के नाना स्थलों पर जयदेव का प्रभाव प्रमाणित किया गया है।

षष्ठ तथा सप्तम लेख की एक इकाई है जो हिन्दी में भक्तिकालीन काव्य-रचना से सम्बद्ध विषयों के विश्लेषण को लक्ष्य कर निर्मित है। षष्ठ लेख में 'पारिजातहरण' नामक संस्कृत नाटक के रचयिता मैथिल कवि उमापति को हिन्दी में

वैष्णव पदावली का प्रथम रचयिता प्रमाणित किया गया है। उनके द्वारा विरचित पदों के कतिपय उदाहरण भी यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। सप्तम लेख में भक्तिकाल के ही निम्बार्की कवि रसिक गोविन्द के अलंकार ग्रन्थ का तथा उनकी कमनीय काव्यकला का सोदाहरण परिचय दिया गया है। आज से पचास वर्ष पहिले निबद्ध रसिक गोविन्द के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का पूर्ण परिचायक यह लेख इस कवि का हिन्दी संसार को प्रथम विवरण देने वाला है। अष्टम लेख संस्कृत नाट्यदर्पण के हिन्दी अनुवाद की आलोचना है जो ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करता है।

पञ्चम खण्ड भोजपुरी साहित्य से सम्बन्ध रखता है। इसमें छोटे-बड़े ६ लेख हैं। प्रथम लेख भोजपुरी का सामान्य परिचय प्रदान करता है। दूसरा लेख 'भोजपुरी लोक साहित्य की मीमांसा' भोजपुरी साहित्य का बड़ा ही विस्तृत, गम्भीर एवं व्यापक विश्लेषण करता है। यह गुरु-गम्भीर लेख भोजपुरी लोकसाहित्य का सर्वाङ्गीण निरूपण करने वाला है। इस विषय का यह प्रथम प्रामाणिक विशाल निरूपण है जो आज से चालीस वर्ष पहले मेरे अनुज डा. कृष्णदेव उपाध्याय की 'भोजपुरी लोकगीत' की भूमिका रूप में प्रकाशित हुआ था। इसका परिबृंहण उन्होंने अपने थीसिस में किया है। तृतीय लेख भोजपुरी के एक प्रतिभाशाली कवि 'बिसराम की कविता तथा व्यक्तित्व' का संक्षेप में परिचय प्रदान करता है।

चतुर्थ तथा पंचम लेख दोनों की एक इकाई है। दोनों ही आज से दो हजार वर्ष पूर्व पतञ्जलि के महाकाव्य में भोजपुरी-मण्डल की भाषा का एवं सामाजिक व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यापक चित्र यहाँ प्रस्तुत करते हैं। महाभाष्य में महावैयाकरण पतञ्जलि ने भोजपुरमण्डल के प्रतिनिधि 'देवदत्त' के जीवनवृत्त के चित्रण द्वारा उस मण्डल की सामान्य जानकारी, रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल का भव्य-चित्रण किया है। संस्कृत के विशिष्ट मुहावरों का भोजपुरी भाषा में पाया जाना एक दीर्घ साहित्यिक परम्परा का सद्यः प्रमाण उपस्थित करता है जो सर्वथा ध्यान आकर्षण करने वाला है। अन्तिम लेख 'भोजपुरी व्याकरण' का सामान्य परिचायक है।

षष्ठ खण्ड संस्मरणात्मक है। इसमें पाँच लेख हैं। प्रथम लेखमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का दिव्य संस्मरण है, तो दूसरे में महामना मालवीय जी के साहित्यिक तथा रसिक रूप का चित्रण है। तृतीय लेख पण्डित रामावतार शर्मा के बहुमुखी व्यक्तित्व का निदर्शन करता है, तो चतुर्थ लेख पण्डित गोपीनाथ कविराज के अध्यात्म-चिन्तन से सम्बन्ध रखता है। विषय की पूर्ति के लिए लेखक ने अपने अध्ययन-अध्यापन काल के संस्मरणों का संग्रह अन्तिम लेखमें कर दिया है। लेखक हिन्दू विश्वविद्यालय में ३८ वर्षों तक अध्यापन करता रहा। तदनन्तर पांच छः वर्षों

तक उसे वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में भी सेवा करने का अवसर मिला था, प्रथमतः पुराणेतिहास विभाग के अध्यक्ष के रूप में तदनन्तर अनुसन्धान-संस्थान के निदेशक के रूप में। इसी दीर्घ काल के खट्टे-मीठे अनुभवों का विवरण अन्तिम लेख में दिया गया है। इस परिचय से ग्रन्थ के विस्तार, महत्त्व एवं शोधपूर्णता की संपत्ति का पता पाठकों को लग जावेगा।

लेखों के संगृहीत एवं सुव्यवस्थित करने में मेरे अनुज डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने तथा मेरे ज्येष्ठ आत्मज गौरीशंकर उपाध्याय ने बड़ा परिश्रम किया है। इसके लिए मैं इन्हें अपना आशीर्वाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि ये इसी प्रकार साहित्य के निर्माण में योगदान करते रहेंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि यह विविध विषय-संवलित ग्रन्थ जिज्ञासु जनों, विशेषतः साहित्य के शोध छात्रों, के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। भूतभावन बाबा विश्वनाथ से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ अपने सदुद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतया सफल हो। तथास्तु

व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीचि-
व्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च
तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये नः॥

पौष अमावस्या
सं० २०४१ वि०
२२-१२-८४

बलदेव उपाध्याय

विषय सूची

भारतीय साहित्य का अनुशीलन

खण्ड १

खण्ड २

खण्ड ३

खण्ड ४

खण्ड—५

खण्ड ६

सरस्वतीस्तुतिः

सरस्वती साधयन्ती धियं न
इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः ।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेद-
मच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते
सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त
सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥

सरस्वति या सरथं ययाथ
स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वाऽ-
नमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥

यस्य स्रवन्त्यमृतमेव मुखे तुषार-
हाराभिरामरुचिरञ्जित-वक्रभङ्गिः ।
सूक्तिर्द्युसिन्धुरिव मूर्ध्नि हरस्य चन्द्र-
लेखेव वा वसति तं सुकविं नमामः ॥

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति, तेऽपि
यां मूर्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः ।
संरुद्धसर्वकरणप्रसरा भवन्ति
चित्रार्पिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्ताम् ॥

सरस्वतीवेन्दुकलोद्गता करैः
सरस्वतीव श्रवणामृतैः स्वरैः ।
सरस्वतीवोर्मिभिरीश्वरस्तवैः
सरस्वती वर्षतु नः सुधामियम् ॥

The Peerless Poesy

A drainless shower
of light is poesy : 'tis the supreme of power.
...............the great end
of poesy; that it should be a friend
to sooth the cares, and lift the thoughts of man.

—Keats.

True beauty dwells in deep retreats,
Whose veil in unremoved.
Till heart with heart in concord beats,
And the lover is beloved.

—Wordsworth.

Like a poet hidden
In the light of thought,
Singing hymns unbidden
Till the world is wrought
To sympathy with hopes and fears
It heeded nought.

We look before and after,
And pine for what is nought :
Our sincerest laughter,
With some pain is fraught ;
Our sweetest songs are those that
tell of saddest thought.

—Shelley

भारतीय साहित्य का अध्ययन

संस्कृत-साहित्य

(१) वैदिक साहित्य

(२) पौराणिक साहित्य

(३) लौकिक संस्कृत साहित्य

संस्कृत साहित्य के संवर्धन में काशी का योगदान

काशी भारत की नितान्त प्रख्यात नगरी है। यहाँ के मनीषियों द्वारा विरचित संस्कृत साहित्य अपनी मौलिकता तथा प्रामाणिकता के कारण अखिल भारतवर्षीय कीर्ति से मण्डित है। पुण्यक्षेत्र होने के साथ ही साथ यह विद्याक्षेत्र भी है जिसने भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से पण्डितों को अपना जीवन पुण्यमय तथा पवित्र बनाने के लिए आकृष्ट किया। भारत के विभिन्न प्रान्तीय विद्वानों ने काशी में निवास कर इसे अपनाया तथा संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों में अपनी रचनायें निर्मित कर संस्कृत के साहित्य को विकसित तथा पुष्ट किया। दक्षिण भारत के आन्ध्र, द्रविड़ कर्नाटक तथा महाराष्ट्र से, पश्चिम के गुजरात तथा राजस्थान से, पूरब के बंगाल तथा मिथिला से, उत्तर के काश्मीर तथा कूर्माचल से आकर विद्वान् ब्राह्मणों ने काशी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। धनी-मानी राजा-महाराजा तथा धनाढ्य सरदारों ने इन पण्डितों की जीविका का प्रबन्ध कर संस्कृत की उन्नति में स्मरणीय सहायता प्रदान की। इन पण्डितों ने इन आश्रयदाताओं की सहायता का स्मरण तथा अभिनन्दन अपनी रचनाओं में बड़ी उदारता से किया है। महाकवि श्रीहर्ष को काशी के प्रशासक गोविन्दचन्द्र तथा उनके पुत्र जयचन्द्र से (ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्), शेष श्रीकृष्ण को अकबर के राजस्वमंत्री टोडरमल तथा राजा बीरबल से (जिनके कुल का वर्णन उन्होंने अपने "प्रक्रिया प्रकाश" के आरम्भ में बहुशः किया), नीलकंठ भट्ट को मध्यप्रदेश के सरदार भगवन्त सिंह से (जिनके नाम पर उन्होंने अपना महत्वपूर्ण धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ "भगवन्त भास्कर" का प्रणयन १२ मयूखों अथवा प्रकरणों में किया), नागोजी भट्ट को शृंगवेरपुर के विसेनवंशी राजारामसे (शृंगवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः) तथा बालशास्त्री का मंडी के महाराजा से प्रभूत आर्थिक सहायता मिलती थी जिससे अपनी जीविका से निश्चिन्त होकर इन पण्डितों ने प्रचुर ग्रन्थों का प्रणयन किया। साहित्य के संवर्धन में काशीमण्डल के निवासी पण्डितों का क्रिया-कलाप भी नितान्त महत्त्वशाली होने से मात्रा में न्यून नहीं है।

काशी में निर्मित साहित्य संस्कृत का प्राणवान् साहित्य है। काशी के पण्डितों ने प्रत्येक शास्त्र के विकास में एक नवीन दिशा दिखलायी, एक नया मोड़ दिया, जिसके सूत्र को पकड़ कर ये शास्त्र उन्नति के मार्ग में अग्रसर होते गये। अनेक शास्त्रों के इतिहास में "नव्य सम्प्रदाय" के प्रतिष्ठापन तथा प्रचारण का श्रेय इन पण्डितों को है जिन्होंने अपनी घोर तपस्या तथा नैष्ठिक साहित्य साधना से देववाणी के भण्डार को अपने जीवन-रस से पूर्ण किया। काशी के इन्हीं सारस्वत साधकों की साधना का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

वेद तथा तन्त्र

काशी के मनीषियों ने वेद तथा तन्त्र का प्रगाढ़ अनुशीलन, अनुसन्धान तथा ग्रन्थनिर्माण किया था। इन उभयविध शास्त्रों में ग्रन्थ प्रणयन का श्रेय पण्डितवर्य

महीधर को दिया जाता है। ये वत्सगोत्रीय अहिच्छत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम विभिन्न रूपों में मिलता है—पूर्ण भट्ट, पूर्णभद्र आदि। पितामह का नाम रत्नाकर था। ये मूलत: अहिच्छत्र (उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद मण्डल का रामनगर) के निवासी थे, परन्तु संसार की असारता की भावना से प्रेरित होकर वृद्धावस्था में, सम्भवत: अपने पुत्र "कल्याण" के साथ, काशी में चले आये। ये काशी में कालभैरव के निकट ही रहते थे और इन्होंने काशी के समीप ही रामेश्वर शिव के निकट देहत्याग किया था। इनका समय षोडश शती का उत्तरार्ध मानना सर्वथा समुचित है।

वैदिक ग्रन्थों में इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है—**वेददीप** जो माध्यन्दिन संहिता की विशद विस्तृत व्याख्या है। ग्रन्थ के आरम्भ में इन्होंने उवट तथा माधव (सायणाचार्य) के एतद्विषयक भाष्यों से अपनी अधमर्णता स्वीकार की है। (२) **चरणव्यूह टीका** (३) **कात्यायन शुल्वसूत्र की टीका** (रचनाकाल १६४६ वि० =१५८९ ई०) (४) **मन्त्रनिघण्टु** (५) **पुरुषसूक्त टीका** आदि इनके वेद सम्बन्धी इतर ग्रंथ हैं। तन्त्रशास्त्र में भी इनकी वैदुषी नितान्त उच्चकोटि की थी। इस विषय में इनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ **मन्त्रमहोदधि** है जिस पर इन्होंने स्वयं नौका नामक टीका लिखी (रचनाकाल १६४५ वि०=१५८८ ई०)। मूल ग्रन्थ तथा टीका-दोनों की रचना का श्रेय महीधर को है।

मातृकार्णव निघण्टु—नामक लघुकाय तन्त्र ग्रन्थका भी निर्माण इसी वर्ष किया गया। इन विषयों के अतिरिक्त इन्होंने वैष्णव साहित्य, वेदान्त तथा ज्योतिष में भी ग्रन्थोंका निर्माण किया।

अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रख्यात व्याख्याकार राघव भट्ट ने काशी में ही प्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थ "शारदा तिलक" के ऊपर "पदार्थादर्श" नामक व्याख्यान का प्रणयन किया जिसका रचनाकाल १५५० वि० = १४९३ ई० है। 'शारदा तिलक" के ही ऊपर एक नवीन टीकाके रचयिता **प्रेमनिधि पन्त** काशी के ही निवासी थे। इस टीका का नाम है **'शब्दार्थ चिन्तामणि'**। ये भरद्वाजगोत्री कूर्माचलीय पण्डित उमापति पन्त के पुत्र थे। इनके तन्त्रशास्त्रीय इतर ग्रन्थ हैं—**कार्तवीर्यपर्या नित्याप्रयोग-रत्नाकर**। इनकी तृतीया विदुषी पत्नी **प्राणमञ्जरी** द्वारा विरचित तन्त्रराज की **सुदर्शना** टीकामें भी इनका सहयोग अनुमानगम्य है। मीमांसा के प्रसिद्ध विद्वान शम्भुभट्ट संन्यासी होने पर "शंकरानन्द" नाम से प्रसिद्ध हुए और इसी नाम से तन्त्राशास्त्र में **सुन्दरीमहोदय** नामक एक अपूर्व ग्रन्थ का निर्माण किया (१८ शती का आरम्भिक समय)।

तन्त्रशास्त्र के इतिहास में काशी का नाम उजागर करने वाले **भास्करराय** इसी युग की एक जाज्वल्यमान विभूति थे। भास्करराज दीक्षित, भासुरानन्द, भास्करानन्द नाथ—इनके अपर नाम है। इनके पिता का नाम था गम्भीरराय दीक्षित तथा माता का कोनाम्बिका। पिता ने ही शैशवावस्था में इन्हें सारस्वत

मन्त्र का उपदेश दिया था जिसकी आराधना से समस्त विद्यायें एवं कलायें इनके स्वायत्त हो गयीं। इनके ग्रन्थ तंत्र साहित्य के उज्ज्वल हीरक हैं जिनमें मुख्य हैं— गुप्तवती (दुर्गा सप्तशती की व्याख्या), वरिवस्यारहस्य (तांत्रिक पूजा का रहस्य-प्रकाशक ग्रन्थ), सेतुबन्ध (वामकेश्वर तन्त्र के अन्तर्गत 'नित्या षोडशी'' की व्याख्या), सौभाग्य भास्कर (ललितासहस्रनाम का गम्भीरार्थ का प्रतिपादक भाष्य, रचनाकाल १७२८ ईस्वी) भावनोपनिषद् भाष्य तथा कौलोपनिषद् भाष्य। त्रिपुरा के महनीय साधक, उद्भट तान्त्रिक तथा चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित भास्कर राय एक दिव्य विभूति थे। इनका मूल स्थान गुजरात था, परन्तु समस्त भारत का भ्रमण कर अन्त में काशी में ही स्थायी रूप से निवास करते थे। काशी में इनके द्वारा प्रचारित तन्त्र-परम्परा पर्याप्त रूपेण जागरूक रही तथा आज भी उसके अन्तर्मुक्त साधक विद्यमान बताये जाते हैं।

भास्कर राय के नाना विषयों पर व्याख्या एवं मौलिक ग्रन्थों की रचना की है। वेदान्त, व्याकरण, छन्द, उपनिषद्, धर्मशास्त्र पर इनकी रचनायें उपलब्ध हैं, परन्तु तंत्रशास्त्र पर ही इनकी सर्वाधिक रचनायें विद्यमान हैं। तान्त्रिक साधना के आचार्य होने के कारण इनके तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थों का सातिशय महत्त्व है। 'गणेश सहस्रनाम' पर इन्होंने 'खद्योत' नामक व्याख्या का प्रणयन किया है। यह व्याख्या प्रायः श्लोकबद्ध वार्तिक के रूप में है। यत्र-तत्र गद्यमें प्रासङ्गिक विचार भी किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में उपोद्घात रूप से विषय का पूर्ण शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत है। व्याख्या का उदाहरण देखिए—

मृत्युंजय—

कालमृत्युं प्रमादं वा हरन् मृत्युञ्जयो मतः।
प्रमादं वा मृत्युमहं ब्रवीमीति भारतात्॥

क्षेमानन्द

क्षेमं सांसारिकं सौख्यमानन्दः पारमार्थिकः।
उभयात्मा त्वमेवेति क्षेमानन्द इतीर्यसे॥

इनके पूज्य पिता श्री गम्भीरराज भारती दक्षिण भारत के बीजापुर के यवन अधिपति के दीवान थे और अपने स्वामी की आज्ञा से इन्होंने सम्पूर्ण महाभारत का फारसी भाषा में अनुवाद किया था। भास्कर रायजी का विद्याध्ययन लोकापल्ली नाम स्थान के निवासी महाविद्वान् नृसिंहाध्वरी के पास हुआ था जिनसे इन्होंने अष्टादश विद्याओं का मार्मिक ज्ञान प्राप्त किया था—

विद्याष्टादशकस्य मर्मविद्भूद्।
यः श्री नृसिंहाद् गुरोः॥

इनकी पूर्ण दीक्षा गुजरात के सूरत निवासी श्री शिवदत्त शुक्ल से हुई थी। इसी यात्रा में इन्होंने बल्लभ मत के आचार्य को पराजित किया था। इनका समय १८ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। शिष्य उमानन्दनाथ (पूर्वाश्रम का नाम था

जगन्नाथ) ने १७४२ ई० में **हृदयामृत** तथा १७४५ ई० में **नित्योत्सवनिबन्ध** नामक तन्त्र-ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन ग्रन्थों के रचनाकाल से इनका समय १८ वीं शती का मध्यकाल निश्चित होता है। इसी परम्परा में रामेश्वर ने **परशुराम कल्पसूत्र वृत्ति** की रचना १७५३ शाकाब्द (=१८३१ ईस्वी) में की।

पुराणेतिहास

पुराणेतिहास के महनीय ग्रन्थों के अर्थोद्घाटन का श्रेय काशी के दो विख्यात विद्वानों को प्राप्त है—

(१) **श्रीधरस्वामी** (१३५० ई० से १४५० ई० के आसपास) चतुर्दश शती में काशी में मणिकर्णिका घाट पर एक मठ में रहते थे जो उन्हीं के नाम से आज भी विख्यात है। ये किसी भिन्न प्रान्त के मूल निवासी थे। इन्होंने **"भावार्थदीपिका"** व्याख्या द्वारा श्रीमद्भागवत के गम्भीर अर्थ का प्रकाशन किया जो इन्हीं के नाम पर **श्रीधरी** कहलाती है। विष्णुपुराण के मर्म का प्रकाशन इनकी दूसरी **"आत्म प्रकाश"** टीका करती है। भगवद् गीता पर श्रीधरी सुबोध तथा सरल व्याख्या है और उसका **"सुबोधिनी"** नाम यथार्थ है। **"भक्त-रत्नावली"** के रचयिता विष्णुपुरी जी स्वामीजी के विशिष्ट भक्त थे। चैतन्य महाप्रभु श्रीधर स्वामी को भागवत के अर्थ-द्योतन के निमित्त प्रमाण मानते थे।

(२) महाभारत के अर्थ प्रकाशन का श्रेय नीलकण्ठ को देना सर्वथा समुचित है (समय १६५० ई०-१७०० ई०) जिनकी **"भारत भावदीप"** नामक व्याख्या नितान्त लोकप्रिय है। इसके पहले महाभारत पर अनेक टीकायें विद्यमान थीं[1] इन टीकाओं में अनेक अधूरी हैं। पूरे महाभारत पर टीका का श्रेय नीलकण्ठ को ही है। महाभारत के अर्थज्ञान के लिए यही टीका एकमात्र साधन है। परन्तु इस व्याख्या के प्रभाव के कारण वे प्रायः विस्मृत हो गयी हैं। इनका मूल स्थान महाराष्ट्र में था जहाँ से आकर ये काशी में बस गये थे। भावदीप का निर्माण काशी में ही हुआ। इन्होंने **"मन्त्र रामायण"** तथा **"मन्त्र भावगवत"** नामक अपूर्व ग्रन्थों में ऋग्वेद के मन्त्रों के द्वारा क्रमशः रामकथा तथा कृष्णकथा का वर्णित होना सिद्ध किया है। इनके पुत्र-पौत्रों ने भी नाना विषय के ग्रन्थों का निर्माण किया।

न्याय वैशेषिक

न्याय वैशेषिक दर्शन के विकास में भी काशीस्थ विद्वानों का क्रियाकलाप नितान्त आदरणीय तथा महत्वपूर्ण है। मिथिला के सर्वतोमान्य नैयायिक **शंकर मिश्र** ने काशी में निवास करते समय ही **'उपस्कार'** और **'भेदरत्न प्रकाश'** की रचना की थी। इनमें से 'उपस्कार' तो कणादसूत्रों की महनीय वृत्ति है जिसके सहारे मूल ग्रन्थ के गम्भीर सिद्धान्तों का रहस्योद्घाटन है, तो 'भेदरत्न-प्रकाश' की न्यायशास्त्र के भेदवादी दृष्टिकोण का प्रकाशक मौलिक ग्रन्थ-रत्न है। इस ग्रन्थ

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृतसाहित्य का इतिहास दशम संस्करण, पृ० ६६-७०, (१९७८ ई०, काशी)

की जम्बू के रघुनाथ मन्दिर में सुरक्षित एक हस्तलिखित प्रति का लेखनकाल १५१९ वि० सं० (१४६२ ई०) है जो ग्रन्थकार के जीवनकाल में ही काशी में लिपिबद्ध हुई थी। मिथिला के 'सर्षप' गाँव में शंकर मिश्र की प्रसिद्ध चतुष्पाठी (पाठशाला) थी। मिश्र जी का समय १५वीं शती का उत्तरार्ध है। इसी काल के एक नितान्त प्रौढ़ गौडीय नैयायिक का भी कार्यक्षेत्र काशी ही था। नाम इनका था प्रगल्भ अथवा शुभंकर। काशी में ही इन्होंने 'तत्त्व चिन्तामणि' का अध्यापन आरम्भ किया था जिसके चारों खण्डों पर इन्होंने प्रमेयबहुल टीका की तथा उसके विद्वान् रचयिता की कीर्ति पर्याप्तरूपेण सर्वत्र व्याप्त रही। **'खण्डनदर्पण'** नामक वेदान्त ग्रन्थ में प्रगल्भाचार्य ने **अभिनव वाचस्पति** के **'खण्डनोद्धार'** का खण्डन कर श्रीहर्ष के **'खण्डन खण्ड खाद्य'** का मण्डन किया है। 'न्याये प्रगल्भः' वाक्य इनकी प्रौढ़ नैयायिक वैदुषी का स्पष्ट परिचायक है।

१६वीं शताब्दी में अनेक तार्किकों ने काशी को अपनी कर्मस्थली बनाया जिनमें **नरहरि, रुद्र न्यायवाचस्पति, विश्वनाथ सिद्धान्तपंचानन, महेश ठक्कुर** तथा **भवानन्द सिद्धान्तवागीश** के नाम उल्लेखनीय है। नरहरि विशारद प्रख्यात वासुदेव सार्वभौम के पिता थे जो १६ शती के बंगाली पण्डितों में प्रधान थे। इनके कनिष्ठ आत्मज **विद्यावाचस्पति** के पुत्र **विद्यानिवास भट्टाचार्य** भी काशी में ही रह कर अपनी कीर्ति का विस्तार करते थे। ये भी प्रौढ़ नैयायिक थे, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों का पता नहीं चलता। इस विषय में इनके दोनों प्रख्यात पुत्र अपने पिता से भी अधिक भाग्यशाली थे। **विद्यानिवास** के कनिष्ठ पुत्र **विश्वनाथ सिद्धान्तपंचानन** की अनेक नैयायिक रचनाओं में **न्यायसूत्र वृत्ति** (रचनाकाल १५५६ शकाब्द=१६३४ ई०) नितान्त प्रख्यात है। **'भाषा परिच्छेद'** तथा **'न्याय मुक्तावली'** इनके ही ग्रन्थ माने जाते हैं, परन्तु नई खोज से ये कृष्णदास सार्वभौम की रचनाएँ मानी जाने लगीं हैं।[1] इनके ज्येष्ठ भ्राता **रुद्र न्यायवाचस्पति** एक ही साथ कवि तथा नैयायिक थे। इन्होंने जयपुर नरेश मानसिंह के पुत्र भावसिंह के प्रसादनार्थ जहाँ **भावविलास** अन्योक्ति-परक काव्य का प्रणयन किया, वही **'तत्त्वचिन्तामणि, कुसुमांजलि-कारिका, रघुनाथ शिरोमणि** रचित **'चिन्तामणिदीधिति'** आदि अनेक प्रौढ़ न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों पर प्रमेयबहुल टीकाओं की भी रचना की। **महेश ठक्कुर** मिथिला के वर्तमान राजवंश के संस्थापक होने के रूप में पर्याप्तरूपेण प्रख्यात हैं, परन्तु उनका दार्शनिक वैदुष्य भी प्रथम कोटि का था और उसी के बल पर उन्होंने मिथिला का राज्य प्राप्त किया। वे काशी में ही रहते थे और इन्होंने गङ्गेश उपाध्याय के **'तत्त्वचिन्तामणि'** की पक्षधर मिश्र रचित **'आलोक'** नाम्नी टीका की व्याख्या **'दर्पण'** नाम से लिखी। नैयायिक होने पर भी वे वेदान्त पर श्रद्धालु थे और न्याय की अपेक्षा उसे ही 'श्रुति-स्मृति-पुराण-शिष्टानुशिष्ट' मानते थे। इसी

१. दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य : बंगे नव्यन्याय चर्चा पृ० ११७-१२०।

शती के अन्त में हम बंगाल के एक लब्धप्रतिष्ठ नैयायिक को काशी में निवास करते पाते है। इनका नाम था **भवानन्द सिद्धान्तवागीश**। इन्होंने 'चिन्तामणि दीधित' पर प्रौढ़ व्याख्या लिखी थी, जो इन्हीं के नाम पर **भवानन्दी** नाम्ना प्रख्यात हुई, परन्तु नवद्वीप के बंगीय विद्वानों ने असूयावश इनकी विपरीत आलोचना की। फलतः भवानन्दी बंगाली नैयायिकों की दृष्टि में सर्वदा उपेक्षित ही रही। इनका आदर काशी में विशेष हुआ महाराष्ट्र पण्डितों के द्वारा, क्योंकि काशी के ही एक महाराष्ट्र विद्वान् ने बंगीय विद्वानों के द्वारा प्रचारित दोषाभासों से इसका उद्धार कर भवानन्द के तार्किक वैदुष्य का प्रमाणपुरःसर समर्थन किया। इनका नाम था—**महादेव पुणताम्बेकर**

महादेवका वंश सम्भवतः १६वीं शती के अन्त अथवा १७वीं के प्रारम्भ में ही अपने मूलस्थान गोदावरी तीरस्थ पुण्यस्तम्भ नामक स्थान से काशी में आया था। महादेव पुणताम्बेकर अपने वंश के सबसे बड़े विश्रुत विद्वान तथा प्रौढ़ नैयायिक थे। भवानन्द सिद्धान्त-वागीश पर इनकी बड़ी आस्था थी। महादेव ने इनकी भवानन्दी टीका पर विशाल व्याख्या लिखी, जिसका नाम है—**भवानन्दी-प्रकाश**। यह बड़ी ही विस्तृत टीका है जो भवानन्दी के सिद्धान्तों पर गौडीय नैयायिकों द्वारा आरोपित विपरीत आलोचना का खण्डन कर मूल लेखक के भावों का मण्डन करती है। इसका एक लघु संस्करण भी इन्होंने तैयार किया था **"सर्वोपकारिणी"** नाम से। काशी में इनका परिवार आज भी विद्यमान है। परिवार के पुस्तकालय में इनके स्वहस्तलिखित अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें सबसे प्राचीन-काल का निर्देश सम्वत् १७२७ विक्रमी (१६७० ईश्वी) है। इससे १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में इनका आविर्भावकाल सिद्ध होता है। तब से लेकर आज तक काशी में न्याय के दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों के पठन-पाठन की परम्परा जागरूक है। इस युग के विद्वानों ने अनेक टीका ग्रन्थों का प्रणयन भी किया।

सांख्ययोग दर्शन

सांख्य तथा योगदर्शन के इतिहास में काशी के एक विश्रुत सांख्ययोगाचार्य का नाम अपनी प्रौढ़ता तथा मौलिकता के लिए सर्वदा उल्लेखनीय रहेगा। इनका नाम है **विज्ञान भिक्षु** और इनके आविर्भाव का काल है १६वीं शती। इनके अभिधान में **"भिक्षु"** शब्द को देखकर यह सम्भावना प्रतीत होती है कि ये संन्यासी थे, परन्तु तथ्य यह नहीं है। ये संन्यासी नहीं थे, प्रत्युत इन्होंने अद्वैतियों का प्रबल खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है। और इस विषय में इनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही विद्यमान है—**पाषण्डमत-खण्डन** जिसमें शंकर मतानुयायियों को "पाषण्ड" कहकर तिरस्कृत किया गया है। अन्यत्र 'वेदान्तिक' शब्द द्वारा उनका उपहास किया गया है। इन्होंने **"ब्रह्मसूत्र"** पर **"विज्ञानामृत भाष्य"** का निर्माण कर अपने वेदान्त-विषयक मतवाद का प्रतिपादन किया जो "अविभागाद्वैत" नाम्ना संकेतित किया जाता है। इस मत के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म ही

एक अद्वैत तत्त्व है।

सांख्य दर्शन को इन्होंने एक नवीन दिशा की ओर विकसित किया। औपनिषद सांख्य ईश्वरवादी हैं और वह वेदान्त के समकक्ष है। कपिल ने "सांख्यसूत्र" में ईश्वर का खण्डन नहीं किया, परन्तु ईश्वर कृष्ण द्वारा विरचित "सांख्यकारिका" में व्याख्यात सांख्य निरीश्वरवादी है और इसी का प्रमुख मण्डन "प्रधान मल्ल निबर्हण" न्याय से आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र शारीरिक भाष्य में बड़ी प्रौढ़ता तथा दृढ़ आस्था से किया।[1] सांख्यदर्शन के इस अनीश्वरवादी रूप का विज्ञान भिक्षु ने बड़ी विशदता से सांख्यसूत्र के स्वनिर्मित भाष्य "सांख्य-प्रवचन भाष्य" में खण्डन किया। उसे विशुद्ध औपनिषद स्वरूप प्रदान करने का श्रेय इसीलिए उन्हें दिया जाता है। योगवार्तिक नामक एक प्रमेयबहुल व्याख्यान का निर्माण किया जिसमें वाचस्पतिमिश्र कृत "तत्त्व वैशारदी" की विभिन्न स्थलों पर समालोचना की गई है। योगदर्शन के अध्ययन के लिए यह सुबृहद् ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। सांख्यसार तथा योगसारसंग्रह दोनों दर्शनों के सिद्धान्त संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

विज्ञानभिक्षु के तीन प्रधान शिष्य माने जाते हैं—(१) प्रसादमाधव योगी जिन्होंने कारिकाभाष्य या "कारिकार्थ विनिश्चय" नामक ग्रन्थ में "एकयाद्वे-विनिश्चित्य" इस प्रसिद्धकारिका[2] पर भाष्य लिखा। (२) भावा गणेश दीक्षित— ये तत्त्व-याथार्थ्यदीपननामक तत्त्वसमास की व्याख्या के प्रणेता हैं। (३) दिव्य सिंहमिश्र जिन्होंने प्रसाद माधव रचित "शारीरकारिका भाष्य" पर वार्तिक की रचना की थी। इनके मत में प्रसाद माधव ही विज्ञान भिक्षु के मुख्य छात्र थे, परन्तु ख्याति भावागणेश की ही अधिक हुई थी।

मीमांसा

मीमांसादर्शन के इतिहास में भी काशीस्थ विद्वानों का योगदान कम महत्व का नहीं है। यहीं के ख्यात मीमांसक खण्डदेव ने मीमांसाशास्त्र को एक नवीन दिशा विकास के लिए प्रदान की। इन्होंने ही सर्वप्रथम 'तत्त्व चिन्तामणि' के द्वारा उद्भासित नव्य न्याय की शैली का प्रयोग मीमांसा के व्याख्यान में किया जिससे मीमांसा के मौलिक सिद्धान्तों का आविष्कार और परिष्कार अभिनव प्रकार से किया गया। इसीलिए खण्डदेव भट्ट सम्प्रदाय के इतिहास में 'नवीनमत' के संस्थापक के रूप में सर्वदा ही समादृत तथा विश्रुत रहेंगे। इनके पिता का नाम 'रुद्रदेव' था। ये काशी के ही ब्रह्मनाल मुहल्ले में रहते थे। खण्डदेव मिश्र का व्यक्तित्व

१. अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनाति दिशति। एतेन प्रधान कारणवाद प्रतिषेधन्याय-कलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः।
—शारीरकभाष्य १।४।२८

२. एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशीकुरु।
पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव॥

पूर्णतया अज्ञात है। फलतः यह कहना दुष्कर है कि ये काशीमण्डल के ही ब्राह्मण थे अथवा मिथिला या बंगाल के मूल निवासी थे। इनके प्रधान शिष्य शम्भुभट्ट के कथनानुसार इनकी मृत्यु १७७२ वि० सं० (=१६६५ ई०) में हुई। अतः इनका आविर्भावकाल १५७५ ई०--१६६५ इ० सामान्यतः मानना सर्वथा उचित है।

इनके तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—भाट्टकौस्तुभ, भाट्ट-दीपिका तथा भाट्ट रहस्य। भाट्ट कौस्तुभ मीमांसासूत्र के आरम्भिक भाग (३।३।७ तक) का बड़ा ही विस्तृत, विशद तथा नव्य नैयायिक शैली में निबद्ध तर्कबहुल व्याख्याग्रन्थ है। तर्कपाद की टीका इन्होंने नहीं लिखी—ऐसा इनके शिष्य शम्भुभट्ट का कथन है। भाट्टदीपिका इनका मौलिक ग्रन्थरत्न है जिसका अध्ययन मीमांसा में पांडित्य की पूर्ण सिद्धि के लिए नितरां अपेक्षित है। यह निबन्ध ग्रन्थ है—स्वतन्त्र विवेचना से मण्डित तथा नवीन रहस्यों का प्रकाशक। भाट्ट रहस्य इन दोनों ग्रन्थों से विषय विवेचन में पार्थक्य रखता है। इसमें मीमांसा शास्त्रानुसार शाब्दबोध का प्रौढ़ विवेचन तथा प्रतिपादन है। काशी के इस मीमांसक-मूर्धन्य के ये तीनों ग्रन्थ मीमांसा में पाण्डित्य के निकषग्रावा हैं। इनके दो शिष्यों का पता चलता है—(१) शम्भुभट्ट भाट्टदीपिका की 'प्रभावली' नामक व्याख्या के रचयिता (२) पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट (रसगंगाधर में निर्दिष्ट)।

खण्डदेव अप्पय दीक्षित का बड़ा आदर करते थे। जब दीक्षित जी काशीवास करते थे, तब उनसे इनका परिचय होना प्रतीत होता है। काशीवास के समय में दीक्षितजी ने क्या लिखा? इसका पता नहीं चलता। खण्डदेव ने अपने ग्रन्थों में इनका "मीमांसक मूर्धन्य" नाम से सातिशय आदर के साथ उल्लेख किया है। खण्डदेव से लगभग एक शताब्दी पूर्व रामकृष्णभट्ट ने "युक्ति-स्नेह-प्रपूरणी" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था (रचनाकाल १६०० वि० सं०=१५४३ ई०) जिसमें शास्त्रदीपिका के तर्कपादान्त भाग की टीका प्रस्तुत की गई है। मुख्यतः यह टीका ही है, परन्तु प्रसंगतः नानाशास्त्रों के विषय विवेचित किये गये है। इनके पिता पराशरगोत्री माधव भट्ट अपने देश मालवासे काशीमें आये। रामकृष्णका जन्म काशी में ही हुआ। समय १६ शती का मध्य भाग।

गागाभट्ट खण्डदेव के कनिष्ठ समसामयिक थे। इनका जन्म काशी के प्रख्यात भट्टवंश में हुआ था। इनके कुल में मीमांसा तथा धर्मशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन विशेष रूप से होता था। इनके पूज्य पिता दिनकर भट्ट ने 'शास्त्रदीपिका' की व्याख्या लिखी। १७वीं शती के उत्तरार्ध में गागाभट्ट (जिसका असली नाम विश्वेश्वर भट्ट था) काशीस्थ महाराष्ट्र पण्डितों के अग्रणी थे और इसीलिए छत्रपति शिवाजी के निमन्त्रण पर इन्होंने १६७४ ई० में उनका अभिषेक कराया था। ग्रन्थरचना के साथ इस घटना से भी इनकी पर्याप्त प्रसिद्धि हुई थी। इन्होंने मीमांसाशास्त्र पर तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया—

(१) भाट्ट चिन्तामणि (पूर्व मीमांसा के समग्र १२ अध्यायो की टीका है

जिसमें नव्यन्याय की शैली का प्रयोग है तथा विषयवर्णन सुसंगत और व्यवस्थित है), (२) शिवार्कोदय (श्लोकवार्तिक की टीका), (३) कुसुमाञ्जलि (मीमांसा सूत्रों की वृत्ति)। इन्हीं के पूर्वज धर्मशास्त्री कमलाकर भट्ट ने (१७वीं शती का पूर्वार्ध) शास्त्रदीपिका की "आलोक" नाम्नी टीका, तन्त्रवार्तिक का तात्पर्य नामक व्याख्यान तथा "मीमांसा-कुतूहल" नामक मौलिक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। "अर्थसंग्रह" नामक नितान्त प्रख्यात लोकप्रिय ग्रन्थ के लेखक लौगाक्षि भास्कर १७वीं शती में काशी के ही विश्रुत मीमांसक थे।

वेदान्त

काशीस्थ मनीषियों ने वेदान्त के प्रसार तथा प्रचार के निमित्त जो कार्य किया, वह वेदान्त के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से अंकित करने योग्य है। तथ्य तो यह है वेदान्त की सार्वभौम मौलिक रचनाओं के निमित्त दार्शनिक समाज काशी के विद्वानों का चिरऋणी रहेगा। इस अभिनव प्रयास में दोनों विरक्त संन्यासियों तथा अनुरक्त गृहस्थों का सम्मिलित योगदान अधिक होने से निःसन्देह मननीय तथा माननीय है। इनके रचना-कलाप के अनुशीलन करने से एक विशिष्ट तथ्य की अभिव्यक्ति होती है और वह है ज्ञानमार्गी ग्रन्थों के प्रणयन के साथ ही भक्तिमार्गी ग्रन्थों का निर्माण। यह तथ्य कतिपय संन्यासियों की रचनाओं के द्वारा ही परिस्फुटित होता है अवश्य, परन्तु इसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। "अद्वैतसिद्धि" के प्रणेता श्री मधुसूदन सरस्वती एक साथ ही प्रौढ़ दार्शनिक तथा सहृदय भक्त थे। "अद्वैतसिद्धि" जैसे प्रमेय-बहुल तार्किक ग्रन्थ के निर्माण का श्रेय जहाँ उन्हें प्राप्त है, वहीं "भक्ति-रसायन" जैसे भक्तिरस के प्रतिष्ठापक ग्रन्थ की रचना का गौरव उन्हें उपलब्ध है। नारायणतीर्थ का भी वैदुष्य इसी प्रकार का था। जहाँ इन्होंने वेदान्त, सांख्ययोग तथा न्यायवैशेषिक के विषय में ग्रन्थों का निर्माण किया, वहीं शाण्डिल्यकृत भक्तिसूत्र की भी "भक्तिचन्द्रिका" नाम्नी अपूर्व व्याख्या की रचना की, जिसमें भक्तिशास्त्र के महनीय सिद्धान्तों का परिष्कार बड़े कौशल तथा वैशद्य से किया गया है। इसे काशीस्थ संन्यासियों का वैशिष्ट्य मानना कथमपि अनुचित न होगा। और मेरी दृष्टि में श्रीमद्भागवत का गम्भीर अध्ययन इस वैशिष्ट्य का साधक प्रमाण माना जा सकता है। श्रीमद्भागवत में अद्वैत के साथ भक्ति का मंजुल समन्वय प्रस्तुत किया गया है। भागवत दोनों के साहचर्य तथा सामरस्य का प्रतिपादक एक गम्भीरार्थ-द्योतक दिव्य ग्रन्थ है जिसके अध्ययन से अद्वैतवादी संन्यासियों का दार्शनिक सिद्धान्त भक्तिरस से स्निग्ध तथा मंजुल है। काशी के अद्वैती संन्यासियों की यह परम्परा आज भी जागरूक है। करपात्री जी महाराज की जहाँ कट्टर अद्वैत के प्रतिपादन में तार्किक बुद्धि का विलास मिलता था, वहीं "रासपंचाध्यायी" के विशद अनुशीलन में तथा "भक्तिरसार्णव" जैसे भक्तिरस के संस्थापक ग्रन्थ के निर्माण में उनका भक्तिरसाप्लुत स्निग्ध हृदय भी अभिव्यक्त होता था।

आदि शंकराचार्य ने काशी को अपनी कर्मस्थली बनाकर उसे गौरव ही प्रदान नहीं किया, प्रत्युत उस प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया जो विद्वानों को अपने सिद्धान्तों के परीक्षण तथा समीक्षण के लिए काशी में आने के लिए आग्रह करती थी। आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थों का निर्माण कहाँ किया? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों में एकमत्य नहीं है? कुछ तो बदरीनाथ के पास "व्यासगुहा" को भाष्यों की रचना का मूल मानते हैं,[1] परन्तु अधिकांश आलोचक काशी को इसके लिए गौरव प्रदान करते हैं। जो कुछ भी हो, काशी में वेदान्तभाष्य के अध्ययन-अध्यापन का कार्य अवश्य ही सुसम्पन्न हुआ। फलतः काशीस्थ विद्वानों का अद्वैत के प्रति दृढ़ आग्रह और अद्वैतविषयक ग्रन्थों के प्रणयन के प्रति नैसर्गिक निष्ठा बोधगम्य है। यहाँ विशिष्ट वेदान्त तत्त्वज्ञों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

द्वादश शती के अन्तिमचरण में "नैषधचरित" महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष (श्रीहर्ष मिश्र) ने "खण्डन खण्ड खाद्य" जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना कर नव्यन्याय की शैली में द्वैत मत का तीव्र खण्डन कर अद्वैत मत की विपुल वैजयन्ती फहराई। उनसे पूर्व युग के प्रख्यात नैयायिक उदयन के मौलिक ग्रन्थ "तात्पर्य परिशुद्धि" "बौद्धधिक्कार" तथा "न्याय कुसुमांजलि" श्रीहर्ष की आलोचना के मुख्य लक्ष्य हैं। इन तीनों में प्रतिपादित मतों का खण्डन श्रीहर्ष ने बड़ी मार्मिकता से 'खण्डन खण्ड खाद्य' में किया।[2] फलतः न्याय के द्वैत मत का गम्भीर आलोचन तथा खण्डन, अद्वैत मत का मण्डन तथा संस्थापन श्रीहर्ष का बहुचर्चित कार्य है। श्रीहर्ष कान्य-कुब्ज के ब्राह्मण थे। पिता का नाम था हीरमिश्र, माता का मामल्लदेवी. आश्रय-दाता थे गहड़वालवंशी विजयचन्द्र तथा उनके पौत्र जयचन्द्र। दोनों ने मिलकर ११५६ ईस्वी से लेकर ११९३ ईस्वी तक काशीमण्डल पर राज्य किया था।

चतुर्दशशती के वेदान्तज्ञ संन्यासियों में स्वामी ज्ञानानन्द का विशिष्ट स्थान था। इनके प्रधान शिष्य प्रकाशानन्द ने "वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली" नामक अपूर्व ग्रन्थ का निर्माण किया है। यह "एकजीववाद" का प्रतिपादक ग्रन्थ है। वेदान्त के दो प्रख्यात सम्प्रदाय हैं—(क) सृष्टि-दृष्टिवाद तथा (ख) दृष्टि-सृष्टिवाद। प्रकाशानन्द का ग्रन्थ इसी द्वितीय मत का प्रतिपादक तथा गम्भीर विवेचक हैं। इस ग्रन्थ की रचना से दो शताब्दी पीछे षोडशशती में अनेक वेदान्त-मर्मज्ञ संन्या-सियों ने काशी को अलंकृत किया था जिनमें नृसिंहाश्रम, मधुसूदन सरस्वती, नारायण तीर्थ तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। (१) नृसिंहाश्रम उस युग के परम-प्रसिद्ध तथा आदरणीय संन्यासी थे। ये अपने को

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय : श्री शंकराचार्य पृ० ९३, द्वितीय सं० प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग १९६३

२. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २२७, नवीन सं०, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७३।

"वेदान्तसिद्धान्त साराभिज्ञ" कहकर उल्लिखित करते हैं। ये पहिले नर्मदा तट पर रहते थे। पीछे काशी में आकर निवास करने लगे थे। इनकी वेदान्त विषयक अनेक रचनायें उपलब्ध है जिनमें प्रधान हैं— भाव प्रकाशिका (प्रकाशात्मदेव रचित "पंच-पादिका विवरण 'की 'टीका), "वेदान्त तत्त्व विवेक तथा उसकी टीका दीपन (रचनाकाल मूल ग्रन्थ का १६०४ वि० = १५४७ ई०) तत्त्वदीपन (अभेदरत्न की टीका), भेदधिक्कार (भेदवाद का खण्डन)। इनके उपास्य देव नृसिंह देव थे। ये सम्भवत: कांजी के निवासी थे। इनके ऊपर अप्पयदीक्षित की असीम श्रद्धा थी और इनके कहने पर अप्पयदीक्षित ने शैवमत का त्याग कर वेदान्त का आश्रय लिया था। नृसिंहाश्रम के शिष्य भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में फैले हुए थे।

अप्पयदीक्षित भी काशी में इसी शती में विद्यमान थे परन्तु यहाँ निवास करते समय इन्होंने किन ग्रन्थों का प्रणयन किया था? इस विषय में अनुसन्धान की अपेक्षा है।

(२) **मधुसूदन सरस्वती**—काशीस्थ संन्यासियों में अग्रणी थे, वेदान्त के इतिहास में इनका नाम तथा यश अतुलनीय है। अन्य वेदान्तियों के समान द्वैत मत का खण्डन इन्हें भी रुचता था, परन्तु इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। ये जैसे महान् वेदान्ती थे, वैसे ही भक्त भी थे। दार्शनिक तथा कवि दोनों ही एक साथ थे। 'रामचरित मानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास के घनिष्ठ सखा तथा महान् प्रशंसक थे। मधुसूदन सरस्वती की गोस्वामीजी के विषय में यह सूक्ति विश्रुत है—

आनन्द-कानने काश्यां तुलसी जंगमस्तरु।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

ये गौडदेश से आकर काशी चौसठ्ठीघाट पर एक मठ में निवास करते थे। इनकी रचनाओं में मुख्य हैं— **अद्वैत सिद्धि** (व्यासराज के **'न्यायामृत'** का तीव्र खण्डनात्मक ग्रन्थ रत्न) जो इनके पाण्डित्य-मन्दिर का कलश-स्थानीय है। सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्त कल्पलतिका, अद्वैत **तत्त्वरक्षण** आदि इनके ग्रंथ नितान्त प्रसिद्ध हैं। **भक्ति रसायन** भक्तिशास्त्रीय), **आनन्द मन्दाकिनी** (काव्य), **कृष्ण-कुतूहल** (नाटक) —इनकी अलौकिक प्रतिभा के निदर्शक ग्रंथ है। इनके शिष्यों की भी रचनायें श्लाघनीय तथा मननीय है। पण्डित सन्यासियों की परम्परा कालान्तर में चलती रही।

इसी परम्परा के अन्तर्मुक्त १७ वीं तथा १८ वीं शती में भी अनेक अद्वैती सन्यासियों ने सुन्दर ग्रंथों का निर्माण किया। (३) **नारायण तीर्थ** ने अनेक दर्शनों पर ग्रन्थों की रचना की। वेदान्त के विषय में इनका ग्रंथ **सिद्धान्तचन्द्र** (अपर नाम लघु व्याख्या) सिद्धान्त बिन्दु की व्याख्या है। भक्तिशास्त्र में इनकी **भक्तिचन्द्रिका** नितान्त प्रख्यात है जिसमें शाण्डिल्यसूत्रों का भाष्य प्रस्तुत किया गया है। (४) **ब्रह्मानन्द सरस्वती** जगद्‌विख्यात वेदान्तज्ञ विद्वान थे। ये बंगदेशीय

प्रतीत होते हैं क्योंकि गौड 'ब्रह्मानन्द' के नाम से इनकी प्रसिद्धि है। इनकी रचनायें हैं—(१) अद्वैत चन्द्रिका (मधुसूदन रचित अद्वैत सिद्धि की व्याख्या)। इसके दो संस्करण हैं—लघुचन्द्रिका तथा गुरुचन्द्रिका) (२) न्याय रत्नावली (सिद्धान्त बिन्दु की टीका) तथा (३) अद्वैत सिद्धान्त विद्योतक।

इसके अनन्तर भी अद्वैत वेदान्त का परम्परागत पठन-पाठन, प्रसार-प्रचार आज तक काशी में चल रहा है। इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि काशी के विद्वान् संन्यासियों ने तथा पण्डित गृहस्थों ने वेदान्त के इतिहास में अपनी विमल तपस्या से, अपने तर्कमण्डित ग्रंथों से तथा अपने सुयोग्य शिष्यों से अपनी अनुपम कीर्ति स्थापित की। द्वैत मत का तर्कसम्मत प्रौढ़ खण्डन कर अद्वैत मत का प्रसारण तथा संरक्षण काशी के वेदान्ती पण्डितों की अपूर्व देन है।

धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र के इतिहास में काशी के विद्वानों का योगदान अपना विशेष महत्त्व रखता है। इनकी रचनायें अखिल-भारतीय मान्यता से मण्डित है, क्योंकि इनका आदर एवं प्रामाण्य समस्त भारतवर्ष के धर्मशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। इन्होंने अपने मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन द्वारा इस शास्त्र को एक नई दिशा प्रदान की। १२ शती से लेकर आज तक का इतिहास इस तथ्य का सद्यः प्रतिपादक है।

१२वीं शती के उत्तरार्ध में लक्ष्मीधर भट्ट ने १७ खण्डों में विभक्त अपने विशालकाय ग्रन्थ "कृत्य कल्पतरु" के द्वारा धर्मशास्त्र के विविध विषयों का गम्भीर तथा विशद विवेचन कर निबन्ध ग्रन्थ का सूत्रपात किया। ये काशी के गहरवार वंशी महाराजाधिराज गोविन्दचन्द्र के "सान्धि विग्रहिक" तथा भट्ट हृदयधर के पुत्र थे। व्रत, तीर्थ, श्राद्ध आदि धार्मिक विषयों की जानकारी के लिए यह निःसन्देह मूल्यवान् विश्वकोश हैं। बंगाल के सभी प्रसिद्ध लेखकों (जैसे बल्लालसेन, शूलपाणि, रघुनन्दन) ने कल्पतरु की चर्चा की है तथा इसके लेखक को आदर की दृष्टि से उल्लिखित किया है। मैथिल धर्मशास्त्री चण्डेश्वर ने "विवाद रत्नाकर" में तथा श्रीदत्त ने आचारादर्श में कल्पतरु का बहुशः उल्लेख किया है। दक्षिण तथा पश्चिम भारत में भी इसका प्रभूत प्रभाव लक्षित होता है। तभी तो हेमाद्रि द्वारा इसका सादर उल्लेख आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता।

मनुस्मृति की प्रख्यात टीका "मन्वर्थमुक्तावली" की रचना कुल्लूक भट्ट ने काशी में १३ शती में की। ये बंगाल के नन्दनग्राम के निवासी वारेन्द्र श्रेणी के ब्राह्मण कुलोत्पन्न प्रौढ़ धर्मशास्त्री थे। इसी युग में कविकान्त सरस्वती ने "विश्वादर्श" का निर्माण किया जिसमें सदाचार, व्यवहार, प्रायश्चित तथा ज्ञानकाण्ड का वर्णन १६५ श्लोकों में किया गया है। मिताक्षरा का उल्लेख करने से एवं हेमाद्रि द्वारा "चतुर्वर्ग चिन्तामणि" के परिशेष खण्ड में उल्लिखित होने से इनका समय दोनों के मध्यकाल १३वीं शती मानना उपयुक्त है।

१६-१७वीं शती में काशी में धर्मशास्त्र का अनुशीलन अपनी प्रौढ़ावस्था पर पहुँच गया। महाराष्ट्र के मूल निवासी काशीवासी दो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण कुल के

पण्डितों ने इस शास्त्र का खूब ही गौरव बढ़ाया। नन्द पण्डित धर्माधिकारी वंश में उत्पन्न थे। इन्होंने अठारह ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें प्रख्यात रचनायें ये हैं— (१) विद्वन्मनोहरा (पराशर स्मृति व्याख्या), (२) प्रमिताक्षरा (मिताक्षरा पर संक्षिप्त भाष्य), (३) श्राद्धकल्पलता, (४) शुद्धिचन्द्रिका (५) दत्तक मीमांसा तथा (६) वैजयन्ती (या केशव वैजयन्ती, विष्णुधर्मसूत्र का विशद भाष्य तथा (७) नवरात्र प्रदीप। आधुनिक हिन्दू कानून की वाराणसी शाखा में वैजयन्ती का प्रामुख्य है। अंग्रेजों के प्रभुत्वकाल में "दत्तक मीमांसा" का हवाला प्रिवी कौन्सिल तक दिया जाता रहा है और आज भी दत्तक लेने के विषय में यह सर्वापेक्षया महत्त्वशाली ग्रन्थ है। मिताक्षरा का बहुशः अनुसरण होने पर भी स्थान-स्थान पर उसका खण्डन नन्दपण्डित के मौलिक चिन्तन का स्पष्ट निदर्शन है।

काशी का दूसरा महाराष्ट्र ब्राह्मण वंश भट्ट वंश के नाम से प्रख्यात है। इस वंश में उत्पन्न नारायण भट्ट तथा इनके दोनों पौत्र कमलाकर भट्ट तथा नीलकण्ठ भट्ट अपनी मौलिक तथा विस्तृत रचनाओं के लिए सर्वदा स्मरणीय रहेंगे। नारायण भट्ट (जन्म १५१३ ई०) इस वंश के प्रथम महनीय मनीषी थे जो अपनी विद्वत्ता तथा ग्रन्थ रचना के कारण "जगद्गुरु" की उपाधि से मण्डित थे। वर्तमान विश्वनाथ मन्दिर में विश्वनाथजी की प्रतिष्ठा का श्रेय इन्हें ही दिया जाता है। इनके ग्रन्थों में अन्त्येष्टि पद्धति, त्रिस्थली सेतु तथा प्रयोगरत्न (संस्कारों का वर्णन) नितान्त विश्रुत तथा लोकप्रिय हैं। इनके ही पौत्र कमलाकर भट्ट उस युग के चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे जिनका निर्णय सिन्धु (रचनाकाल १६१२ ई०) आज भी व्रत, उत्सव तथा संस्कारादि के काल एवं स्वरूप का निर्णायक, अत्यन्त प्रामाणिक तथा आदरणीय ग्रन्थ है। इसमें इनके विस्तृत अध्ययन का परिचय मिलता है। लगभग एक सौ स्मृतियों तथा तीन सौ से ऊपर निबन्धकारों का इसमें उल्लेख निःसन्देह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। शूद्र कमलाकर तथा विवाद ताण्डव भी इसी प्रकार विश्रुत हैं। ग्रन्थों का रचनाकाल १६१० ई० से लेकर १६४० ई० माना जाता है।

नारायण भट्ट के द्वितीय पौत्र (शंकर भट्ट के पुत्र) नीलकण्ठ भट्ट अपने "व्यवहार मयूख" के कारण विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भगवन्त भास्कर नामक ग्रन्थ का प्रणयन १२ मयूखों या प्रकरणों में किया है जिनके नाम संस्कार, आचार, काल, श्राद्ध, व्यवहार, दान, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा, प्रायश्चित, शुद्धि तथा शान्ति के प्रतिपादक होने से उन-उन नामों से प्रख्यात हैं। धर्मशास्त्र में मीमांसा के नियमों के प्रयोग में ये अत्यन्त सफल लेखक माने जाते हैं। लेखक शैली, विद्वत्ता तथा स्मृति ज्ञान के कारण ये मध्ययुगी निबन्धकारों में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। पश्चिमी भारत के कानून में इनका "व्यवहार मयूख" प्रामाणिक माना जाता है। इसी का संक्षिप्त रूप "व्यवहार तत्त्व" नाम्ना प्रख्यात है (लिपिकाल १६४४ ई०)। अतः यह इतः पूर्व विरचित है। ग्रन्थों का रचनाकाल है १६१०-१६४५ ई०।

नागोजी भट्ट की प्रख्याति व्याकरणशास्त्र में विशेष है, तथापि इनके आठ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनके नाम हैं—**आचारेन्दु शेखर, तिथीन्दुशेखर, तीर्थेन्दु शेखर, प्रायश्चितेन्दु शेखर, श्राद्धेन्दु शेखर** आदि। इनके नाम से ही प्रतिपाद्य विषयों का परिचय उपलब्ध होता है। नागोजी के पश्चात् काशी में धर्मशास्त्र के प्रख्यात लेखक हुये—**बालकृष्ण या बालंभट्ट** । ये व्याकरण शास्त्र में अनेक प्रौढ़ ग्रंथों के रचयिता वैद्यनाथ पायगुण्डे के सुयोग्य पुत्र थे। 'मिताक्षरा' पर **'लक्ष्मी'** नामक भाष्य लिखने का श्रेय आलोचकगण इन्हें ही देते हैं, यद्यपि इनकी धर्मपत्नी लक्ष्मी देवी की रचना के रूप में यह सामान्यतः प्रसिद्ध है। इसीलिए यह बालंभट्टी नाम्ना प्रख्यात है। यह वाराणसी सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रियों का मुख्य उपजीव्य ग्रंथ है। इन्होंने डा० कोलब्रूक के आदेश से अपने शिष्य मनुदेव के सहयोग से ''धर्मशास्त्र संग्रह' नामक ग्रन्थ का संकलन किया। (१८०० ई०)। बालंभट्ट ने १७३० ईस्वी में नब्बे वर्ष की आयु में देहत्याग किया बालंभट्ट के अनन्तर आज तक धर्मशास्त्र का अनुशीलन-परिशीलन-अध्ययन-अध्यापन काशी के पण्डितों द्वारा निरन्तर सम्पन्न होता है। धर्म के किसी विषय पर विवाद होने पर काशी के धर्मशास्त्रियों की व्यवस्था का समादर मध्य युग के समान आज भी है।

व्याकरण

वाराणसी व्याकरण का नितान्त प्रख्यात अखाड़ा रही है जहाँ विद्वानों में शास्त्रीय तत्वों के विषय में शास्त्रार्थ के रूप में मल्लयुद्ध होता आया है और आज भी होता है। पाणिनीय व्याकरण को नया मोड़ देने में काशी के वैयाकरणों को विशेष गौरव दिया जाना सर्वथा समुचित है। व्याकरण के प्रति काशीस्थ पण्डितों की एकान्त निष्ठा का विशेष कारण खोजा जा सकता है। ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक में महाभाष्य के कर्ता पतंजलि का काशी मण्डल का निवासी होना सिद्ध हो चुका है।[1] मध्ययुग में **रामचन्द्राचार्य** ने (समय १३५०-१४०० लगभग) अपनी **'प्रक्रिया कौमुदी'** के निर्माण से एक नये युग का सूत्रपात किया। अष्टाध्यायी के क्रम से विपरीत प्रयोगानुसारी क्रम में सूत्रों को विषयक्रम में बांधना इस वैयाकरण की नई सूझ है। ये उदारवृत्ति के वैयाकरण थे जिन्होंने कातन्त्र तथा बोपदेव के व्याकरण का भी उपयोग किया। इनके पौत्र विट्ठल ने प्रक्रिया कौमुदी पर **प्रसाद** नामक तथा **शेष कृष्ण** ने 'प्रकाश' मामक व्याख्यान का निर्माण किया। इन्हीं शेष श्रीकृष्ण के शिष्य थे भट्टोजि दीक्षित (१५६० ई०–१६१० ई०) जो व्याकरण में नव्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। ये आन्ध्र प्रदेश के मूल निवासी तेलुगु ब्राह्मण थे। इन्होंने तथा इनके भ्रातुष्पुत्र कोण्डभट्ट ने अपने ग्रन्थों में 'कालहस्तीश्वर' शिव की वन्दना की है। यह मन्दिर आन्ध्र देश में आज भी प्रसिद्ध है। इनका पांडित्य विशद तथा व्यापक था। व्याकरण में इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है **सिद्धान्त कौमुदी** जो

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय-संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ०४५०, काशी१९८४।

नव्य व्याकरण की शिक्षा का शीर्ष-स्थानीय मौलिक ग्रंथ है। इसके ऊपर इन्होंने **प्रौढमनोरमा** नाम्नी विशद व्याख्या लिखी। इनका **शब्दकौस्तुभ** तो अष्टाध्यायी की ही विस्तृत वृत्ति है, परन्तु महाभाष्य में प्रतिपाद्य विषयों का भी समीक्षण तथा परिबृंहण करने के कारण यह महाभाष्य का भी विवेचन माना जाता है।

भट्टोजि दीक्षित का सम्पूर्ण परिवार ही व्याकरण के सम्वर्धन तथा पोषण के लिए उत्तरदायी है। इनके पुत्र **भानुजिदीक्षित** संन्यास लेने पर "**रामाश्रम**" के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा उनकी अमरकोष टीका इसीलिये **रामाश्रमी** नाम्ना विख्यात है। इन्होंने अपने पिता के सिद्धान्तों का मण्डनात्मक ग्रंथ 'मनोरमा मण्डन' लिखा जिसमें शेष चक्रपाणि रचित ग्रन्थ **परमत दूषण** का खण्डन कर प्रौढ़ मनोरमा के सिद्धान्तो का समर्थन किया गया है। भट्टोजि के भ्रातुष्पुत्र **कौण्डभट्ट** ने **वैयाकरण सिद्धान्त भूषण** तथा इसी का संक्षेप **भूषण सार** नाम से लिखा जिसमें व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों का विशद विवेचन है।

भट्टोजि दीक्षित के प्रौत्र **हरिदीक्षित** भी प्रौढ़ वैयाकरण थे जिन्हें नागेशभट्ट जैसे सुयोग्य विद्वान के गुरु होने का गौरव प्राप्त है। हरिदीक्षित के नाम से प्रख्यात **लघुशब्दरत्न** नागेश की रचना माना जाता है, परतु **बृहद्-शब्द-रत्न** तो निःसन्देह उनकी निजी रचना है। **नागेशभट्ट** महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे जिनकी उपाधि काले थी (मृत्यु १७४५ ई० लगभग)। ये नाना शास्त्रों के प्रौढ़ विद्वान थे एवं अपनी लेखनी उन शास्त्रों के ऊपर चलाई, परन्तु वे मुख्यतया वैयाकरण थे और उनकी एतद्—विषयक रचनायें उनकी गम्भीर पाण्डित्य, अलौकिक शास्त्रवैदुष्य तथा विशाल तर्क-नैपुण्य की परिचारिकायें हैं। ऐसे मान्य ग्रन्थ हैं—**वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा, परिभाषेन्दु शेखर** तथा **शब्देन्दुशेखर** (द्विविध संस्करण बृहत् तथा लघु में प्राप्त)। इन तीनों ग्रन्थरत्नों का प्रभाव अवान्तरकालीन वैयाकरणों के ऊपर इतना अधिक है कि प्राचीन ग्रन्थों को छोड़ कर इन्हीं में पाण्डित्य पाना वैदुष्य का निकषग्रावा आज माना जाता है। आज के व्याकरण-सम्प्रदाय के काल को 'शेखरयुग' कहना कथमपि अत्युक्ति नही है। नव्य व्याकरण के तीन ही विचारणीय विषय हैं—पदार्थ चर्चा, न्यास तथा परिष्कार। इनको अग्रसर करने का गौरव काशी के वैयाकरणों को प्राप्त है। परिष्कार शैली के पुरस्कर्ता कूर्माचल के मूल निवासी काशीवासी **पण्डित गंगाराम त्रिपाठी** थे। ये १९ शती के आरम्भ में अलमोड़ा से काशी आये। ये अद्भुत प्रतिभाशाली पण्डित थे। सूत्रों के अर्थ-निर्धारण में नव्य न्याय की शैली का प्रयोग कर परिष्कार शैली का जन्म दिया। इनके शिष्य थे **काशीनाथ कालेकर**। जिनके दो पट्ट शिष्य थे **बालशास्त्री रानाडे** तथा **यागेश्वर ओझा**। बालशास्त्री के अनुपम विद्वान छात्र थे—**शिवकुमार शास्त्री, तात्याशास्त्री, गंगाधर शास्त्री** तथा **दामोदर शास्त्री भारद्वाज**। पण्डित यागेश्वर ओझा काशी मण्डल के ही मूल निवासी थे। 'परिभाषेन्दु शेखर' को **हैमवती** व्याख्या से अलंकृत कर इन्होंने अद्भुत पाण्डित्य का परिचय दिया। इन्हीं की शिष्य परम्परा आज भी जागरूक है।

काव्य तथा अलंकारशास्त्र

ललित काव्य के सर्जन तथा उसके समालोचन-समीक्षण के प्रति भी काशीस्थ पण्डितों की अभिरुचि न्यून नहीं थी। इनमें से अनेक रचनाओं को अखिल भारतीय कीर्ति प्राप्त हैं तथा वे अपने विषय के माने जाने बहुचर्चित ग्रन्थ हैं। ऐसे ग्रन्थों में **पण्डितराज जगन्नाथ** का **"रस गंगाधर"** तथा **विशेश्वर पाण्डेय** का **अलंकार कौस्तुभ** अपने प्रौढ़ तार्किक विवेचन तथा गम्भीर आलोचन के कारण अलंकार साहित्य के इतिहास में अनुपम स्थान रखते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ तेलुगु ब्राह्मण थे। अगाध विद्वत्ता तथा ललित काव्य के कारण मुगल बादशाह शाहजहाँ के दरबार में उन्हें विशेष समादर प्राप्त था। समय है सत्रहवीं सदी का मध्यकाल। विशेश्वर पाण्डेय अलमोड़ा के मूल निवासी पर्वतीय ब्राह्मण थे। इनका जन्म काशी में हुआ और यहीं इन्होंने अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। अन्य विद्वानों में **अनन्त पन्त** उल्लेखनीय है (समय सत्रहवीं सती)। इनकी रचनायें प्राय: अलंकारशास्त्र के टीका रूप में उपलब्ध है जिनमें रसमंजरी की टीका **व्यंग्यार्थ कौमुदी** तथा गोवर्धन की **आर्यासप्तशती** की टीका **व्यग्यार्थ-चन्द्रिका** विशेष विख्यात है। काशी के कवियों में मूर्धन्य स्थान है **श्रीहर्ष** का जिनका **नैषधचरित्र महाकाव्य** अपनी कमनीय पदावली तथा ललित वैदग्धी के कारण रसिक समाज के गले का हार है। ये एक साथ ही दार्शनिक तथा कवि दोनों थे। **चन्द्रशेखर कवि** (१६ शती) ने अपने **"सुरजन चरित"** महाकाव्य में अकबर के समकालीन बूँदी के हाड़ा वंशीय भूपाल सुरज सिंह का जीवन चरित प्रसादमयी भाषा में निबद्ध किया है। पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शती) की कविता अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न तथा सहृदयों की चित्तरंजनी है। उनकी **'लहरी पंचक'** प्रख्यात है जिनमें **गंगालहरी** विशेष लोकप्रिय है। **लोष्टदेव** काश्मीर के निवासी थे। अपनी वृद्धावस्था में काशी में निवास करते थे। यहीं विश्वनाथ जी की स्तुति में **दीना-क्रन्दन काव्य** की रचना की जो उनके कोमल हृदय की दीन भावना को सद्य: प्रस्फुटित करती है। **विश्वेश्वर पाण्डेय** (१८ शती) को अनेक काव्यों के प्रणेता होने का गौरव प्राप्त है जिनमें आर्या सप्तशती, रोमावली शतक, मन्दारमंजरी आदि मुख्य हैं। ये ग्रन्थ कवि के लोकातीत प्रतिभा के सद्य: निदर्शन हैं।

गत शताब्दी के कवियों में **गंगाधर शास्त्री** का "अलि-विलासिसंलाप"[1] (महाकाव्य), **रामावतार शर्मा** का "मारुति शतक"[2] (काव्य) तथा "धीरनैषध" (नाटक , **अम्बिका दत्त व्यास** का शिवराज विजय (गद्यकाव्य) अपने क्षेत्र की उल्लेखनीय रचनायें हैं। इधर के कवियों में **मथुरानाथ दीक्षित** के अनेक देशभक्ति से ओत-प्रोत नाटक, **पं० उमापति द्विवेदी "कविपति"** का "पारिजात हरण"

---

१. **समीक्षा के निमित्त** द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—काशी की पाण्डित्य परम्परा, काशी, १९८३, पृ० २४६–२५४।

२. वही, पृ० १५१।

महाकाव्य तथा पं० काशीनाथ द्विवेदी का 'रुक्मिणी हरण'[1] महाकाव्य उदात्त प्रशंसनीय रचनायें है। अन्तिम काव्य तो नैषध काव्य की स्मृति को बलात् जगा देता है। नवीन कमनीय कल्पनाओं का सुन्दर वैभव प्रदर्शित करने वाला यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य में बेजोड़ माना जा सकता है।

काशी के विद्वानों की सरस्वती सेवा का यह सर्वेक्षण यहीं समाप्त किया जाता है। इसके अनुशीलन से उसकी महत्ता, नूतनता तथा विकास की नवीन दिशा का सद्यः संकेत उपलब्ध हो जाता है। इसी दिशा को ग्रहण कर तत् तत् शास्त्रों ने आगे चलकर अपनी प्रगति की और वे अखिल भारतीय कीर्ति से मण्डित हुए।

धन्येयं नगरी काशी धन्यास्तत्रत्यपण्डिताः।
धन्यं तत्-सृष्ट-साहित्यं धन्यास्तद्रसिका बुधाः॥

१. काशी की पाण्डित्य परम्परा पृ० ३७०-३७२।

वैदिक साहित्य

(२) वेद में रुद्र का स्वरूप

शिव की महत्ता के उदय होने का इतिहास बड़ा मनोरम है। पौराणिक काल में तथा आजकल रुद्र को जितना महत्त्व तथा प्राधान्य प्राप्त है उतना वैदिक काल में न था। आजकल विष्णु के साथ शिव ही हम हिन्दुओं के प्रधान देवता हैं, परन्तु इस प्रधानता का क्रमिक विकास धीरे धीरे अनेक शताब्दियों में सम्पन्न हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने से रुद्र के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगाया जा सकता है। ऋग्वेद में केवल तीन सूक्त— प्रथम मण्डल का ११४वाँ सूक्त, २ मण्डल का ३३वाँ सूक्त तथा ७ मण्डल का ४६वाँ सूक्त - रुद्र देवता के विषय में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा बहुत ही कम महत्त्व का है, परन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में रुद्र का स्थान बहुत कुछ महत्त्व-संवलित है। यजुर्वेद का एक पूरा अध्याय ही इनकी स्तुति में प्रयुक्त किया गया है। यह 'रुद्राध्याय' यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में थोड़े बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता के चतुर्थ काण्ड का पाँचवाँ और सातवाँ प्रपाठक तथा शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता का १६वाँ अध्याय 'रुद्राध्याय' के नाम से विख्यात हैं। अथर्ववेद के ११ काण्ड के २य सूक्त में रुद्रदेव की स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में रुद्र का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है : रुद्र के हाथ तथा बाहु हैं (ऋ० २।३३।७)। उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ठ है। उनके ओठ अत्यन्त सुन्दर हैं (सुशिप्रः) उनके मस्तक पर बालों का एक जटाजूट है जिसके कारण वे 'कपर्दी' कहलाते हैं (ऋ० १।११४।१)। उनका रंग भूरा है (बभ्रु) तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नानारूप धारण करनेवाले हैं (पुरुरूपः) तथा उनके स्थिर अङ्ग चमकने वाले सोने के गहनों से विभूषित हैं। वे रथ पर सवार होते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में तथा अथर्व के रुद्रसूक्त में उनके स्वरूप का इससे कहीं अधिक विशद वर्णन उपलब्ध होता है। रुद्र के मुख, चक्षु, त्वच्, अङ्ग, उदर, जिह्वा तथा दाँतों का उल्लेख किया गया है। (अथर्व ११ काण्ड, २ सूक्त ५-६ मन्त्र)। उनके सहस्र नेत्र हैं (सहस्राक्षः)। उनकी गर्दन का रंग नीला है (नीलग्रीवः), परन्तु उनका कण्ठ उज्ज्वल रंग का है (शितिकण्ठः)।[1] उनके माथे पर जटाजूट का वर्णन भी है, साथ ही साथ कभी कभी वे मुण्डित केश (व्युप्तकेश श० यु० १६।२९) भी कहे

१. नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च—शु० य० १६।२८।

गए हैं। उनके केश लाल रंग या नीले रंग के हैं (हरिकेशः)। वे माथे पर पगड़ी पहनने वाले हैं (उष्णीषी यजु० १६।२२) रंग उनके शरीर का कपिल है (बभ्लुशः १६।१८)।

रुद्राध्याय के अनुसार रुद्र एक बलवान् सुसज्जित योद्धा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके हाथ में धनुष् तथा बाण हैं। उनके धनुष का नाम 'पिनाक' है (शु० यजुर्वेद १६।५१)। उनका धनुष सोने का बना हुआ, हजारों आदमियों को मारने-वाला, सैकड़ों बाणों से सुशोभित तथा मयूरपिच्छ से विभूषित बतलाया गया है (धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्—अ० ११।२।१२) बाणों के रखने के लिये वे तरकस (इषुधि) धारण करते हैं जो संख्या में सौ हैं। उनके हाथ में तलवार भी चमकती है (निषङ्गी) तथा इस तलवार के रखने के लिए उनके पास म्यान (निषङ्गधि) है। वे वज्र भी धारण करते हैं। वज्र का नाम सृक् है (शु० य० १६।२१)। शरीर की रक्षा करने के लिये वे अनेक साधनों को पहने हुए हैं। माथे की रक्षा करने के लिये वे शिरस्त्राण धारण करते हैं (बिल्मी शु० य० १६।३५) और देह के बचाव के वास्ते कवच तथा वर्म पहने हुए हैं। महीधर टीका के अनुसार वर्म कवच से भिन्न होता था।[1] कवच कपड़ों का सिला हुआ 'अंगरखा' के ढंग का कोई पहनावा था। वर्म खासा लोहे का बना हुआ जिरह-बख्तर था। कवच के ऊपर वर्म पहना गया था। रुद्र शरीर पर चर्म का कपड़ा पहनते हैं (कृत्तिं वसानः—शु० य० १६।५१)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस तरह रथ पर चढ़कर धनुर्बाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गन में शत्रुओं के संहार के लिये जाता है, उसी भाँति रुद्र सिर पर बिल्म तथा देह पर कवच और वर्म पहन कर रथ पर आसन मार धनुष पर बाण चढ़ाकर अपने भक्तों के बैरियों को मारने के लिये मैदान में उतरते हैं। वे धनुष पर बाण हमेशा चढ़ाए रहते हैं। इसीलिये उनका नाम है—आततायी। इनके अस्त्र-शस्त्र इतने भयानक हैं कि ऋषि इनसे बचने के लिये सदा प्रार्थना किया करते हैं—

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः॥ शु० य० १६।१०

रुद्र का शरीर नितान्त बलशाली है। ऋग्वेद में वे क्रूर बतलाए गए हैं। वे स्वर्गलोक के रक्तवर्ण (अरुष) वराह हैं (ऋ० १।११४।५)। वे सबसे श्रेष्ठ वृषभ हैं; वे तरुण हैं और उनका तारुण्य सदा टिकनेवाला है; वे शूरों के अधिपति हैं और अपने सामर्थ्य से वे पर्वतों में टिकी हुई नदियों में जल का प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। उन्हें न माननेवाले मनुष्यों को वे अवश्य अपने बाणों से छिन्न-भिन्न कर देते हैं, परन्तु अपने उपासक मनुष्यों के लिए वे अत्यन्त उपकारी हैं। इसीलिए

---

१. पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्। लोहमयं शरीररक्षकं वर्म।
—शु० य० १६।३५ पर महीधरभाष्य।

वे 'शिव' नाम से भी पुकारे जाते हैं। उनके सम्बन्धियों का परिचय मन्त्रों के अध्ययन से चलता है। रुद्र मरुतों के पिता हैं (ऋ० १।११४।६)। यही कारण है कि अनेक मन्त्रों में मरुत् तथा रुद्र की स्तुति एक साथ की गई मिलती है। मरुतों के 'रुद्रिय' संज्ञा पाने का यही रहस्य है। रुद्र के मरुतों के पिता होने के विषय में षड्गुरुशिष्य ने 'सर्वानुक्रमणी' की 'वेदार्थदीपिका' में रोचक आख्यान दिया है। इसी प्रसङ्ग को लेकर द्या द्विवेद ने 'नीतिमञ्जरी' में यह उपदेश निकाला है—

दृष्ट्वा परव्यथां सन्त उपकुर्वन्ति लीलया।
दितेर्गर्भव्यथां हत्वा रुद्रोऽभून्मरुतां पिता॥

पिछले ग्रन्थों में रुद्र के लिये 'त्र्यम्बक' शब्द का व्यवहार प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इस 'त्र्यम्बक' का प्रयोग ऋग्वेद के केवल एक ही मन्त्र में किया गया है जो शुक्ल यजुर्वेद (अ० ३, ६० मं०) में भी उद्धृत पाया जाता है। रुद्र का स्तुतिपरक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है :—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥—ऋ० ७।५३।१४

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ समस्त भाष्यकारों ने 'तीन नेत्रवाला' किया है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों को इस अर्थ में आस्था नहीं है। वे यहाँ 'अम्बक' शब्दको जननी वाचक मानकर रुद्र को तीन मातावाला बतलाते हैं, परन्तु यह स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता कि रुद्र की ये तीन मातायें कौन सी थीं। वैदिक काल के अनन्तर रुद्र की पत्नी के लिये प्रयुक्त 'अम्बिका' शब्द का प्रथम प्रयोग वाजसनेयी संहिता (३।५७) में आता है, परन्तु इतना फर्क जरूर है कि यह उनकी पत्नी का नाम न होकर उनकी भगिनी का नाम बतलाया गया है—एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया, तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः (शु० य० ३।५७)। इनकी पत्नी के अन्य नाम वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। 'पार्वती' शब्द तैत्तिरीय आरण्यक में और 'उमा हैमवती' शब्द केनोपनिषद् में प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार ऋग्वेदीय देवमण्डली में रुद्र का स्थान नितान्त नगण्य-सा प्रतीत होता है, परन्तु अन्य संहिताओं में इनका महत्त्व बढ़ता-सा दीख पड़ता है। रुद्राध्याय में रुद्र के लिये भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम शब्दों का प्रयोग ही नहीं मिलता, प्रत्युत हर एक दशा में वर्तमान प्राणियों के ऊपर इसका अधिकार जागरूक रहता है। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, चाहे वह स्वर्लोक में, अन्तरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहाँ भगवान् रुद्र का आधिपत्य न हो। यह समस्त विश्व सहस्रों रुद्रों की सत्ता से ओतप्रोत है। रुद्र जगत् के समग्र पदार्थों के स्वामी हैं। वे अन्नों के, खेतों के, वनों के अधिपति हैं। साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद में रुद्र के नामों में भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति उल्लिखित हैं (११।२।१)। पशुपति का तात्पर्य

इतना ही नहीं है कि गाय आदि जानवरों के ही ऊपर उनका अधिकार चलता है, प्रत्युत 'पशु' के अन्तर्गत मनुष्यों की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है :—

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता
गावो अश्वाः पुरुषाः अजावयः (अ० ११।२।९)

इस प्रकार 'पशु' के तान्त्रिक अर्थ का आभास हमें अथर्व के इस मन्त्र में सर्वप्रथम मिलता है। जिसमें समग्र भुवन निवास करते हैं वह नाना वसुओं को धारण करनेवाला विस्तृत ब्रह्माण्डरूपी कोश रुद्र की अपनी वस्तु है। रुद्र का निवास अग्नि में, जलमें, औषधियों तथा लताओं में ही नहीं है, बल्कि उन्होंने इन समस्त भुवनों की रचना कर इन्हें सम्पन्न बनाया है—

यो अग्नौ रुद्रो य अप्स्वन्त-
र्य ओषधी-वींरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाकॢपे
तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥ —अथर्व ७।८३

यह सुन्दर मन्त्र रुद्र की महिमा को साफ शब्दों में प्रकट कर रहा है। यह तो हुई यजुः और अथर्व संहिताओं की बात। ब्राह्मण काल में तो रुद्र का महत्त्व और भी बढ़ता ही चला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक दो उल्लेखों से ही रुद्र की महनीयता की पर्याप्त सूचना मिलती है। ३।३।३३ में प्रजापति के उनकी कन्या के सहगमन का प्रसङ्ग उठाकर रुद्र की उत्पत्ति की चर्चा की गई है वहाँ गौरव की दृष्टि से इनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है, प्रत्युत 'एष देवोऽभवत्' कहकर सम्माननीय शब्द ही व्यवहृत किया गया है। ऋग्वेद के एक विनियोग वाक्य में रुद्र का नाम प्रयुक्त किया गया है, वहाँ ऐतरेय की यह व्यवस्था है कि इस नाम को गौरव की दृष्टि से छोड़ देना चाहिए।

उपनिषदों में रुद्र की प्रधानता का परिचय हमें भली-भाँति मिलता है। छान्दोग्य (३।७।४), बृहदारण्यक (३।९।४), मैत्री (६।५) महानारायण (१३।२), नृसिंहतापनी (१।२), श्वेताश्वतर (३।२,४) आदि प्राचीन उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर में रुद्र की एकता, जगन्निर्माण में निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षित्व तथा देवताओं के उत्पादक तथा ऐश्वर्यसम्पन्न बनाने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्पष्ट भाषा में किया गया है। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः (३।२),

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' (३।४)

आदि श्वेताश्वतर श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र इस विषय में प्रमाणरूप से उद्धृत किए जा

सकते हैं। अवान्तरकालीन उपनिषदों में अनेक का विषय रुद्र-शिव की प्रभुता, महनीयता, अद्वितीयता दर्शाना है। अतः अथर्वशिर, कठरुद्र, रुद्रहृदय, पाशुपतब्रह्म आदि शिवपरक उपनिषदों के नामोल्लेखमात्र से हमें यहाँ सन्तोष करना पड़ता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस रुद्र को ऋग्वेद तथा पिछली संहिताएँ 'उग्र' के नामसे पुकारती हैं उस रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या था? प्रकृति के किस व्यक्त तथा दृश्य पदार्थ का निरीक्षण कर उसे 'रुद्र' की संज्ञा प्रदान की गई है। 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति से इस समस्या के हल होने की तनिक भी सूचना नहीं मिलती। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र 'रुद्र' की व्युत्पत्ति 'रुद्' (रोना) धातु से निष्पन्न बतलाई गई है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।८) में रुद्र की उत्पत्ति की मनोरम कहानी दी गई है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ जो जनमते ही अपने नामकरण के लिये रोने लगा। नामकरण आगे किया गया अवश्य, परन्तु जन्म के समय ही रोदन-क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस कुमार का नाम 'रुद्र' रखा गया (यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः)। बृहदारण्यक (३।९।४) में इसी प्रकार दशों इन्द्रियों तथा मन को एकादश रुद्र के रूप में ग्रहण किया गया है। इन्हें 'रुद्र'[1] कहने का तात्पर्य यही है कि जब ये शरीर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, तो मृतक के सगे सम्बन्धियों को रुलाते हैं (ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति)। पाश्चात्य वेदानुशीली विद्वानों ने रुद्रके प्राकृतिक आधार को ढूढ़ निकालने का विशेष परिश्रम किया है।[2] डा० वेबर रुद्र को तूफान का देवता मानते हैं। डा० हिलेब्रान्त की सम्मति में ये ग्रीष्मकाल के देवता हैं तथा किसी विशिष्ट नक्षत्र से भी इनका सम्बन्ध है। डा० कादेर के विचार में मृतात्माओं के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदानकर रुद्र मान लिया गया है, क्योंकि यह वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है कि मृतकों की आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। डा० ओल्डेनबर्ग इस मत में आस्था रखते हुए रुद्र का सम्बन्ध पर्वत तथा जङ्गल के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर मानते हैं। रुद्र का सम्बन्ध पर्वत के साथ अवश्य है। उनकी पत्नी उमा भी हैमवती कही जाती हैं। अतः इस मत के लिये भी कुछ आधार है। परन्तु इन कथनों में कल्पना का विशेष उपयोग किया गया है। रुद्र के पूर्व वर्णित स्वरूप का पूरा सामञ्जस्य इन कथनों से कथमपि नहीं बैठता। इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री रुद्र के मौलिक तथ्य पर प्रकाश डालती।

वस्तुतः रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना की गई है। अग्नि वेदी पर जलते हैं। इसी कारण शिव जलधारी के

---

१. 'रुद्र' की अन्य व्युत्पत्तियों के लिये देखिए ऋ० १।११४ १ का सायण भाष्य।

२. इन सब मतों के लिये डा० ए बी. कीथ का 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफ़ी आफ़ वेद' पृ० १४६-७ देखिए।

बीच में रखे जाते हैं। अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है। इसीलिये शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिवभक्तों के लिये भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इसी सिद्धान्त के मानने से भली-भाँति हो जाता है। इस सिद्धान्त के पोषक वैदिक प्रमाणों पर अब ध्यान दीजिए। ऋग्वेद (२।१।६) ने 'त्वमग्ने रुद्रो' कहकर इस एकीकरण का संकेत मात्र किया है। अथर्व (७।८३) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' मन्त्र में इसी ओर इङ्गित करता है। शतपथ (३।१।३) ब्राह्मण का प्रमाण नितान्त स्पष्ट है। 'अग्निर्वै रुद्रः' अत्यन्त स्पष्ट भाषा में दोनों की एकता का प्रतिपादन कर रहा है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतिक पदार्थों की प्रतिनिधि हैं। 'रुद्र' अग्नि है; 'शर्व' जलरूप है; 'पशुपति' औषधि है, 'उग्र' वायु है; 'अशनि' विद्युत् है; 'भव' पर्जन्य है; 'महान् देव' (महादेव) चन्द्रमा है, 'ईशान' आदित्य है। शतपथ से पता चलता है कि रुद्र को प्राच्यलोग (पूरब के निवासी) 'शर्व' के नाम से तथा बाह्लीक (पश्चिम के निवासी) लोग 'भव' नाम से पुकारते थे, परन्तु ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम हैं :—

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाहीकाः, पशूनां पती रुद्रोग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि, अग्निरित्येव शान्ततमम्। —शतपथ १।७।३।८

शुक्लयजुर्वेद (३६।८) में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र—ये सब एकही देवता के पृथक् पृथक् नाम कहे गए हैं। शतपथ की व्याख्या के अनुसार 'अशनि' का अर्थ है विद्युत्। इस प्रकार यजुर्वेद के प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथ्वीतल पर जो रुद्र देवता अग्निरूप से निवास करते हैं, आकाश में काले मेघों के बीच से चमकनेवाली विद्युत् के रूप में वे ही प्रकट होते हैं। अतः रुद्र को विद्युत् का अधिष्ठातृ देव मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर (११।२।१७) रुद्र के संसार को लीलने के लिये जीभ लपलपाने का वर्णन मिलता है। यहाँ जान पड़ता है कि 'जिह्वया ईयमानम्' शब्दों के द्वारा काले बलाहकों के बीच में कौंधनेवाली क्षण क्षण में चमकनेवाली बिजुली की ओर स्पष्ट संकेत है। इसीको पुष्ट करनेवाली अथर्ववेदीय प्रार्थना है कि हे रुद्र, दिव्य अग्नि से हमें संसक्त न कीजिए। यह जो बिजुली दीख रही है उसे मेरे शिर पर न गिराकर कहीं अन्यत्र गिराइए—

मा नः सं स्त्रा दिव्येनाग्निना
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम्—अथर्व ११।२।२६

इस विवेचन की सहायता से हम रुद्र के 'शिवत्व' को भली भाँति पहचान लेते हैं। वह भयानक पशु की भाँति उग्र तथा भयद अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ वह अपने भक्तों को विपत्तियों से बचाता है तथा उनका मंगल साधन करता है। उसके रोग निवारण करने की शक्ति का अनेक बार उल्लेख आता है। उसके पास हजारों औषधियाँ हैं जिसके द्वारा वह ज्वर (तक्मन्) तथा विष का

निवारण करता है। वैद्यों में वह सबसे श्रेष्ठ वैद्य है (भिषक्-तमं त्वा भिषजां शृणोमि---ऋ० २।३३।४)। इस प्रसङ्ग में रुद्र के दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते हैं—जलाष (ठंढक पहुँचानेवाला) तथा जलाषभेषज (ठंढी दवाओं को रखनेवाला)

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकु-
र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। ऋग्० २।३२।७

वस्तुतः अग्नि के दो रूप हैं—घोरातनु और अघोरातनु। अपने भयङ्कर घोर रूप से वह संसार के संहार करने में समर्थ होता है, परन्तु अघोर रूप में वही संसार के पालन में भी शक्तिमान् है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो, तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण का संचार रह सकता है ? विद्युत् में संहारकारिणी शक्ति का निवास अवश्य है, परन्तु वही विद्युत् भूतल पर प्रभूत जलवृष्टि का भी कारण बनती है और जीवों के जीवित रहने में मुख्य हेतु का रूप धारण करती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय में भी सृष्टि के बीज निहित रहते हैं, संहार में भी उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। महाकवि कालिदास को अग्नि की संहारकारिणी शक्तिमें भी उपादेयता दीख पड़ती है—

कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीज-प्ररोह-जननीं ज्वलनः करोति। रघु० ९।८०

अतः उग्ररूप के हेतु से जो देव 'रुद्र' हैं, वे ही जगत् मंगल साधन करने के कारण 'शिव' हैं। जो रुद्र है, वही शिव है। रुद्र और शिव की अभिन्नता अवान्तर वैदिक ग्रन्थों में सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित की गई है, परन्तु इस अभिन्नता की प्रथम सूचना ऋग्वेद में ही उपलब्ध होती है (२।३३।७)। ऋग्वेदीय ऋषि गृत्समद के साथ-साथ रुद्रदेव से हम भी प्रार्थना करते हैं कि रुद्र के बाण हमलोगों को स्पर्श न कर दूर से ही हट जायँ तथा हमारे पुत्र और सगे-सम्बन्धियों के ऊपर उस दानशील की दया सतत बनी रहे :—

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
परित्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ। (ऋक्० २।३३।१४)

(३) वेदों में लोक-संस्कृति

आजकल 'लोक संस्कृति' शब्द की विशुद्ध शास्त्रीय परिभाषा देना नितान्त कठिन है। इसका व्यावहारिक अर्थ है जनसाधारण के आचार-विचार, रहन-सहन, क्रिया-कलाप को प्रदर्शित करने वाली संस्कृति। जन सामान्य रूप से दो प्रकार के होते हैं--लोकजन और शिष्ट-जन। किसी देश या समाज में दो स्तरों के प्राणी प्रायः पाये जाते हैं। एक तो होते हैं निम्नस्तर के पुरुष, जिनकी शिक्षा-दीक्षा न होने से उनके आचार-विचार एक विचित्र धारा में प्रवाहित होते हैं। इनको ही हम 'जनता' के नाम से पुकारते हैं। दूसरे होते हैं—उच्चस्तर के प्राणी, जिनकी विशेष शिक्षा-दीक्षा होती है और अपनी शिक्षा के प्रभाव से जिनकी विचार-धारा एक विलक्षण मोड़ लेकर प्रवाहित होती है। इनको ही हम 'शिष्ट-जन' के नाम से पुकारना उपयुक्त समझते हैं। दोनों की अभिरुचि में, आचार में एवं विचार में अवश्यमेव पार्थक्य दृष्टिगोचर होता हैं। दोनों के आचारों में पर्याप्त भेद होता है। लोकाचार में बहुत से तर्कहीन तथा युक्ति-विरहित अनुष्ठानों और विधि-विधानों का हम अस्तित्व पाते हैं। परन्तु शिष्टाचार का स्तर उससे कहीं ऊँचा होता है जिसमें तर्क और युक्ति का आधार खोज निकालना दुरूह कार्य नहीं होता। दोनों की भाषा तथा भाषण शैली में भी पार्थक्य होता है। लोक-भाषा और शिष्टभाषा का, लोक-काव्य और शिष्ट काव्य का अन्तर केवल बाहरी नहीं होता, प्रत्युत मौलिक होता है। इस प्रकार समाज में इन विभिन्न स्तर वाले प्राणियों का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में लक्षित किया गया है।

लोक संस्कृति के अध्ययन के लिये संस्कृत-साहित्य में अमूल्य सामग्री सुरक्षित है। आवश्यकता है किसी पैनी दृष्टि वाले, समाजशास्त्र के गम्भीर विद्वान् की, जो उनके भीतर से बहुमूल्य तथ्यों और सिद्धान्तों को निकालकर आजकल की शास्त्रीय परिभाषा के भीतर उन्हें निबद्ध करे। वेद शिष्ट-संस्कृति के ज्ञान के लिये जितने महत्त्वपूर्ण हैं, उससे कहीं अधिक वे लोक-संस्कृति के वैभव दिखलाने में भी जागरूक हैं। यहाँ केवल यातु विद्या अर्थात् जादू, टोना, टोटका आदि नाना अभिधानों में प्रख्यात लोक-प्रिय ज्ञातव्य-सामग्री का बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

त्रयी में यातु-विद्या

अथर्ववेद में यातु-विद्या की अनन्त राशि विराजती है जिसकी ओर अन्वेषकों का ध्यान चिरकाल से आकृष्ट होता आया है, परन्तु अन्य वेदों—ऋग्वेद, सामवेद, तथा यजुर्वेद—की संहिताओं में भी इस विद्या के अस्तित्व का पूरा परिचय हमें प्राप्त होता है। त्रयी तथा अथर्ववेद दोनों के धार्मिक अनुष्ठानों में यज्ञ-याग की प्रधानता है जिसका संपादन ब्राह्मण वर्ग के द्वारा गुण की विशिष्टता तथा योग्यता

के कारण सर्वदा किया जाता है। यागीय अनुष्ठानों का ब्रह्मन् तथा यातुविधानों (जादू करने में प्रयुक्त क्रिया-कलापों) का ब्रह्मन् अर्थात् मंत्र एक ही है। ऋग्वेद के प्रमुख ऋषि विश्वामित्र जब आग्रह-पूर्वक कहते हैं कि—विश्वामित्र के द्वारा उच्चारित यह ब्रह्म या मंत्र भारतजन की रक्षा करता है[1]—तब वे आथर्वण के समान अपने मंत्र की गम्भीर अचिन्त्य शक्ति के ऊपर पूर्ण विश्वास रखते हैं। दूसरे ऋग्वेदीय ऋषि वशिष्ठ नाना प्रकार के यातुओं से अपना परिचय अभिव्यक्त करते हैं जिनमें से कुछ नाम ये हैं—उलूक यातु, शुशुलूक यातु, श्वयातु, कोकयातु, सुपर्णयातु, गृध्रयातु (ऋक्० ७।१०४।२२)। वे इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्र, आप पुरुष यातुधान (जादू करनेवाले राक्षस) को और माया से मारने वाली स्त्री को मार डालिये। (७।१०४।२४) यहाँ स्पष्ट ही आथर्वण क्रिया की ओर संकेत है। अतः ऋग्वेद यातुविद्या से कथमपि अपरिचित नहीं माना जा सकता। यही दशा तैत्तिरीय संहिता तथा वाजसनेयी संहिता की भी हैं। वाजसनेयी संहिता (५।२३) का कथन है कि यूप (यज्ञीय स्तम्भ) के निर्माण के लिये खोदी गई पृथ्वी के छिद्रों में बहुत से भूत-प्रेत (वलग) तथा कृत्या छिपी रहती है और इनका नाश अनेक जादुओं के द्वारा किया जाना चाहिये। तैत्तिरीय संहिता (१।१।७) में तीन प्रकार की अग्निओं का वर्णन किया गया है—(क) आमाद—जो अपक्व कच्ची वस्तुओं को खाता है, (ख) क्रव्याद्, जो मांस को खाता है और (ग) देवयजन, जिसमें देवताओं के लिये हवन किया जाता है। अथर्ववेद में १२ वे काण्ड के दूसरे सूक्त में अग्नि के इन तीन प्रकारों का विवरण विस्तार के साथ किया दिया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विशेषतः ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण के साथ आथर्वण क्रिया-कलापों का घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि ऐतरेय में उद्धृत अनेक ऋचायें ऋग्वेद में उपलब्ध न होकर अथर्ववेद में मिलती हैं। कहने का तात्पर्य है कि यातु-विद्या का सम्बन्ध त्रयी के क्रियाकलाप तथा धार्मिक अनुष्ठानों के साथ अतीव घनिष्ठ तथा गम्भीर है।

अथर्व में यातु के प्रकार

मानव विज्ञान के प्रख्यात अंग्रेज विद्वान् सर जेम्स फ्रेजर के अनुसार जादू दो प्रकार का होता है—

(१) होम्योपैथिक जादू तथा (२) कन्टेजिअस जादू। पहला है सादृश्य मूलक जादू जो सादृश्य के नियमपर आश्रित है। अर्थात् सदृशकारण सदृश कार्य को उत्पन्न करता है) अथवा कार्य अपने कारण के अनुरूप ही होता है। उदाहरण के लिये, शत्रु के मारण-प्रसंग में वृक्ष की एक शाखा काट दी जाती है। यहाँ वृक्ष शत्रु का प्रतिनिधि है, और उसकी शाखा के तोड़ने का अर्थ होता है उसके

१. विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्। ऋक्० ३।५३।१२

अंग को छिन्न-भिन्न कर देना। अथर्ववेद की अनेक यातु-प्रक्रियायें इस प्रकार के अन्तर्गत आती हैं। शत्रुनाशन के लिए इस उपाय का प्रयोग अथर्व में अनेकशः किया गया है। भरद्वाज ऋषि का कथन है—

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप
यत्त्वाद्ध दा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं
यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ (२।१२।३)

वशीकरण की प्रक्रिया में जादू का सुन्दर दृष्टान्त उपलब्ध होता है। जिस पुरुष के ऊपर वशीकरण का प्रयोग किया जाता है, जिसे अपने वश में लाना अभीष्ट होता है, उस पुरुष की आटे की मूर्ति वह स्त्री बनाती है और आग में गर्म किये गये बाणों की नोक से वह उसके माथे को छेदती है और साथ में अथर्ववेद के ६।१३० सूक्त के मंत्रों का पाठ करती है—

असौ मे स्तरतादिति प्रियो मे स्तरतादिति
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु।
उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु॥

दूसरे प्रकार के जादू का नाम है 'कन्टेजिअस मैजिक' अर्थात् संसर्गाश्रित यातु। यह जादू संसर्ग के नियम पर आश्रित है। एक पदार्थ यदि दूसरे पदार्थ के साथ संसर्ग रखता है, तो वह उस संसर्ग के विच्छिन्न हो जाने पर उस पदार्थ से उसी प्रकार संसर्ग रहित हो जायगा, इस प्रकार का भी जादू अथर्व संहिता में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिये हम शत्रुमारण के उस प्रकार को लेते हैं जिसमें शत्रु के द्वारा मर्दित धूलि आग में जलाई जाती है। उसी धूलि पर शत्रु ने अपना पैर रखा था। शत्रु अब दूर चला गया है। धूलि से उसका अब कोई संसर्ग बना हुआ नहीं है। तथापि उसी धूलि को आग में जलाते हैं। और भावना करते हैं कि शत्रु आग में जलकर राख हो गया। अथर्व की इस प्रक्रिया में प्रयुक्त होनेवाला मंत्र यह है—

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु॥—अथर्व० २।१२।८

जादू में प्रक्रिया पक्ष तथा शब्द पक्ष दोनों का महत्त्व रहता है। जादू की क्रिया की जाती है और साथ ही साथ कतिपय मंत्रों का उच्चारण भी किया जाता है। आथर्वण ऋषि को अपनी क्रिया के ऊपर जितना विश्वास है उतना ही विश्वास अपने मन्त्रों के ऊपर भी है। इसलिये जब वह विश्वासपूर्वक कहता है—

"उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो।
दैव्या वाचा भरामसि॥" ८।१।३

हे साधक ! मैं तुझे निर्ऋति के पाश से, मृत्यु के पाश से अपनी दैवी वाणी–मंत्र–के बल पर हरण कर रहा हूँ तब उन्हें अपने रोग की मुक्ति में पूरा विश्वास उत्पन्न हो जाता है। मंत्रों की पुनरावृत्ति या शब्दों के किंचित् परिवर्तन के साथ आवृत्ति भी जादू टोना की सिद्धि में उपकारक मानी जाती है। अथर्ववेद में मंत्रों की पुनरावृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। देखिए दशम काण्ड का पञ्चम सूक्त–

अपां शुक्रमापोदेवीर्वचो अस्मासु धत्त
प्रजापतेर्वो धम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥

इतना अंश आठ मंत्रों में बारम्बार दुहराया जाता है अथवा इसी सूक्त के आरम्भ में—

'जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि' अंश किञ्चित् परिवर्तन के साथ पूरे ६ मंत्रों में आवृत्त किया गया है। 'ब्रह्म योगैः' के स्थान पर क्षत्रयोगैः इन्द्र योगैः 'सोमयोगैः' अप्सु-योगैः पद परिवर्तन के साथ आते हैं। जादू में उन्हीं-उन्हीं वाक्यों का बारम्बार उच्चारण करना श्रोता के ऊपर अपना विचित्र प्रभाव डालता है। और चित्त के ऊपर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करता है।

इस प्रकार जादू के जितने प्रकार का, उसकी प्रक्रिया के विधान, प्रभाव उत्पन्न करने के ढंग आदि का वर्णन आजकल के विद्वानों ने खोज निकाला है, उन सब का वर्णन विस्तार के साथ अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। तथ्य तो यह है कि अथर्व के अनुशीलन तथा विश्लेषण के आधार पर हम 'यातु विद्या' के मौलिक स्वरूप, प्रकार तथा प्रक्रिया की पद्धति को भली भाँति जान सकते हैं। अथर्व में तो केवल मंत्र ही मिलते हैं। परन्तु उनका प्रयोग मिलता है कौशिक सूत्र में। कौशिक सूत्र को इस तान्त्रिक विधि-विधानों और अनुष्ठानों का एक अक्षय विश्वकोश कहा जाय, तो कथमपि अनुचित नहीं है। ऐसा ग्रन्थ और वह भी इतना प्राचीन, अन्यत्र नितान्त दुर्लभ है।

अथर्व के जादू का प्रभाव

लोक-संस्कृति शिष्ट-संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिचय के लिये दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है। ये दोनों संहितायें दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचायिकायें हैं। अथर्व लोक संस्कृति का परिचायक है, तो ऋग्वेद शिष्ट-संस्कृति का। प्राचीन भारत के आचारों का पूरा रूप इन दोनों वेदों के सहयोग से ही हमें प्राप्त हो सकता है। अथर्व के विचारों का धरातल सामान्य जन-जीवन है, तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन-जीवन है। साधारण जनता के अनेक विश्वास विचित्र तथा विलक्षण हुआ करते हैं। किसी रोग के निदान करते समय वे आधिदैविक कारणों की उपेक्षा नहीं करते। उनके जीवन पर भूत-दूत, प्रेत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी जैसे अदृश्य अर्ध-दैविक प्राणियों

की सत्ता उसी प्रकार प्रभाव डालती है, जिस प्रकार भूतल के दृश्य प्राणियों का अस्तित्व। उनकी दृष्टि में ये पदार्थ अदृश्य जगत् के निवासी न होकर इस ठोस धरातल पर उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार मनुष्य तथा पशु। फलतः उनके विचार में इन प्राणियों का अस्तित्व उनके जीवन की घटनाओं को प्रभावित करने में सर्वथा समर्थ होता है। आज के वैज्ञानिक युग में हम इन्हें 'अन्ध विश्वास' मानते हैं, परन्तु इन विश्वासों में अन्धभक्ति मानना कथमपि उपयुक्त नहीं है और विश्वास की आलोचना उस युग की पृष्ठभूमि में रखकर ही की जा सकती है। नवीन युगों की मान्यताओं के आधार पर किसी प्राचीन युग के विश्वासों की अवहेलना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं माना जा सकता। अथर्व काल का व्यक्ति यदि पागलपन के रोग से ग्रस्त है, तो वह अपने रोग का कारण कोई शारीरिक विकार या मानसिक विकृति नहीं मानता, प्रत्युत वह उसे किसी जीव-जन्तु का बुरा प्रभाव मानता है और उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि यदि जलती हुई आग वाली कड़ाही उसके सिर पर रखी जायेगी और उसमें अग्नि के लिये सुगन्धित द्रव्यों का हवन किया जायेगा, तो उसका पागलपन समूल नष्ट हो जायेगा। अथर्ववेद (६।११११-४) के मन्त्रो के प्रयोग तथा उपर्युक्त अनुष्ठान करने से उसका रोग सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

कोई कुमारी अपने लिये योग्य पति के पाने में असमर्थ है तो इसका कारण वह अपने सौन्दर्य के अभाव को हेतु नहीं मानती है और न वह अपने माता-पिता के प्रयत्नों के शैथिल्य को, प्रत्युत वह किसी अदृश्य जीव को अपने ऊपर प्रभावशाली मानकर उसके प्रभाव को ध्वस्त करने का प्रयत्न करती है। साधारण जन अपने शत्रु को परास्त करने के लिए टोना-टोटका की शरण में जाता है। ऐसे प्राकृत जन के विश्वासों तथा आचारों की जानकारी के लिये अथर्ववेद सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। इस वेद के अध्ययन से पता चलता है कि अभिचार दो प्रकार का होता था। एक तो था 'मंगलसाधक' जिससे साधक अपने कल्याण की कामना करता था। दूसरा होता था 'अमंगल साधक' जिसमें शत्रुओं को परास्त तथा ध्वस्त करने की भावना प्रबल होती थी। पवित्र अभिचार (अथर्व) में हमें रोग की चिकित्सा के हेतु मन्त्र मिलते हैं तो अमांगलिक अभिचार (आंगिरस) में शत्रुओं के प्रति, विद्रोहियों के प्रति, अभिशाप मन्त्र मिलते हैं। इन दोनों ही प्रकार के अभिचारमन्त्रों के संग्रह होने के कारण यह समग्र वेद 'अथर्वांगिरस' के नाम से प्रसिद्ध है।

कतिपय उदाहरणों के द्वारा इन अभिचारों के स्वरूप का यहाँ प्रदर्शन किया जा रहा है। यदि कोई व्यक्ति किसी का प्रेम प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये अथर्व में अनेक विधान मिलते हैं। 'कौशिक सूत्र' में एक विधान का प्रकार इस प्रकार है।

प्रेमी उस सुन्दरी की मिट्टी की मूर्ति बनाता है। अपने हाथ में वह सन की डोरीवाले धनुष को लेता है जिसके बाण का अग्रभाग तीक्ष्ण कंटक से बिंधा रहता है। इसी कारण से वह अपनी प्रेयसी के हृदय को बेधता है। और साथ में अथर्व के मंत्रों का (३।२५।१-५ और ६) उच्चारण करता है, जिससे उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी बड़े बर्बर अभिचार का प्रयोग हम पाते हैं। ये अभिचार तब किये जाते हैं जब किसी स्त्री को बन्ध्या बनाना अभीष्ट होता है। अथवा किसी पुरुष को पुंस्त्वशक्ति से विहीन बनाकर नपुंसक बनाने की भावना प्रबल होती है (अथर्व ६।१३८, ७।६०) दुःस्वप्नों को दूर हटाने के लिए कहीं भूतापसरण विधि दी गई है तो कहीं संग्राम में शत्रु की प्रबल सेना को ध्वस्त करने के लिये तथा राजा को विजयी बनाने के लिये अनेक अभिचार मंत्र विहित हैं। रोगों को दूर करने के लिये नाना प्रकार की औषधियों का प्रयोग मंत्रों के साथ दिया गया है। साधारण ज्वर (तक्मन्), किलास (श्वेतकुष्ट), क्षेत्रिय रोग (कुलक्रमागत रोग) यक्ष्मा (क्षय रोग), विष (शरीर में किसी प्रकार से प्रविष्ट विष) आदि के निवारण के लिये औषधियों का प्रयोग नाना विधान के साथ यहाँ उपलब्ध होता है, जिससे मानव के कल्याण की भावना सर्वतोमुखी प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि अथर्ववेद प्राकृतजन के विश्वासों का, आचार-विचारों का, रहन सहन का, अलौकिक शक्ति में दृढ़ विश्वास का, भूतप्रेत आदि अदृश्य जीवों में पूर्ण आस्था का, एक विराट् विश्वसनीय कोष है जिसकी सहायता से हम उस प्राचीन युग की एक भव्य झाँकी देख सकते हैं। इसके मंत्रों की भाषा भी अपेक्षाकृत सरल तथा सुबोध है।

ऋग्वेद के विश्वास

ऋग्वेद संस्कृत-जन के विचारों की झाँकी प्रस्तुत करता है। उसके आचार विचारों का धरातल नितान्त उच्चस्तरीय, सुसंस्कृत तथा शिष्ट है। समाज के उच्चस्तर के विचारकों की विचार-धारा मंत्रों के माध्यम द्वारा यहाँ प्रवाहित होती है। मानव-जीवन को सुखमय बनानेवाले तथा प्राकृत दृश्यों के प्रतीकरूप देव हमारे जीवन में सर्वदा प्रभविष्णु तथा महत्वपूर्ण शक्तियाँ हैं। इसीलिये पुरोहित वर्ग अपने लिये, अपने यजमान के लिये, अपने आश्रयदाताओं के लिए बड़ी सुश्लिष्ट स्तुतियाँ सुनाकर उन्हें कृपाशील बनाने के लिये, प्रार्थना करता है। वे सर्वदा अपने पुत्र पौत्र, सुख-समृद्धि आदि के निमित्त देवों से प्रार्थना करने में कभी नहीं चूकते। देवों को साक्षात् करने तथा श्रद्धामयी पूजा देने का प्रधान उपकरण यज्ञयाग है। इन्हीं को लक्ष्यकर ऋग्वेद के अधिकांश मंत्र प्रवर्तित होते हैं, अनेक सूक्त यज्ञ के सम्बन्ध से सर्वथा विहीन आपाततः प्रतीत होते हैं। परन्तु इनके भीतर कोई याज्ञिक उद्देश्य अवश्यमेव विद्यमान रहता है। यज्ञीय उपकरण नितान्त उदात्त तथा विशुद्ध होते हैं। घृत, यव, तिल तथा सोमरस—ये देवता के उद्देश्य से अर्पित किये जाने वाले प्रधान-पदार्थ हैं। इनमें भी सोमरस का प्रामुख्य है।

सोमयाग में सोमरस तीन बार पत्थरों से कूट कर चलाया जाता था जिसे 'सवन विधि' कहते थे। तदनन्तर ऊन के वस्त्र से उसे छानकर द्रोण कलश में रखते थे। तथा उसमें दूध मिलाने की भी विधि थी। इसी का नाम था 'पवमान सोम' जिसके विशिष्ट मंत्रों के लिये ऋग्वेद का एक विशिष्ट मण्डल ही पृथक् कर दिया गया है। फलतः यज्ञ के अवसर पर इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, सविता, अश्विन्, आदि देवताओं के लिये सोमरस का समर्पण ऋग्वेदीय युग का परमोन्नत धार्मिक कृत्य था। इसी के लिए यजुः तथा साम का भी प्रयोग होता था। फलतः ये तीनों ऋक्, यजुः तथा साम—एक ही यज्ञ को ध्यान में लक्ष्यकर प्रवृत्त होने वाले मन्त्रपुञ्ज हैं। समाज का उच्चस्तरीय भाग इस पूजा-विधान का अधिकारी था तथा इसके लिये प्रयुक्त होने वाली संस्कृत भाषा अपने विशुद्ध उदात्त रूप में हमारे सामने आती है। फलतः ऋग्वेद तथा अथर्व के मंत्र दोनों मिलकर वैदिक युग के धार्मिक विधि-विधान का स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। प्राकृत जन तथा संस्कृत जन दोनों जनों का विचार-धरातल इन ग्रन्थों में स्पष्टतः दृष्टि गोचर होता है। अतएव ये दोनों एक दूसरे के परस्पर पूरक माने जा सकते हैं।

ऊपर के वर्णन से यह न समझना चाहिये कि अथर्व में यज्ञ-विधान का स्थान नगण्य और उपेक्षणीय है। ऋग्वेदीय यज्ञ-याग का विधान यहाँ भी किया गया है। परन्तु यज्ञ का सम्बन्ध अभिचार के साथ विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया है। उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति के साथ ही साथ सांसारिक अभ्युदय तथा शत्रुओं की पराजय भी था। यज्ञ एक प्रकार मायाशक्ति का आश्रय माना जाने लगा और इस माया-शक्ति का नाम ही पड़ गया—ब्रह्मन्! इस प्रकार अथर्व में हम यज्ञ की भावना में भी एक विकास का परिचय पाते हैं। यह विकाश भौतिक रूप से मानस स्तर तक पहुंचने का सूचक है। यज्ञ प्रतीकात्मक रूप से होकर मानस विधान की कोटि में आता है। अर्थात् यज्ञ के वास्तव विधान से आगे उठकर यजमान केवल मानसिक क्रिया के द्वारा अब यज्ञ का निष्पादन करता है। इस प्रकार यज्ञ की यह आध्यात्मिक भावना हमें औपनिषद कल्पना के पास पहुँचा देती है। इस समय यज्ञ के बहुत ही सीधे सादे विधान थे, जिनका संपादन थोड़े से खर्चे में और थोड़े ही दिनों में होना शक्य हो गया। इस प्रकार अथर्ववेद में हम यज्ञ के स्वरूप तथा विधान में पूर्व वेदों की अपेक्षा मौलिक परिवर्तन पाते हैं।



(४) अथर्ववेद में कौटुम्बिक अभिचार

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का स्थान बड़ा ही अनुपम है। जहाँ अन्य वेद देवताओं की स्तुति को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, वहाँ अथर्ववेद भौतिक विषयों के भी वर्णन में अपने को कृतकार्य मानता है। आदिम मानव की नाना प्रकार की विचित्र क्रियाओं, आचारविचारों, रहन-सहन की पूरी जानकारी के लिए अथर्ववेद से पुराना ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। जैसे शत्रुओं पर विजय पाने के लिए, क्लेशदायी दीर्घ रोगों के निवारण के लिए, सद्योजात शिशु तथा उसकी माता—जच्चा तथा बच्चा को सन्तप्त करनेवाले भूत-प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेद के सूक्तों में पाया जाता है जिसके कारण यह वेद नृतत्व एनथ्रोपोलाजी के अभ्यासियों के लिए एक बहुमूल्य विश्वकोष का काम करता है। जादू-टोना का प्रचार आथर्वण सभ्यता की एक विशिष्ट घटना है।

जादू-टोना सदा बुरा ही नहीं हुआ करता है। इसके द्वारा प्राचीन मानव अपने कुटुम्ब की रक्षा अपने शत्रुओं से तथा रोगों के आक्रमण से किया करता था। **आत्म-संरक्षण** की भावना ही जादू-टोना जैसी क्रियाओं की पृष्ठभूमि है। प्राणी इस पृथ्वीतल पर अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहता है। उसकी कामना यही रहती है कि वह भी दीर्घ काल तक सुख भोगे तथा उसका कुटुम्ब, उसका परिवार तथा उसकी सन्तान भी कल्याणमय जीवन बितावे। इसे ही कहते हैं आत्म संरक्षण की सहजा प्रवृत्ति। मानव प्रथमतः तो अपनी रक्षा अपने ही भौतिक उद्योगों के बल पर करता रहता है, परन्तु जब असफलता उसे दूर खदेड़ कर उसके प्रयासों को विफल बना देती है, तब वह आधिदैविक क्रियाओं तथा प्रयासों की ओर अग्रसर होता है और इन्हीं प्रयासों के अन्तर्गत जादू-टोना की भी गणना की जाती है। जादू (संस्कृत नाम = यातु) इस तरह दो प्रकार का होता है—शोभन तथा अशोभन, भला और बुरा। शोभन प्रकार में किसी दूसरे के द्वारा किये गये अनिष्ट से अपने को बचाने की भावना प्रबल होती है। अशोभन प्रकार में शत्रुविशेष के ऊपर मारण-मोहन तथा उच्चाटन की भावनायें विशेष जागरूक रहती हैं। पाश्चात्य जगत् कितना भी सभ्य क्यों न हो गया हो, परन्तु वहाँ भी इन दोनों की सत्ता विद्यमान है। इनमें से प्रथम प्रकार 'श्वेत जादू' (ह्वाइट मैजिक) के नाम से प्रसिद्ध है, तो दूसरा 'काला जादू' (ब्लैक मैजिक) नाम से प्रख्यात है। शेक्सपीयर ने अपने नाटकों में, विशेषतः 'मैक्बेथ' में इस दूसरे प्रकार के जादू का साहित्यिक विवरण प्रस्तुत कर यूरोप की मध्ययुगीय धारणाओं का एक भव्यरूप प्रस्तुत किया है।

अथर्ववेद ऐसे विश्वासों की जानकारी के लिए मानव-इतिहास में सबसे प्राचीन ग्रन्थरत्न है। अथर्व संहिता में भी अन्य संहिताओं के समान मन्त्रों का ही संग्रह

है। परन्तु इन मन्त्रों का उपयोग कब तथा किस उद्देश्य से किया जाता था, इसका पता हमें कौशिक गृह्यसूत्र की सहायता से ही लगता है। कौशिक गृह्यसूत्र अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है जिसमें १४ अध्याय हैं। इसका सम्पादन न्यूहावेन (अमेरिका) से डा० ब्लूकफील्ड ने किया है (१८९० में) तथा इसका पुनर्मुद्रण हिन्दी अनुवाद के साथ किया है मुजफ्फरपुर से उदयनारायण सिंह ने (१९४२ ई० में)। मानव विज्ञान के इतिहास में कौशिक सूत्र नितान्त उपादेय, प्रामाणिक तथा रोचक ग्रन्थ है, जिसमें उन अभिचारीय क्रिया-कलापों का विचित्र वर्णन है जो मन्त्रों के साथ प्रयुक्त होते थे।[1]

अथर्ववेद के केवल विवाह सम्बन्धी सूक्तों का एक संक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। विवाह से सम्बद्ध अनेक सूक्त अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं जिनके अनुशीलन से उस युग के समाज का चित्र हमारे नेत्रों के सामने बलात् प्रस्तुत हो जाता है। इन सूक्तों में कहीं तो पुत्र की उत्पत्ति के लिए प्रार्थना है, तो कहीं सद्योजात शिशु की रक्षा के लिए देवताओं की स्तुति है। अथर्ववेद का १४वाँ काण्ड 'विवाह काण्ड' है जिसके दो अनुवाकों में १३९ मन्त्र हैं, जिनका उपयोग विवाह के अवसर पर किया जाता है। इनमें से अनेक मन्त्र ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्तों में भी उपलब्ध होते हैं। इस मन्त्र में अग्नि तथा सूर्य से प्रार्थना की गई है कि वे कुटुम्ब के नाना क्लेशों को दूर करें—

यत् ते प्रजायां पशुषु यद् वा गृहेषु
निष्ठितमघ - कृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः
सविता च प्रमुच्यताम्॥
(अथर्व १४।२।६२)

इसी प्रकार जब वधू अपने नवीन घर में, पतिगृह में आती है, तब उसे दीर्घ जीवन पाने के लिए भव्य प्रार्थना इस मन्त्र में की गई है—

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो
दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥
(वही, मन्त्र ७५)

अब दूसरे प्रकार के मन्त्रों तथा तत्सम्बद्ध अनुष्ठानों पर दृष्टिपात कीजिए। कोई स्त्री अपने पति का प्रेम पाना चाहती है अथवा कहीं वह अपनी सपत्नी को अपने वश में करना चाहती है, तब वह एक विशिष्ट अनुष्ठान के साथ इस सूक्त (३।२५) के मन्त्रों का उपयोग करती है :—

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिये बलदेव उपाध्याय—वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० २९५-९६, शारदा मन्दिर, काशी।

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्।
तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वां हृदि ॥ २ ॥
या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता।
प्राचीनपत्रा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूसरों को बेचैन बनाने वाला काम तुम्हें बेचैन बनावे। अपनी सेज पर तुम आनन्द के साथ मत रहो। काम का जो भयानक बाण है उससे मैं तुम्हारे हृदय को बेधती हूँ। कामदेव का बाण मानसिक व्यथा के पत्तों से युक्त है। इच्छा के जिसमें काँटे गड़े हैं, संकल्प (निश्चित इच्छा) ही जिसका डंडा है। ऐसे बाण से तुम्हारे ऊपर ठीक लक्ष्य रख कर काम तुम्हारे हृदय को बेधे। काम का बाण प्लीहा को सोखने वाला है, ठीक लक्ष्य पर जमा है, उसके पंख आगे उड़ रहे हैं तथा वह जलाने वाला है (व्योषा), ऐसे बाण से मैं तुम्हारे हृदय को बेधती हूँ। इस सूक्त में कुल छः मन्त्र हैं जिनमें से तीन मन्त्रों का अर्थ ऊपर दिया गया है। शेष मन्त्र भी इसी भाव को पुष्ट करने वाले हैं। कौशिक-सूत्र का कथन है कि यदि कोई पुरुष किसी स्त्री के प्रेम को पाकर उसे अपने वश में लाना चाहता है, तो वह उस स्त्री की मिट्टी की मूर्ति बनाता है। सन की बनी डोरीवाला धनुष तथा काँटों की नोक वाला बाण बनाता है। बाण के पंख उल्लू की पाँख का होता है तथा बाण का हाथ काली लकड़ी का बना होता है और वह इसी बाण से उस प्रेमिका की मृत्तिकामूर्ति को छेदकर आर-पार कर देता है। काम के द्वारा कामिनी के हृदय को बेधने का यह प्रतीक है। दोनों क्रियाएँ साथ-साथ होती हैं—बाण से हृदय का बेधना और ऊपर के मन्त्रों का उच्चारण। यह वशीकरण क्रिया कहलाती है। ऐसी मूर्ति या चित्र बनाकर उसे बेधने का ढंग संसार के अन्य भागों में आज भी प्रचलित है।

इसी प्रकार पति को वश में लाने वाली वधू इस वशीकरण क्रिया का आश्रय लेती है। वह अपने प्रियतम की मूर्ति बनाती है, उसे अपने सामने रखती है और उसके सिर पर गरम बाणों से आघात करती है और साथ ही साथ अथर्व के दो सूक्तों (६।१३० तथा ६।१३८) का पाठ भी करती जाती है। इन सबका ध्रुव वाक्य है—'देवाः प्रहिणुत स्मरम् असौ मामनुशोचतु' अर्थात् ए देवगण, काम को इसके प्रति भेजिए जिससे वह मेरे प्रेम से उद्विग्न हो जाय।

एक दो मन्त्रों को लीजिए।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु। (६।१३०।४)

हे देवता लोग इसे पागल बना डालिए मेरे प्रेम से। ऐ वायु, इसे पागल बना डालो। हे अग्निदेव, आप भी उसे पागल बना डालो। वह मेरे प्रेम के शोक से

व्याप्त हो जाय।

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता॥ (६।१३१।३)

स्त्री पति को लक्ष्य कर कह रही है—अगर तुम तीन योजनों तक यहाँ से दौड़ गये हो, पाँच योजनों तक अथवा घोड़े के दिन भर चलने के रास्ते को पार कर गये हो, तो वहाँ से तुम मेरे पास अवश्य चले आवो और हमारे पुत्रों के तुम पिता बनो।

अन्तिम मन्त्र का तात्पर्य यह है कि पति स्त्री के पास से भाग कर बहुत दूर चला गया है, परन्तु इस आभिचारिक अनुष्ठान के बल पर वह फिर लौट कर घर चला आता है। अपनी गृहस्थी जमाता है तथा अनेक पुत्रों का पिता बन जाता है। इन मन्त्रों की भावना सौम्यभाव से परिपूर्ण है, परन्तु जिन मन्त्रों में कोई स्त्री अपनी वैरिणी को परास्त करना चाहती है उनमें तो घृणा की तथा प्रत्युपकार की बड़ी ही तीव्र-भावना दीख पड़ती है। इस घृणा भाव के लिए इन मन्त्रों पर ध्यान दीजिये—

भर्गमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥ १ (१।१४)

मैंने इस स्त्री (अपनी वैरिणी) के कल्याण, सौभाग्य तथा तेज को अपने लिए ले लिया है जिस प्रकार पेड़ से माला को। दृढ़ मूल वाले पर्वत के समान वह पिता-माता के यहाँ ही सदा बैठी रहे। दोनों उपमाओं का तात्पर्य सुन्दर है। माला तो सौभाग्य तथा तेज का प्रतीक है। पर्वत की उपमा देकर वह स्त्री कहती है कि जिस प्रकार दृढ़मूल पहाड़ उखाड़े नहीं उखड़ता, उसी प्रकार वह स्त्री भी हटाये न हटे। अपने मायके में ही पहाड़ की तरह जमी रहे। हमारे प्रियतम का मुख देखने का सौभाग्य उसे नहीं मिले।

एष ते राजन् कन्या वधूर्निधूमतां यम।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽयो भ्रातुरथो पितुः॥ २॥
एषा ते कुलपा राजन्! तामु ते परि दद्मसि।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात्॥ ३॥

यहाँ वह स्त्री यम को लक्ष्य कर कह रही है कि हे राजा यम, इस कन्या को आप अपनी बहू बनाकर अपने वश में रखिये। यह अपनी माता या भाई के या पिता के घर में बंधी रहे। हे राजन्! यह कन्या तुम्हारे कुल की रक्षा करने वाली है। इसे हम लोग तुम्हें देते हैं। यह अपने पिता-माता के यहाँ तब तक निवास करती रहे जब तक इसके बाल सर से न झड़ जाँय!!! इस चण्डिका की प्रार्थना सचमुच बड़ी कठोर है। यमराज की पत्नी बना देने से ही उसे सन्तोष नहीं है। वह तो चाहती है कि वह बुड्ढी-ठुड्ढी बन कर मर भले ही जाय, परन्तु पति का मुंह न देखे। इससे बढ़ कर घृणा की भावना क्या हो सकती है?

उग्र प्रतिहिंसा की आग जल रही है उन मन्त्रों में, जिनमें कोई स्त्री अपनी वैरिणी को बाँझ बना देने की प्रार्थना करती है (७।३५) अथवा किसी पुरुष के पुंस्त्व को नष्ट कर उसे नपुंसक बना देने की निभ्रान्त प्रार्थना है। दूसरे प्रकार के दो सूक्त हैं जिनमें से ७।९० तो उतना उग्र या तीव्र नहीं है, परन्तु ६।१३८ सूक्त में तो प्रतिहिंसा की कठोर भावना पढ़ कर चित्त विचलित हो उठता है। कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट ओषधि से प्रार्थना कर रहा है कि तुम्हारे प्रयोग के द्वारा मैं अपने शत्रु को क्लीव (=शक्तिहीन) बना देना चाहता हूँ। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह उस व्यक्ति को सदा के लिए क्लीव बना डाले और दो पत्थरों से उसके दोनों अण्डकोषों को सदा के लिए कुचल डाले! इसे पढ़ कर तो प्रतिहिंसा की भावना अपने नग्न रूप में हमारे सामने सजीव होकर खड़ी हो जाती है। भला इन्द्र से ऐसी प्रार्थना ! ! ! परन्तु वे तो शत्रुओं के 'पुरभेत्ता' ठहरे और इसलिए उनसे 'अण्डभेत्ता' बनने की प्रार्थना में वह व्यक्ति कोई अनौचित्य नहीं देखता ! ! ! भला हो उस प्रतिहिंसा का जो ऐसे अनुचित कार्यों के लिए प्राणियों को अग्रसर करती है। इस मन्त्र को लीजिए (अथर्व० ६।१३८।२): —

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्डौ ।।

एतद्विषयक अन्य सूक्तों में साहित्यिक सौन्दर्य की कमी नहीं है। सीधे सादे शब्दों में अपने मनोगत भावों को प्रकट करने की कला को देखकर आलोचक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। अथर्ववेद के कौटुम्बिक अभिचार का यह सामान्य परिचय भारतीय कुटुम्ब के अध्येताओं को मनोरंजक सिद्ध होगा।

(५) वैदिक आर्यों का आर्थिक जीवन

वैदिक आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें मनुष्य अपनी क्षुधा-शांति के लिये फल-मूल पर ही निर्भर रहा करता है अथवा पशुओं का शिकार कर मांस से अपनी उदराग्नि की ज्वाला को शांत किया करता है। वे लोग एक सुव्यवस्थित तथा एक स्थान पर रहनेवाले समाज में सुघटित हो गए थे, खानाबदोश फिरकों की तरह एक जगह से दूसरी जगह पर अपना निवास-स्थान बदला नहीं करते थे। उनकी जीविका का प्रधान साधन था खेती तथा पशु-पालन। वे कृषीवल समाज के रूप में ऋग्वेद में चित्रित किए गए हैं। आर्य कृषि को बड़ा महत्त्व देते थे। जूए में पराजित द्यूतकर को ऋषि ने उपदेश दिया है कि जूआ खेलना छोड़ दो और खेती करने का अभ्यास करो (अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, ऋ० १०।३४।७)। ऋग्वेद के अनुसार अश्विन् ने सर्वप्रथम आर्य लोगों को हल (वृक) के द्वारा बीज बोने की कला सिखलाई।[1] इस प्रकार अश्विन् देवों का सम्बन्ध कृषि-कला के साथ नितांत घनिष्ठ है। अथर्व (८।१०।२५) में पृथी वैन्य नामक राजा को हल से भूमि जोतने की विद्या का आविष्कारक माना गया है। वेनुपुत्र पृथी वा पृथु का वर्णन पुराणों में बड़े विस्तार के साथ किया गया है तथा इनकी सेवाओं का उल्लेख मार्मिक ढंग से किया हुआ मिलता है।[2] ये ही प्रथम राजा थे जिन्होंने कृषिकर्म के अयोग्य पथरीली भूमि को जोतकर समतल बनाया और इसीलिये उसका 'पृथ्वी' नामकरण हुआ।

कृषि-कर्म

खेत—ऋग्वेद तथा पिछले ग्रन्थों में खेत के लिये 'उर्वर' तथा 'क्षेत्र' शब्द साधारणतया प्रयुक्त किए गए हैं। खेत दोनों प्रकार के होते थे—उपजाऊ (अप्नस्वती) तथा पड़ती (आर्तना, ऋ० १।१२७।६) खेतों के माप का भी वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। खेत बिलकुल एक चकला ही नहीं होता था, बल्कि उन्हें नाप-जोखकर अलग-अलग टुकड़ों में बाँट दिया करते थे, जो विभिन्न कृषकों की जोत में आते थे.[3] खेतों के स्वामित्व के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। परन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि खेत पर किसी जाति का अधिकार नहीं होता था, वह वैयक्तिक अधिकार का विषय था। इसकी पुष्टि में उस मंत्र का प्रामाण्य दिया जा सकता है जिसमें अपाला ने अपने पिता के खेत

---

१. दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः (ऋ० ८।२२।६); यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा (ऋ० १।११७।२१)।

२. श्री मद्भागवत, स्कंध ४, अध्याय १६-२३

३. क्षेत्रमिव विममुस्तेजनेनं (ऋ० १।११०।५)।

(उर्वरा) को उनके शिर के समान कोटि में उल्लिखित किया है।[1] वैयक्तिक अधिकार का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति उस समय अपने लिये अलग-अलग जोत रखता था, प्रत्युत उससे खेत पर एक कुटुम्ब का अधिकार समझना चाहिए। राजा ही समग्र खेत तथा भूमि का एकमात्र स्वामी है, यह कल्पना वैदिक युग में प्रबल नहीं जान पड़ती। आगे चलकर सूत्र-कालमें यह भावना बद्धमूल हो सकी थी।

वैदिक काल के कृषि-कर्म के प्रकारों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय खेती आज की भाँति ही होती थी। खेत (उर्वर क्षेत्र) को हलों से जोतकर बीज बोने के योग्य बनाया जाता था। हल का साधारण नाम 'लांगल' या 'सीर' था जिसके अगले नुकीले भाग को 'फाल' कहते थे। फाल (फार) बड़ा ही नुकीला तथा चोखा होता था। हल की मूँठ बड़ी चिकनी होती थी (सुमतित्सरु अथर्व, ३।१७।३)। हल में एक लम्बा मोटा बाँस बाँधा जाता था (ईषा), जिसके ऊपर जूआ (युग) रखा जाता था, जिसमें रस्सियों (वरत्रा) से बैलों का गला बाँधा जाता था। हल खींचनेवाले बैलों की संख्या छः, आठ, बारह अथवा चौबीस तक होती थी, जिससे हल के भारी तथा बृहदाकार होने का अनुमान किया जा सकता है। हलवाहा (कीनाश) अपने पैने (अष्ट्रा, तोद या तोत्र) से इन बैलों को हाँकता था। वैदिक काल में वैश्य लोग ही अधिकतर खेती किया करते थे, क्योंकि अष्ट्रा उनका चिह्न बतलाया गया है। खेत उपजाऊ होते थे। उनके उपजाऊ न होने पर खाद डालने की व्यवस्था थी। खाद के लिये गाय का गोबर (करीष) काम में लाया जाता था।

पक जाने पर खेतों को हँसुआ (कटनी, ऋ० १०।१०१।३; दात्र, ऋ० ८।७८।१०) से काटते थे; अनाज को पुलियों (पर्ष) में बाँधते थे तथा खलिहान (खल, ऋ० १०।४८।७) में लाकर भूमि पर माँड़ते थे जिससे अनाज डंठल से अलग हो जाता था। शतपथ ने कर्षण (जोतना), वपन (बोना), लवन (काटना) तथा मर्दन (माँड़ना)—चार ही शब्दों में कृषिकर्म की पूरी प्रक्रिया का वर्णन कर दिया है। मर्दन के बाद चलनी (तितउ) अथवा सूप (शूर्प) से अनाज भूसे से अलग किया जाता था (ऋ० १०।७१।२)। इसे करनेवाले व्यक्ति को धान्यकृत् कहते थे (ऋ० १० ९४।१३)। अनाज को बर्तनों से नापकर कोठिलों में रखते थे। नापनेवाले बर्तन को 'ऊर्दर' कहते थे (तमूर्दरं न पृणता यवेन, ऋ० २।१४।११) तथा उस बड़े घर को जिसमें अनाज इकट्ठा कर रखा जाता था, 'स्थीवि' कहते थे।[2]

अनाज—बोए जानेवाले अनाजों के नाम मंत्रों में मिलते हैं। ऋग्वेद में यव तथा धाना का उल्लेख है, परन्तु इनके अर्थ पर मतभेद है। ये अनाज के साधा-

---

१. इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥ (ऋ० ८।९१।५)

२. बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थीविभ्यः॥ (ऋ० १०।६८।३)

रण नाम माने जाते हैं। बोए जानेवाले अनाजों के नाम हैं—व्रीहि (धान), यव (जौ), मुद्ग (मूँग), मास (उड़द), गोधूम (गेहूँ), नीवार (जंगली धान), प्रियंगु, मसूर, श्यामाक (साँवा), तिल (वाज० सं०, १८।१२) खीरा (उर्वारु या उर्वारुक) का भी नाम मिलता है। इनमें अनेक अनाजों के नाम ऋग्वेद में नहीं मिलते, प्रत्युत पिछली संहिताओं तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं। व्रीहि ऋग्वेद में न होकर पिछले ग्रंथों में उल्लिखित है।

तैत्तिरीय संहिता में काले तथा सफेद धान में अंतर किया गया है तथा धान के तीन मुख्य प्रकार बतलाए गए हैं—कृष्ण (काला), आशु (जल्दी जमनेवाला) तथा महाव्रीहि (अर्थात् बड़े दानोंवाला, तै० सं० १।८।१०।१)। इन भेदों में आशु 'साठी' नामक धान को लक्षित करता है, क्योंकि यह धान केवल साठ ही दिनों में पककर तैयार हो जाता है (षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते)। धान का साहचर्य सदा यव के साथ बतलाया गया है। फलों की पैदावार के बारे में हम अधिक नहीं जानते। बेर का नाम विशेषत: आता है, परन्तु यह जंगली था या लगाया जाता था, यह कहना कठिन है।

ऋतु—अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं का विशिष्ट वर्णन तैत्तिरीय संहिता (७।२।१०।२) में किया गया है। इसके देखने से बीज बोने का समय आजकल के समान ही जान पड़ता है। यव हेमंत में बोया जाता था, ग्रीष्मकाल में पकता था। धान वर्षा में बोया जाता तथा शरद् में पकता था। तिल तथा दालवाले अनाज शीतकाल में बोए जाते थे। फसल (शस्य) साल में दो बार बोई जाती थी। कौषीतकि ब्राह्मण (२१।३) के अनुसार शीतकाल में बोई गई फसल चैत के महीने में पक जाती थी।

आजकल की भाँति उस समय भी किसानों के सामने हानि पहुँचानेवाले कीड़ों से खेती को बचाने की समस्या उपस्थित थी। अवर्षण तथा अतिवर्षण से भी खेती को हानि पहुँचती थी, परन्तु कीड़ों से इनकी अपेक्षा कहीं अधिक। अथर्व में कृषि-नाशक कीड़ों में उपक्वस, जभ्य तथा पतंग के नाम दिए गए हैं, जिनसे खेती की रक्षा के लिये अनेक मंत्र तथा उपाय बतलाए गए हैं। छांदोग्य के प्रामाण्य पर टिड्डियों (मटची) से भी बड़ी हानि होती थी। कभी-कभी ये पूरा देश का देश साफ कर डालती थीं। एक बार टिड्डियों के कारण समग्र कुरु जनपद के नष्ट होने की घटना का उल्लेख किया गया है (मटचीहतेषु कुरुषु. छां० १।१०।१)।

वैदिक-कालीन कृषि के इस संक्षिप्त वर्णन से विदित होता है कि हमारी कृषि-पद्धति वैदिक ढंग पर आज भी चल रही है।

वैदिक आर्यलोग अपने कृषि-कर्म के लिये वृष्टि पर ही अवलंबित रहते थे। वृष्टि के देवता का इसी कारण वेद में प्राधान्य माना गया है। वृष्टि को रोकनेवाले दैत्य का नाम था वृत्र (आवरणकर्ता), जो अपनी प्रबल शक्ति से मेघों के गर्भ में होनेवाले जल को रोक रखता था। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र को मारकर

छिपे हुए जल को बरसा देता था तथा नदियों को प्रगतिशील बनाता था। वैदिक देवतामंडल में इंद्र की प्रमुखता का रहस्य आर्यों के कृषिजीवी होने की घटना में छिपा हुआ है।

उस समय खेतों की सिंचाई का भी प्रबन्ध था। एक मन्त्र में जल दो प्रकार का बतलाया गया है—खनित्रिमा (खोदने से उत्पन्न होनेवाला) तथा स्वयंजा[1] (अपने-आप होनेवाला, नदी-जल आदि)। कूप (कुआँ) तथा अवट (खोदकर बनाए गए गड्ढे) का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर मिलता है (कूप, ऋ० १०।१०५।१७; अवट, १।५८।८, १०।२५।४)। ऐसे कुओं का जल कभी कम नहीं होता था (अक्षितं, ऋ० १०।१०१।६)। कुओं से पानी पत्थर के बने चक्के (अश्मचक्र) से निकाला जाता था जिसमें रस्सियों (वरत्रा) के सहारे जल भरनेवाले कोश (छोटी मोट) बँधे रहते थे (ऋ० १०।२५।४)। पानी कुएँ से निकालने के बाद लकड़ी के बने पात्र (आहाव) में उड़ेला जाता था। कूपों का उपयोग मनुष्यों तथा पशुओं के निमित्त ही जल निकालने के लिये नहीं किया जाता था, बल्कि कभी-कभी इनसे सिंचाई भी होती थी। कुओं का जल बड़ी-बड़ी नालियों से बहता हुआ खेतों में पहुँचता (सूर्मि सुषिरा, ऋ० ८।६९।१२) और उनको उपजाऊ बनाता था। कुओं से जल निकालने का यह ढंग अब तक पंजाब तथा दिल्ली के आसपास प्रचलित है।

वैदिक आर्यों के जीवन-निर्वाह के लिये कृषि का इतना अधिक महत्त्व तथा उपयोग था कि उन्होंने 'क्षेत्रपति' नामक देवता की स्वतन्त्र सत्ता मानी है तथा उनसे क्षेत्रों के शस्य संपन्न होने की प्रार्थना की है। क्षेत्रपति का वर्णन ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के संतावनवें सूक्त से उपलब्ध होता है। इस सूक्त के एक-दो मंत्र यहाँ दिए जाते हैं (ऋ० ४.५७)—

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ७॥
शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्त॥ ८॥

[भावार्थ—हमारे फाल (हल के नुकीले अग्रभाग) सुखपूर्वक पृथ्वी का कर्षण करें। हलवाहे (कीनाश) सुखपूर्वक बैलों से खेत जोतें। मेघ मधु तथा जल से हमारे लिये सुख बरसाए तथा शुनासीर हमलोगों में सुख उत्पन्न करें।]

पशु-पालन

वैदिक आर्यों के लिये कृषि-कर्म के अतिरिक्त पशु-पालन जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन था। कृषीवल समाज के लिये पशुओं की और विशेषतः गाय-बैलों की कितनी महत्ता है, इसे प्रमाणों से सिद्ध करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। आर्यों

१. या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति
खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः॥ (ऋ० ७।४९।२)

के जीवन में गायों का विशेष स्थान इसी कारण है। बैलों से खेती का काम लिया जाता था। गाय का दूध आर्यों के भोजनालयों की एक प्रधान वस्तु था। यह शुद्ध अमिश्रित रूप में आर्यों का प्रधान पेय था। सोमरस में मिलाने के काम आता था तथा क्षीरौदन (खीर) बनाने में भी नितान्त उपयोगी था। इससे दही और घी तैयार किया जाता था। उस प्राचीन काल में किसी व्यक्ति की धन-संपत्ति का माप उसके पास होनेवाली गायों की संख्या से होता था। यज्ञों में ऋत्विजों के लिये दक्षिणा रूप में गाय ही देने का विधान था। यहाँ तक कि 'दक्षिणा' शब्द अनेक स्थलों पर 'गो' का पर्यायवाची बन गया था।[1] राजा लोग प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को सौ या हजार गायों का दान दिया करते थे, जिसका ऋषियों ने दानस्तुतियों में आभार प्रदर्शन करते हुए उल्लेख किया है। वैदिक काल में सिक्कों का प्रचलन बहुत ही कम था। अतः लेन-देन, व्यवहार-बंटा, क्रय-विक्रय के कार्य के लिये विनिमय का मुख्य माध्यम गाय ही थी। गाय के ही बदले में वस्तुएँ खरीदी जाती थीं। पदार्थों का मूल्य गाय के ही रूप में विक्रेता को दिया जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में (३।२४।१०) वामदेव ऋषि का कथन है कि कौन मनुष्य ऐसा है जो मेरे इस इन्द्र (इन्द्र की मूर्ति) को दस गायों से खरीद रहा है।[2] उक्त मन्त्र में सौ, हजार या दस हजार भी गाएँ इन्द्र को खरीदने के लिये पर्याप्त नहीं मानी गई हैं।[3] भारत में ही नहीं, पश्चिमी देशों में भी प्राचीन काल में संपत्ति की कल्पना का आधार गाय ही थी। लातिनी भाषा का 'पेकस' (Pecus) शब्द, जिसका अर्थ संपत्ति है और जिससे अंग्रेजी का 'पेक्यूनियरी' (Pecuniary) शब्द बनता है, भाषाशास्त्र की दृष्टि में संस्कृत 'पशुः' (पशुस्) शब्द से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार खेती, भोजन तथा द्रव्य-विनिमय का मुख्य साधन होने के कारण गाय वैदिक आर्यों के लिये नितान्त उपादेय तथा आवश्यक पशु थी। वैदिक काल में गाय के गौरव का रहस्य इसी सामाजिक अवस्था की सत्ता में अंतर्निहित है। इसी कारण वैदिक आर्यगण गाय को 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) नाम से पुकारते थे तथा उसे समधिक श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में गाय को देवता के रूप में अंकित किया गया है। ऋग्वेद का एक सुन्दर सूक्त (६।२८) धेनु की प्रचुर प्रशंसा से ओत-प्रोत है तथा वैदिक आर्यों की गो-भक्ति का स्पष्टाक्षरों में प्रतिपादक है।

ऋषि भरद्वाज के शब्दों में गाय 'भग' (देवता) है, गाय ही मेरे लिये इन्द्र है, गाय ही सोमरस की पहली घूंट है, ये जितनी गाएँ हैं वे, हे मनुष्यों, इंद्र की साक्षात् प्रतिनिधि हैं। मैं हृदय से, मन से, उसी इंद्र को चाहता हूँ'—

---

१. तं ह कुमारं सन्तं 'दक्षिणासु' नीयमानासु श्रद्धाविवेश (कठोपनिषत् १।१।२)।

२. क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः (ऋ० ४।२४।१०)।

३. महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥ (ऋ० ८।१।५)

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ६।२८।५

इस मंत्र में गाय के देव-स्वरूप की अभिव्यक्ति नितांत स्पष्ट शब्दों में की गई है। गो का देवत्व काल्पनिक न होकर आर्यों के लिये वास्तविक है, क्योंकि गाएँ कृश (दुबले-पतले आदमी) को स्थूल बना देती हैं, शोभाहीन (अश्रीर) पुरुष को सुभग सुंदर रूप प्रदान करती हैं, और उनकी बोली अत्यंत कल्याणकारक है। सभाओं में गाय के विपुल सामर्थ्य का बर्णन बहुशः किया जाता था (६।२८।६)। ऋग्वेद के एक दूसरे सूक्त (१०।१६९) में शबर काक्षीवत ऋषि ने गायों की उत्पत्ति को अंगिरस् ऋषि की तपस्या का सुखद परिणाम बतलाया है[1] तथा भिन्न-भिन्न देवताओं (रुद्र, पर्जन्य तथा इंद्र) से प्रार्थना की है कि वे लोग हमारी परम उपकारक गायों का सतत कल्याण-साधन किया करें। इस प्रकार गायों के प्रति वैदिक आर्यों की अटूट श्रद्धा का भाव आज भी उनके वंशजों में जाग्रत् रूप से यदि पाया जाता है, तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

गाएँ वैदिक काल में दिन में तीन बार दुही जाती थीं—प्रातः काल (प्रातर्दोह), दोपहर से कुछ पहले (संगव) तथा सायंकाल (सायंदोह—तै सं० ७।५।३ १)। तीन बार वे चरने के लिए चरागाह में भेजी जाती थीं। पहली बार की दुहाई में दूध प्रचुर मात्रा में होता था, परन्तु अन्य दोनों समय कुछ कम। जो गाएँ दूध देनेवाली होती थीं वे सायंकाल घर चली आती थीं तथा 'शाला' में रखी जाती थीं, परंतु अन्य पशु बाहर मैदान में ही रहा करते थे। दोपहर के समय जब गर्मी अधिक होती तो सभी पशु छप्पर के नीचे रखे जाते थे (ऐतरेय ३।१८।१४ पर सायण भाष्य) पशुओं के रहने के स्थान को 'शाला' तथा चरने के मैदान को 'गोष्ठ' कहा जाता था। चरने जाने के समय बछड़े शाला में ही रहते, परंतु संगव या सायंकाल वे अपनी माताओं के साथ रहते थे। वैदिक काल में गाएँ भिन्न-भिन्न रंगों की होती थीं—लाल (रोहित), सफेद (शुक्र), चित्रित (पृश्नि) तथा काली (कृष्ण)। चरागाह में गाएँ गोप या गोपाल (ग्वाले) की देखरेख में चरती थीं, जो अपने पैने (अष्ट्रा) से उन्हें हाँकता था। ग्वालों के सजग रहने पर भी गाएँ कभी-कभी संकट तथा विपत्तियों में पड़ जाती थीं। कभी वे कुओं या गड्ढों में गिर जातीं, कभी उनका अंगभंग हो जाता, कभी वे भूल जाया करतीं और कभी दस्यु या पणि लोग उन्हें चुरा लिया करते थे (ऋ० १।१२०।८)। इन विपत्तियों से पशुओं की रक्षा करनेवाले वैदिक देवता का नाम 'पूषन्' था, जो इसी लिये 'अनष्टपशु' (गोरक्षक) विशेषण से

१. याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य ! महि शर्म यच्छ ॥
(ऋ० १०।१६९।२)

विभूषित किए गए हैं।[1] गाएँ इतनी अधिक होती थीं कि उनकी पहिचान के लिये उनके कानों के ऊपर नाना प्रकार के चिह्न बनाए जाते थे। जिन गायों के कानों पर अंक आठ का चिह्न बना रहता वे 'अष्टकर्णी' कहलाती थीं (ऋ० १०।६२।७)। मैत्रायणी संहिता (४।२।९) में उल्लिखित चिह्न हैं—वंशी (कर्करिकर्ण्यः), हँसुआ (दात्रकर्ण्यः), खंभा (स्थूणाकर्ण्यः)। कभी-कभी गायों के कान छेदे जाते थे (छिद्रकर्ण्यः)। अथर्व में मिथुन के चिह्न का निर्देश है जो संभवतः प्रजनन-शक्ति के उत्पादन का प्रतीक जान पड़ता है। गायों के कानों को चिह्नित करने की यह प्रथा बहुत दिन पीछे तक भारत में प्रचलित रही, क्योंकि पाणिनि के सूत्रों में ऐसे चिह्नों का उल्लेख मिलता है (अष्टा० ६।३।११५)।

गायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक अनेक शब्द वैदिक ग्रंथों में मिलते हैं, जिनसे आर्यों का इस पशु के साथ गाढ़ परिचय अभिव्यक्त होता है। सफेद गाय को 'कर्की', बच्चा देनेवाली जवान गाय को 'गृष्टि', दुधारी गाय को 'धेना' वा धेनु, बाँझ गाय (बहिला) को 'स्तरी' धेनुष्टरी' वा 'वशा' बच्चा, देकर बाँझ होने वाली गाय को 'सूतवशा' तथा अकाल में जिसका गर्भ गिरकर नष्ट हो जाता उस गाय को 'वेहत्' कहते थे। वह गाय जिसे अपना बछड़ा मर जाने पर नए बछड़ो के लिये मनाने की आवश्यकता होती थी, 'निवान्यवत्सा' या 'निवान्या' (शत० २।६।१।६), 'अभिवान्यवत्सा' (ऐत० ७।२), 'अभिवान्या' या केवल 'वान्या' शब्द से अभिहित की जाती थी। वैदिक ऋषियों को गाय का अपने बछड़े के लिये रँभाना इतना कर्णसुखद प्रतीत होता था कि वे देवताओं को बुलाने के लिए प्रयुक्त अपने शोभन गानों की इनसे तुलना करने में तनिक भी नहीं सकुचाते थे।[2]

वैदिक समाज में बैलों का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता था। वे हल जोतने के लिये तथा बोझवाली गाड़ी खींचने के लिये नियमतः काम में लाए जाते थे। वैदिक ग्रन्थों में बैलों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को सूचित करनेवाले अनेक शब्द पाए जाते हैं। बैल के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द 'ऋषभ', 'उस्र' तथा 'उस्रिय' है; दुधमुँहें बछड़े को 'धरुण', डेढ़ साल के बछड़े को त्र्यवि', दो साल के बछड़े को दित्यवाह', ढाई साल वाले को 'पञ्चावि', तीन साल वाले को 'त्रिवत्स' साढ़े तीन साल वाले को 'तुर्यवाह्', चार साल वाले को 'षष्ठवाह्' कहते थे। इतनी ही अवस्थाओं वाली गायों के लिये क्रमशः 'त्र्यवी', 'दित्यौही' 'पञ्चावी', 'त्रिवत्सा', 'तुर्यौही', 'षष्ठौही' शब्दों का प्रयोग किया जाता था (वाज सं०

---

१. पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
(ऋ० १०।१७।३)

२. अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न मातरः।
इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ (ऋ० ९।१२।२)

१८।२६, २७)। जवान बैल को 'वृष' तथा 'ऋषभ', गाड़ी खींचने में समर्थ बैल को 'अनड्वान्' और बधिया किए गए बड़े बैल को 'महानिरष्ट' नाम से पुकारते थे।

अन्य उद्यम

वैदिक आर्य खेती तथा पशु-पालन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के उद्यम करते थे, जिनमें हाथ के कौशल और कारीगरी की विशेष आवश्यकता पड़ती थी। बढ़ई (तक्षन्), लोहार (कर्मार), वैद्य (भिषक्), स्तोत्र निर्माता (कारु), कुम्हार (कुलाल), रथ बनानेवाले (रथकार), मल्लाह (कैवर्त, निषाद) तथा बुनकर (वाय) आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है। इन धन्धों को करने में आर्यजनों को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। अपनी स्वाभाविक रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार वे लोग अपने लिये पेशे चुन लिया करते थे। अतः यह कथन कि बढ़ई-लुहार नीच जाति के लोग थे या इन्होंने अपनी अलग एक जाति बना रखी थी, वैदिक काल के लिये नितान्त निराधार है। ऋग्वेद के एक सूक्त (६।११२) में विभिन्न पेशेवालों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सुन्दर नैसर्गिक वर्णन किया गया है। यह वर्णन अपनी स्पष्टवादिता और सादगी के लिये बड़े महत्त्व का है। ऋषि का कथन है कि 'बढ़ई टूटी हुई वस्तु को चाहता है, वैद्य रोगी को, ऋत्विक् यज्ञ में सोम का रस निकालनेवाले यजमान को, कर्मार धनाढ्य को। मैं स्वयं कवि (कारु) हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता (नना) जाँत पीसनेवाली (उपलप्रक्षिणी) है। हमारे विचार नाना प्रकार के हैं और हम अपनी अभीष्ट वस्तु की ओर उसी प्रकार दौड़ रहे हैं जिस प्रकार गायों की ओर।"[1]

बढ़ई—यह लकड़ी से सब प्रकार की चीजें, विशेषकर रथ तथा गाड़ी (अनस्) बनाने का काम करता था और लकड़ी की चीजों पर नक्काशी का भी काम करता था। कुलिश तथा परशु उसके औजार थे।

रथकार—रथकार का वैदिक समाज में बहुत आदरणीय स्थान था। रथ ही युद्ध में लड़नेवाले आर्य शूर-वीरों की प्रधान सवारी थी, अतः उसे बनानेवालों के प्रति आदर की भावना होना स्वाभाविक था।

लोहार—लोहार का उल्लेख अनेक वैदिक संहिताओं में (ऋ० १०।७२।२, अथर्व ३।५।६ आदि) आदर के साथ किया गया मिलता है। अथर्ववेद में लोहार को मल्लाह (धीवानः) और रथकार के साथ कारीगरों की सूची में गिना गया है (अ० ३।५।६)। लोहार आग में लोहे को गलाता था इसलिये उसे 'ध्मातृ'

---

१. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिम
इन्द्रायेन्द्रो परिस्रव ॥ (ऋ० ९।११२।३);

के नाम से पुकारा जाता था। उसकी धौंकनी पक्षियों के पंखों की बनी बताई गई है। वह नित्य के काम के लिये धातु के बर्तन बनाता था। कभी-कभी सोमरस पीने के लिये धातु के प्याले भी हथौड़े से पीटकर बनाए जाते थे। इस प्रकार लोहार की उपयोगिता वैदिक समाज में बहुत महत्त्वपूर्ण थी।

बुनकर—लोहार की भाँति बुनकर का पेशा भी महत्त्वपूर्ण था। वैदिक मन्त्रों में इस पेशे से आर्यों का गहरा परिचय दिखाई पड़ता है। पहले रुई को कातकर सूत तैयार किया जाता और तब उससे कपड़ा बुना जाता था। बुनकर का नाम 'वाय' था। ऋग्वेद (१०।२६।६) में प्रयुक्त 'वासो-वाय' (धोती बुननेवाला) शब्द से जान पड़ता है कि उस समय धोती बुननेवाले तथा अन्य वस्त्रों—जैसे चादर, दुपट्टा, कंबल आदि—को बुननेवाले में भेद माना जाता था। बुनकर के पेशे से संबद्ध पारिभाषिक शब्द साधारण व्यवहार के विषय थे। तन्तु (ताना), ओतु (बाना, ऋ० ६।६।२)[1], तंत्र (करघा, ऋ० १०।७१।६), प्राचीनातान (आगे खींचकर बाँधा गया ताना, तैत्ति० सं० ६।१।१।४) आदि अनेक बार प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द आर्यों के इस कला से गाढ़ परिचय के द्योतक हैं। बुनने की प्रक्रिया भी बहुत कुछ आजकल की सी जान पड़ती है। सूत खूँटियों (मयूख) की सहायता से ताना जाता था (वाज० सं० १६।८०)। बुनने में सहायता देने वाली ढुरकी का नाम 'तसर' था (ऋ० १०।१३०।२)। करघे के लिये 'वेमन्' शब्द का प्रयोग होता था। बुनने का काम विशेषतः स्त्रियों के जिम्मे रहता था, जिन्हें 'वयित्री' कहते थे। अथर्व (१०।७।४२) में इसकी पोषक एक अनूठी उपमा का प्रयोग मिलता है। रात्रि और दिन को दो बहिनें कहा गया है, जो वर्षरूपी वस्त्र को बुनकर तैयार करती हैं। इसमें रात्रि है ताना तथा दिन है बाना।

सूती धोती (वासस्), रेशमी कपड़े (तार्प्य और क्षौम) तथा ऊनी वस्त्र (कंबल, परिधान आदि)—ये ही बुनने की मुख्य वस्तुयें थीं। ऋग्वेद के अनुशीलन से पता चलता है कि परुष्णी तथा सिंधु नदियों का प्रदेश और गांधार बढ़िया ऊनी वस्त्रों के लिये विख्यात थे। परुष्णी नदी के तीर पर बहुत ही बढ़िया पतले तथा रंगीन ऊनी वस्त्र तैयार होते थे। मरुत की स्तुति में उनके परुष्णी ऊन के बने शुभ्र वस्त्र पहनने का उल्लेख किया गया है।[2] सिंधु नदी के वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसका प्रदेश वैदिक काल में व्यापार का, विशेषतः सूती तथा ऊनी वस्त्रों के व्यापार का, बड़ा जीता जागता केन्द्र था। सिंधु देश केवल बढ़िया घोड़ों तथा सुन्दर रथों के ही लिये प्रसिद्ध न था, प्रत्युत सूत तथा ऊन की पैदावार

१. नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।
२. उतस्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसन्त शुन्धवः। इस मंत्र में 'शुन्धव' शब्द से तात्पर्य स्वच्छ अथवा रंगीन ऊनी वस्त्र माना जाता है।

भी वहाँ बहुतायत से होती थी।[1] ऋषि ने इसीलिये सिंधु को 'सुवासा' तथा 'ऊर्णावती' विशेषणों से अलंकृत किया है। गांधार की भेड़ें अपने चिकने ऊन के लिये ऋग्वेद-काल में चारों ओर प्रसिद्ध थीं (सर्वाहमस्मि रोमशा गंधारीणामिवाविका, ऋ० १।१२६।७)। इस प्रकार ऋग्वेद के समय में सप्तसिंधव प्रदेश का पश्चिमोत्तर भाग सूत तथा ऊन के व्यवसाय से चमक उठा था। इसके करघों से निकले हुए वस्त्रों की ख्याति आर्यों के घर-घर में फैल गई थी। इस सम्बन्ध में यह बात बड़े महत्त्व की है कि वैदिक काल में भारत का जो पश्चिमोत्तर प्रदेश रुई तथा ऊन की बढ़िया उपज तथा औद्योगिक कलाओं के लिये विशेष रूप से विख्यात था, उसमें आज भी यह औद्योगिक परम्परा अटूट दिखाई पड़ती है। आज भी पंजाब के अनेक नगर—लुधियाना, धारवाल, अमृतसर आदि—सूती तथा ऊनी वस्त्र तैयार करनेवाली मिलों से गूँज रहे हैं और अपनी बढ़िया उपज के लिये भारत भर में प्रसिद्ध हैं।

व्यापार

वैदिक काल में कृषि-कर्म तथा औद्योगिक शिल्पों से उत्पन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था। व्यापार की उस प्रारंभिक अवस्था में उसका एकमात्र रूप वस्तु विनिमय ही था। एक चीज के बदले दूसरी चीज खरीदी जाती थी और इसी अदला-बदली के रूप में वैदिक व्यापार चलता था। हमने सप्रमाण दिखलाया है कि वैदिक काल में गाय ही 'क्रय-विक्रय' का मुख्य माध्यम थी। पर जैसा कि हम आगे देखेंगे, एक प्रकार के सिक्के का भी चलन था। व्यापार करनेवाले को 'वणिक्' कहते थे, और उसके कर्म को 'वणिज्या'। मूल्य के लिये 'शुल्क' तथा 'वस्न' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक काल में पणि लोग (व्यापारियों का एक वर्ग) जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग से वस्तुओं का आदान-प्रदान किया करते थे। क्रेय सामग्री में खेती तथा उद्योग-धन्धों से उत्पन्न वस्तुएँ होती थीं। सिंधु तथा परुष्णी के प्रदेश के करघों से तैयार सूती तथा ऊनी माल उस समय सप्तसिंधव के अन्य भागों में अवश्य भेजा जाता रहा होगा और उसका व्यापार जोरों से चलता रहा होगा। अथर्ववेद में दूर्श (वस्त्र) पवस्त (चादर) तथा अजिन (चर्म) खरीदने का उल्लेख मिलता है (अथर्व ४।७।६)।

भौतिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं के सिवा यागानुष्ठान की भी दो एक उपयोगी वस्तुओं का क्रय-विक्रय उस समय होता था। वैदिक काल में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था या नहीं, इस विषय में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ऋग्वेद के मंत्रों (४।२४।१०; ८।१।५) की छानबीन से देवताओं की मूर्तियाँ खरीदने और बेचने की बात प्रमाणित की जा सकती है। इतना ही नहीं, सोमलता का भी

---

१. स्वश्वा सिंधुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥
—ऋ० १०।७५।८

व्यापार अवांतर काल में होने लगा था। सोम का मूल निवास 'मूजवत्' पर्वत पर माना गया है जो सप्तसिंधव के उत्तर-पश्चिम में अवस्थित था। ज्यों-ज्यों आर्यों का निवास पूरब की ओर बढ़ता गया, त्यों-त्यों मूजवत् पर्वत दूर होता गया और सोमयाग के लिये सोमलता का ले आना कठिन होता गया। इस कार्य के संपादन के लिये अनेक व्यक्ति सोमलता का व्यापार करने लगे थे। सोमयाग के आरम्भ में गाएँ देकर सोम खरीदने की विधि है, जो ऐतिहासिक पर्यालोचन से बहुत ठीक जमती है।

वैदिक काल में बाजार अवश्य थे, क्योंकि अनेक स्थलों पर वस्तुओं को खरीदने के समय भाव-ताव करने का निःसंशय उल्लेख मिलता है। जो शर्त दूकानदार और ग्राहक के बीच एक बार निश्चित हो जाती थी वह कथमपि तोड़ी नहीं जाती थी। ऋग्वेद (४।२४।६) के एक मंत्र में भाव-ताव करने और शर्त न तोड़ने का वर्णन बहुत स्पष्ट है। मंत्र का आशय यह है कि एक मनुष्य ने बड़े दाम की चीज कम मूल्य पर एक ग्राहक के हाथ बेंच डाली। पता चलने पर वह ग्राहक के पास आया और यह कहकर कि मेरी चीज बिना बिकी (अविक्रीतं) समझी जानी चाहिए, अपनी चीज वापस लेने पर उतारू हो गया। परन्तु ग्राहक अड़ गया और चीज नहीं लौटाई। निर्धन (दीन) तथा धनिक (दक्ष) दोनों प्रकार के मनुष्य को अपनी की हुई शर्तों को मानना ही पड़ता था।[1]

स्थल-व्यापार—वैदिक काल में बहुत से पशु माल-असबाब ढोने के काम में लाए जाते थे। आर्यों ने अपनी चातुरी से इन्हें पाल-पोसकर घरेलू बना लिया था। ऐसे पशुओं में बैल (बधिया, 'वध्रयः' ऋ० ८।४६।३०), घोड़े, ऊँट (उष्ट्र, १।१०४), गदहे (रासभ, ऋ० १।३४।६), कुत्ते (ऋ० ८।४६।२८) तथा भैंसे (महिष, ऋ० ८।१२।८) प्रधान थे। बैल हल जोतने के काम में तो आते ही थे, साथ ही वे गाड़ी खींचते तथा बोझ भी लादते थे। घोड़ों का भी उपयोग रथ तथा बोझ दोनों के लिये होता था। गदहे रथ में जोते जाते तथा बोझा ढोते थे। सप्तसिंधव के आसपास जो अनेक मरुस्थल (धन्व) थे उनमें माल ढोने का काम ऊँटों से लिया जाता था। कुत्तों से यह काम लिए जाने की बात सुन कुछ आश्चर्य होता है (अश्वेषितं रजेषितं शुनेषितं, ऋ० ८।४६।२८), परन्तु कुत्ता कृषक आर्यों के लिये बड़े काम का जानवर था। वह चोरों तथा दूसरे आक्रमणकारियों से घर की रक्षा करता और उसके द्वारा सुअर का शिकार भी किया जाता था। वह बहुत बलवान् होता था, अतः बहुत संभव है कि पणियों का 'सार्थ' (काफिला) कुत्तों की पीठ पर माल लादकर व्यापार के लिये सप्तसिंधव प्रदेश में एक जगह से दूसरी जगह ले जाता रहा हो।

---

१. भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम्। (ऋ० ४।२४।९)

सामुद्रिक व्यापार—वैदिक काल में समुद्र से व्यापार होता था या नहीं, इस प्रश्न की पाश्चात्य विद्वानों ने गहरी छानबीन की है। उनकी यह निश्चित धारणा है कि ऋग्वेद के समय में आर्यों को समुद्र की जानकारी न थी तथा उस समय सामुद्रिक व्यापार का सर्वथा अभाव था। परन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से इस धारणा को उन्मूलित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। ऋग्वेद के मंत्रों में साधारण नावों के अतिरिक्त सौ डाँड वाली (शतारित्रा) बड़ी नाव का स्पष्ट उल्लेख है।[1] उसके पंख (पतत्रि) भी कहे गए हैं। वहाँ पंखों से मतलब पालों से है।[2] नासत्यौ (अश्विन्) के अनुग्रह से 'शतारित्र' नाव पर चढ़कर समुद्र-यात्रा करनेवाले तुग्र-पुत्र भुज्यु के उद्धार का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों (१।११२।६, ६।६२।६, १०।४०।७, १०।६५।१२ आदि) में किया गया है। जान पड़ता है कि इन देवों ने भुज्यु को समुद्र के बीच जहाज में डूबने से बचाया था। वरुण देव की स्तुति में शुनःशेप ऋषि का कहना है कि वे आकाश से जानेवाले पक्षियों के ही मार्ग को नहीं जानते, अपितु समुद्र पर चलनेवाली नावों के मार्ग से भी वे परिचित हैं।[3] इन निर्देशों से ऋग्वेद-काल में ही वैदिक आर्यों के समुद्र से परिचित होने तथा जहाजों द्वारा उनके उसे पार करने के उद्योग का भली-भाँति पता चल जाता है।

समुद्र-मार्ग से व्यापार होने की बात भी अनेक मंत्रों से आभासित होती है। आर्यजन मोती से भली भाँति परिचित थे। ऋग्वेद में मुक्ता का नाम है 'कृशन', जिससे सवितृ के रथ के अलंकृत किए जाने का उल्लेख है।[4] घोड़ों के अलंकरण के लिए मोतियों का प्रयोग होता था, ऐसे अलंकृत घोड़ों को 'कृशनावन्त' कहते थे।[5] अथर्ववेद (४।१०।१,३) मोती पैदा करनेवाले शंख (शंखः कृशनः) को जानता है, जो समुद्र से लाए जाते और ताबीज बनाने के काम में प्रयुक्त होते थे। मोती दक्षिण-भारत के समीपस्थ सागर के किनारे पैदा होता है। अतः यदि कहा जाय कि आर्यलोग समुद्र के रास्ते आकर इस मूल्यवान् वस्तु को खरीदते थे, तो अत्युक्ति न होगी।

सिक्के—व्यापार के लिये विनिमय-कार्य के निमित्त गाय की महती उपयोगिता थी, परन्तु किसी प्रकार के सिक्कों का भी चलन उस समय अवश्य था, इसके अनेक प्रमाण वैदिक ग्रंथों में मिलते हैं। एक प्रकार का सिक्का 'निष्क' था। निष्क का

---

१. शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्। (ऋ० १।११६।५)
२. युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईङ्खितम्।
यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम्॥ (ऋ० १०।१४३।५)
३. वेदायो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् वेद नावः समुद्रियः। (ऋ० १।२५।७)
४. अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्। (ऋ० १।३५।४)
५. मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः। (ऋ० १।१२६।४)

मूल अर्थ तो सुवर्ण का आभूषण था, क्योंकि इसी अर्थ में निष्कग्रीव (ऋ० ५।१६।३) तथा निष्ककंठ शब्दों में इसका प्रयोग मिलता है। व्रात्य लोगों के चाँदी के निष्क पहिनने का उल्लेख पंचविंश-ब्राह्मण (१७।१।१४) करता है। कक्षीवान् ऋषि ने किसी दानी राजा से सौ निष्क तथा सौ घोड़े पाने की बात लिखी है,[1] जिससे निष्क के एक प्रकार का सिक्का होने के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। पिछले ग्रन्थों में तो निष्क निश्चित रूप से विशिष्ट प्रकार की मुद्रा का ही बोधक है (अथर्व २०।१२७।३, शतपथ १०।४।१।१, गोपथ १।३।६)। एक मंत्र में प्रयुक्त 'मना' भी किसी प्रकार का सिक्का ही जान पड़ता है। वैदिक 'मना', ग्रीक 'मना' तथा रोमन 'मिना' के परस्पर सम्बन्ध के विषय में जानकारों में काफी मतभेद है।

अनेक वैदिक ग्रंथों में 'हिरण्यं शतमानं' शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनमें सोना तौलने के किसी 'मान' की ओर संकेत किया गया है। वैदिक ग्रंथों से जान पड़ता है कि सोना तौलने का एक मान था 'कृष्णल'। मनु के अनुसार चार कृष्णलों का एक माष (माशा) होता था। अवांतर काल में कृष्णल का नाम रक्तिका (रत्ती) तथा गुञ्जा है, जो लत्ती नामक लता का लाल बीज होता है, जिसके ऊपर एक काला धब्बा रहता है। इस प्रकार वैदिक काल में सोने को तौलने का रिवाज था।

ऋण—उस समय ऋण लेने की भी प्रथा थी, विशेषत: जूआ खेलने के अवसर पर। ऋण चुका देने के लिये ऋग्वेद में 'ऋणं संनयति' वाक्य का प्रयोग मिलता है। ऋण न चुकाने का फल बड़ा बुरा हुआ करता था। द्यूत में ऋण-परिशोध न करने पर द्यूतकर को जन्म भर दासता स्वीकार करनी पड़ती, अथवा चोरों के समान ऋणियों को खंभों (द्रुपद) में बाँधा जाता था (अथर्व ६।११५।२-३)। ब्याज की दर का पता ठीक नहीं चलता। एक जगह (ऋ० ८।४८।१७, अथर्व ६।४६।३) ऋण के आठवें भाग (शफ) तथा सोलहवें भाग (कला) को चुकाने की बात मिलती है, परन्तु यह स्पष्ट रूप से नहीं ज्ञात होता कि यह ब्याज का भाग था या मूलधन का। पूर्वजों द्वारा लिए गए ऋण उनके वंशजों द्वारा चुकाए जाते थे। ऋग्वेद के एक मार्मिक मंत्र में ऋषि इस प्रकार के ऋण-परिशोध के लिये वरुण से प्रार्थना करता है—'हे वरुण ! पूर्वजों द्वारा लिए गए ऋणों को हटा दीजिये तथा मेरे द्वारा लिए गये ऋणों को भी दूर कर दीजिये। दूसरे के द्वारा उपार्जित धन (या ऋण) से मैं जीवन-निर्वाह करना नहीं चाहता। बहुत सी उषाएँ मेरे लिये उषाएँ ही नहीं हैं (अर्थात् उदित ही नहीं होतीं)। हे वरुण ! आप आज्ञा दीजिए और मुझे उन उषाओं में जीवित रखिए।' यह मंत्र[2] ऋणकर्ता की गहरी मानसिक

---

१. शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान् प्रयतान् सद्य आदम्।
(ऋ० १।१२६।२)

२. पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्य कृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि ॥

वेदना तथा चिंता प्रकट करता है। पूर्व दिशा में नित्य प्रभात होता था तथा उषाएँ अपनी सुनहली प्रभा से जगत् को रजित करती थीं, किन्तु ऋण के बोझ से दबे चिंतित पुरुष के लिये उनका उदित होना न होना बराबर था।

पणि लोग उस समय व्यापार के लिये विशेष प्रसिद्ध थे। वे ऋण दिया करते थे, परन्तु ब्याज बहुत अधिक खाते थे। इसीलिये वे ऋग्वेद में 'बेकनाट' कहे गये हैं।[1] निरुक्त के अनुसार 'बेकनाट' सूदखोरों को कहते थे, जो अपने रुपयों को दुगुना बनाने की कामना किया करते थे—'बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्ते इति वा' (निरुक्त, ६।२७)।

इस प्रकार वैदिक आर्यों के आर्थिक जीवन का इतिहास उन्हें शिष्ट, सभ्य तथा सम्पन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त माना जा सकता है।

१. इन्द्रो विश्वान् बेकनांटाँ आहर्दृश उत क्रत्वा पणीं रभि ॥

(६) गृह्यसूत्रों में लोकसंस्कृति

वैदिक साहित्य में गृह्यसूत्रों की अपनी निजी-विशिष्टता है। भारत के लोकाचार तथा लोक-व्यवहार की जानकारी के लिए बहुमूल्य सामग्री इन ग्रन्थों के पृष्ठों में प्रभूत मात्रा में पड़ी हुई है और यह होना स्वाभाविक ही है। गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन के साथ है। हमारे संस्कारों का विस्तृत विवरण सर्वप्रथम इन्हीं गृह्यसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। श्रौतसूत्रों से इनका पार्थक्य दिखाने के लिए ही इन्हें गृह्यसूत्रों की संज्ञा दी गई है। गृह्यअग्नि में किये जाने वाले अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना ही इन सूत्रों का उद्देश्य है। प्राचीन काल में लोक-संस्कृति के रूप-रंग, आचार-व्यवहार को जानने के लिए गृह्यसूत्रों की समता करने वाला कोई भी साहित्य पाश्चात्य जगत् में मिलना दुष्कर है। डा० विन्टर नित्स ने ठीक ही कहा है कि यूनानी तथा रोमन लोगों के दैनन्दिन सामाजिक दशा को जानने के लिए हमारे पास गृह्यसूत्रों के समान कोई भी ग्रन्थ नहीं है जो इतनी सूक्ष्म बातों का, विश्वासों का तथा अनुष्ठानों का इतना विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता हो। इस दृष्टि से इन सूत्रों का अध्ययन बड़े ही महत्व का विषय है।

गृह्यसूत्रों में लोक-संस्कृति के तथ्य दो प्रकार से उपलब्ध होते हैं—एक है परोक्ष रूप से, दूसरा है साक्षात् रूप से। परोक्ष रूप से मेरा अभिप्राय यह है कि हमारे सामाजिक अनुष्ठानों की गहरी छानबीन करने पर उनके भीतर बहुत से जादू-टोना तथा लौकिक विश्वासों की सत्ता का पता हमें चलता है। हमारे संस्कारों के भीतर, इस प्रकार लोक-संस्कृति की दृष्टि से महत्व रखने वाले अनेक आचार तथा अनुष्ठानों का परिचय हमें मिलता है। गृह्यसूत्रों का कहना है कि विवाह तथा श्राद्ध के अवसर पर विशेष रूप से लोक में प्रसिद्ध अनुष्ठानों को करना नितान्त आवश्यक होता है। विवाह के अवसर पर पारस्कर गृह्यसूत्र का स्पष्ट कथन है—

ग्रामवचनं च कुर्युः। विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्रविशतादिति वचनात्। तस्मात् तयोः ग्रामं प्रमाणमिति श्रुतेः॥

—प्रथम काण्ड, अष्टम कंडिका, ११, १२ तथा १३ सूत्र।

प्राचीन लोकाचार की जानकारी जितनी बूढ़ी स्त्रियों को होती है उतनी किसी दूसरे को नहीं होती। इसीलिए इन सूत्रों की व्याख्या के समय कर्काचार्य का कथन है—स्त्रियो ग्रामशब्देनाभिधीयन्ते। ताश्च यत् स्मरन्ति तदपि कर्तव्यम्। टीकाकार जयराम का भी यही कथन है—ग्रामवचनं वृद्धस्त्रीवाक्यं विवाहे मरणे च प्रमाणम्।

अर्थात् विवाह तथा मरण के समय वृद्ध स्त्रियों को प्रमाण मानना चाहिये। यहाँ उनके वचनों के लिए श्रुति शब्द का प्रयोग किया गया है। उनके वचन श्रुति

के समान प्रामाणिक और मानने योग्य होते हैं। मेरी दृष्टि में यहाँ पारस्कर तथा अन्य गृह्य सूत्रकारों ने स्पष्ट ही लोक-संस्कृति के आचार-विचारों के लिए पूरा अवकाश दे रखा है। लोकाचार की बातों का पता जितना बूढ़ी स्त्रियों को होता है उतना किसी दूसरे को नहीं। इसीलिए ही गृह्यसूत्र में ग्राम वचन के अनुसार अनुष्ठान विधान पर इतना आग्रह है।

यह तो हुआ परोक्ष रूप से लोक-संस्कृति का आदर तथा ग्रहण। साक्षात् रूप से गृह्यसूत्रों में वर्णित अनुष्ठानों के भीतर बहुत सी बातें तथा घटनायें लोक-संस्कृति की महत्ता को प्राचीन भारतीय समाज के जीवन में स्पष्टतः प्रदर्शित कर रही हैं। इन विशिष्ट अनुष्ठानों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

पारस्कर गृह्यसूत्र (३।७) में 'उतूल परिमेह' नामक एक अनुष्ठान का वर्णन है। 'उतूल' शब्द का अर्थ है दास, नौकर। यह शब्द पारस्कर तथा हिरण्यकेशी के गृह्यसूत्रों को छोड़कर संस्कृत में कहीं भी प्रयुक्त नहीं है। मेरी दृष्टि में यह शब्द देशी प्रतीत होता है अर्थात् किसी देशी-भाषा में सेवक या नौकर को उतूल कहते थे और वहीं से सीधे संस्कृत में यह ले लिया गया है। 'उतूल' नामक किसी जाति विशेष का उल्लेख महाभारत में किया गया है। यह भी सम्भव है कि यह शब्द उसी जाति के लोगों का परिचायक हो। तो यह अनुष्ठान नौकर को वश में करने के लिए किया जाता है। अनुष्ठान की विधि यह है—जब वह नौकर सो रहा हो, तब किसी जीवित पशु की सींग में पेशाब करके उस मूत्र को तीन बार उसके चारों ओर सिंचन करना चाहिए। सेचन की दिशा वाम से दक्षिण होनी चाहिये और बाईं ओर से उस की परिक्रमा करना चाहिए और इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये—

परि त्वा गिरे रह परि मातुः परि स्वसु।
परि पित्रोश्च भ्रात्रोश्च सख्येभ्यो विसृजाम्यहम्।
उतूल परिमीढ़ोऽसि परिमीढः क्व गमिष्यसि॥

इसका आशय है कि मैं तुमको पहाड़ से, माता से, बहिन से, माता-पिता से, भाइयों से तथा मित्रों से छोड़ा रहा हूँ। मन्त्र शक्ति के द्वारा इन सेचनरूपी-पाशों से मैंने तुम्हें बाँध रखा है। अब तुम कहाँ जावोगे।

इस अनुष्ठान से वह निश्चित ही वश में हो जावेगा यदि वह अपने मालिक को छोड़ कर इधर उधर घूमने भागने वाला हो, तो एक दूसरी विधि का प्रयोग करना चाहिए। जंगली आम को जलाकर उसमें घी से सिक्त तीन कुशकुण्डलों को डालना चाहिए और इस मन्त्र का प्रयोग साथ-साथ में करना चाहिये—

परि त्वा ह्वलनो ह्वल निवृत्तेन्द्रवीरुधः।
इन्द्रपाशेन सित्वा मह्यं मुक्त्वाऽथान्यमानयेत्॥

इस मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह उस सेवक के मन में होने

वाली दुर्भावना को दूर करे तथा उसे स्वामि-भक्त बना देवे। पारस्कर का कहना है कि इन क्रियाओं के करने पर वह निश्चित रूप से मालिक के वश में आ जाता है।

क्षेम्यो ह्येव भवति।

'उतूल परिमेह' के आभिचारिक रूपको दिखलाने के लिये इस अनुष्ठान का पूरा वर्णन ऊपर किया गया है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि जहाँ देवानुष्ठान में प्रदक्षिणा करने का अर्थात् दाहिनी ओर से बाईं ओर परिक्रमा करने का विधान होता है, वहाँ आभिचारिक क्रिया में ठीक इसका उलटा होता है अर्थात् बाईं ओर से होकर दाहिनी ओर परिक्रमा करने की विधि होती है। यहाँ सेचन की दिशा, सेचन का द्रव्य तथा सेचन का मन्त्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं कि यह अभिचार लोक-संस्कृति से सम्बद्ध यह महनीय अनुष्ठान है जिसका उपयोग गृह्यसूत्र के युग में किया जाता था।

हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र में किसी संगी-साथी या चेला-चाटी को अपने वश में रखने या अनुकूल बनाने के लिए इसी प्रकार के अनुष्ठान की विधि बतलाई गई है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (३।९) में उन अनुष्ठानों का विधान बताया गया है जिनके द्वारा पति तथा पत्नी में होने वाले मनोमालिन्य को पत्नी का पिता दूर करने में समर्थ होता है। यदि पत्नी अपने पति को या अपनी सपत्नियों को अपने वश में लाना चाहती है तो एक दूसरे अनुष्ठान का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार युद्ध में विजय पाने के लिए, शत्रुओं को परास्त करने के लिए, दीर्घ जीवन और विशाल कुटुम्ब पाने के लिए, धन-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के अनुष्ठानों का प्रयोग इन सूत्रों में किया गया मिलता है।

दैनिक जीवन में भी लोक-संस्कृति से सम्बद्ध अनेक विश्वासों का परिचय हमें मिलता है। रथ, हाथी, घोड़ा, ऊँट और गदहा पर चढ़ने के समय कई वाक्यों का प्रयोग किया जाता है जिनमें उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे सुखपूर्वक गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दें। यदि आकाश में बादल गड़गड़ाते हों, तो उनसे प्रार्थना की जाती है कि वर्षा हमारे लिए विश्वकल्याण करने वाली हो; वृत्रहन्ता इन्द्र अपने आयुधों को कल्याणकारक बनावे। यदि सियारिन बोलती हो, तो 'शिवो नामासि' कहकर उसका अभिमन्त्रण करना चाहिए। इसी प्रकार कौवा यदि काँव-काँव करता हुआ अपनी कर्कश बोली से किसी अमंगल की सूचना देता हो, तो उससे भी अभिमन्त्रण करने का विधान है इस मन्त्र के द्वारा—

हिरण्यपर्ण शकुने देवानां प्रहितं गम।
यमदूत नमस्तेऽस्तु किं त्वा काक्कारिणो ब्रवीत्॥

हे शीघ्र जाने वाले पक्षी, देवताओं के द्वारा प्रेषित स्थान को तुम जाने वाले हो। तुम यमराज के दूत हो, तुम्हें नमस्कार है। कार-कार शब्द करने वाले तुमसे यमराज ने क्या कहा है? हमारा अनिष्ट दूर कर हितकारक बनो; यह तुमसे प्रार्थना है।

गृह्यसूत्र ऐसे बहुत से अन्ध-विश्वासों का वर्णन करता है जो आज भी कहीं न कहीं जीवित हैं। दरवाजे के चौकठ पर किसी को कभी न खड़ा होना चाहिए। यह आधुनिक विश्वास गृह्यसूत्रों में भी विद्यमान है जब वर-वधू को ऐसा नहीं करने की शिक्षा देता है (हिरणकेशी गृ० सू०)। जँभाई लेने पर आजकल हम कहते हैं—शतं जी (सौ वर्ष तक जीते रहो) जो 'शतं जीव' का विकृतरूप है। गृह्यसूत्र में इस प्रसंग में एक मन्त्र का उच्चारण करने की विधि है। कपड़े या धोती का आँचर यदि व्यक्ति के ऊपर हवा के झोंके से गिर पड़े, यदि कोई चिड़िया बीट कर शरीर को अपवित्र बना दे, यदि कोई जल का बूँद अकस्मात् शरीर के ऊपर गिर पड़े, तो प्रत्येक दशा में व्यक्ति किसी मन्त्र का उच्चारण करता है अमंगल तथा अनिष्ट दूर करने के लिए। यदि सूर्य उदय होने के समय व्यक्ति सोता हुआ हो, उसे उस दिन उपवास करना होता है और दिन भर मौन व्रत धारण कर खड़ा होना चाहिये। यदि सूर्य डूबने के समय कोई व्यक्ति सोता रहता है, तो उसे पूर्वोक्त उपवास तथा मौन रात-भर करना पड़ता है। प्रस्थान के समय किसी अशकुन सूचक पक्षी के दीखने पर मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए, शृगाल के इस अवसर पर दीखने पर एक मन्त्र ही नहीं बोला जाता प्रत्युत दूर से उसकी पूजा या शान्ति की जाती है तैत्तिरीय संहिता के एक अनुवाक के द्वारा। भेड़िया और उल्लू के दिखलाई पड़ने से उनकी शान्ति की जाती है। यदि नीलकंठ नामक पक्षी घर के ऊपर बैठता है, यदि बछवा या बछिया से भिन्न गाय दूसरी गाय का दूध पीवे, यदि किसी काठ के खम्भे में अंकुर उगने लगे, या यदि घर के भीतर वाल्मीकि (अर्थात् चिउँटियों के द्वारा खोदी गई धूल का ढेर) उत्पन्न हो जाय (जिसके लिए सांख्यायन गृह्यसूत्र के अनुसार उपवास रखकर तीन रातों तक उस घर को छोड़ने का विधान है), तब इन सब उत्पातों की शान्ति के लिए दिन भर विधिवत् रहकर रात के समय होम करने का विधान हिरणकेशी गृह्यसूत्र में दिया गया है। उस युग में 'निर्ऋति' एक भयंकर भूत-प्रेत के रूप में मानी जाती थी जिसकी शान्ति बलि के द्वारा की जाती थी।

घर के ऊपर उल्लू का बैठना, मध्यरात्रि में कौये की बोली का सुनना, घी के यज्ञपात्र (आज्यपात्र) अथवा प्रणीतपात्र का अचानक फूट जाना महान् अपशकुन माना जाता था जिसे दूर करने के लिए सांख्यायन गृह्यसूत्र ने बड़े ही विस्तृत अनुष्ठान का विवरण दिया है। दक्षिण दिशाको यमराज की दिशा तथा अमंगल मानना आग्रह पूर्वक विश्वास किया जाता था। किसी पवित्र अवसर पर विषम संख्या में ब्राह्मणों को निमन्त्रण देना तथा विषम संख्या वाली तिथिका चुनाव—दोनों अमंगल माने जाते थे। दिशाओं में पूरब तथा उत्तर की दिशायें शुभ मानी जाती थीं। उत्पातों के प्रति लोगों के हृदय में बड़ा भय था और इसीलिए अध्ययन के समय में उत्पातों का दर्शन अमंगल-सूचक माना जाता था और वैदिक आश्रमों में अनध्याय माना जाता था। वेदाध्ययन समाप्त कर स्नातक गुरु की आज्ञा से अपने

घर लौटता था और उस समय यदि किसी प्रकार का अपशकुन होता, तो उसकी शान्ति के लिए वह सर्वदा सचेष्ट रहता था यदि पक्षियों की वह प्रतिकूल बोली सुनता, तो उपयुक्त मन्त्रों को वह पढ़ता था। विघ्न की आशंका वाली दिशा में वह जलती हुई लकड़ी फेंकता था। भयानक सड़क पर जाते समय वह अपने संगी-साथियों के पहिनने के कपड़े में गाँठ बाँध देता था—इससे उसकी और उसके संगियों की यात्रा मंगलमय होती थी—ऐसा पूर्ण विश्वास था। ऊपर लिखी हुई दैनिक जीवन से सम्बद्ध घटनाओं के विषय में सामान्य लोगों की भावना कैसी थी, जादू-टोने के प्रति गृह्यसूत्रों के समय लोगों का विश्वास कितना दृढ़ और व्यापक था—इसका एक सामान्य परिचय ऊपर निर्दिष्ट घटनाओं से लग सकता है।

प्रायश्चित्त विधान

गृह्यसूत्रों में बहुत से अपराधों तथा व्रतभंग के लिए अनेक प्रायश्चित्तों का विधान किया गया मिलता है। इनके अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग के वैदिक आर्यों के समाज में बहुत से लोक-संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यों का परिचय जनसाधारण को हो गया था। प्रायश्चित विधान का क्षेत्र समाज के अनेक क्षेत्रों को स्पर्श कर रहा है। यहाँ दो प्रायश्चित्तों का विशेष रूप से निर्देश किया जायगा। 'श्वग्राह प्रायश्चित्त' का विधान अपस्मार या मिरगी के रोग को दूर करने के लिए किया गया है। विश्वास था कि श्वदैत्य के आक्रमण से यह रोग मनुष्यों को, विशेषतः बालकों को उत्पन्न होता था। इसकी विधि इस प्रकार की होती थी। रोग से आक्रान्त बालक को घर के ऊपरी छज्जे के छेद से जूआ खेलने के घर में उतारा जाता था और उसे जूआ के बीजों के ऊपर सुला दिया जाता था। तब उसके ऊपर नमक के पानी में दही मिलाकर—छिड़का जाता था और उस समय दक्षिण की दिशा में एक घंटा बजाया जाता था। खादिर गृह्यसूत्र का कहना है कि पिता को उस समय बालक को जाल से या अपने ऊपरी वस्त्र से ढकना पड़ता था और उसे अपनी गोदी में रख कर वह कुत्ते से प्रार्थना करता था—चेत् चेत् शुनक, इसे मुक्त कर दो जिससे यह बालक आराम हो जाय। सांख्यायन गृह्यसूत्र का कथन है कि सामान्यतः रोगों के आक्रमण के समय पके हुये चावलों की आहुति गवेधुक घासों के द्वारा दी जाती थी। यदि श्रौत अग्नि का आधान करने वाला व्यक्ति बीमार पड़े, तो उसे चाहिए कि अपने यज्ञीय अग्नि के साथ वह गाँव से पूरब या उत्तर दिशा में चला जाए। ऐसा करने से यह नीरोग हो जाता है। नीरोग हो जाने पर उसे सोम याग का विधान करना चाहिए। इसी प्रकार पशुओं को रोग होने पर इसी प्रकार का प्रायश्चित्त विधान बतलाया गया है। दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रायश्चित्त का नाम 'अवकीर्णि प्रायश्चित्त' है। यह उस ब्रह्मचारी के लिए है जो किसी स्त्री के संसर्ग से दूषित होकर अपने व्रत को भंग करता है। इसका प्रायश्चित्त बड़े ही विचित्र ढंग का पारस्कर गृह्यसूत्र (३।१२)

में निर्दिष्ट किया गया है। अमावस की रात में किसी चौराहे के ऊपर गदहा को जान से मारना होता है और तब 'निऋ̍ति' को पाक यज्ञ से आहुति देनी चाहिए। जल में अवदान होम किया जाता है। पुरोडाश का अपण यानी पकाना कपालों के ऊपर न कर भूमि पर करना चाहिए। उस ब्रह्मचारी को उसी गदहे का चमड़ा पहनना पड़ता है। उसकी पूँछ ऊपर खड़ी की गई रहती है। उसे अपने किये गये व्रत-भंग को सबके सामने कहकर एक साल तक भीख माँगनी पड़ती है। अपने अपराध के कथन के भीतर एक प्राचीन रहस्य छिपा हुआ है—निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति—जिस अपराध का निरुक्त या निर्वचन कर दिया जाता है वह मात्रा में कम हो जाता है। इसके अनन्तर मनको क्षुब्ध करने वाले काम से प्रार्थना की जाती है तथा घी का हवन किया जाता है।

कामावकीर्णोऽस्मि अवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा।
काम अभिद्रुग्धोऽस्मि अभिद्रुग्धोऽस्मि कामकामाय स्वाहा।

गृह्य अनुष्ठ नों के भीतर लोक-संस्कृति के प्राचीन रूप को जानने के लिए विपुल सामग्री प्रस्तुत है। आवश्यकता है उनके भीतर पैठकर उनके सांस्कृतिक महत्त्व को समझने की। गृह्यसूत्रों में सूतिका गृह का जो वर्णन किया गया है उसमें लोक-संस्कृति के महत्त्व की बातें आज भी हमारे घरों में बरती जाती हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र (१।१६) का कथन है कि सूतिका गृह के दरवाजे पर आग जलानी चाहिये और उसमें दोनों सन्ध्याओं के समय चावल की भूसी के साथ मिली हुई सरसों को आग में डालना चाहिये और शण्डामर्क उलूखल, शौण्डिकेद आदि राक्षसों को दूर करने के लिए ही यह सरसों का हवन आग में किया जाता है। यदि बच्चे को कोई उपद्रव सताता हो तो पिता को चाहिये कि उसे वह अपनी गोदी में उठा कर रखे और उसे जाल से या अपनी चादर से ढककर-कष्ट देने वाले भूत से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह उस शिशु को छोड़कर भाग जाय। इस समय के मन्त्र से पता चलता है कि वह भूत कुत्ते के रूप में माना जाता है और इसीलिए इस मन्त्र वाक्य का तात्पर्य बड़ा ही सार्थक है (१।१६।२४)।

कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः
चेत् चेत् शुनक सृज नमस्ते अस्तु आदि आदि।

यह पूरा अनुष्ठान लोक-संस्कृति से बिल्कुल सम्बन्ध रखता है। उस युग में भूत-प्रेत आदि अलौकिक जीवों की सत्ता में लोगों का विश्वास पूर्ण रूप से था जिन्हें दूर करने के लिए वे नाना प्रकार के विधि-विधानों को काम में लाते थे। यह पूरा प्रसंग लोक-विश्वास की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण है।

रोगों की शान्ति के लिए भी उस युग में कुछ जादू टोने किये जाते थे जो आज भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित हैं। सिर-दर्द होने पर प्राणी को चाहिये कि वह अपने दोनों हाथों को पानी से धोये और इसके बाद दाहिने हाथ से दाहिनी

भौं का और बायें हाथ से बायी भौं का मार्जन करें। मार्जन के समय इस मन्त्र का उच्चारण करता जाय—

चक्षुर्भ्यां श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं रराटाद् विवृहामीममिति ।।

यदि दर्द आधे ही सिर में होता हो, तो इस अधकपारी को दूर करने की पूर्वोक्त प्रक्रिया ही काम में लाई जाती थी केवल मन्त्र बदल दिया जाता था। नया मन्त्र यह होता है—

अवभेदक विरूपाक्ष श्वेतपक्ष महायशः।
अथो चित्रपक्ष शिरो मास्याभि ताप्सीदिति ।।

इस मन्त्र में अधकपारी के कारण भूत रोग से प्रार्थना की गई है कि वह उस व्यक्ति के सिर को कष्ट मत पहुँचावे। रोग का विचित्र वर्णन यहाँ किया गया है कि वह सिर को फाड़ने वाला है, उसके नेत्र विकृत और डरवाने हैं, उसकी एक पाँख सफेद हैं, उसका भोजन बहुत ही अधिक है; उसकी दूसरी पाँख चितकबरी है। यह वर्णन किसी भयंकर विकराल प्राणी का चित्र प्रस्तुत करता है जो शीर्ष रोग का भूत माना जाता था। इसी प्रकार अन्य रोगों के निवारण के लिए टोना-टोटकों का प्रयोग गृह्यसूत्रों में दिया गया है।

गृह्यसूत्रों के विविध अनुष्ठानों पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर जो विस्तृत जगत् हमारे नेत्रों के सामने उपस्थित होता है उसका एक सामान्य रूप ऊपर प्रस्तुत किया गया है। उसका अनुशीलन कर हम भली भाँति कह सकते हैं कि गृह्यसूत्रों के काल में भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में लोक सामान्य में रीति-रिवाज प्रचलित थे वे आज भी हमारे बीच परम्परया प्रचलित हैं। आज की जनता का उनमें पूर्ण विश्वास है। गृह्यसूत्रों ने जिन संस्कारों का वर्णन और विवरण प्रस्तुत किया है वे आज भी हमारी श्रद्धा के पात्र हैं और आचरण के विषय हैं। इसी प्रकार उस युग के लोक-विश्वास भी जिन्हें सामान्यतः लोग 'अन्ध-विश्वास' के नाम से पुकारते हैं आज भी हमारे बीच किसी न किसी रूप में और मात्रा में वर्तमान हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोक-संस्कृति के तथ्य तथा मन्तव्य किसी देश के आचार और लोक-व्यवहार में रुढमूल होते हैं। नयी परिस्थितियों में वे बदले हुए रूप में दीख पड़ते हैं, परन्तु वे मूलतः अपने प्राचीन रूप से भिन्न नहीं होते। इस परिणाम पर हम पहुँचे बिना नहीं रह सकते।

(७) वैदिक आख्यान

(क)

वैदिक आख्यान : स्वरूप विवेचन—

आख्यानों की सत्ता का प्रमाण ऋग्वेद की संहिता में ही हमें उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में (१०।७।२६) इतिहास तथा पुराण का उल्लेख मौखिक साहित्य के रूप में न होकर लिखित ग्रन्थ के रूप में दिया गया मिलता है। वेदों की व्याख्यान प्रणाली के विभिन्न सम्प्रदायों में यास्क ने ऐतिहासिकों के संप्रदाय का अनेक बार उल्लेख किया है जिनके अनुसार 'वृत्र' त्वाष्ट असुर की संज्ञा है और देवों के अधिपति इन्द्र के साथ उसके घोर संघर्ष और तुमुल संग्राम का वर्णन ऋग्वेद के मंत्रों में दिया गया है। इस संप्रदाय के व्याख्याकारों की संमति में वेदों में महत्वपूर्ण आख्यान विद्यमान है। ऋग्वेद में आख्यानों की संख्या कम नहीं हैं। इनमें से कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में है और कुछ किसी सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र तथा अश्विन के विषय में भी अनेक आख्यान मिलते हैं, जिनमें इन देवों की वीरता-पराक्रम तथा उपकार की भावना स्पष्ट अंकित की गई है। ऋग्वेद के भीतर ३० आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है जिनमें से कतिपय प्रख्यात आख्यान ये हैं—शुनःशेप (१।२४), अगस्त्य और लोपामुद्रा (१।१७९), गृत्समद (२।१२), वसिष्ठ और विश्वामित्र (३।७३,७।३३ आदि), सोम का अवतरण (३।४३), त्र्यरुण और वृशजान (५।२), अग्नि का जन्म (५।११), श्यावाश्व (५।३२), बृहस्पति का जन्म (६.७१), राजा सुदास (७।१८) नहुष (७।९५), अपाला (८।९१), नाभानेदिष्ठ (१०।६१।६२), वृषाकपि (१०।८६) ,उर्वशी और पुरुरवा (१०।९५), सरमा और पणि (१०।१०८), देवापि और शंतनु (१०।९८), नचिकेता (१०।१३५)। इनके अतिरिक्त दानस्तुतियों में अनेक राजाओं के नाम उपलब्ध है जिनसे दान पाकर अनेक ऋषियों को उनकी स्तुति में मंत्र लिखने की प्रेरणा मिली ; इन स्मृतियों में भी कतिपय आख्यानों की ओर स्पष्ट संकेत विद्यमान हैं।

ऋग्वेद से भिन्न वैदिक ग्रन्थों में भी आख्यानों का विवरण दिया गया है। इनमें से कतिपय आख्यान तो एकदम नवीन हैं, परन्तु कुछ ऋग्वेद में संकेतित आख्यानों के ही परिबृंहित रूप हैं। ऋग्वेद से संबद्ध 'अनुक्रमणी साहित्य' में विशेषतः बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी में, निरुक्त, नीतिमंजरी और सायण-भाष्य में इन आख्यानों की विस्तृत घटनाओं का भी वर्णन हुआ है। पुराणों में भी ये आख्यान वर्णित हैं, परन्तु इनकी घटनाओं में कहीं ह्रास और कहीं परिबृंहण दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण तथा श्रौत सूत्र भी इनके विकास के अध्ययन के लिये आवश्यक

सामग्री प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ सोभरि काण्व का आख्यान जो ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (८,१८,३२) में संकेतित है, भागवत में विस्तार से वर्णित हैं (भागवत ९ स्कन्ध, अ० ६।३८-५५)। श्यावाश्व अस्त्रेय का आख्यान ऋग्वेद में (५ ६१) उल्लिखित होने के अतिरिक्त सांख्यायन श्रौतसूत्र (१६।११।८) में भी निर्दिष्ट है। च्यवान (पुराणों में 'च्यवन' भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (१।११६, ११७, ११८; १०:३९) में संकेतित होकर तांड्य ब्राह्मण (१४।६।११), निरुक्त (४।१९), शतपथ ब्राह्मण (कांड ४) तथा श्रीमद्भागवत पुराण (९।३) में विस्तार के साथ वर्णित है। इस प्रकार वैदिक आख्यानों के विकास की विपुल सामग्री रामायण, महाभारत और पुराणों के भीतर रोचक विस्तार के साथ उपलब्ध होती हैं।

आख्यानों का तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अमेरीकी विद्वान् डा० ब्लूमफील्ड ने उन विद्वानों के मत का खंडन किया है जिन्होंने इन आख्यानों की रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ ये रहस्यवादी विद्वान् पुरुरवा के आख्यान के भीतर एक गंभीर रहस्य का दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि में पुरूरवा सूर्य और उर्वशी उषा है। उषा और सूर्य का परस्पर संयोग क्षणिक ही होता है। उनके वियोग का काल बड़ा ही दीर्घ होता है। वियोगी होने पर सूर्य उषा की खोज में दिन भर घूमा करता है, तब कहीं जाकर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों का समागम होता है। प्राचीन भारत के वैदिकों (कुमारिल भट्ट, सायण आदि) की व्याख्या का यही रूप था। परंतु आख्यानों को उनके मानवीय मूल्य से वंचित रखना न्याय्य और उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

इन आख्यानों के अनुशीलन के विषय में दो तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है : (क) ऋग्वेदीय आख्यान ऐसे विचारों को अग्रसर करते हैं और ऐसे व्यापारों का वर्णन करते हैं जो मानव समाज के कल्याण-साधन के नितांत समीप हैं। इनका अध्ययन मानव मूल्य के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। ऋग्वेदीय ऋषि मानव की कल्याणसिद्धि के लिये उपादेय तत्त्वों का समावेश इन आख्यानों के भीतर करते हैं। (ख) उसी युग के वातावरण को ध्यान में रखकर इनका मूल्य और तात्पर्य निर्धारित करना चाहिए जिस युग में इन आख्यानों का आविर्भाव हुआ था। अर्वाचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से इनका मूल्यनिर्धारण करना इतिहास के प्रति अन्याय होगा। इन तथ्यों की आधारशिला पर आख्यानों की व्याख्या समुचित और वैज्ञानिक होगी।

आख्यानों की शिक्षा मानव समाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमंगल की अभिवृद्धि के निमित्त है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव और देव दोनों परस्पर संबद्ध हैं। मनुष्य यज्ञों में देवों के लिये आहुति देता है, जो प्रसन्न होकर उसकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं और अपने प्रसादों की वृष्टि उनके ऊपर निरंतर करते हैं।

इंद्र तथा अश्विन विषयक आख्यान इसके विशद दृष्टांत हैं। यजमान के द्वारा दिए गए सोमरस का पान कर इंद्र नितांत प्रसन्न होते हैं और उसकी कामना को सफल बनाते हैं। अवर्षण के दैत्य (वृत्र) को अपने वज्र से छिन्न-भिन्न कर वे सब नदियों को प्रवाहित करते हैं। वृष्टि से मानव आप्यायित होते हैं। संसार में शांति विराजने लगती है। कालिदास ने इस वैदिक तथ्य को बड़ी सुंदरता से अभिव्यक्त किया है (रघुवंश, चतुर्थ सर्ग)।

प्रत्येक आख्यान के अंतस्तल में मानवों के शिक्षाणर्थ तथ्य अंतर्निहित हैं। अपाला आत्रेयी (ऋग्वेद ८।६१) का आख्यान नारीचरित्र की उदात्तता तथा तेजस्विता का विशद प्रतिपादक है। राजा त्र्यरुण त्रैवृष्णा और वृशजान का आख्यान (ऋ० ५।२; तांड्य ब्राह्मण १३।३।१२; ऋग्विधान १२ ५२; बृहद्देवता ५।१४।२३) वैदिक कालीन पुरोहित की महत्ता और गरिमा का स्पष्ट संकेत करता है। सोभरि काण्व का आख्यान (ऋ० ८।१६, ८।८१; निरुक्त ४।१५; भागवत ६।६) संगति के महत्व का प्रतिपादन करता है। उषस्ति चाक्रायण (छांदोग्य, प्रथम प्रपाठक, खंड १०-११) का आख्यान अन्न के सामूहिक प्रभाव तथा गौरव की कमनीय कथा है। श्यावाश्व आत्रेय की कथा (ऋ० ५।६१) ऋषि के गौरव को, प्रेम की महिमा को तथा कवि की साधना को बड़ी सुन्दर रीति से अभिव्यक्त करती है। ऋग्वेदीय युग की यह प्रख्यात प्रणय कहानी है, जिसमें प्रेम की सिद्धि के लिए श्यावाश्व तपस्या के बल पर मंत्रद्रष्टा ऋषि बन जाते हैं। दध्यङ आथर्वण का आख्यान (ऋ० १।११६।१२३; शतपथ १४।४।५।१३; बृहदारण्यक २।५; भागवत पुराण ६।१०) राष्ट्र के मंगल के लिये अपने जीवनदान की शिक्षा देकर हमें क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठने का और राष्ट्र का कल्याण करने का गौरवमय उपदेश देता है। पुराण में इन्हीं का नाम ऋषि दधीचि है, जिन्होंने वृत्र को मारने के लिये इन्द्र को अपनी हड्डियाँ वज्र बनाने के लिये देकर आर्य सभ्यता की रक्षा की थी। अनधिकारी को रहस्यविद्या के उपदेश का विषम परिणाम इस वैदिक आख्यान में दिखलाया गया है। इन सब आख्यानों के पीछे उपदेश है—ईश्वर में अटूट श्रद्धा तथा मानव से घनिष्ठ प्रेम।

कतिपय ऋषियों की चारित्रिक त्रुटियों तथा अनैतिक आचरणों का भी वर्णन वैदिक तथा उनका अनुसरण करनेवाले महाभारत और पुराणों में पाए जानेवाले आख्यानों में उपलब्ध होता है। ये कथानक अनैतिकता के गर्त में गिरने से बचाने के लिये ही निर्दिष्ट हैं।

पुराणों में भी ये ही आख्यान बहुशः वर्णित हैं, परन्तु इनके रूप में वैषम्य है। तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि अनेक आख्यान कालान्तर में परिवर्तित मनोवृत्ति अथवा विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति के कारण अपने विशुद्ध वैदिक रूप से नितान्त विकृत रूप धारण कर लेते हैं। विकास की प्रक्रिया में अनेक अवान्तर घटनाएँ भी उस आख्यान के साथ संश्लिष्ट होकर उसे एक नया रूप

प्रदान करती हैं, जो कभी कभी मूल आख्यान के नितान्त विरुद्ध सिद्ध होता है। शुन:शेप तथा वसिष्ठ विश्वामित्र के कथानकों का अनुशीलन इस सिद्धान्त के प्रदर्शन में दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद में निर्दिष्ट शुन:शेप का यह आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में नए रूप में, नवीन घटनाओं से संवलित होकर उपलब्ध होता है। अब यहाँ यह आख्यान आरम्भ में राजा हरिश्चन्द के पुत्र रोहिताश्व के साथ तथा कथान्त में ऋषि विश्वामित्र के साथ सम्बद्ध होकर एक नवीन रूप धारण कर लेता है। उसके अन्य दो भाइयों की सत्ता, उसके पिता का दारिद्रय, उसके विक्रय आदि की समस्त घटनाएँ कथानक में रोचकता लाने के लिये पीछे से गढ़ी गई प्रतीत होती है। 'शुन:शेप' का अर्थ भी कुत्ते से कोई अर्थ नहीं रखता। 'शुन' का अर्थ है सुख, कल्याण तथा 'शेप' का अर्थ है स्तम्भ या खम्भा। अतः शुन:शेप का अर्थ ही है, 'सौख्य का स्तम्भ'। इस प्रकार यह कथानक वरुण के पाश से मुक्ति का सन्देश देता हुआ कल्याण के मार्ग को प्रशस्त बनाता है।

वशिष्ठ-विश्वामित्र का आख्यान ऋग्वेद में स्वत: संकलित है। ये दोनों ऋषि सम्भवत: भिन्न-भिन्न समय में राजा सुदास के पुरोहित थे। ये उस युग के ऋषि हैं जो चातुर्वर्ण्य के क्षेत्र से बाहर माना जा सकता है। दोनों में परम सौहार्द तथा मैत्री की भावना का साम्राज्य विराजता है। दोनों तपस्या से पूर्व, तेज के पुंज तथा अलौकिक शक्तिशाली महापुरुष हैं। परन्तु अवान्तर ग्रन्थों—रामायण, पुराण, बृहद्देवता आदि—ये दोनों के बीच एक महान संघर्ष, वैमनस्य तथा विरोध दिखलाया गया है। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने के लिये लालायित और वसिष्ठ के द्वारा अंगीकृत न होने पर उनके पुत्रों के विनाशक के रूप में चित्रित किये गये हैं।

प्रख्यात आख्यान—शुन.शेपका का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में (१।२४, २५) बहुश: संकेतित होने से सत्य घटना के ऊपर आश्रित प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३) में यह आख्यान बहुत विस्तार के साथ वर्णित है, जिसके आदि में राजा हरिश्चन्द्र का और अन्त में विश्वामित्र का सम्बन्ध जोड़कर इसे परिवर्धित किया गया है। वरुण की कृपा से ऐक्ष्वाकु नरेश हरिश्चन्द्र को पुत्र उत्पन्न होना, समर्पण के समय उसका जंगल में भाग जाना, हरिश्चन्द्र को उदररोग की प्राप्ति, रास्ते में अजीगर्त के मध्यम पुत्र शुन:शेप का क्रय करना, देवताओं की कृपा से उसका वध्यपशु होने से बच जाना, विश्वामित्र के द्वारा उसका कृतकपुत्र बनाया जाना, आदि घटनाएँ प्रख्यात हैं। महाकवि भास ने अपने 'मध्यम व्या-योग' में शुन:शेप के इसी आख्यान को आधार मानकर नाट्य रचना की है—विद्वानों का इस तथ्य में पूर्ण विश्वास है।

उर्वशी और पुरुरवा का आख्यान वैदिक युग की एक रोमांचक प्रणयगाथा है। देवी होने पर भी उर्वशी का राजा पुरूरवा के प्रणयपाश में बद्ध होना, पृथ्वीतल

पर महारानी के रूप में निवास तथा अन्त में राजा को अपने विरह से संतप्त कर अन्तर्धान होना आदि घटनाएँ नितान्त प्रख्यात हैं। ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त (१०। ५) में पुरूरवा और उर्वशी का कथनोपकथन मात्र है; परन्तु शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में यह कथानक रोचक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है तथा इस प्रणयकथा के अंकन में साहित्यिक सौंदर्य का भी परिचय मिलता है। विष्णुपुराण (४।६), मत्स्यपुराण (अध्याय २४) तथा भागवत (९।१४) में इसी कथा का रोचक विवरण हम पाते हैं। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में इस कथानक को नितान्त मंजुल नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस आख्यान के विकास में एक विशेष तथ्य की सत्ता मिलती है। पुराणों ने मत्स्यपुराण का आधार लेकर इसे प्रणयगाथा के रूप में ही अंकित किया है। परन्तु वैदिक आख्यान में पुरूरवा पागल प्रेमी न होकर यज्ञ का प्रचारक नरपति है। वह पहला व्यक्ति है जिसने श्रौत अग्नि (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नामक त्रेता अग्नि) की स्थापना का रहस्य जानकर यज्ञ संस्था का प्रथम विस्तार किया। पुरूरवा के इस परोपकारी रूप की अभिव्यक्ति वैदिक आख्यान का वैशिष्ट्य है।

च्यवन भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान भारतीय नारी-चरित्र का एक नितान्त उज्ज्वल दृष्टान्त उपस्थित करता है। यह कथा ऋग्वेद के अश्विन से संबद्ध अनेक सूक्तों में संकेतित है (१।११६ तथा १।११७ आदि)। यही कथा तांडय ब्राह्मण (१४।६।११) में, निरुक्त (४।१९) में, शतपथ (कांड ४) में तथा भागवत (स्कन्ध ९, अध्याय ३) में भी विस्तार से दी गई है। च्यवन का वैदिक नाम 'च्यवान' है। सुकन्या की वैदिक कहानी उसकी पौराणिक कहानी की अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त और आदर्शमयी है। पुराण में सुकन्या ऋषि की चमकती हुई आँखों को छेदकर स्वयं अपराध करती है और इसके लिये उसे दंड मिलना स्वाभाविक ही है। परन्तु वेद में उसका त्याग उच्च कोटि का है। सैनिक बालकों द्वारा किए गए अपराध के निवारण के लिये सुकन्या वृद्ध च्यवन ऋषि को आत्मसमर्पण करती है। उसके दिव्य प्रेम से प्रभावित होकर अश्विनों ने च्यवन को वार्धक्य से मुक्त कर दिया और उन्हें नूतन यौवन प्रदान किया।



(ख)

वैदिक आख्यान : अध्यात्मशिक्षण

अध्यात्म-शिक्षण की आख्यान शैली

आध्यात्म-शिक्षण की प्रणाली पर्याप्त रूपेण दुरूह तथा दुष्कर है। इसका कारण प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता तथा रहस्यवादिता है। परिचित के द्वारा अपरचित का तथा व्यक्त के द्वारा अव्यक्त का उपदेश देना शिक्षकों का महनीय कार्य रहा है और इस कार्य की सार्वत्रिक सिद्धि के लिए उन्होंने आख्यानों का उपयोग किया है। अध्यातम-शिक्षण में अख्यानों का प्रयोग ऋग्वेद से आरम्भ होता है और महाभारत, रामायण तथा पुराणों के माध्यम से वह परवर्ती साहित्य को सर्वथा व्याप्त कर विद्यमान है। पुराणों की लोकप्रियता का मुख्य हेतु आख्यान शैली का समधिक समाश्रयण है। वेदों में संकेतित आख्यानों का विपुलीकरण वेदार्थोपबृंहण का अन्यतम प्रकार है। यह तो प्रख्यात तथ्य है कि इतिहास तथा पुराण के द्वारा वेदों के अर्थ का उपबृंहण करना चाहिए। अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद सर्वथा शंकित रहता है कि वह कहीं उसपर प्रहार कर उसे छिन्न-भिन्न न कर डाले—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेद् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।

वेदार्थ का उपबृंहण पुराण अनेक प्रकार से करता है और इन प्रकारों में आख्यान शैली का उपयोग नितान्त रोचक तथा प्रभावशाली होता है। वेद में जो वस्तु या तथ्य सूक्ष्म रूप में संकेतित किये गये हैं, उन्हीं की विशद और विपुल अभिव्यक्ति करना पुराण का कार्य है। वेद के समान पुराण भी अध्यात्म-तत्त्व के शिक्षण के लिए आख्यानों का प्रयोग कर उसे सुबोध तथा सुगम बना डालता है। अन्य धर्मों या मतों के उपदेष्टा महापुरुषों ने भी यही शैली अपनाई है। जैनधर्म के उपदेष्टा तीर्थंकरों ने तथा बौद्धधर्म के प्रचारक तथागत ने ही अपने धर्मग्रन्थों में इस शैली का प्रचुर उपयोग नहीं किया, प्रत्युत, यहूदी, खृष्टीय तथा मुसलमानी मतों के भी उपदेष्टाओं ने इस शैली का प्रयोग अपने शिक्षण की व्यापकता, चारुता तथा प्रभावशालिता को दृष्टि में रखकर किया है। उदाहरणों के द्वारा इसे पुष्ट करने की विशेष आवश्यकता विज्ञ पाठकों के लिए नहीं है। उन मतों के धर्मग्रन्थों का सामान्य भी अनुशीलन इस तथ्य का पर्याप्त पोषण करता है।

तथ्य यह है कि इस अख्यान शैली का उदय वेद से प्रारम्भ होता है। वेद की प्रत्येक संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद में न्यून तथा अधिक मात्रा में यह शैली समादृत हुई है। ऋग्वेद-संहिता के विभिन्न मन्त्रों में कतिपय आख्यान संकेतित

किये गए हैं। उद्देश्य यही है किसी दुर्बोध अध्यात्मतत्त्व को सुबोध तथा सरल बनाना। ऐसे आख्यानों का सुन्दर संग्रह द्या द्विवेद ने अपनी प्रसिद्ध रचना नीति-मञ्जरी' में किया है। इन आख्यानों में कहीं-कहीं देवों तथा मुनियों की जो चारित्रिक त्रुटियाँ लक्षित होती हैं वे न हमारे अनुसरण के विषय हैं और न कुत्सन (निन्दा) के विषय हैं। वह तो प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए तथ्यों का प्रतिपादन मात्र है। इस विषय में महाभारत का यह दृष्टिकोण सर्वथा श्लाघनीय है—

कृतानि-यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा।
न चरेत् तानि धर्मात्मा, श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत् ॥
अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥

(शान्तिपर्व अध्याय २९१)

इन्हीं आख्यानों के ऊपर अनेक 'लौकिक न्याय' का निर्माण किया गया है। इन न्यायों की उपादेयता किसी दार्शनिक तथ्यों के रहस्यों के उद्घाटन में होती हैं जिससे विषम सिद्धान्त सुगम हो जाता है। उदाहरण के लिए 'भर्छु न्याय' भर्छु नामक व्यक्ति के आख्यान पर आश्रित है। 'रोहणाचललाभैरत्नसम्पदः सम्पन्नाः'—यह न्याय भी इसी प्रकार एक आख्यान पर आधृत है। 'रोहण' नामक पर्वत अशेष सम्पत्तियों के उद्भव-स्थान के रूप में विश्रुत है। कोई व्यक्ति उस पर्वत पर पहुँच जाता है। फलतः वहाँ उत्पन्न होने वाले रत्नों का स्वामी बन जाता है। इस न्याय द्वारा प्रत्यभिज्ञादर्शन के उस सिद्धान्त की सुगम व्याख्या हो जाती है जिसके द्वारा परमेश्वरता प्राप्त करने वाले व्यक्ति को समस्त सम्पत्तियों के प्राप्त करने का निर्देश किया जाता है। वृद्ध कुमारी वाक्य न्याय का उद्भव भी एक आख्यान के ऊपर ही है। इसका विशद वर्णन पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में (८।२।३) किया है। किसी 'वृद्ध कुमारी' से इन्द्र ने वर माँगने की प्रार्थना की। उसने एक ही वर माँगा—मेरे पुत्र घी तथा दूध से सम्पन्न भात को कांस के पात्र में भोजन करें। उसने एक ही वर के द्वारा अपने लिए पति, पुत्र, गाय तथा धन—इन चार वस्तुओं को समाहार रूप में आशीर्वाद माँग लिया, क्योंकि इन चारों वस्तुओं की सम्प्राप्ति के बिना उसकी प्रार्थना चरितार्थ नहीं हो सकती थी। इस न्याय का उपयोग अनेकार्थक वाक्य के स्वरूप को समझाने के लिए किया जाता है। तन्त्रवार्तिक (२।२।२) में यही न्याय 'वृद्धकुमारी वर-प्रार्थना' के रूप में उल्लिखित किया गया है। 'पङ्गु-अन्ध' न्याय भी इसी प्रकार अंधे और लँगड़े के पारस्परिक सहयोग के आधार पर निर्मित है जिसका उपयोग सांख्य-दर्शन में जड़ प्रकृति तथा निष्क्रिय पुरुष के परस्पर सहयोग से उत्पन्न जगत् के परिणाम की सुगम व्याख्या के लिए किया गया है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत् कृतः सर्गः ।।
(सांख्य-कारिका २१)

वाचस्पति मिश्र ने इस कारिका की टीका में इसकी विशेष व्याख्या नहीं की है, परन्तु माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन-संग्रह' के सांख्य-प्रकरण में इसका विशद विवरण दिया है। 'खल्वाट विल्वीय' न्याय जिसका उपयोग भाग्यरहित व्यक्ति को विपत्ति का सर्वत्र सामना करने के तथ्य के लिए किया जाता है (प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापद-भर्तृहरि, नीतिशतक-श्लोक ९०) एक लोक प्रख्यात आख्यान के ऊपर ही आधृत है। 'कण्ठ-चामीकर' न्याय किसी सद्गुरु के द्वारा ब्रह्मतत्त्व के शिक्षा के ऊपर आग्रह दिखलाता है, हम सब ही ब्रह्मस्वरूप हैं अवश्य ही, परन्तु किसी तत्त्ववेत्ता गुरु के उपदेश के द्वारा ही हम इस तथ्य को भली-भाँति जान सकते हैं जिस प्रकार कोई भुलक्कड़ व्यक्ति अपने कण्ठ में सोने की माला पहनने पर भी उसे कहीं बाहर ही खोजता रहता है और किसी आप्त पुरुष के द्वारा उपदिष्ट होने पर उसे पहचानता है। इसी प्रकार शब्दोपदेश से साक्षात् परज्ञान होने के लिए प्रयुक्त 'तत् त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्य 'दशम स्त्वमसि' न्याय से भलीभाँति समझ में आता है। यह न्याय भी लौकिक आख्यान के ऊपर आश्रित है।

अध्यात्म-शिक्षण के लिए आख्यान शैली के प्रयोग की उपयोगिता के विषय में 'अनन्ता वै वेदाः' इस तथ्य की व्याख्या के लिए दृष्टान्त रूप एक वैदिक आख्यान यहाँ दिया जाता है।

अनन्ता वै वेदाः

वेद निश्चय रूप में अनन्त हैं। वेदों का कोई अन्त नहीं। परन्तु वेदों के परिचित प्रकार चार हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। तब इस कथन की संगति कैसे बैठती है ? वेदों को जब चार प्रकार का होना बतलाया जाता है, तब इसका अर्थ यही है कि वैदिक मन्त्र यज्ञ के चार ऋत्विजों के लिए विभक्त किये गये हैं। यज्ञ में होता नामक ऋत्विज के लिए ऋक् मन्त्रों की संहिता है, अध्वर्यु के लिये यजुष् के मन्त्रों की, उद्गाता के लिये साम के मन्त्रों की। ब्रह्मा नामक ऋत्विज के लिए अथर्व के मन्त्रों का संकलन अथर्वसंहिता में किया गया है। फलतः यहाँ 'वेद' शब्द ग्रन्थ विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'वेद अनन्त हैं'—इस वाक्य में वेद ज्ञान का वाचक है। अतः इसका तात्पर्य है कि ज्ञान का कहीं अन्त नहीं, किसी विषय में कितनी भी जानकारी प्राप्त की जाय, वह सर्वथा न्यून ही रहती है। किसी विषय का गम्भीर अध्येता तथा अनुसन्धानकर्ता कभी नहीं कह सकता कि उसने उसका थाह पा लिया तथा वह उसके अन्त तक पहुँच गया। इस तथ्य के निरूपण में तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक बड़ी ही सुन्दर, सुबोध तथा रहस्यमयी आख्यायिका है।

(१)

महर्षि भरद्वाज वैदिक युग के एक महनीय मन्त्रद्रष्टा आचार्य हैं। ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के वे ही ऋषि हैं। षष्ठ मण्डल महर्षि भरद्वाज तथा उनके वंशजन्मा ऋषियों के द्वारा दृष्ट तथा अनुभूत मन्त्रों का श्लाघनीय संग्रह है। इस मण्डल में ७५ सूक्त हैं तथा ऋचाओं की संख्या ७६५ हैं। इन्हीं भरद्वाज ऋषि के अन्तःकरण में एक तीव्र अभिलाषा जागी कि जितने वेद हैं या हो सकते हैं उन सबका गम्भीर अनुशीलन कर मैं उनके अन्त तक पहुँच जाऊँ। तभी मेरा यह मनुष्य जीवन सार्थक होगा क्योंकि मैं गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाऊँगा तथा समस्त वेद हस्तामलक की भाँति मेरे सामने सर्वदा उपस्थित रहेंगे। इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए उन्होंने तपस्या को अपना माध्यम बनाया, क्योंकि जानते थे कि तपस्वी व्यक्ति के लिए जगत् की कोई वस्तु–चाहे वह कितनी दुरूह तथा दूरस्थ हो—अगम्य तथा अप्राप्य नहीं है। अतः उन्होंने भगवान इन्द्र को तपस्या के द्वारा प्रसन्न करने का दृढ़ संकल्प किया। भरद्वाज ने अत्यन्त घोर तपस्या का आश्रय लिया, उन्होंने रातदिन को एक कर डाला, कोई भी उपाय उठा नहीं रखा। तपस्या की सिद्धि में बिलम्ब भले ही लगे, परन्तु वह फलवती अवश्यमेव होती है।

एक दिन महर्षि ने आश्चर्य भरे नेत्रों से अपने सामने एक भव्य मूर्ति को देखा–गठीला शरीर, दिव्य आभा से देदीप्यमान मुख मण्डल, वज्र के समान सशक्त बाहु युगल, दक्षिण हस्त में कठोर वज्र की सत्ता। मूर्ति को देखकर उन्हें समझते देर न लगी कि ये ही आर्यों को असंख्य संग्रामों में विजय प्रदान करने वाले भगवान् इन्द्र हैं। भगवान् को देखकर भक्त की कामनावल्ली लहलहा उठी। इन्द्र ने कहा—वरं ब्रूहि। तुम क्या चाहते हो ? उसे माँगों। भरद्वाज ने उत्तर दिया–भगवन्, मुझे पूरे एक सौ वर्षों की आयु प्रदान कीजिए जिससे मैं उग्र तपस्या कर वेद के अर्थ का सम्यक अनुशीलन कर सकूँ तथा वेद के अन्त को पा सकूँ। इन्द्र ने कहा 'तथास्तु'। तुम्हारी अभिलाषा पूरी होगी। यह कहकर वे अन्तर्ध्यान हो गये।

(२)

सौ वर्षों की आयु पलक मारते मारते बीत गई, परन्तु भरद्वाज को अपने अभीष्ट की सिद्धि नहीं हुई। उन्होंने वेदों का विधिवत् अनुशीलन और मनन किया। पूरा जन्म इसी कार्य में व्यय किया, परन्तु कुछ हाथ नहीं आया। जितना वे विचार करते थे, उतनी ही वेदार्थ की गम्भीरता सामने आती थी और लक्ष्य दूर होता दिखाई पड़ता था। सौ वर्षों के बीतने पर वृत्रहन्ता इन्द्र स्वयं उपस्थित हुये और महर्षि से उनकी सिद्धि के विषय में पूछा। भरद्वाज ने इन्द्र से अपनी विफलता की बात बड़ी वेदना के साथ सुनाई और सौ–सौ वर्षों के दो जन्म और माँगे। इन्द्र की स्वीकृति देने पर महर्षि ने ज्ञान की गरिमा के चिन्तन में अध्यात्म के गाम्भीर्य के मनन में—अपने को इतनी तत्परता से लगा दिया कि उन्हें सुध-बुध जाती रही। उनकी तपस्या का एक मात्र उद्देश्य यही था कि वेद का अन्त वे पा

सकें। वेद का अर्थ किन साधनों से जाना जा सकता है; देवता का स्थल क्या है ? क्या देवता मन्त्र रूप ही हैं अथवा उसका स्वतन्त्र कोई रूप भी हैं ? देवता क्या बाह्य प्रकृति के किसी विशिष्ट प्रकार का प्रतीक है अथवा दिव्यलोक में उसकी सत्ता है ? अथवा वह अन्ततोगत्वा अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नायक परमेश्वर का ही वाचक है ?—महर्षि भरद्वाज के तीन जन्म बीत गये, तीन सौ वर्ष का सुदीर्घ काल आया और चला गया, परन्तु पूर्वोक्त समस्याओं का समाधान नहीं हो पाया। महर्षि में अध्यवसाय की कमी नहीं थी, अनुसन्धान की योग्यता का अभाव नहीं था, परन्तु विचारणीय विषय ही इतना विशाल था, वेद सम्बन्धी समस्यायें ही इतनी विकट, विषम तथा विविध थीं कि उनका यथोचित समाधान नहीं हो सका।

इसी समय इंद्र उपस्थित हुये और महर्षि से उनकी उपलब्धि के विषय में प्रश्न किया। भरद्वाज बड़े विषण्ण थे, परन्तु हतोत्साह न थे। उन्होंने बड़े करुण स्वर में इंद्र से पुनः प्रार्थना की कि वे उन्हें सौ वर्ष की आयु वाला चतुर्थ जन्म प्रदान करें, तो वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में कृत-कृत्य हो सकते हैं। इंद्र ने तब एक विचित्र चमत्कार पैदा किया। तीन विशालकाय सुदीर्घ पर्वत उनके सामने उठ खड़े हुए। देखते ही देखते इन पर्वतों के प्रादुर्भाव ने महर्षि के हृदय में एक विशाल आश्चर्य उत्पन्न कर दिया। अपने हाथों की मुट्ठी में धूल भर कर इन्द्र ने कहा—

"देखो भरद्वाज; तुमने तीन जन्मों में तीन सौ वर्षों की सुदीर्घ आयु पाकर जो ज्ञान अर्जित किया है, वह मेरी मुट्ठी की धूल के बराबर भी नहीं हैं। वेद तथा वेदार्थ का ज्ञान इन विशालकाय पर्वतों के समान ही उत्तुङ्ग और अलङ्घ्य है। दैवी अनुकम्पा के बिना मानव के प्रयत्नों से यह कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। वेद का न तो कहीं अन्त है और न ज्ञान की कहीं सीमा है, तत्व का विचार करते चलिए वह आगे चला जाता है, कहीं रुकने का नाम नहीं जानता। याद रखो—अनन्ता वै वेदाः (= वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त नहीं है।) वह अनन्त है। उसके ओर छोर का कहीं पता नहीं चलता। देवाधिदेव सविता के अनुग्रह से ही वेदार्थ का ज्ञान सम्पन्न हो सकता है, क्योंकि सवितृदेव स्वयं त्रयीरूप हैं।"

इतना उपदेश देकर इन्द्र ने भरद्वाज को 'सावित्र अग्निचयन' नामक यज्ञ के अनुष्ठान की विधि बतलाई। महर्षि ने उसका यथार्थ रूप से सम्पादन किया। इसका फल यह हुआ कि उन्हें समग्र वेद का पारायण सिद्ध हुआ, वेद के समस्त अर्थों का पूर्ण ज्ञान उन्हें प्राप्त हो गया तथा इस ज्ञान की फलरूपा मुक्ति उन्हें सद्यः प्राप्त हो गई। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यही तो उपनिषदों का वास्तविक रहस्य है।

यह वैदिक आख्यान भरद्वाज की अतृप्त ज्ञानपिपासा, दृढ़ निष्ठा तथा पूर्ण आस्था का जितना परिचायक है, उतना ही यह वेद की अनन्तता का तथा ज्ञान विज्ञान की निःसीमता का द्योतक है। अनन्ता वै वेदाः—भरद्वाज की गम्भीर अनुभूति का विशद आविष्कारक तथ्य कथन है।

(८) वेद में गीति-काव्य का उद्गम

कवि काव्य-सृष्टि का प्रजापति है। जिस प्रकार शिव अपनी शक्तिभूता प्रतिभा के सहयोग से नई रंगीन सृष्टि का उद्गम करता है उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन सौन्दर्यमय काव्य-जगत् का निर्माण करता है। कवि में अन्तर्दर्शन की सत्ता नितान्त आवश्यक है। कवि सुन्दर पदार्थ के दर्शन में जब तक अपनी पृथक् सत्ता का विसर्जन करके उससे तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता, तब तक वह भावमयी कविता की सृष्टि नहीं कर सकता। 'अन्तर्दर्शन' कवि को वस्तु-तत्त्व के अन्तस्तल के निरीक्षण की क्षमता प्रदान करता है, तो 'वर्णन' उसकी अनुभूत भावना को बोधगम्य अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अतः कवि के लिए वर्णन उतना ही आवश्यक है जितना अन्तर्दर्शन। दर्शन के द्वारा प्रातिभ चक्षु के उन्मेष होने पर भी वाल्मीकि को कवि की पदवी तभी प्राप्त हुई जब दर्शन वर्णन के बाह्य रूप में छलक उठा। अन्तर्दर्शन कवि की निजी विभूति है जो उसके हृदय को नाना भावनाओं का आकर्षण-केन्द्र बनाती है, परन्तु वर्णन कवि की बाह्य विभूति है जिसके द्वारा वह पाठकों के हृदयावर्जन में समर्थ कोमल कविता को जन्म देता है।

दर्शन तथा वर्णन से स्निग्ध ऋषि की वाणी के भव्य उदाहरण वेद के महनीय मन्त्र हैं। मन्त्र आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान की निधि हैं तथा कर्मकाण्ड के जागरूक साधन; इसमें तो विवाद या सन्देह के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। परन्तु ये ही मन्त्र कमनीय काव्य-कला के आद्य निदर्शन भी निश्चयपूर्वक माने जा सकते हैं। वैदिक ऋषियों की वाणी में दिव्यता अपने भव्य रूप में स्वर्गीय सुगन्ध के साथ विलसित हो रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से वैदिक मन्त्र उदात्त तत्त्व-ज्ञान के निःसन्देह परिचायक हैं। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्ष चक्षुओं के द्वारा अनुभूत तत्त्वों के नितान्त सरल-सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक हैं। वैदिक ऋषि मनोऽभिलषित भावों को थोड़े से चुने हुए सुबोध शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय-समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलंकारों के विधान करने में भी पराङ्मुख नहीं होता। अलंकारों की रानी उपमा का अत्यन्त भव्य, मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य-संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव। आनन्द से सिक्त कवि-हृदय की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध करती है। अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए उन्हें सरलतापूर्वक पाठक के हृदय तक पहुँचाने के निमित्त कवि

की वाणी जिन अन्तरंग मधुमय कोमल साधनों का उपयोग किया करती है अलंकार उन्हीं का अन्यतम रूप है। हम ऐसे काव्य-युग की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें भाव-भङ्गी में कोमल विलास के संचार-हेतु कवि किसी-न-किसी प्रकार के साम्य-विधान का आश्रय नहीं लेता।

वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विलास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा-विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य-भावना का आधिक्य है, तो इन्द्रविषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप-वर्णन में यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है, तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक चिह्न है भावों की सरल अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।

इन्द्र की स्तुति के अवसर पर आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि की यह उक्ति है कि त्वष्टा के द्वारा निर्मित स्वरयुक्त वज्र के द्वारा जब इन्द्र ने पर्वत में आश्रय लेकर निवास करने वाले वृत्र को मारा, तब रँभाती हुई धेनुओं के समान जल जोरों से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला :

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥[1]

यहाँ 'वाश्रा धेनवः' की उपमा से सायंकाल चरागाहों से लौटने वाली, अपने बछड़ों के लिए उतावली से जोरों से रँभाती हुई और दौड़ती हुई गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने झूलने लगता है। जोरों से बहने वाले, घोर रोर करने वाले, बहुत दिनों तक रुके रहने के बाद प्रवाहित होने वाले जल के लिए इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान क्या हो सकता है? इसी वैदिक कल्पना को हमारे महान् कवियों ने भी अपने काव्यों में बड़ी रुचिरता के साथ अपनाया है।

हृदय-वृत्तियों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए वरुणसूक्तों का अनुशीलन विशेष सहायक सिद्ध होगा। महर्षि वसिष्ठ ने एक अत्यन्त भावप्रवण सूक्त में अपने आराध्य देव वरुण के प्रति अपना कोमल उद्‌गार प्रकट किया है। वह सुन्दर शब्दों में कह रहे हैं कि मैं अपने-आप पूछ रहा हूँ कि कब मैं वरुण के साथ मैत्री-सूत्र में बँध जाऊँगा? क्रोधरहित होकर वरुण प्रसन्नचित्त से क्या मेरे द्वारा दी गई हवि को ग्रहण करेंगे? कब मैं प्रसन्नमानस होकर उनकी दया को देखूँगा :

१. ऋग्वेद—१।३२।२।

उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥[१]

जब विद्वानों की मीमांसा से उसे वरुण के कोप का पता चलता है तब कह उठता है कि हे देव, पितरों के द्वारा किये गए द्रोहों को दूर कर दीजिए और उन द्रोहों तथा विरोधों को भी दूर हटाइए जिन्हें हमने अपने शरीर से स्वयं किया है। जिस प्रकार पशु को चुराने वाले चोर को तथा बछड़े को रस्सी से लोग छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार आप भी अपराध की रस्सी में बँधे वसिष्ठ को भी मुक्त कीजिए :—

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽ व या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥[२]

नम्रता तथा दीनता, अपराध-स्वीकृति तथा आत्म-समर्पण की भव्य भावनाओं से मण्डित यह सूक्त वैष्णव भक्तों की उस वाणी की सुध दिलाता है जिसमें उन्होंने अपने को हजारों अपराधों का भाजन बताकर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है।

उषा की सुषमा

उषादेवी के विषय में उपलब्ध सूक्तों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे काव्य की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्य भावना-मण्डित हैं। प्रातःकाल अरुणिमा से मण्डित, सुवर्ण छटा से विच्छुरित प्राची नभोमण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक हृदय में कोमल भावना का उदय नहीं होता ? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेमभरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्य छटा पर रीझ उठता है। उषा मानवी के रूप में कवि-हृदय के नितान्त पास आती है। यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणी-मात्र होती, इस विश्व से परे ऊर्ध्व लोक में अपनी दिव्य छवि छहराती रहती, मानव-जगत् के ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने में ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय में केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं। जब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि अपनी पृथक् सत्ता का सर्वथा निर्मूलन करके प्रकृति की सत्ता के भीतर नरसत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं, तब अनन्यता की भावना जन्म लेती है। इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में, कभी गृहिणी के रूप में और कभी माता के रूप में देखता है। बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनुभव करता है। उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए माता की ममता प्रतीक बन जाती है।

---

१. ऋग्वेद—७।८६।२।
२. वही—७।८६।५।

वैदिक ऋषि उषा के स्वरूप की भावना को तीव्र रूप से प्रकट करने के लिए नाना अलंकारों का विधान प्रस्तुत करता है। उषा अपने शुभ्र उज्ज्वल रूप को धारण करती हुई स्नान करने वाली सुन्दरी की भाँति आकाश में प्रकट होती है, तो कभी वह भ्रातृ-विहीन भगिनी के समान अपने दाय-भाग को लेने के लिए पितृ-स्थानीय सूर्य के पास आती है, कभी वह सुन्दर वस्त्र पहनकर पति को अपने प्रेम-पाश में बाँधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के समान अपने पति के सामने अपने सुन्दर रूप को प्रकट करती है :

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।[1]

कवि की दृष्टि उषा के रम्य रूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सन्मुख स्मितवदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो :

कन्येव तन्वा शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥[2]

यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है। यहाँ उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की भावना से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है। उषा के ऊपर की गई अन्य कल्पनाओं के भीतर भी उतना ही औचित्य दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अपने प्रकाश द्वारा संसार को उसी प्रकार संस्कृत करती है जिस प्रकार योद्धा अपने शस्त्रों को घिसकर उनका संस्कार करता है :

अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून् बाधते तमो अजिरो न वोळ्हा।[3]

उषा अपने प्रकाश को उसी प्रकार फैलाती है जिस प्रकार ग्वाला चरागाह में गौओं को विस्तृत करता है अथवा नदी अपने जल को विस्तृत करती है :

पशून्न चित्रा सुभागा प्रथाना सिन्धुर्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत्॥[4]

उषा का नित्य प्रति उदित होना उसके अमरत्व की पताका है।

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।[5]

उषा का नित्यप्रति एकाकार रूप से आना कवि की दृष्टि में चक्र के आवर्तन के समान है। चक्र सदा आवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार उषा भी अपना आवर्तन किया करती है—

---

१. ऋग्वेद—१।१२४।७ २. वही, १।१२३।१० ३. वही, ६।६४।३
४. वही, १।९२।१२। ५. वही, ३।६१।३

समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥[1]

इन उदाहरणों में उपमा का विधान उषा की रूप-भावना को तीव्र बनाने के लिए उचित ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

प्रकृति-चित्रण

उषा-विषयक मन्त्रों के अनुशीलन से हम वैदिक ऋषियों की प्रकृति के प्रति उदात्त भावना को भी भली भाँति समझ सकते हैं। प्रकृति का चित्रण दो प्रकार का है—

(१) **अनावृत वर्णन**—प्रकृति का स्वतः आलम्बनत्वेन वर्णन, जहाँ प्रकृति की नैसर्गिक माधुरी कवि-हृदय को आकृष्ट करती है और अपने आनन्द से कवि-मानस को सिक्त करती है।

(२) **अलंकृत वर्णन**—जिसमें प्रकृति तथा उसके व्यापारों का मानवीकरण किया गया है। प्रकृति निश्चेष्ट न होकर चेतन प्राणी के समान नाना व्यापारों का सम्पादन करती है। वह कभी स्मितवदना सुन्दरी के समान दर्शकों का हृदय आकृष्ट करती है, तो कभी उग्ररूप भीषण जन्तु के समान हमारे हृदय में भय तथा क्षोभ उत्पन्न करती है।

वैदिक कवि की इस द्विविध भावना का स्फुट निदर्शन हमें उषासम्बन्धी भावनाओं में मिलता है। प्राची क्षितिज पर सुवर्ण के समान अरुण छटा छिटकाने वाली उषा का साक्षात्कार करते समय कवि का हृदय इस कोमल चित्र में रम जाता है और वह उल्लासमयी भाषा में पुकार उठता है :

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥[2]

हे प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर अमरणशील बनकर चमको। तुम्हारे उदय के समय पक्षीगण सुन्दर रसमय वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर शिक्षित पृथुबल से सम्पन्न सुवर्ण वर्णवाले घोड़े तुम्हें वहन करें।

अलंकृत वर्णन के अवसर पर उषा से सम्बद्ध रूप तथा व्यापारों पर मानवीय रूप तथा व्यापारों का बड़ा ही हृदयरञ्जक आरोप किया गया है। एक स्थल पर कवि उषा की रूप-माधुरी का वर्णन करते समय शोभनवस्त्रा युवती के साथ उसकी तुलना करता है :

जायेव पत्य उशती सुवासा। उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ॥[3]

यहाँ कवि नारी के कोमल हृदय को स्पर्श कर रहा है। पति के सामने कौन सुन्दरी अपने हृदय के उल्लास तथा मन की वासना को गुप्त रख सकती है? और कौन ऐसी स्त्री होगी जो पति के सामने अपने सुन्दरतम सज्जासम्पन्न रूप को प्रकट

१. ऋग्वेद—३।६१।३ २. वही, ३।३१।२। ३. वही, १।१२४।७।

करना नहीं चाहती ? अपने पति-भूत सूर्य का अनुगमन करने वाली उषा के आचरण में कवि साध्वी सती के आचरण की स्फुट अभिव्यक्ति पाता है ।[1] एक स्थान पर कवि भय से शंकित होकर कह उठता है कि कहीं उषा के सुकुमार शरीर को सूर्य की तीक्ष्ण किरणें सन्तप्त न कर दें, जिस प्रकार राजा चोर को या शत्रु को सन्तप्त करता है :

नेत त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति । सूरो अर्चिसा सुजाते अश्वसूनृते ॥[2]

अन्यत्र रंगमंच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातःकाल प्राची क्षितिज के रंगमंच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली उषा के साथ करता हुआ अपनी कलाप्रियता का परिचय देता है :

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ।[3]

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में प्रकृति के इस द्विविध रूप की भव्य झाँकी प्रस्तुत की है । 'ऋतु-संहार' में प्रकृति अपने अनावृत रूप में पाठकों के सामने अपनी रमणीय छवि दिखलाती है, तो 'मेघदूत' में वह अलंकारों की सजावट से चमत्कृत तथा कोमल हार्दिक भावभङ्गिमाओं से स्निग्ध रमणी के रूप में आकर प्रस्तुत होती है । कालिदास का यह प्रकृति-चित्रण ऋग्वेदीय मञ्जुल धारा के ही अन्तर्गत है ।

---

१. ऋग्वेद— १।९२।४ । २. वही, ७।७६।३ ।
३. वही, ५।८०।६ ।

(९) वैदिक उच्चारण की विशिष्टता

शिक्षित व्यक्ति की मार्मिक पहचान है उस भाषा के शब्दों का यथावत् शुद्ध उच्चारण। अशिक्षित व्यक्ति भी किसी न किसी प्रकार से अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करता ही है, परन्तु उसके इस प्रयत्न को हम शुद्धता की कसौटी पर नहीं परख सकते। शुद्ध वाक्य-प्रयोग की पहली सीढ़ी है शुद्ध उच्चारण और इस शुद्ध उच्चारण के ऊपर प्रत्येक भाषा के भक्तों का आग्रह होना स्वाभाविक है। परन्तु, संस्कृत भाषा में उच्चारण की शुद्धता पर सबसे अधिक आग्रह है। वेद का एक महनीय अंग ही 'शिक्षा' के नाम से प्रख्यात है और 'शिक्षा' का अर्थ है उच्चारण की शिक्षा देनेवाले ग्रंथ। वैदिक मंत्रों के उच्चारण में यदि छोटी-सी भी त्रुटि हो जाती है, वर्ण की अथवा स्वर की, तो महान् अनर्थ उत्पन्न हो जाता है, और इस अनर्थ का भाजन स्वयं वृत्र को बनना पड़ा था, जिसे यज्ञ में स्वर के अपराध से लेने के देने पड़ गये थे। महर्षि पाणिनि ने व्याघ्री को अपने बच्चे को मुँह में ले जाते देखा था और उसी को उन्होंने वर्णोच्चारण-विधान में आदर्श माना था। बोलनेवाले को चाहिए कि न तो वह वर्णों को काटे, न वर्णों को मुँह से बिखरने दे :

'व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतन-भेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥'

[पाणिनीय शिक्षा, श्लोक २५]

स्वरों की तो महिमा ही अलग है। वेद में स्वरों के यथावत् निर्वाह के ऊपर मंत्रों का उचित अर्थ भी आश्रित रहता है। अतः स्वरों का माहात्म्य एक विशिष्ट वस्तु है। जो व्यक्ति संस्कृत के शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सकता वही 'म्लेच्छ' है। 'म्लेच्छ' शब्द में आरम्भ से ही, उच्चारण की ही भावना जागरूक है; धार्मिक भावना का उदय अवान्तर घटना है। जो व्यक्ति वैदिक धर्म का अनुयायी न हो उसे धर्मशास्त्रों ने 'म्लेच्छ' की संज्ञा अवश्य प्रदान की है, परन्तु मूलतः वही 'म्लेच्छ' है जो संस्कृत शब्दों का यथार्थतः उच्चारण नहीं कर सकता। इसीलिए, महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है :

"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।
तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै।
म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः॥"

इस वाक्य का अर्थ है कि असुर लोग 'हेलयः हेलयः' कहते हुए पराजय को प्राप्त हुए। इसलिए, ब्राह्मण को चाहिए कि वह कभी गलत उच्चारण न करे। अपशब्द ही म्लेच्छ कहलाता है। 'हेलयः', 'हेलयः' में अपशब्द क्या है? इसके

विषय में विभिन्न मत हैं। कैयट ने दोनों का उल्लेख प्रदीप में किया है। किसी का मत है कि यहाँ प्लुत तथा प्रकृति-भाव होना चाहिए था, जिनके न होने से यह अपशब्द हुआ। दूसरे आलोचकों की सम्मति में पदद्विर्वचन के स्थान पर वाक्य का द्विर्वचन तथा रेफ का लकार होना वहाँ म्लेच्छन है ('हेऽरयः' का 'हेलयः' होना)। शतपथ-ब्राह्मण में इस प्रसंग का दूसरा रूप मिलता है। वहाँ असुरों की पराजय 'हेलव हेलवो इति वदन्तः' हेलव-हेलव कहने के कारण हुआ था। यहाँ यकार के स्थान पर वकार का प्रयोग अपशब्द हुआ। जो कुछ भी हो, असुरों की पराजय का कारण उच्चारण की त्रुटि थी, यह वेदों में माना गया है। अतः, सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए अपशब्द का प्रयोग नितान्त निन्दनीय है।

भारत के विभिन्न प्रान्तों के निवासियों का संस्कृतोच्चारण अपनी विशिष्टता लिये हुए है, जिसका उल्लेख राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' (सप्तम परिच्छेद) में सुन्दरता से किया है। यह वर्णन मध्ययुगीन उच्चारण की विशिष्टता जानने में अनुसंधानप्रेमियों के लिए परमोपयोगी है। आज भी भारत के प्रत्येक प्रान्त के निवासियों के उच्चारण में विलक्षणता दीख पड़ती है। प्राचीन काल का शुद्ध वैदिक उच्चारण काशी के महाराष्ट्र वैदिकों के मुख से आज भी श्रुतिगोचर होता है। गुजरातियों के मुख में संस्कृत के अनेक शब्द विकृत हो जाते हैं। 'तुलसी' का 'तलसी' तथा 'मुकुन्द' का 'मकन्द' होना तो श्रोताओं को उतना नहीं खलता; जितना खलता है 'शिव' का 'शव' हो जाना। प्रातःकाल किसी गुजराती सज्जन के मुख से शव-शव की ध्वनि सुनते ही श्रोता के मन में विचित्र उद्वेग उत्पन्न होता है। इसीलिए, गुजराती उच्चारण पर यह व्यंग्योक्ति वस्तुतः तथ्योक्ति ही है :

'तुलसी तलसी जाता मुकुन्दोऽपि मकन्दताम्।
गुर्जराणां मुखं प्राप्य शिवोऽपि शवतां गतः॥'

बंगालियों के मुख से दन्त्य स, मूर्धन्य ष तथा तालव्य श के पारस्परिक विभेद का सर्वथा लोप होकर एकमात्र तालव्य शकार का उच्चारण ऐतिहासिक कारणों से है। अकार का गोल-मटोल ओकार के रूप में ही उच्चारण नहीं है, प्रत्युत एकार का ह्रस्व अकार के रूप में उच्चारण भी कम विचित्र नहीं है। 'रसगुल्ला' का 'रोशोगुल्ला' उच्चारण सुनकर यदि वक्ता के मुँह के मिठाई से भरपूर होने की सम्भावना से हम चमत्कृत होते हैं, तो 'केला' को 'कला' के रूप में रेल के डब्बों में बिकते हुए सुनकर हमें कम अचरज नहीं होता।

विभिन्न प्रान्तों के उच्चारणों में कभी-कभी आश्चर्यजनक साम्य भी दृष्टिगोचर होता है। यदि भोजपुरी में 'चहुँपना' सुनकर हम घबराते हैं, तो पंजाब में 'आमदी' का 'मतबल' जानकर हमें कम आश्चर्य नहीं होता। यदि अवध के किसी निवासी के 'फवेरे फबेरे मुँह फेंकारे फतुआ फटाफट फाँक आवा' वाक्य सुनकर हमारे मुँह से हँसी का फौवारा फूट पड़ता है तो हमें भूलना न चाहिए कि जापान का निवासी भी 'फ़िफ्टी' (Fifty) को सदा सिफ़्टी' ही कहता है। प्राकृत में ही पकार का

बकार नहीं होता, अपि तु आज भी अनेक मिस्र-निवासी मार्गदर्शक सायंकाल नमाज पढ़ने के समय Let me bray कहकर भारतीय यात्रियों को अचम्भित करता है (Pray = प्रार्थना करना; Bray = रेंकना, गधे की बोली)।

उच्चारण की विशिष्टता पर आज भी नामकरण का विधान पाया जाता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'यर्वाणः तर्वाणः' नामक ऋषियों का उल्लेख किया है जो 'यद्वानः, तद्वानः' के स्थान पर यही विलक्षण उच्चारण किया करते थे।[1] आज भी लड़के विचित्र उच्चारण के बल पर अपने अध्यापकों के विचित्र नाम दे डालते हैं। अँगरेजी के एक प्रोफेसर साहब Calculation (कैलकुलेशन) शब्द का 'कालकुलेशन' उच्चारण किया करते थे, फलतः उनका नाम ही हो गया कालकुलेशन साहब। संस्कृत के एक पण्डित जी 'ज्ञ' का उच्चारण 'ज्यँ' के समान करते थे। फलतः उनका नाम ही छात्रों ने 'ज्याँनी' जी रख छोड़ा था।

उच्चारण की गलतियों का उल्लेख पाणिनि ने अपने सूत्रों में किया है।[2] परीक्षाकाल में एक गलती या अपपाठ करनेवाला व्यक्ति 'ऐकान्यिक'[3] तथा दो गलतियाँ करनेवाला व्यक्ति द्वैयन्यिक' कहलाता है। व्यक्ति बारम्बार अशुद्ध स्वरों का उच्चारण करता है, उसके लिए 'पदं मिथ्या कारयते' का प्रयोग काशिका में किया गया है। एक बार अशुद्ध उच्चारण के लिए 'कारयति का प्रयोग होता है, अर्थात् बारम्बार अशुद्ध उच्चारण करने पर 'कारयते' आत्मनेपद का प्रयोग समुचित माना जाता है। इसके लिए पाणिनि का विधान इस सूत्र में है— 'मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे' (१।३।७१)।

उच्चारण की गलती करनेवाले छात्र को दण्ड देने की विधि भी भारत में विचित्र नहीं थी। पतञ्जलि ने उदात्त के स्थान अनुदात्त की गलती करनेवाले छात्र के लिए लिखा है कि उसके अध्यापक छात्र को चपत रसीद करते थे—'चपेटा देते थे। यही प्राचीन विधि है और हाल-हाल तक हमारे गुरु लोग भी उच्चारण की शिक्षा के लिए इस विधान को विशेष उपयोगी पाते थे। परन्तु, पुरानी बाइबिल में 'शकार' का शुद्ध उच्चारण न करने के कारण ऐसे जघन्य दण्ड का विधान पाया जाता है, जिसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहूदी लोगों में एक जाति थी, जिसका नाम था 'इफ्रेमाइट'। इसने बगावत की थी और इसे दण्ड देने की विचित्र व्यवस्था की गई थी—'शिब्बालेथ' (Shibboleth) शब्द का शुद्ध उच्चारण

१. एवं हि श्रूयते 'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः। ते तत्र भवन्तो 'यद्वानस्तद्वान' इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते।

(महाभाष्य, पस्पशाह्निक)

२. कर्माध्ययने वृत्तम् ४।४।६३, बह्वच्पूर्वपदात् ठच् ४।४।६४।

३. यस्याध्ययने प्रवृत्तस्य परीक्षाकाले विपरीतोच्चारणरूपमेकं स्खलितं जातम् (कौमुदी)

'शिब्बोलेथ' यहूदी शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'अनाज की बाली'। परन्तु उस जाति के लोगों की जीभ ही ऐसी थी कि तालव्य शकार का उच्चारण नहीं कर सकती थी ; फलतः वह दन्त्य सकार ही बोल सकती थी, ठीक उसी तरह जैसे आज के स्पेन तथा लिथुएनिया के निवासी तालव्य श के स्थान पर दन्त्य सकार ही बोल सकते हैं। यहूदी लोगों ने, इस जाति के सभी लोगों को, जिनकी संख्या ४२ हजार थी, मृत्यु के घाट उतार दिया। जोर्डन नदी के घाटों पर नदी पार करने के स्थानों पर यह दुर्घटना घटी थी। ऐसे दण्ड की नैतिकता पर टीका करना व्यर्थ है। इतना जान लीजिए कि इस पूरी जाति को उच्चारण-सम्बन्धी त्रुटि के लिए एक महान् दण्ड सहना पड़ा था और उसका उच्छेद सदा के लिए हो गया। बाइबिल में इस विचित्र घटना का उल्लेख किया गया है[1]।

अशुद्ध उच्चारण के निमित्त इससे घोरतम दण्ड की शायद ही कल्पना की जा सकती है। इसमें प्रतिहिंसा की भावना ही अधिक व्यापक तथा बद्धमूल है। भगवान बचाये शुद्ध उच्चारण के ऐसे आग्रह से !



1. " ... and he said Sibboleth; for he could not frame to pronounce it right, then they laid hold on him, and slew him at the fords of Jordan : and there fell at that time of Ephraim forty and two thousand."

—Old Testament, The Judges, XII, (R. V.)

पौराणिक साहित्य

खण्ड २

आत्मा पुराणं वेदानां पृथगङ्गानि तानि षट्
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिभिः किल ।
उभाभ्यां यन्न दृष्टं हि तत् पुराणेषु गीयते ॥

—स्कन्द, रेवाखण्ड १।२२

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥

—नारदीय पु० २।२४।१७

(२ : १) पुराण तथा भागवत

(क) पुराण का स्वरूप

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है ? भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को साधारण जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं पुराणों को है। आज भी हिन्दू-धर्म का मूलाधार में पुराण ही हैं। परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आजकल पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित भारतीय विद्वानों की दृष्टि इन पुराणों के प्रति बड़ी उपेक्षापूर्ण है। वे इन ज्ञान के भण्ड.र पुराणों को गप्प से अधिक महत्‍व नहीं देते। जब भारतीय विद्वानों की यह दशा है, तब पाश्चात्य विद्वानों का क्या पूछना, वे तो पुराणों को (नितान्त) कपोल कल्पित ही समझते हैं। पुराणों में जो इतिहास वर्णित हैं, उसे वे पुरातन कला (माईथालजी) मानते हैं तथा इन पर तनिक भी विश्वास नहीं करते। इन्हीं पश्चिमी विद्वानों के द्वारा फैलायी गई इस भ्रान्त धारणा के अनुसार पुराणों के प्रति लोगों की उपेक्षा की प्रवृत्ति चली आ रही थी। परन्तु हर्ष का विषय है, अब भारतीय विद्वान् ही नहीं, पाश्चात्य मनीषी भी इसकी महत्ता को समझने लगे हैं और भारतीय इतिहास के लिये इनको अमूल्य निधि मानने लगे हैं।

पुराणों की प्राचीनता—

पुराण शब्द का अर्थ पुराना आख्यान है—'पुराणमाख्यानम्'। संस्कृत साहित्य में 'पुराण' शब्द का अर्थ पुराना है। संभवतः पुराणों की अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही इनको यह नाम प्राप्त हुआ हो। पुराणों में प्राचीन आख्यानों की ही विशेषता रही है। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास का नाम भी आता है[1]। इतिहास उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है, जो भूतकाल में हो गई हैं, परन्तु पुराण का विषय इतिहास से अधिक व्यापक और विस्तृत है। इसी मौलिक पार्थक्य को लक्ष्य में रख कर इतिहास और पुराण का नामकरण अलग-अलग किया गया है।

पुराण बहुत ही प्राचीन हैं। ये अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। अतः इनकी प्राचीनता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना अत्यन्त कठिन है। पुराण का उल्लेख अथर्ववेद में पाया जाता है। छान्दोग्य-उपनिषद् में भी पुराणों का उल्लेख मिलता है। परन्तु सूत्रकाल में ही इनके अस्तित्व का निश्चित रूप से पता चलता है। गौतमीय धर्मसूत्र में—जो धर्मसूत्रों में सबसे प्राचीन समझा जाता है—लिखा है कि राजा को वेद, वेदांग तथा धर्मशास्त्र के साथ ही साथ पुराणों को भी प्रमाण मानना चाहिये। आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में पुराणों से दो उद्धरण उद्धृत

---

१. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

किये गये हैं तथा भविष्य पुराण से एक उद्धरण है। आधुनिक विद्वानों ने इन ग्रंथों का निर्माण-काल ४थी अथवा ५वीं शताब्दी माना है। अतः इससे सिद्ध होता है कि पुराणों की रचना—कम से कम प्रसिद्ध पुराणों—इस समय से पूर्व अवश्य हो गयी थी। इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। महाभारत स्वयं पुराण कहा गया है तथा इसका आरम्भ भी पुराण की रीति से ही होता है। सूत लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा, जो इस भारतीय कथा के कहने वाले हैं—पुराण में निष्णात बतलाये गये हैं। इससे पता चलता है कि पुराण महाभारत से प्राचीन हैं। इस प्रकार पुराणों की प्राचीनता सिद्ध है।

पुराण की कल्पना

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे शास्त्रों में पुराण की कैसी कल्पना की गई है। मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड आदि महापुराणों में पुराण का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्॥

अर्थात् (१) सर्ग या सृष्टि (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि के आदि की वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस मनु का समय कब-कब रहा और उस काल में कौन सी महत्त्व की घटना हुई तथा (५) वंशानुचरित—सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन—यही पुराणों के पाँच विषय हैं। यही लक्षण साधारणतया पुराणों का है। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है, प्रत्युत इनसे भी बहुत अधिक बातें हैं। उदाहरण के लिये अग्नि पुराण को ले लीजिये, जिसे यदि हम भारतीय ज्ञानकोष कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। कुछ ऐसे भी पुराण हैं जिनमें इन पाँचों विषयों का यथावत् वर्णन नहीं मिलता। फिर भी पुराण की सामान्य कल्पना यही समझनी चाहिये। हम लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे पुराण ही सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझना चाहिए, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। किसी देश की कथा जबतक सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जाय, तबतक उसे अधूरा ही समझना चाहिये। इतिहास की इस वास्तविक कल्पना को पुराणों में हम पाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने इतिहास-लेखनी-शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी, परन्तु हर्ष का विषय है कि इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास की रूपरेखा (आउट-लाइन-आफ हिस्ट्री) में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुशरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहास में यादव समाज का इतिहास लिखने के पूर्व सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य के विकास

का इतिहास लिखा है। मनुष्य योनि को प्राप्त करने के पूर्व मानव को कौन सा रूप धारण करना पड़ा था तथा उसका 'क्रमिक विकास कैसे हुआ, इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। इस प्रकार यदि मनुष्य का इतिहास लिखना हो तो सृष्टि के प्रारम्भ से ही उसके विकास की कथा लिखनी आदर्श तथा ठीक है। इतिहास लिखने का यही पौराणिक तथा आदर्श प्रकार है।

पुराणों की दूसरी विशेषता उनकी वर्णन-शैली है। कुछ लोग पुराणों में लिखी हुई किसी बात को लेकर उसे असंभव कहकर कपोल-कल्पित कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे शास्त्रों में वस्तु-कथन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—जिन्हें आलंकारिक भाषा में तथ्य-कथन, रूपक-कथन तथा अतिशयोक्ति कथन कह सकते हैं। जो वस्तु जैसी हो, उसे ठीक वैसा ही कहना तथ्य-कथन है। यह कथन वैज्ञानिक लोगों के लिये उपयुक्त हैं। जहाँ रूपकालंकार का आश्रय लेकर कुछ कहा जाय, उसे रूपक कथन कहते हैं। यह कथन प्रणाली वेदों में पायी जाती है, जहाँ सूर्य की किरणों में पाये जाने वाले सात रंगों को रंग न कहकर घोड़ों का रूपक दिया गया है। पुराणों में वस्तु वर्णन के लिए अतिशयोक्ति अलंकार का आश्रय सदा लिया गया है। तथा जो कुछ बात कही गयी है, उसे बड़ा ही विस्तृत रूप दिया गया है जैसे इन्द्र-वृत्त के युद्ध में वृत्त की राजा के रूप में विस्तृत कल्पना। इस प्रकार पुराणों में जहाँ कहीं कोई बात कही गयी है, वहाँ बड़े विस्तार से कही गयी है। अतः पौराणिक कथाओं के सम्बन्ध में इस कथन प्रणाली पर ध्यान रखकर ही विचार करना चाहिए। मुझे आशा है कि यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो पुराण शुद्ध तथा आदर्श इतिहास के रूप में ही हमलोगों को दिखायी पड़ेंगे।

(ख)

श्रीमद्भागवत की विशिष्टता

अष्टादशपुराणों में नितान्त महत्वपूर्ण तथा प्रख्यात पुराण श्रीमद्भागवत है। पुराणों की गणना में भागवत अष्टम पुराण के रूप में परिगृहीत किया जाता है। (भागवत १२।७।२३)। आजकल भागवत आख्या धारण करने वाले दो पुराण उपलब्ध होते हैं—(क) देवीभागवत (ख) श्रीमद्भागवत। अतः इन दोनों में पुराण कोटि में किसकी गणना अपेक्षित है? इस प्रश्न का समाधान आवश्यक है।

विविध प्रकार से समीक्षा करने पर अन्ततः यही प्रतीत होता है कि श्रीमद्-भागवत को ही पुराण मानना चाहिए तथा देवीभागवत को उप पुराण की कोटि में रखना उचित है। श्रीमद्भागवत देवीभागवत के स्वरूप निर्देश के विषय में मौन है। परन्तु देवीभागवत 'भागवत' ही गणना उपपुराणों के अन्तर्गत करता है। (१।३।१६) तया अपने आपको पुराणों के अन्तर्गत देवीभागवत के अष्टम स्कन्ध में वर्णित भुवनकोश श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में प्रस्तुत इस विषय का अक्षरशः अनुकरण करता है। श्रीमद्भागवत भारतवर्ष की महिमा के प्रतिपादक आठों श्लोक[1] देवीभागवत में अक्षरशः उसी क्रम से उद्धृत है[2]। दोनों के वर्णनों में अन्तर इतना ही है कि श्रीमद्भागवत जहाँ वैज्ञानिक विषय के विवरण के निमित्त गद्य का नैसर्गिक माध्यम पकड़ता है, वहाँ विशिष्टता के प्रदर्शनार्थ देवी भागवत पद्य के कृत्रिम माध्यम का प्रयोग करता है।

श्रीमद्भागवत भक्तिरस तथा आध्यात्म ज्ञान समन्वय उपस्थित करता है। भागवत निगम कल्पतरु का स्वयं गलित फल माना जाता है जिसे नैसर्गिक ब्रह्मचारी महर्षि शुक ने अपनी मधुर वाणी से संयुक्त कर अमृतमय बना डाला है।

भागवत में १८ हजार श्लोक, ३३५ अध्याय तथा १२ स्कन्ध हैं। इनके विभिन्न स्कन्धों में विष्णु के लीलावतारों का वर्णन बड़ी सुकुमार भाषा में किया गया है। परन्तु भगवान् कृष्ण की ललित लीलाओं का विशद विवरण प्रस्तुत करनेवाला दशम स्कन्ध भागवत का हृदय है। अन्य पुराणों में जैसे विष्णुपुराण (पंचम अंश), ब्रह्मवैवर्त (कृष्ण जन्म खण्ड) आदि में भी कृष्ण का चरित निबद्ध है। परन्तु दशम स्कन्ध में लीलापुरुषोत्तम का चरित जितनी मधुर भाषा; कोमल-पद-विन्यास तथा भक्तिरस से आप्लुत होकर वर्णित है, वह अद्वितीय है। रासपंचाध्यायी (१०।२९-३३) अध्यात्म तथा साहित्य उभय दृष्टियों से काव्य-

१. श्रीमद्भागवत ५।१९।२१-२८

२. श्रीदेवीभागवत ८।११।२२-२९

जगत् में एक अनूठी वस्तु है। वेणुगीत (१०।२१), गोपीगीत (१०।३०), युगल-गीत (१०।३५), भ्रमरगीत (१०।४७) ने भागवत को काव्य के उदात्त स्तर पर पहुँचा दिया है।

'विद्यावतां भागवते परीक्षा'—भागवत विद्वत्ता की कसौटी है और इसी कारण टीका रूपकों की दृष्टि से भी यह अनुलनीय है। विभिन्न वैष्णव संप्रदाय के विद्वानों ने अपने विशिष्ट मत की उत्पत्ति तथा परिपुष्टि के निमित्त भागवत के ऊपर स्वसिद्धान्तानुयायी व्याख्याओं का प्रणयन किया है जिनमें कुछ टीकाकारों का यहाँ संक्षिप्त संकेत किया जा रहा है। श्रीधरस्वामी (भावार्थ-दीपिका) १३वी शती, भागवत के सबसे प्रख्यात व्याख्याकार), सुदर्शन सूरि (१४वी शती) की शुकपक्षीया व्याख्या विशिष्टा द्वैतमतानुसारिणी है; विजयध्वज (पदरत्नावली १६वी शती माध्वमतानुयायी), वल्लभाचार्य (सुबोधिनी १६वीं शती शुद्धाद्वैत-वादी), शुकदेवाचार्य (सिद्धान्तप्रदीप निम्बार्कमतानुयायी), सनातन गोस्वामी (बृहद्वैष्णवतोषिणी), जीव गोस्वामी (क्रम संदर्भ)।

देशकाल का प्रश्न —भागवत के देशकाल का यथार्थ निर्णय अभीतक नहीं हो पाया है। एकादश स्कन्ध में (५।३८-४०) कावेरी, ताम्रपर्णी, कृतमाला आदि द्रविणदेशीय नदियों के जल पीने वाले व्यक्तियों को भगवान् वासुदेव का अमलाशय भक्त बतलाया गया है। इसे विद्वान् लोग तमिल देशके आलवारों (वैष्णव भक्तों) का स्पष्ट संकेत मानते हैं। भागवत में दक्षिणदेश के वैष्णव तीर्थों, नदियों तथा पर्वतों के विशिष्ट संकेत होने से कतिपय विद्वान तमिल देश को इसके उदय का स्थान मानते हैं। काल के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। इतना निश्चित है कि बोपदेव (१३ वीं शती का उत्तरार्ध) जिन्होंने भागवत से संबद्ध 'हरिलीलामृत' मुक्ताफल तथा परमहंस प्रिया का प्रणयन किया तथा जिनके आश्रयदाता, देवगिरि के यादव राजा महादेव (सन् १२६०-७१) तथा राजा रामचन्द्र (सन् १२७१-१३०९) के करणाधिपति तथा मंत्री प्रख्यात धर्मशास्त्री हेमाद्रि ने अपने चतुर्वर्ग चिंतामणि में भागवत के अनेक वचन उद्धृत किये हैं, भागवत के रचयिता नहीं माने जा सकते। शंकराचार्य के दादा गुरु गौडपादाचार्य ने अपने 'पंचीकरण-व्याख्या' में 'जगृहे पौरुषं रूपम्' (भागवत १।३।१) तथा 'उत्तरगीता टीका' में 'श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो' (भा १०।१४।४) भागवत के दो श्लोकों से उद्धृत किया है। इससे भागवत की रचना सप्तम शती से अर्वाचीन नहीं मानी जा सकती।

भागवत का प्रभाव मध्य युगीय वैष्णव सम्प्रदायों के उदय में नितान्त क्रियाशील था। तथा भारत की प्रान्तीय भाषाओं के कृष्ण काव्यों के उत्थान में विशेष महत्वशाली था। भागवत से ही स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण कर व्रजभाषा के अष्टछापी (सूरदास, नन्ददास आदि) निंबार्की (श्रीभट्ट तथा हरिव्यास) राधावल्लभीय (हितहरिवंश तथा हरिदासस्वामी) कवियों ने व्रजभाषा में

राधाकृष्ण की लीलाओं का गायन किया। मिथिला के विद्यापति, बंगाल के चंडीदास, ज्ञानदास तथा गोविन्ददास, असम के शंकरदेव तथा माधवदेव, उत्कल के उपेन्द्रभंज तथा दीनकृष्णदास, महाराष्ट्र के नामदेव तथा वामन पंण्डित, गुजरात के नरसी मेहता तथा राजस्थान की मीराबाई—इन सभी संतो तथा कवियों ने भागवत के रसमय वर्णन से प्रेरणा प्राप्त कर राधाकृष्ण को कमनीय केलि का गायन अपने विभिन्न काव्यों में किया है। तमिल, आंध्र, कन्नड़ तथा मलयालम के वैष्णव कवियों के ऊपर भी भागवत का प्रभाव कम नहीं है।

भागवत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण अद्वैतवाद का है तथा साधना दृष्टि भक्ति की है। इस प्रकार अद्वैत के साथ भक्ति का सामञ्जस्य भागवत की अपनी विशिष्टता है। इन्हीं कारणों से भागवत वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत के साथ संस्कृत की 'उपजीव्य' काव्यत्रयी के अंतर्भूत माना जाता है।



२ : २

श्रीमद्भागवत की महापुराणता

गोस्वामी तुलसीदासजी वाल्मीकि रामायण और श्रीमद्भागवत से अत्यधिक प्रभावित थे। पहले से उन्होंने कथा-पक्ष का और दूसरे से दर्शन-पक्ष का सार तत्त्व ग्रहण किया। इस प्रकार 'भाखा' का प्रयोग करनेवाली जनता के बीच हिंदी के माध्यम से वे वाल्मीकि और व्यास दोनों मुनियों की भूमिका एक साथ लेकर अवतीर्ण हुए। आज भागवत का सप्ताह बाँचनेवाले संस्कृत के पंडित मानस के सप्ताह-नवाह से त्रस्त हैं। अर्थात् मानस ने श्रीमद्भागवत का स्थान भी बहुत कुछ ग्रहण कर लिया है। अपने निर्माण काल से ही श्रीमद्भागवत ज्ञानी महात्माओं एवं विद्वानों के ही नहीं अपितु सर्वसाधारण के भी मनन और श्रवण का विषय रहा है। उसकी महापुराणता और उसके प्रणेता के विषय में विद्वानों में मतैक्य न होना आश्चर्य की बात है। महाभारत में व्यासजी को भागवतधर्मीय भक्ति के यथोचित रहस्योद्घाटन का अवकाश न मिला। व्यासजी ने अनुभव किया कि महाभारत में निरूपित नैष्कर्म्य प्रधान भागवतधर्म में भक्ति का जैसा निरूपण होना चाहिए नहीं हुआ है और बिना भक्ति के निष्काम कर्म निरर्थक है। इसका उल्लेख श्रीमद्भागवत के आरंभ (स्कं० १, अ० ४ और ५) में मिलता है। इस न्यूनता की पूर्ति के हेतु व्यासजी ने श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना की। श्रीमद्भागवत के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें भगवद्भक्ति एवं उसका माहात्म्य जितना सविस्तार कथित है उतना भागवतधर्म के कर्मविषयक अंगों का विवेचन नहीं किया गया है।

प्रस्तुत लेख के उपोद्घात में यह कहा गया है कि 'भागवत का सिद्धांतपक्ष है भक्ति और रामचरितमानस का भी यही प्रतिपाद्य है—अद्वैत से समन्वित भक्तियोग।'

आगे श्रीमद्भागवत के स्वरूप-निर्णय तथा उसके प्रणेता के संबंध में ससाक्ष्य यह प्रमाणित किया गया है कि पुराण निर्दिष्ट वही महापुराण है, देवीभागवत नहीं तथा वह महर्षि व्यासदेव की ही कृति है, बोपदेव नामधारी किसी आचार्य की नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को प्रभावित करनेवाले संस्कृत ग्रंथों में श्रीमद्भागवत अन्यतम है। भागवत के दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाकर गोस्वामीजी ने अपने रामायण को सर्वजन तथा सर्वलोक के लिए उपादेय तथा आवर्जक बनाया है। रामचरितमानस के दार्शनिक दृष्टिकोण के विषय में मानस-मर्मज्ञ विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग अद्वैत को तथा इतर लोग

विशिष्टाद्वैत को ही रामायण का प्रतिपाद्य दार्शनिक सिद्धान्त मानते हैं। मेरी दृष्टि में इस विषय में भागवत से तुलसीदास ने अत्यधिक स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण की है। भागवत का सिद्धांतपक्ष है अद्वैत तथा साधनापक्ष है भक्ति और रामचरितमानस का भी यही प्रतिपाद्य है—अद्वैत से समन्वित भक्तियोग। इस विषय का संकेतमात्र यहाँ किया गया है। श्रीमद्भागवत के स्वरूप निर्णय करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है कि भागवत पुराण है अथवा उपपुराण तथा इसके प्रणेता अन्य पुराणों के रचयिता व्यासदेव हैं या बोपदेव नामधारी कोई विद्वान् ?

अष्टादश पुराणों तथा पुराणस्थ अनुक्रमणी में 'भागवत' का नाम ही सर्वत्र पुराणरूप से निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु आजकल 'भागवत' नामधारी दो पुराण की सत्ता विद्यमान है—(१) विष्णु की महिमा का प्रतिपादन श्रीमद्भागवत तथा (२) देवी के गौरव का प्रतिपादक देवीभागवत। ऐसी स्थिति में विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन पुराण 'भागवत' नाम से उल्लिखित तथा प्रमाणित किया जाय। इस प्रश्न के समाधानार्थ कतिपय प्रमाण नीचे दिए जाते हैं—

(१) पद्मपुराण में सात्त्विक पुराणों के अंतर्गत विष्णु, नारद, गरुड, पद्म तथा वाराह के साथ 'भागवत' का भी स्पष्ट संकेत है।[1] गरुड पुराड में सात्त्विक पुराणों की तीन श्रेणियाँ—उत्तम, मध्यम तथा अधम स्थापित कर उनका विभाजन किया गया है—(क) मत्स्य तथा कूर्म को 'सत्त्वाधम' (ख) वायु को 'सात्त्विक-मध्यम' तथा (ग) गरुड, विष्णु और भागवत को 'सत्त्वोत्तम' पुराण माना गया है।[2] प्रश्न यह है कि पुराण की सात्त्विकता की कसौटी क्या है ? इसके उत्तर में कूर्म तथा गरुड पुराण की स्पष्ट सम्मति है कि जिन पुराणों में हरि का माहात्म्य अधिकता से प्रतिपादित हो तथा विष्णु के स्वरूप तथा चरित का विशेष उपन्यास हो उन्हें 'सात्त्विक' कहा जाता है।[3] गरुड पुराण के साक्ष्य पर भागवत सर्वोत्तम पुराण इसीलिए है कि उसमें विष्णुचरित सर्वापेक्षया अधिकता से चर्चित है।

इस कसौटी पर कसने से देवीभागवत सात्त्विक पुराण की कोटि में आती ही नहीं, क्योंकि उसमें विष्णु के महात्म्य का प्रतिपादन न होकर देवी की महिमा का ही उत्कृष्ट विवरण है। फलतः इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत ही, जिसके समस्त स्कन्धों

---

१. वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै॥ —पद्मपुराण।

२. सत्त्वाधमे मात्स्यकौर्मे समाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च।
विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं चाहुरार्याः॥—गरुडपुराण

३. अन्यानि विष्णोः प्रतिपादकानि।
सर्वाणि तानि सात्त्विकानीति चाहुः॥—गरुडपुराण।
सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः॥—कूर्मपुराण।

में हरि का ही यश विशेष रूप से उनके नाना अवतारों के चित्रण के अवसर पर वर्णित हैं, अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत होने की योग्यता रखता है।

(२) भागवत का लक्षण—पुराणों में स्थान स्थान पर भागवत का वैशिष्ट्य तथा लक्षण का निर्देश मिलता है। मत्स्यपुराण[1] तथा वामनपुराण[2] में निर्दिष्ट लक्षणों के समन्वय करने पर भागवत के तीन वैशिष्ट्यों के परिचय आलोचकों को मिलते हैं—(क) गायत्री से आरम्भ, (ख) वृत्र के वध का प्रसंग, (ग) हयग्रीव ब्रह्मविद्या का विवरण।

(क) इन तीनों वैशिष्ट्यों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। देवीभागवत के आरम्भ में मंगलात्मक श्लोक का उपन्यास 'गायत्र्या समारम्भ' का संकेत माना जाता है। वह मंगल श्लोक है—

सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।

इस श्लोक में 'धीमहि' तथा 'प्रचोदयात्' दोनों ही गायत्री के साक्षात् पद हैं। यह तीन पादों का श्लोक है जो वेद की त्रिपदा गायत्री का बोधक माना गया है। परन्तु विचार करने से तो यही प्रतीत होता है कि किसी लेखक ने बुद्धिपूर्वक वैदिक गायत्री की समता की दृष्टि से इस अनुष्टुप् में तीन ही चरणों की रचना की है। परन्तु 'गायत्र्या समारम्भः' का स्वारस्य गायत्री छन्द की समता से निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि इसमें गायत्री के प्रतिपाद्य विषय का कथमपि स्पर्श नहीं है। 'धीमहि' से ध्यान तथा तृतीय चरण (बुद्धिं या नः प्रचोदयात्) के पदों से बुद्धि की प्रेरणा की चेतना अवश्य होती है, परन्तु 'सवितुः' 'वरेण्यं' 'भर्गो' आदि पदों का न तो समानार्थक कोई पद ही उपलब्ध होता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थ का ही कहीं संकेत मिलता है।

श्रीमद्भागवत का आदिम पद्य (प्रथम स्कन्ध का प्रथम श्लोक) अपने प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता तथा वैशिष्ट्य के निमित्त नितान्त प्रख्यात है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥—भाग० १।१।१

इस पद्य में गायत्री के कई पद और अर्थ विद्यमान हैं। गायत्री के 'सवितुः शब्द का अर्थबोध 'जन्माद्यस्य यतः' अंश से होता है। 'देवस्य'=स्वराट्। 'वरेण्यं भर्गः'=धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्। 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' गायत्रीस्थ स्वराट्

---

१. यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुर-वधोपेतं तद् भागवतमिष्यते॥—मत्स्यपुराण (५३।२०)

२. हयग्रीव - ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा।
गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः॥—वामनपुराण

पद का प्रतिनिधि है। धीमहि = धीमहि। 'सत्यं परं धीमहि' का प्रयोग इस आदिम श्लोक के समान भागवत के अन्तिम पद्य के अन्त में भी है।[1] इस प्रकार पद्य में गायत्री[2] अर्थतः तथा शब्दतः उभयविधया प्रतिपादित है। फलतः 'यत्राधिकृत्य गायत्रीम्' 'गायत्र्या च समारम्भः' तथा 'गायत्री भाष्यरूपोऽसौ' आदि वचनों का लक्ष्य श्रीमद्भागवत ही है, देवीभागवत नहीं।

यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि गायत्री के द्वारा प्रतिपाद्य देवता कौन है? इस विषय में पुराण तथा योगी याज्ञवल्क्य[3] नारायण विष्णु को ही गायत्री द्वारा प्रतिपाद्य देव स्वीकार करते हैं। अग्निपुराण के अध्याय २१६ में गायत्री के अर्थ के प्रसंग में इस विषय का गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। उसमें अग्नि, सूर्य, शिव तथा शक्ति के अर्थ को सूचित कर विष्णुपरक तात्पर्य को ही मान्यता दी गई है।[4] फलतः सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायण ही गायत्री के द्वारा द्योत्य हैं और इस तात्पर्य की पूर्ण सत्ता भागवत के आद्य श्लोक में विशदतया वर्तमान है, इसके विषय में दो मत हो नहीं सकते।

१. द्रष्टव्य भा०, १२।१३।१९।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य इस पद्य की मधुसूदनी व्याख्या, प्र०-काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

३ वरेण्यं वरणीयं च संसारभय-भीरुभिः।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः स सूर्यमण्डले॥ —योगी याज्ञवल्क्य।
ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः॥ —सूर्यस्तव का श्लोक १।

४. शिवं केचित् पठन्ति स्म शक्तिरूपं पठन्ति च।
केचित् सूर्यं केचिदग्निं वेदगा अग्निहोत्रिणः॥
अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते।
तत् पदं परमं विष्णोर्देवस्य सवितुः स्मृतम्॥—अग्नि०, २१६।८-९।

अग्निपुराण के तात्पर्य को देवीभागवत की तिलक व्याख्या के रचयिता शैव नीलकंठ ने नास्तिकमूलक कहकर उसका खंडन किया है। उन्होंने 'भर्गो वै रुद्रः' मैत्रायणी के इस वचन के आधार पर 'भर्ग' शब्द का अर्थ रुद्र किया है तथा नारायणपरक अर्थ की उपेक्षा की है। यदि नीलकण्ठ की दृष्टि में अग्निपुराण का वचन अर्थवाद तथा स्तावकमात्र है, तो मैत्रायणी श्रुति तथा प्रपंचसार आदि तन्त्रों के वचन भी उसी प्रकार स्तावक माने जा सकते हैं।

(ख) वृत्रवध का प्रसंग दोनों भागवतों में मिलता है। श्रीमद्भागवत में यह प्रसंग वैशद्य के साथ वर्णित है।[1]

(ग) वामन पुराणस्थ भागवत लक्षण में हयग्रीव-ब्रह्मविद्या का प्रधानतया निर्देश है। भागवत के कथनानुसार षष्ठ स्कन्ध के अध्याय आठ में वर्णित 'नारायण कवच' ही पूर्वोक्त 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' है। इस कवच के उपदेश की परम्परा भी अगले अध्याय (६।९) में दी गई है। दधीचि ऋषि नितान्त ब्रह्मज्ञानी थे। अभ्यर्थना किए जाने पर उन्होंने अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश देना स्वीकार किया। इन्द्र ने इसका यह कहकर विरोध किया कि 'वैद्य होने के कारण अश्विनी ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं है। यदि मेरी आज्ञा का उल्लंघन करोगे, तो मैं तुम्हारा सिर काट डालूँगा।' दधीचि से इस वार्ता की सूचना पाने पर अश्विनीकुमारों ने दधीचि का मूल शिर काट कर अलग रख दिया और उसके स्थान पर घोड़े का शिर लगा दिया। दधीचि ने इसी 'अश्वशिर' से ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जिसे क्रुद्ध इंद्र ने काट डाला। तब इन स्ववैद्यों ने अपनी शल्य चिकित्सा की अलौकिक चातुरी से मूल शिर दधीचि को लगा दिया। 'अश्वशिर' से उपदिष्ट होने से ही यह नारायण कवच 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' के नाम से विख्यात हुआ। भागवत में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार है—

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात्॥[2]

—भागवत, ६।९।५२।

इस कवच के संक्रमण की परम्परा इस प्रकार है—अथर्ववेदी दध्यङ् (या दधीचि) ऋषि->त्वष्टा->विश्वरूप—इन्द्र (भागवत, ६।९।५३)। यह कवच ही 'विद्या' के नाम से भागवत में बहुशः निर्दिष्ट किया गया है—

'न कुतश्चिद् भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्'।—६।८।३७
'इमां विद्यां पुरा कश्चित्'। —६।८।३८
'एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः'।—६।८।४२

इस 'नारायण कवच' के स्वरूप तथा मन्त्रों का विशद विवरण भागवत के छठें स्कन्ध के अष्टम अध्याय में है। इस कवच का उपदेश वृत्रासुर के वध के अवसर पर भागवत में दिया गया है। वृत्रासुर की कथा देवीभागवत में भी अनेक अध्यायों में वर्णित है।[3] दोनों में अन्तर इतना ही है कि देवीभागवत के अनुसार वृत्र फेन के द्वारा मारा गया जिसमें पराशक्ति ने प्रवेश कर उसे शक्तिसम्पन्न बनाया था। अतः

---

१. द्रष्टव्य देवीभागवत, ६।२-६ तथा श्रीमद्भागवत, ६।९-१४।

२. इसकी विशिष्ट व्याख्या के लिए द्रष्टव्य इस श्लोक की श्रीधरी जिसमें प्राचीन पद्य इस कथानक के विषय में उद्धृत किए गए हैं।

३. द्रष्टव्य स्कन्ध—६, अ० २, ६।

वृत्र-वध में पराशक्ति का ही विशेष हाथ है।[1] श्रीमद्भागवत में इसी प्रसंग में नारायण कवच का उपदेश तथा शक्तिसंपन्न इन्द्र के द्वारा वृत्र-वध का स्पष्ट वर्णन है। निष्कर्ष यह है कि वैष्णव भागवत स्वरूपानुसार 'नारायण कवच' के उपदेश की संगति वहीं बैठती है, देवीभागवत में नहीं, जिसमें इस कवच का नितान्त अभाव है। फलतः 'गायत्र्या समारम्भः' तथा 'हयग्रीव ब्रह्मविद्योपदेशः' निःसन्देह श्रीमद्भागवत को ही पुराण-निर्दिष्ट 'भागवत' सिद्ध करने में पर्याप्त लक्षणयुक्त हैं।

(३) निबंध ग्रंथों का साक्ष्य—(क) मध्ययुगीय धर्मशास्त्र के निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत श्लोक श्रीमद्भागवत में ही उपलब्ध होते हैं, देवीभागवत में नहीं। निबंधकारों में विशेषतः वल्लालसेन, हेमाद्रि, गोविन्दानन्द, रघुनन्दन, गोपालभट्ट ने अपने-अपने निबन्ध ग्रन्थों में किसी 'भागवत' से जितने उद्धरण उद्धृत किए हैं उसमें अधिकांश श्रीमद्भागवत में ही उपलब्ध होते हैं, देवीभागवत में ऐसा एक भी श्लोक नहीं मिलता। इससे 'श्रीमद्भागवत' की प्राचीनता तथा पुराणत्वेन प्रख्याति निःसंदिग्ध है।

(ख) वल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' (रचनाकाल १०९१ शक=११६९ ई०) में जिन पुराणों से उद्धरण दिए हैं उनके तथ्यातथ्य के विषय में अपनी बहुमूल्य आलोचना भी दी है। उस युग के निबन्धकार में ऐसी आलोचना-शक्ति का सद्भाव सचमुच आश्चर्यकारी प्रतीत होता है। भागवत के विषय में वल्लालसेन का कथन है कि दानविषयक श्लोकों के नितान्त अभाव के कारण ही इस पुराण से श्लोक उद्धृत नहीं किए गए हैं—

भागवतं च पुराणं ब्रह्माण्डं चैव नारदीयञ्च।
दानविधिशून्यमेतत् त्रयमिह न निबद्धमवधार्य॥—उपोद्घात श्लोक ५७।

यह कथन श्रीमद्भागवत के महापुराणत्व की सिद्धि के निमित्त निर्णायक माना जा सकता है। वर्तमान देवीभागवत में एक पूरा अध्याय ही (नवम स्कन्ध, ३० अ०) दान की प्रशंसा तथा विविधरूपता के विषय में उपलब्ध होता है, परन्तु श्रीमद्भागवत में दानविषयक पद्य का सचमुच नितान्त अभाव है। यदि उनकी दृष्टि में 'देवीभागवत' भागवत नाम के द्वारा लक्षित होता, तो इस कथन की आवश्यकता न होती और वे उसी में से दानविषयक पद्य उद्धृत करते। यह पद्य इस विषय में बड़े महत्त्व का है। अतः वल्लालसेन की दृष्टि में वैष्णव भागवत ही 'भागवत' नाम से अभिहित होने की योग्यता रखता है।

(ग) अलबरूनी (१०३० ई०) ने अपने भारतविषयक ग्रन्थ में वैष्णव भागवत को प्रधान पुराणों में अन्यतम माना है, परन्तु यह देवीभागवत से अपनी

---

१. इत्थं वृत्रः पराशक्ति-प्रवेशयुत-फेनतः।
तथा कृतविमोहाच्च शक्रेण सहसा हतः॥—देवीभाग०, ६।६।६७।

अभिज्ञता प्रकट नहीं करता। यहाँ पुराणों की दोनों सूचियों में से किसी भी सूची में इस भागवत का नाम निर्दिष्ट नहीं है। यह इसकी सत्ता के अभाव का प्रतिपादक है।

(घ) पद्मपुराण के उत्तरखंड में तथा स्कन्दपुराण के विष्णुखंड में भागवत माहात्म्य का वर्णन कई अध्यायों में मिलता है। इन दोनों स्थलों पर माहात्म्य की सूचिका आख्यायिका भी भिन्न-भिन्न है। यह माहात्म्य श्रीमद्भागवत का ही है, भागवत नामधारी किसी अन्य पुराण का नहीं। स्कन्दपुराण में पृथक् से पाँच अध्यायों में देवीभागवत का माहात्म्य वर्णित है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दपुराण दोनों भागवतों का अस्तित्व पृथक् रूप से मानता है। दोनों में किसी प्रकार का सांकर्य नहीं करता। देवीभागवत का माहात्म्य स्कन्दपुराण के 'मानसखंड'[1] का बतलाया गया है जिसका अस्तित्व अब ज्ञात हुआ है।[2]

(ङ) नारदीय पुराण ने अपने पूर्वभाग के ९६ अध्याय में भागवत के वर्ण्य विषय का निर्देश किया है जो वैष्णव भागवत में आज भी उपलब्ध होता है, देवीभागवत में नहीं।

(च) श्रीमद्भागवत में देवीभागवत का कहीं भी उल्लेख नहीं है और न अपने आपको मुख्य पुराण सिद्ध करने का किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न है। देवीभागवत श्रीमद्भागवत से भलीभाँति परिचय रखता है। उसका अष्टम स्कन्ध जिसमें भूगोल तथा खगोल का विस्तृत विवरण है, श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध का अक्षरशः अनुकरण है—अन्तर इतना ही है कि जहाँ श्रीमद्भागवत वैज्ञानिक विषयों के वर्णन के लिये उपयुक्त गद्य के नैसर्गिक माध्यम का आश्रय लेता है, वहाँ देवीभागवत अपनी अधमर्णता को छिपाने के लिए पद्य का कृत्रिम माध्यम पकड़ता है। एक ही उदाहरण प्रर्याप्त होगा। देवीभागवत के अष्टम स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में भारतवर्ष का वर्णन है। यह अक्षरशः श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के

१. 'स्कन्दपुराण' के सात ही खंड आज तक प्रख्यात थे और प्रकाशित भी थे। यह 'मानसखंड' उन सब से पृथक् तथा भिन्न है। इसकी एक प्रति कई वर्षों पूर्व सर्वभारतीय काशिराजन्यास (रामनगर) को नेपाल से मिली थी जिस उपलब्धि की सूचना गत व्यास-पूर्णिमा पर्व पर स्वयम् काशिराज डा० विभूतिनारायण सिंह ने दी। यदि यह अज्ञात खंड अन्य प्रमाणों के आधार पर सचमुच ही वास्तविक सिद्ध हो जाय तो पौराणिक संसार में यह निःसंदेह नूतन उपलब्धि है। पुराणम् (भाग २६।१, १९८४ जनवरी) में यह मुद्रित होने लगा है।

२. इस माहात्म्य के लिए देखिए देवीभागवत का मनसुखराय मोर द्वारा प्रकाशित संस्करण, पूर्वार्ध, पृ० १-२३, कलकत्ता—१९६०।

उन्नीसवें अध्याय से आनुपूर्वी गृहीत है— आरम्भ के ५ श्लोक = भागवत के ५।१६।११-१५ तथा इस अध्याय के अन्तिम ८१ श्लो०=भागवत के उसी अध्याय के २१-२८ श्लोक। भागवत के बीच के गद्यभाग देवीभागवत में पद्यात्मना परिणत कर दिए गए हैं। भारतवर्ष विषयक ये सुन्दर पद्य भागवत की शैली में ही निबद्ध हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

भुवनकोष के अन्य विभागों के वर्णन के लिये भी यही रीति अपनाई गई है। इससे देवीभागवत श्रीमद्भागवत से केवल परिचित ही नहीं है, प्रत्युत उसका विशेष-भावेन ऋणी भी है।

(छ) अपनी उत्कृष्टता दिखलाने के लिए देवीभागवत श्रीमद्भागवत को उपपुराणों के अंतर्गत रखने में नहीं हिचकता।[1] शुकदेव का चरित्र भी दोनों में पृथक् दिखलाया गया है। श्रीमद्भागवत में शुकदेव नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में चित्रित किए गए हैं, परन्तु देवीभागवत में उनके गार्हस्थ्य धर्म के ग्रहण करने की विशद कथा दी गई है। यह वर्णन अवांतरकालीन प्रतीत होता है, क्योंकि गार्हस्थ्यधर्म की महिमा का प्रदर्शन भारतीय समाज की प्रतिष्ठा के निमित्त नितांत आवश्यक समझने पर किया गया।

(ज) अष्टादश पुराणों में निर्दिष्ट 'भागवत' के निर्देश के विषय में शाक्तों में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग कालिकापुराण को ही इस नाम से उल्लिखित करते हैं क्योंकि उसमें 'भगवती' के चरित्र का आमूल वर्णन है, कुछ लोग 'देवीपुराण' को यह गौरव देने के पक्षपाती हैं, तो दूसरे जन 'देवीभागवत' को। यह अनैकमत्य इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि वैष्णवभागवत की प्रतिष्ठा तथा महिमा से उद्विग्न होकर शाक्त लोग अपने लिए नाना शाक्त ग्रंथों को 'भागवत' का गौरव प्रदान करने के लिए उत्सुक थे। ऐक्यमत्य का अभाव किसी पुष्ट परंपरा के अभाव का स्पष्ट सूचक है।

(झ) मत्स्यपुराण का कथन है—

सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युः नरोत्तमाः।
तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद् भागवतमुच्यते॥—मत्स्य ५३।२१।

इसके अनुसार भागवत में सारस्वत कल्प की कथा होनी चाहिए, परन्तु द्वितीय स्कंध के 'पाद्मं कल्पमथो शृणु' वचन भागवत में पाद्मकल्प के चरित का वर्णन बतलाया गया है। यह विरोध क्यों? इसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रीमद्भागवत में सारस्वत कल्प कथा का अभाव है।

---

१. द्रष्टव्य—देवीभागवत, १।३।१६।

बृहद् वामनपुराण के वचन—

आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते।
कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ ॥

के अनुसार कृष्णकथा सारस्वत कल्प की ही है। फलतः मत्स्यपुराण के पूर्वोक्त वचन से कथमपि विरोध नहीं है।

इन तर्कों पर ध्यान देने से देवीभागवत की उपपुराणता तथा श्रीमद्भागवत की महापुराणता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

भागवत तथा बोपदेव

भारतीय साहित्य में बोपदेव की कीर्ति न्यून नहीं है। ये श्रीमद्भागवत के विशेष-मर्मज्ञ विद्वन् थे। इन्होंने भागवत के विषय को लेकर तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया (१) हरिलीलामृत (या भागवतानुक्रमणी)—जिसमें श्रीमद्भागवत के समस्त अध्यायों की सूची विस्तार से दी गई है और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रदर्शन मार्मिकता से किया गया है, (२) मुक्ताफल—यह भागवत के श्लोकों का रसानुयायी संग्रह है जिसमें श्लोकों का वर्गीकरण नवरस की दृष्टि से किया गया है, (३) परमहंसप्रिया—श्रीमद्भागवत की टीका बतलाई जाती है, परन्तु अभी तक अप्रकाशित होने से इसके स्वरूप के विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता। इन ग्रन्थों की संज्ञा की तो नहीं, परन्तु संख्या की ओर बोपदेव ने स्वयम् संकेत किया है—'साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रयः।' बोपदेव ने श्रीमद्भागवत के अनुशीलन से भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित किया तथा भक्ति को केवल भाव माननेवाले काश्मीरी आचार्यों के मतों की तीव्र आलोचना की। भक्ति-रस का यह प्रथम विन्यास बोपदेव के महत्त्व का प्रतिपादक है। ये भगवान् में 'मनोनिवेश को भक्ति का स्थायीभाव मानते हैं तथा इन्होंने भक्ति की रसरूपता की पुष्टि युक्ति तथा प्रमाण के आधार पर बड़े अभिनिवेश के साथ अपने 'मुक्ताफल' में की है।[1]

इन्होंने अपने को विद्वद्वर धनेश का शिष्य तथा भिषक् केशव का पुत्र बतलाया है। इनके ग्रन्थों की अंतरंग परीक्षा से सुस्पष्ट है कि ये रामगिरि के यादव नरेशों के महामात्य धर्मशास्त्री हेमाद्रि के आश्रय में रहते थे तथा उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने पूर्वोक्त ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनका समय ईसा की १३ वीं शती है।

ये ही बोपदेव श्रीमद्भागवत के रचयिता माने गए हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ही अपने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में (पृ० ३३५ पर) इस बात का उल्लेख किया हो, ऐसी बात नहीं है। पंडित नीलकंठ शास्त्री ने भी देवी-भागवत की टीका के उपोद्घात में इस बात का उल्लेख इस प्रकार किया है—

१. डा० रामनरेश वर्मा : हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० २८८-९०, प्र०-नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०२०।

'द्वितीयैकपक्षैकदेशिनोऽपि विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति।' इस किंवदंती का उदय कैसे हुआ ? ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। हरिलीलामृत जैसे भागवताध्यायानुक्रमणी को लक्ष्य कर ही किसी ने यह प्रवाद चला दिया होगा, तो कोई आश्चर्य नहीं। अब इस प्रवाद के खंडनार्थ कतिपय तर्क यहाँ उपस्थित किए जाते हैं—(१) बोपदेव के आश्रयदाता हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग-चिंतामणि' में भागवत के श्लोकों को प्रमाण दिखलाने के निमित्त उद्धृत किया है। यह स्थिति भागवत को समकालीन रचना सिद्ध नहीं करती। अपने आश्रित की रचना को कोई भी विज्ञ पुरुष प्रमाण देने के लिए कभी नहीं उद्धृत करेगा।

(२) द्वैतमत के प्रतिष्ठापक आचार्य मध्व (या आनंदतीर्थ) ने 'भागवत तात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रंथ में भागवत के तात्पर्य का विश्लेषण किया है तथा भक्ति को ही सर्वातिशायी साधन बतलाया है। 'स्मृत्यर्थसागर' के श्लोक के आधार पर मध्वाचार्य का जन्म १२५७ विक्रमी (१२०० ई०) में माना जाता है[1] अर्थात् मध्वाचार्य बोपदेव से लगभग सौ वर्ष पहिले उत्पन्न हुए। यह ऐतिहासिक तथ्य पूर्वोक्त मत का स्पष्ट खंडन करता है।

(३) श्रीवैष्णवमत के उन्नायक श्रीरामानुजाचार्य (जन्मकाल १०१७ ई०) ने अपने 'वेदान्ततत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति (१०।८७) से तथा एकादश स्कंध से कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है।

(४) श्रीशंकराचार्य के कतिपय स्तोत्रों के ऊपर भागवत की स्पष्ट छाप है। कहीं-कहीं शब्द-साम्य इतना अधिक है कि उसका भागवत से परिचित होना नितांत स्वाभाविक है। एक दो उदाहरण लीजिए। आचार्य के 'गोविंदाष्टक' का यह श्लोक जिसमें श्रीकृष्ण के मिट्टी खाने का वर्णन है, भागवत के आधार पर है—

मृत्स्नामत्सीहेति यशोदा-ताडन-शैशव-संत्रासम्।
व्यादितवक्त्रालोकित लोकालोक चतुर्दशलोकालम्॥

'प्रबोधसुधाकर' आदि शंकराचार्य की निःसंदिग्ध रचना मानी जाती है। इसमें श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का, ब्रह्मा का मोहित होना, बछड़ों का चुराना, सब के रूप में श्रीकृष्ण का बदल जाना आदि के वर्णन भागवत का अनुसरण करते हैं। गोपियों के प्रेम का रसमय वर्णन तो बलात् भागवत की ही स्मृति दिलाता है जहाँ उसका परिपाक मधुरता से संपन्न है। शंकराचार्य ने इस पद्य में स्पष्टतः व्यास के वचनों की ओर संकेत किया है जो भागवत में निश्चयेन उपलब्ध हैं—

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः।
अपिबत् स्तनमिति साक्षाद् व्यासो नारायणः प्राह। —शंकर।
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्॥ —भागवत।

---

१. एकादशगते शाके विंशत्यब्दद्वये गते।
अवतीर्णं मध्वमुनिं सदा वन्दे महागुरुम्॥
११२२ शाके = १२५७ विक्रमी = १२०० ईस्वी।

श्रीमद्भागवत के वचन को शंकराचार्य ने यहाँ अक्षरशः उद्धृत किया है और स्पष्टतः कहा है कि यह व्यास का वचन है। फलतः भागवत वेदव्यास-रचित है तथा शंकराचार्य से प्राचीनतर है—यह तथ्य स्वयं सिद्ध होता है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) में वंगाक्षरों में लिखी हुई भागवत की एक प्रति विद्यमान है जो लिपि की परीक्षा से दशम शती में लिखी गई मानी जाती है—अर्थात् यह हस्तलेख बोपदेव से लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन है।

(६) वेदांत की प्रख्यात मान्यता है कि आचार्य शंकर के गुरु थे गोविंदपाद और उनके गुरु थे श्रीगौडपादाचार्य। इन्हीं गौडपाद ने अपने 'पंचीकरण-व्याख्यान' में 'जगृहे पौरुषं रूपम्' 'इति भागवतमुपन्यस्तम्' ऐसा लिखा है। यह श्लोक भागवत के प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय का प्रथम श्लोक है। इन्होंने उत्तरगीता की अपनी टीका में 'तदुक्तं भागवते' लिखकर 'श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो' श्लोक उद्धृत किया है जो भागवत के दशम स्कंध के चौदहवें अध्याय का चौथा श्लोक है।

आचार्य शंकर का समय मेरी दृष्टि में सप्तम शती का उत्तरार्द्ध है। फलतः उनके दादागुरु गौडपाद का काल इससे लगभग पचास साल पूर्व सप्तम शती का आरम्भ होना चाहिए। उनके द्वारा उद्धृत किए जाने से स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत की रचना सप्तम शती से पूर्ववर्ती है अर्थात् तेरहवीं शती में उत्पन्न बोपदेव से छः-सात सौ वर्ष पूर्व। ऐसी निश्चित परिस्थिति में बोपदेव को भागवत का प्रणेता मानना नितांत अनुचित, अप्रामाणिक तथा इतिहासविरुद्ध है।



(२ : ३)

शिवपुराण तथा वायुपुराण—स्वरूपनिर्णय

विभिन्न पुराणों में निर्दिष्ट पुराणसूची में चतुर्थ पुराण के रूप में किस पुराण की गणना मान्य की जाय ? इस विषय में ऐकमत्य नहीं है यह वस्तुतः मतभेद का एक गम्भीर विषय है। पुराणों की बहुल संख्या 'शिवपुराण' को चतुर्थ पुराण मानने के पक्ष में है, अल्पीयसी संख्या 'वायुपुराण' को वह आदरणीय स्थान देने पर आग्रह रखती है। नामनिर्देशपूर्वक यदि स्पष्टतः कहना पड़े, तो कहना होगा कि कूर्म, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत, मार्कण्डेय, लिंग, वराह तथा विष्णु 'शिवपुराण' के पक्ष में अपनी सम्मति देते हैं, जब कि देवीभागवत, नारद तथा मत्स्य 'वायुपुराण' के पक्ष में अपना मत देते हैं। इस प्रकार विभिन्न आठ पुराणों के द्वारा निर्दिष्ट होने से 'शिवपुराण' को ही चतुर्थ महापुराण होने का श्रेय प्राप्त है, परन्तु ऐसे विषयों में बहुमत का कोई मूल्य तथा महत्त्व नहीं माना जा सकता। प्रामाणिकता का निर्णय बहुमत की कसौटी से करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

१ दोनों पुराणों का वर्तमान स्वरूप

इस समय शिवपुराण तथा वायुपुराण के नाम से दो विभिन्न ग्रंथ प्रचलित हैं जो आकारप्रकार में एवं वर्ण्यविषय के संकेत में नितान्त भिन्नता रखते हैं। शिवपुराण बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस से छपकर प्रकाशित है (सं० १९८२, शाके १६४७) तथा पंडितपुस्तकालय, काशी से अभी निकला है। वायुपुराण बिब्लिओथेका इंडिका (कलकत्ता, १८८०–८८ ई०) में, आनन्द संस्कृत ग्रन्थावलि (पूना, १९०५ ई०) में तथा गुरुमण्डल ग्रंथमाला (कलकत्ता, वि० सं० २०१६, ई० सन् १९५९, उन्नीसवाँ पुष्प) में प्रकाशित हुआ है। इन तीनों संस्करणों में पाठ प्रायः एक समान ही है। शिवपुराण की खंडभूता संहिताओं की संख्या का निर्णय एक विषम समस्या है। इस समस्या की जटिलता का अनुमान इस घटना से किञ्चिन्मात्र लग सकता है, जब हम दो प्रकार की संहिताओं का निर्देश वर्तमान शिवपुराण में दो स्थानों पर प्रायः एक ही रूप में पाते हैं। शिवपुराण की विद्येश्वर संहिता (अध्याय २।४६-५५) में तथा वायवीय संहिता के पूर्वार्ध में (प्रथम अध्याय, श्लोक ५०-५२) बारह संहिताओं तथा उनकी श्लोकसंख्या का निर्देश प्रायः एक ही आकारप्रकार से उपलब्ध होता है। इन संहिताओं के नाम ये हैं—विद्येश्वर, रौद्र, विनायक, औम, मातृ, रुद्रैकादश; कैलाश, शतरुद्र, कोटिरुद्र, सहस्रकोटि, वायुप्रोक्त संहिता तथा धर्मसंहिता।

इनकी श्लोकसंख्या एक लाख बताई जाती है। इन लक्षश्लोकात्मक द्वादश संहिताओं से सम्पन्न शिवपुराण का अस्तित्व हस्तलेखों के रूप में भी नहीं सुना

जाता, इसके प्रकाशित होने की तो बात ही न्यारी है। श्लोकों की यह महती संख्या भी आलोचकों की शंका का एक प्रधान कारण है। इस संख्या के सम्मिलित होने पर तो चतुर्लक्षात्मक पुराणों की संख्या में विशेष वृद्धि का प्रसंग उपस्थित होता है जो कथमपि न्याय्य तथा निर्दुष्ट नहीं माना जा सकता। तथ्य यही प्रतीत होता है कि शिवपुराण की मूलभूता चतुर्विंशति साहस्री सप्तसंहिताओं के स्थान पर ही यह चतुर्गुणित संख्यावाली द्वादश संहिताएँ केवल पुराण के विशिष्ट गौरव तथा सर्वमान्य माहात्म्य को प्रकट करने के लिए ही कल्पित की गई हैं। क्योंकि पुराणों में सबसे बड़ा पुराण है स्कन्दपुराण, परन्तु उसके भी श्लोकों की संख्या इक्यासी हजार तक सीमित है। फलतः लक्षश्लोकी महाभारत से तुलना तथा समान सम्मान से सम्पन्न होने की भव्य भावना ही 'शिवपुराण' के इस विराट् रूप का कारण मानी जा सकती है। उपलब्ध शिवपुराण की सातों संहिताओं का निर्देश इस प्रकार है—१—**विद्येश्वरसंहिता** (२५ अध्याय), २—**रुद्रसंहिता** (१९७ अध्याय) हैं जिसमें पाँच खंड हैं (क) सृष्टि (२० अ०), (ख) सती खण्ड (४३ अ०), (ग) पार्वती खंड (५५ अ०), (घ) कुमार खंड (२० अ०) तथा (ङ) युद्ध खंड (५९ अ०)], ३—**शतरुद्रसंहिता** (४२ अ०), ४—**कोटिरुद्रसंहिता** (४३ अ०), ५—**उमासंहिता** (५१ अ०), ६—**कैलाससंहिता** (२३ अ०) तथा ७—**वायवीयसंहिता** (पूर्वभाग ३५ अ० तथा उत्तर भाग ४१)। इन संहिताओं में अंतिम संहिता वायुप्रोक्त होने से **वायवीय** नाम से अभिहित की जाती है तथा इसके दो भाग हैं जिनके अध्यायों की संख्या का निर्देश ऊपर किया गया है। इस प्रकार समग्र शिवपुराण में ४५७ अध्याय हैं, परन्तु वायवीय संहिता में केवल ७६ अध्याय तथा चार सहस्र श्लोक हैं।

वायुपुराण पुराणसाहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है—पुराणीय पंचलक्षण की संपत्ति में, रचना की प्राचीनता में तथा शैली की विशुद्धता में। पुराणीय पंचलक्षणों का उचित सन्निवेश लघुकाय होने पर भी वायुपुराण का एक आकर्षक वैशिष्टय है। इसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित—ये पाँचों विषय दीर्घ या ह्रस्व मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उपलब्ध वायुपुराण में **११२** अध्याय मिलते हैं, परन्तु ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से स्पष्ट पता चलता है कि अंत के नौ अध्याय (१०४—११२) वैष्णव मत की पुष्टि के लिए किसी वैष्णव लेखक ने पीछे से जोड़े हैं। इस पुराण का अन्तिम अध्याय बिना किसी सन्देह के **१०३रा** अध्याय ही है, क्योंकि इसके अंत में पुराण के अवतार की गुरुपरम्परा प्रामाणिक रूप से निबद्ध की गई है (श्लोक ५८—६६) तथा आगे के श्लोकों में फलश्रुति और महेश्वर की स्तुति की गई है जो वायुपुराण के शैवतत्त्वप्रतिपादक होने का स्पष्ट संकेत है। अध्याय १०४ में महर्षि व्यास द्वारा परमतत्त्व के वर्णन तथा साक्षात्कार का विवरण है और वह परमतत्त्व राधासंवलित श्रीकृष्ण ही माने गये

हैं। यहाँ आनन्दकन्द श्रीकृष्णचंद्र का वर्णन बड़ी ही सरस भाषा तथा रसमयी शैली में निबद्ध होकर रससम्पन्न गीतिकाव्य का चमत्कार उपस्थित कर रहा है। इस वर्णन में राधा का नामोल्लेख, जो श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण जैसे विशुद्ध विष्णुभक्तिप्रधान पुराणों में भी नहीं किया गया है, वायु के इस अध्याय को इन पुराणों की रचना से अवान्तर कालीन सिद्ध कर रहा है। वायुपुराण के अन्तिम आठ अध्याय (१०५—११२) गयामाहात्म्य के विशद प्रतिपादक हैं। गया के तीर्थदेवता 'गदाधर' नाम्ना प्रख्यात विष्णु ही हैं जिनकी यह अनुप्रासमयी स्तुति इसके साहित्यिक स्वरूप की परिचायिका है—

गदाधरं व्यपगतकालकल्मषं
गयागतं विदितगुणं गुणातिगम्।
गुहागतं गिरिवर - गौर - गेहगं
गणार्चितं वरदमहं नमामि ॥
—अ० १०९, श्लोक २७।

इस प्रकार अध्याय १०४—११२ भगवान् विष्णु की स्तुति तथा महत्ता के प्रतिपादक हैं और ये निश्चय रूप से वैष्णवमत की सम्वर्धना के निमित्त किसी लेखक ने इस प्राधान्यतः शिवमहात्म्यप्रतिपादक-पुराण में पीछे से जोड़ दिए हैं। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पुराणस्थ विषयों की अनुक्रमणी में भी 'गयामाहात्म्य' का निर्देश न होना निश्चय ही इसे प्रक्षिप्त सिद्ध कर रहा है।

वायुपुराण चार भागों में विभक्त है—१. प्रक्रियापाद (अ० १—६), २. उपोद्घातपाद (अ० ७—६४), (३) अनुषंगपाद (अ० ६५—९९), (४) उपसंहारपाद (अ० १००—११२)। भागचतुष्टय की यह कल्पना बड़ी प्राचीन है। इन भागों की तुलना वेदचतुष्टय तथा कालचतुष्टय से की गयी है तथा समग्र पुराण की संख्या द्वादश सहस्र निश्चित रूप से दी गई है (३२।६६) जो उपलब्ध पुराण की श्लोकसंख्या से बहुत अधिक नहीं है। प्रचलित वायुपुराण की श्लोकसंख्या दस सहस्र नौ सौ इक्यानबे (१०,९९१) है। प्रतीत होता है कि इस पुराण के कुछ अंश छिन्न-भिन्न तथा त्रुटित हो गए हैं। इतना तो निश्चित ही है कि इस पुराण के भाग प्राचीन वायुपुराण से विशेष भिन्न नहीं हैं।

मूल श्लोकों की संख्या का प्रतिपादक पुराणस्थ वचन ध्यान देने योग्य है—

एवं द्वादश साहस्रं पुराणं कवयो विदुः ॥ ६६ ॥
यथा वेदश्चतुष्पादश्चतुष्पादं तथा युगम्
यथा युगं चतुष्पादं विधात्रा विहितं स्वयम्
चतुष्पादं पुराणं तु ब्रह्मणा विहितं पुरा। ६७।
—वायुपुराण, द्वात्रिंश अध्याय।

२. चतुर्थ पुराण का लक्षण

शिवपुराण तथा वायुपुराण में किसे महापुराण माना जाय ? यह समस्या गंभीर है। इसका समाधान यहाँ प्रस्तुत किया गया है। पुराणों की संख्या अठारह हैं; यह तो पौराणिकों का निश्चित तथा प्रामाणिक संप्रदाय है। इससे विरुद्ध होने के कारण डा० फरकूहर का पुराणों की संख्या को बीस मानने का आग्रह कथमपि समुचित नहीं है।[1] उन्होंने शिव तथा वायु के अतिरिक्त 'हरिवंश' को पुराणों के भीतर अंतर्भुक्त कर पुराणसंख्या बीस मानी है। इस मत के लिये कोई भी आधार नहीं है—न संप्रदाय का और न किसी ग्रन्थ का ही। कूर्मपुराण का वायु तथा शिवपुराण दोनों को एक साथ अष्टादश पुराणों के अंतर्गत मानना कथमपि समुचित नहीं है, क्योंकि यह सूची 'अग्निपुराण' को महापुराण से बाहर फेक देती है, जो सब प्रकार से पुराणों के अंतर्गत निश्चित रूप से माना गया है। फलतः वायुपुराण और शिवपुराण—इन दोनों में से किसी एक को तो महापुराणों की सूची से हटाना ही पड़ेगा। परंतु किसको ? इसी का समाधान करने का यह प्रयास है।

सबसे प्रथम चतुर्थ पुराण के समस्त लक्षणों को एकत्र करना चाहिए कि ये लक्षण दोनों पुराणों में से किसके साथ सुसंगत घटित होते हैं। पुराणों के अनुक्रमणी भाग में ये लक्षण दिए गए हैं, परंतु इस भाग पर विशेष आस्था रखना भी न्याय्य नहीं, क्योंकि ये अर्वाचीन काल की रचना है—संभवतः एकादश शताब्दी की। नारदीयपुराण (पूर्वार्ध ९५ अ०), रेवामाहात्म्य तथा मत्स्यपुराण (५३ अ०) में चतुर्थ पुराण के लक्षण दिए गए हैं। नारदीयपुराण (१।९५-१-१९ श्लोक) के अनुसार वायवीयपुराण रुद्र का प्रतिपादक, चौबीस सहस्र श्लोकों से संपन्न, श्वेत कल्प के प्रसंग से वायु द्वारा प्रतिपादित है। इसके दो भाग हैं—पूर्व भाग में सर्गादि मन्वंतरों के राजवंश, गयासुर का विस्तार से हनन, माघ मास का माहात्म्य, व्रत, दानधर्म, राजधर्म आदि विषयों का विवरण दिया गया हैं। उत्तर भाग में नर्मदा का वर्णन तथा शिव का माहात्म्य प्रतिपादित है। रेवामाहात्म्य के अनुसार पूर्व भाग में शिव की महिमा तथा उत्तरार्ध में रेवा (नर्मदा) का माहात्म्य वर्णित है। मत्स्यपुराण तथा वायवीय संहिता का संक्षिप्त वर्णन बतलाता है कि वायु ने श्वेतकल्प के प्रसंग से रुद्र की महिमा चौबीस हजार श्लोकों में प्रतिपादित की। इन लक्षणों को समन्वित करने से इस चतुर्थ पुराण के वैशिष्ट्य का परिचय निश्चयेन मिलता है। यह वायु के द्वारा प्रोक्त श्वेतकल्प के प्रसंग में रुद्र की महिमा का प्रतिपादक पुराण है जिसमें दोनों खंडों की श्लोकसंख्या मिलाकर २४ हजार है। नारदीयपुराण की अनुक्रमणी अन्य की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। उसके अनुसार पूर्वार्ध में गयासुर के वर्णन का तथा उत्तरार्ध में नर्मदा के माहात्म्य का वर्णन है। तथा दान, धर्म आदि अन्य विषयों का भी यहाँ संकेत है। अब देखना है कि इन

---

१. आउट लाइन आव् रिलिजस लिटरेचर आव् इंडिया, पृ० १३९।

लक्षणों का समन्वय किस पुराण में किया जा सकता है—शिवपुराण में अथवा वायुपुराण में।

३. शिवपुराण में लक्षणासंगति

प्रथमतः शिवपुराण में इस लक्षण का समन्वय संघटित नहीं होता। शिवपुराण के अंतर्गत अंतिम 'वायवीय संहिता' का ही प्रवचन वायु के द्वारा निर्दिष्ट है, समस्त पुराण का नहीं। उसी के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध नाम से दो खंड अवश्य विद्यमान हैं, परन्तु श्लोकों की संख्या केवल चार सहस्र है। शिव के माहात्म्य का वर्णन तथा शैवदर्शन के सिद्धांतों का बहुशः प्रतिपादन अवश्य उपलब्ध है, परन्तु उसके पूर्वार्ध में न तो गयासुर के वध का प्रसंग है और न उत्तरार्ध में रेवा (नर्मदा) के माहात्म्य का ही कहीं संकेत है। समग्र शिवपुराण के श्लोकों की संख्या चौबीस हजार से कहीं अधिक है। ऐसी दशा में शिवपुराण को चतुर्थ पुराण होने का गौरव कथमपि प्रदान नहीं किया जा सकता। शिवपुराण को महापुराण माननेवाले श्रीधर स्वामी भागवत की टीका (१।१।४) में 'वायवीय' से उद्धृत इस श्लोक की शिवपुराण में सत्ता पर भी अपना पक्ष आधारित करते हैं—

तथा च वायवीये

एतन्मनोरमं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः॥

यह श्लोक शिवपुराण की वायवीय संहिता (१।२।८८) में उपलब्ध होता है। इस उपलब्धि से हम इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि श्रीधर स्वामी के समय (१३वीं शती) में शिवपुराण ने 'वायुपुराण' को इतना दबा रखा था कि 'वायवीय संहिता' के द्वारा सामान्यजन 'वायुपुराण' का अर्थ समझने लग गए थे। निबंधकारों का साक्ष्य इसके विपरीत है। वे लोग शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण से ही प्रमाण के लिये श्लोक उद्धृत करते हैं।[1] श्रीधर स्वामी के द्वारा उद्धृत श्लोक उपलब्ध वायुपुराण में भी कुछ भिन्न रूपसे उपलब्ध होता है।[2] इससे पता चलता है कि श्रीधर स्वामी के सामने वायुपुराण का कोई भिन्न ही पाठ वर्तमान था। यदि शिवपुराण को महापुराण की गणना में निविष्ट माना जाय, तो उसके परम्परागत एक लक्ष श्लोकों के योग से तो पुराणों की श्लोकसंख्या चार लाख से बहुत ही बढ़ जायगी। यदि समग्र 'शिवपुराण' को इस गणना में न रखकर केवल 'वायवीय संहिता' को ही अंतर्भुक्त मानें, तो विशेष विप्रतिपत्ति है उसके श्लोकों की संख्या की। अनुक्रमणीनिर्दिष्ट २४ सहस्र श्लोकों के विरोध में यहाँ तो केवल ४ हजार

१. हाजरा : पौराणिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐंड कस्टम्स, पृ० १४।

२. भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत।
कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्॥ वायुपुराण (आनंदाश्रम) २।८

हो श्लोक मिलते हैं। ऐसी दशा में शिवपुराण में महापुराण की संगति कथमपि नहीं बैठती।

४. वायुपुराण में लक्षणसंगति

अब इस लक्षण की संगति उपलब्ध वायुपुराण से मिलाने से इसके अनेक अंश—सर्वांश भले ही नहीं—निश्चित रूप से मिलते हैं। इसके वक्ता वायु हैं तथा रुद्र—शिव की महिमा का विशद तथा व्यापक प्रतिपादन यहाँ किया गया है। आज इसमें चार खंड (पाद) अवश्य उपलब्ध होते हैं, परन्तु हस्तलेखों की समीक्षा बतलाती है कि प्राचीन काल में कभी इसके दो ही खंड थे—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। अडयार से उपलब्ध एक हस्तलेख में यही विभाजन है।[1] यही विभाजन अनुक्रमणी में निर्दिष्ट किया गया है। रहा वायुपुराण की श्लोकसंख्या का समन्वय। ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से तथा हस्तलेखों के प्रामाण्य पर वायुपुराण का उल्लेख 'द्वादशसाहस्री संहिता' के नाम से किया गया है। इसमें मूलतः १२ हजार ही श्लोक थे और इससे संबद्ध अनेक स्वतन्त्र महात्म्यग्रन्थों का उदय कालान्तर में होता गया जिसमें अनुक्रमणीरचना से पूर्व उसमें २४ हजार श्लोकों की मान्यता सिद्ध हुई। डाक्टर पुसालकर का कहना है कि इर्गलिग के कैटेलाग (हस्तलेख सं० ३५६६) में वायुपुराण के अन्तर्गत किसी लक्ष्मीसंहिता का उल्लेख है[2] जिससे इस पुराण से संबद्ध अन्य संहिताओं के अस्तित्व की कल्पना न्याय्य प्रतीत होती है। ये संहिताएँ जो मूल वायुपुराण की कभी अंशभूता थीं, आज उससे हटकर पृथक् रूप से उपलब्ध होती हैं। इसलिये वायुपुराण के श्लोकों की संख्या की गणना अनुचित नहीं प्रतीत होती। वाराहकल्प से सम्बद्ध होने पर भी श्वेतकल्प की घटनाओं का भी उल्लेख गौणरूप से वायुपुराण में पाया जाता है। इस प्रकार वायुपुराण में चतुर्थ पुराण के सब लक्षण तो पूर्णतया संगत नहीं होते, परन्तु अधिकांश की संगति बैठती है। गयामाहात्म्य प्रथमार्ध में उल्लिखित किया गया है, परन्तु आज यह ग्रन्थ के बिलकुल अन्त में ही मिलता है (अध्याय १०५ से लेकर ११२ तक)। मेरी दृष्टि में यह माहात्म्य मूल ग्रन्थ में पीछे से जोड़ा गया अंश है, परन्तु अनुक्रमणी की रचना से पूर्व ही यह वहाँ विद्यमान था। ऊपर मैंने दिखलाया है कि किस प्रकार उपलब्ध वायुपुराण का नैसर्गिक पर्यवसान १०३रे अध्याय में ही है और उसके बाद वाला अंश पीछे जोड़ा गया है। फलतः शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण में पूर्वनिर्दिष्ट लक्षण अधिकता से उपलब्ध होते हैं।

---

१. हस्तलेख की पुष्पिका—इति श्रीमहापुराणवायुप्रोक्तद्वादशसाहस्र्यां संहितायां ब्रह्मांडावर्तं समाप्तम्। समाप्तं वायुपुराणं पूर्वार्धम्। अत परं रेवामाहात्म्यं भविष्यति॥

२. डा० पुसालकर—स्टडीज इन दि एपिक्स ऐंड पुराणज, पृ० ३८ (बम्बई, १९५५)।

५. वायुपुराण का रचनाकाल

इतना ही नहीं, वायुपुराण की रचना, उल्लेख, विषयसंगति आदि का विवेचन ऐसे स्वतन्त्र प्रमाण हैं जिनके द्वारा इसके महापुराण होने के तथ्य की पर्याप्तरूपेण पुष्टि होती है। वायुपुराण निश्चित रूपेण प्राचीन, तान्त्रिक प्रभाव से विरहित तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से नितान्त विवर्जित पुराण है जब कि शिवपुराण अर्वाचीन, तान्त्रिकता से मंडित तथा रौद्री सांप्रदायिकता से समग्रतया संपुटित एक उपपुराण की कोटि का ग्रन्थ है। इस तथ्य की संपुष्टि दोनों पुराणों के यथाविधि समय-निर्देश के पोषक प्रमाण से की जा सकती है। षष्ठ तथा सप्तमशतक में वायुपुराण की लोकप्रियता का पर्याप्त परिचय हमें उपलब्ध होता है शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य द्वारा तथा बाणभट्ट के दोनों ग्रन्थों द्वारा। शंकराचार्य ने पुराण का न तो नामनिर्देश किया है और न पुराण का सामान्य उल्लेख ही किया है। वे पुराणस्थ वचनों को 'स्मृतिवचन' मानते है, परन्तु ये किसी भी स्मृति में उपलब्ध न होकर 'पुराण' में ही उपलब्ध होते हैं—विशेषत: 'वायुपुराण' में। उदाहरणार्थ ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य (१।३।२८) में 'नामरूपे च भूतानां' पद्य स्मृतिवचन रूप से उद्धृत है। यह वायुपुराण के ९वें अध्याय का ६३ वाँ श्लोक है। इसी प्रकार भाष्य (१।३।३०) में दो पद्य उद्धृत किए गए हैं स्मृतिवचन के रूप में—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते
तद्-भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत् तस्य रोचते ॥

ये दोनों वायुपुराण में अष्टम अध्याय के ३२ तथा ३३ संख्यक पद्य हैं। ये अगले अध्याय में पुनः उद्धृत किए गए हैं (९ अ०, ५७ तथा ५८ श्लोक)। इसी भाष्य के अन्त में स्मृतिवचन के रूप से तीन पद्य उद्धृत किए गए हैं—

स्मृतिरपि—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवास्य ददाति सः।
यथर्तुष्टतु लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये
दृश्यन्ते तानि तान्येव यथाभावा युगादिषु ॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥

इन तीनों श्लोकों में से आदि के दोनों श्लोक वायुपुराण में (९ अ० ६४ तथा ६५ श्लोक) उपलब्ध होते हैं। इन उद्धृत श्लोकों के स्थान का निर्देश आचार्य शंकर ने नहीं दिया है। परन्तु मेरी दृष्टि में ये श्लोक वायुपुराण से ही उद्धृत किए गए हैं। इसका मुख्य कारण इस पुराण की उस युग में—सप्तम शती

में—लोकप्रियता है; क्योंकि शंकराचार्य से पूर्ववर्ती प्रख्यात गद्यकाव्यनिर्माता बाणभट्ट ने अपने दोनों ग्रन्थों में वायुपुराण का निःसंदिग्ध उल्लेख किया है। कादंबरी के पूर्वभाग में जाबालि आश्रम के वर्णनप्रसंग में बाणभट्ट की एक विख्यात परिसंख्यामयी उक्ति है—पुराणे वायु-प्रलपितम् (अर्थात् वायुजन्य प्रलपन पुराण में था।) अन्यत्र कहीं भी वायुजन्य प्रलाप—वायु के प्रभाव में बकझक करना नहीं था। यह निःसन्देह 'वायुपुराण' के अस्तित्व का परिचायक है। इतना ही नहीं, उस युग में वायुपुराण का प्रवचन भी एक सामान्य वस्तु थी। हर्षचरित (तृतीय परि०) में बाणभट्ट का उनके मित्र पुस्तकवाचक सुदृष्टि ने गीतवाद्य के द्वारा मनोरंजन किया जिसमें पवमान (वायु)-प्रोक्त पुराण का पठन भी सम्मिलित था। यह पुराण व्यासमुनि के द्वारा गीत, अत्यन्त विस्तृत, संसार भर में व्यापक तथा प्रभावशाली, पवन के द्वारा प्रोक्त था और इस प्रकार 'हर्षचरित' से अभिन्न था। ध्यातव्य है कि इस आर्या[1] में पुराण के लिये प्रयुक्त विशेषण श्लेष के माहात्म्य से 'हर्षचरित' की विशिष्टता के भी प्रतिपादक हैं। यह वर्णन वायुपुराण की लोकप्रियता का निःसंदिग्ध प्रमाण है। फलतः वायुपुराण सप्तम शती से नि.सन्देह प्राचीनतर है।

महाभारत में वायुप्रोक्त, ऋषियों द्वारा संस्तुत - प्रशंसित पुराण का स्पष्ट निर्देश है जिसमें अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) से संबद्ध चरितों का वर्णन किया गया है—

एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं मया।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि-संस्तुतम्॥

—महाभारतवनपर्व १९१।१६।

इस पद्य में 'अतीतानागत' पद से तात्पर्य उन राजवंशावलियों से है जो कलिपूर्व में हुई तथा भविष्य में होनेवाली हैं। उपलब्ध वायुपुराण में यह वंशावली केवल मिलती ही नहीं, प्रत्युत अन्य पुराणों की वंशावलियों से यह सर्वथा प्राचीनतम भी स्वीकृत की जाती है। 'शिवपुराण' में ऐसी वंशावली का नितान्त अभाव है। फलतः महाभारत के उक्त श्लोक के प्रमाण पर शिवपुराण तो कथमपि चतुर्थ पुराण का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

पुराण के लक्षण की दृष्टि से भी वायुपुराण एक नितान्त संपन्न तथा पुष्ट पुराण है जिसमें पुराण के पाँचों लक्षणों की सत्ता विद्यमान है। इस पुराण के

---

१. पुस्तकवाचकः सुदृष्टिः गीत्या पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठः-
तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापि पावनं तदपि
हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि पुराणमिदम्॥
इस आर्या में 'पावनं' (पवित्र तथा पवनसंबंधी अर्थ का द्योतक) एक विशिष्ट पद है।

भिन्न-भिन्न अध्यायों में सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंश तथा वंशानुचरित विद्यमान हैं, परन्तु शिवपुराण में अधिक से अधिक सर्ग तथा प्रतिसर्ग ही जहाँ तहाँ मिलते हैं। राजाओं तथा ऋषियों के विषय में प्राचीन अनुवंश श्लोक तथा गाथाएँ वायु-पुराण में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती हैं, परन्तु शिवपुराण में नहीं। यह भी वायुपुराण की प्राचीनता का निःसंदिग्ध प्रमाण है। शिवपुराण एक भारी भरकम पुराण है जिसमें शिव से संबंध रखनेवाली नाना कथाओं, चरित्रों, पूजापद्धतियों, दीक्षा—अनुष्ठानों का बड़ा ही विशाल वर्णन है। इस पुराण की द्वितीय रुद्रसंहिता के अवान्तर सतीखंड में दक्षकन्या सती के चरित्र का व्यापक विवरण ४३ अध्यायों में दिया गया है जिसमें एक अध्याय में सीता का रूप धारण कर सती द्वारा जंगल में इतस्ततः भ्रमण करनेवाले जानकीवियुक्त रामचन्द्र की परीक्षा लेने का प्रसंग है जिसका ग्रहण तुलसीदास ने रामचरितमानस के बालकांड में बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। इसी प्रकार पार्वतीखंड में पार्वती के जन्म तथा तपश्चरण का विवरण पर्याप्त विस्तार से दिया गया है। वायवीय संहिता में शैवतंत्र से संबद्ध उपासनापद्धति का ही विशद विवेचन नहीं है, प्रत्युत शैवदर्शन के सिद्धान्तों का भी विवरण तांत्रिकता की पूरी छाप बतला रहा है। 'शिवपुराण' का यह अनुक्रमणिका द्वारा प्रतिपादित वायुप्रोक्त पुराण के स्वरूप से एकदम भिन्न है, नितांत पृथक् है। गया तथा रेवा के माहात्म्यपरक अंश भी एकदम अनुपस्थित है। इतना ही नहीं, इसका आविर्भावकाल भी वायुपुराण के पूर्वोक्त काल की अपेक्षा नितांत अर्वाचीन तथा अवान्तर कालीन है।

६ शिवपुराण की अर्वाचीनता

शिवपुराण के काल का निर्णय बहिरंग तथा अंतरंग उभय साक्ष्य के आधार पर पर्याप्तरूपेण किया जा सकता है। तमिल देश में शिवपुराण प्राचीनकाल से लोकप्रिय है। इसका पूरा प्राचीन अनुवाद तमिल भाषा में तो आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसके तीन विशिष्ट आख्यानों का अनुवाद हस्तलिखित रूप में मिलता है जिनमें **शरभपुराण** (जिसमें शिव के शरभ रूप धारण करने की कथा का वर्णन है) उपलब्ध शिवपुराण (वेंकटेश्वर द्वारा प्रकाशित) की तृतीय (शतरुद्रिय) संहिता के १० से लेकर १२ वें अध्याय तक मिलता है तथा **दधीचिपुराण** शिवपुराण की द्वितीय (रुद्र) संहिता के द्वितीय खंड के ३८ – ३९ अध्यायों में मिलता है। इस तमिल अनुवाद के रचयिता तिरुपल्लैनाथ माने जाते हैं जिनका आविर्भाव-काल १६वीं शती है।[1] अलबरूनी के भारत वर्णन ग्रंथ में शिवपुराण का नामोल्लेख पुराणों की सूची में निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। इन्होंने पुराणों के नाम तथा विस्तार की दो सूचियाँ अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में दी हैं—एक सूची में वायुपुराण का तथा दूसरी सूची में उसी स्थान पर शिवपुराण का नामनिर्देश इस तथ्य का

१. पुराणम् (काशिराजन्यास से प्रकाशित) वर्ष २, जुलाई १९६०, पृष्ठ २२९–२३०।

प्रमाण है कि शिवपुराण की रचना १०३० ईस्वी से पूर्व ही संपन्न हो चुकी थी जब इस ग्रंथ का प्रणयन किया गया। यह तो हुआ बहिरंग साक्ष्य। शिवपुराण की अंतरंग परीक्षा से भी इस पुराण का कालनिर्णय सुशक्य है। कैलास-संहिता के १६-१७ वें अध्याय में प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धांतों का विशद प्रतिपादन किया गया है जिसमें 'शिवसूत्र' के दो सूत्रों का तथा तत्संबद्ध 'वार्तिक' का सुस्पष्ट निर्देश तथा उद्धरण है—

चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥ ४४ ॥
चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञानक्रियात्मकम्।
स्वातंत्र्यं तत्स्वभावो यः स आत्मा परिकीर्तितः ॥ ४५ ॥
इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया।
ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः ॥ ४६ ॥

—कैलास-संहिता, अ० १६।

इस उद्धारण में दो शिवसूत्रों का उल्लेख है जिनमें चैतन्यमात्मा प्रथम शिवसूत्र है तथा ज्ञानं बंधः दूसरा शिवसूत्र है। इतना ही नहीं, यहाँ शिवसूत्रों के वार्तिक का स्पष्ट उल्लेख है। 'शिवसूत्र' प्रत्यभिज्ञादर्शन का आदि ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि का श्रेय आचार्य वसुगुप्त को दिया जाता है। काश्मीरी शैवाचार्यों का अविच्छिन्न संप्रदाय है कि भगवान् शंकर के स्वप्न में दिए गए आदेश के अनुसार वसुगुप्त को ये सूत्र (तीन उन्मेषों में विभक्त तथा संख्या में ७७) महादेव गिरि की चोटी पर किसी पत्थर के ढोके पर लिखे गए प्राप्त हुए थे, जो आजकल 'शंकर पल' (शंकर उपल) के नाम से प्रख्यात है। इन्हीं वसुगुप्त के शिष्य कल्लट थे जो अवंति वर्मा (८५३ ई०—८८८ ई०) के राज्यकाल में महनीय सिद्ध पुरुष के अवतार माने जाते थे--कल्हण का ऐसा स्पष्ट कथन है।[1] शिष्य के समय से गुरु का समय भली भाँति अनुमानित किया जा सकता है। वसुगुप्त का समय इसी लिये ८०० ई० के लगभग माना जाता है। 'शिवसूत्र' के ऊपर दो वार्तिक उपलब्ध हैं--१—भास्कररचित तथा २—वरदराजप्रणीत। इनमें भास्कर कल्लट के संप्रदाय के अनुयायी थे तथा दोनों में चार पीढ़ियों का व्यवधान था।[2] फलतः एक पीढ़ी के लिये पच्चीस साल का समय मानने से भास्कर का समय कल्लट के समय (८५० ई० लगभग) से सौ वर्ष पीछे (लगभग ९५० ई०) होना चाहिए। वरदराज का समय भास्कर से पचास वर्ष पीछे होना चाहिए, क्योंकि इन्होंने अभिनवगुप्त (९८० ई०—१०१५ ई०) के पट्टशिष्य क्षेमराज की शिवसूत्रवृत्ति के आधार पर अपने 'शिवसूत्र-वार्तिक' का प्रणयन किया था। मेरी दृष्टि में शिवपुराण के पूर्वोक्त उद्धरण में भास्कर के शिवसूत्रवार्तिक का ही उल्लेख है। अलबरूनी (१०३० ई०) के द्वारा संकेतित होने से तथा भास्कररचित 'शिवसूत्र-

---

१. कल्लटाद्याः सिद्धा भुवमवातरन्।—राजतरंगिणी
२. शिवसूत्रवार्तिक का उपोद्घात श्लो० ४ तथा ९।

वार्तिक (रचनाकाल लगभग ८५० ई०) को उद्धृत करने के कारण शिवपुराण का समय दशम शती का अन्त मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार दोनों पुराणों की तुलना करने पर वायुपुराण ही प्राचीन तथा निश्चय रूप से महापुराण है तथा शिवपुराण अर्वाचीन और तांत्रिकता से मंडित उपपुराण है। पूर्वोक्त प्रमाणों के साक्ष्य पर इस तथ्य पर संदेह करने का कोई अवकाश नहीं है।

(२ : ४)

अग्निपुराण विषय-मीमांसा

प्राचीन भारतीय साहित्य में पुराणों का अपना विशिष्ट स्थान है। वे धर्म, दर्शन, राजनीति, भूगोल, इतिहास, कला इत्यादि समस्त ज्ञानों के आकर हैं। युग-युग की बहुविध ज्ञानराशि एकत्रित होकर पुञ्जीभूत रूप में पुराणों में उपलब्ध होती है। जनभावनायें, धारणायें और विश्वास—ये भी पुराणों में सञ्चित होते चले आये हैं। धर्मशास्त्रीय विवरण तो परवर्ती निबन्ध ग्रन्थों में इस बहुलता के साथ उद्धृत किये गये हैं कि पुराणों का धर्मशास्त्र का आकर ग्रन्थ होना निसन्देह सिद्ध हो जाता है।

१. अर्थ

'पुराण' शब्द का सामान्य अर्थ है प्राचीन। वस्तुत: पुराणों में प्राचीन सामग्री ही नवीन कलेवर में विराजती है। विभिन्न ग्रन्थों और विभिन्न पुराणों में भी पुराण शब्द की पृथक्-पृथक् व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। निरुक्तकार ने पुराण शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है—'पुरा नवं भवतीति पुराणम्' (निरुक्त ३।१९)। वायु पुराण में पुराण शब्द का निर्वचन कहा गया है—

यस्मात् पुरा ह्यनितीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
—वायु १।२०३

इसका तात्पर्य यह है कि यह प्राचीन काल में जीवित अर्थात् नवीन था। पद्मपुराण में इसे प्राचीन परम्परा की कामना करने वाला बताया गया है—

पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत्स्मृतम्॥
—पद्म ५।२।५३

ब्रह्माण्ड पुराण में भी पुराण शब्द की परिभाषा दी गई है और यहाँ इसे प्राचीन काल में होनेवाला बताया गया है—

यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
—ब्रह्माण्ड १।१।१७३

इन सब निर्वचनों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुराण शब्द प्राचीनता का द्योतक है। इसका वर्ण्य विषय प्राचीन काल से सम्बन्ध रखता है तथा कालक्रम की दृष्टि से भी यह प्राचीन काल से सम्बद्ध है।

२. प्राचीनता

पुराण साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि कालक्रम से इसमें मिश्रण और प्रक्षेप की प्रक्रिया अत्यन्त परवर्ती समय तक चलती रही तथापि इसका मूल रूप

उतना ही प्राचीन है जितना वाङ्मय का कोई भी प्राचीनतम रूप। इस बात की पुष्टि अथर्व श्रुति, ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषद् ग्रन्थों में पुराण शब्द की उपलब्धि से सुतरां हो जाती है।

पुराण-साहित्य का सम्बन्ध सभ्यता के विकास से ही सम्बद्ध है। मानव मन का परितोष और उसकी उर्वर शक्ति के स्पष्ट निदर्शक ये पुराण हैं। सभ्य-असभ्य, पठित-अपठित, ब्राह्मण-शूद्र—सभी के तो उपास्य ये पुराण रहे हैं। वस्तुतः नाटक की ही भाँति ये भी सार्वजनीन रहे हैं। स्वयं पुराण शब्द ही पुराणों की प्राचीनता का निदर्शक है।

पुराण शब्द का प्रयोग संहिता में उपलब्ध होता है। अथर्व श्रुति में पुराण शब्द का निर्देश इस प्रकार मिलता है :—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

—अथर्व ११।७।२४

अर्थात् उच्छिष्ट से ऋक्, साम, छन्दस् (अथर्व) तथा यजुषों के साथ पुराण उत्पन्न हुए। देव लोक में निवास करने वाले देवता भी उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए। सायण ने उपर्युक्त मंत्र की व्यवस्था में 'उच्छिष्ट' का अर्थ परमात्मा किया है।

पुनः अथर्ववेद के ही १४ वें काण्ड में पुराण शब्द का प्रयोग मिलता है :—

तमितिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यलचन् ॥ ११ ॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च।

—१५।६।११–१२

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में 'पुराणवित्' (पुराण को जानने वाला) शब्द की उपलब्धि होती है :—

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥

—अथर्व० ११।८।७

संहिता के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों में भी पुराण शब्द की उपलब्धि होती है। गोपथ तथा शतपथ ब्राह्मण में पुराण शब्द की कई बार सूचना मिलती है। यथा—

(१) एवमिमे सर्वे निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः।--गोप० १।२।१०

(२) यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः॥

--शतपथ ११।५।६।८

तैत्तिरीय आरण्यक में पुराण शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में है :--

ब्रह्मयज्ञप्रकरणे—यद् ब्राह्मणानितिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेतदाहुतयो देवानामभवन्।

—तैत्तिरीय आ० प्रपाठक २, अनुवाक ६

बृहदारण्यक उपनिषद् में पुराण का उल्लेख इस प्रकार है :—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम् । २।४।११

छान्दोग्य उपनिषद् में पुराण शब्द का उल्लेख कई बार हुआ है। एक बहुचर्चित उदाहरण यह है—

ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्, वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं " एतद् भगवोऽध्येमि—छादोग्य उप० ७।१।२

उपनिषत् साहित्य से जब हम नीचे उतरते हैं तो गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में भी पुराण शब्द का प्रयोग किया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र में पुराण शब्द का प्रयोग मिलता है।[1]

पुराण शब्द का उल्लेख वैदिक साहित्य से आगे आने पर महाभारत, स्मृति-ग्रंथ, काव्यग्रन्थ तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों में हुआ है। इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि पुराण वाङ्मय उतना ही प्राचीन है जितना भारतीय सभ्यता और संस्कृति। स्वयं पुराण शब्द इस बात को सूचित करता है कि जिन जिन ग्रन्थों में इसका उल्लेख हुआ है उनके निर्माण काल के समय में पुराण की सत्ता विद्यमान थी अथवा उनसे भी पहले पुराण वर्तमान था—यही तो पुराण शब्द सूचित कर रहा है—उस समय भी यह पुराना, प्राचीन था।

उस सुदूर अतीत से पुराण वाङ्मय चला आ रहा है। वाङ्मय के इतिहासमें कदाचित् ही कोई ग्रन्थ पुराण से प्राचीन हो। तब से लेकर अद्यतन समय तक इसकी धारा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है—परिष्कार और परिवर्धन के साथ। यह वस्तुतः मौखिक परम्परा ही रही होगी यद्यपि आगे चलकर इसने लिखित रूप भी धारण कर लिया। आपस्तम्बधर्मसूत्र (षष्ठ सदी ई० पू०) में भविष्यत् पुराण का निर्देश स्पष्ट कर देता है कि उस समय भविष्यपुराण वर्तमान था—रूप चाहे जो रहा हो।

पुराण पञ्चलक्षण

पुराणों में तथा अन्यत्र भी पुराणों के पांच लक्षण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशा(ब्रह्माण्ड-श्या)नुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

ये पुराणों के पांच लक्षण प्रथित हैं तथा निम्नलिखित पुराणों में वर्णित हैं—

मार्कण्डेय (१३४।१३)।	गरुड (१।२१५।१४)
अग्निपुराण (१।१४)	कूर्म (१।१।१२)

१. पुराणों की प्राचीनता के सन्दर्भ में विस्तृत जानकारी के लिये द्रष्टव्य पं० बलदेव उपाध्यायकृत पुराणविमर्श, पृ० १–३६।

देवीभागवत (१।२।१८)	मत्स्य (५३।६५)
भविष्य (१।२।२-५)	शिव (५।१।३७)
ब्रह्माण्ड (१।१।३७-३८)	स्कन्द (७।२।८४)
ब्रह्मवैवर्त (४।१३३।६)	वराह (२।४)
विष्णु (३।६।२५)	सौर (६।४)

स्कन्दपुराण तथा मत्स्यपुराण के कुछ हस्तलेखो में 'वंशानुचरितम्' के स्थान पर 'वंशानुवंशचरितम्' पाठ मिलता है। आशय यह है कि पुराणों के पाँच लक्षण होते हैं अर्थात् उनमें मुख्य विषय पाँच हैं—सर्ग (सृष्ट), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित।

काव्यमीमांसा के दूसरे अध्याय में यह लक्षण कुछ व्यत्यय के साथ उपस्थित है। वहाँ का पाठ इस प्रकार है—

सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति॥

राजनीति के ग्रन्थ में पुराण का एक दूसरा ही पञ्चलक्षण उपस्थित किया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (१।५) की जयमङ्गला टीका में एक प्राचीन श्लोक उदाहृत किया गया है जिसमें पुराणों का पञ्चलक्षण इस प्रकार बताया गया है—

सृष्टिप्रवृत्तिसंहारधर्ममोक्षप्रयोजनम्।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

इसमें यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि धर्म भी पुराण का अविभाज्य अङ्ग है।

किन्तु भागवत महापुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार पञ्चलक्षण तो उपपुराणों में अन्वित होता है। महापुराणों के दश लक्षण होते हैं या दश से भी अधिक हो सकते हैं।

भागवत का दश लक्षण[1] इस प्रकार है—

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥

इसमें दशलक्षणों में सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तराणि, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु, और अपाश्रय गिनाये गये हैं।

श्रीमद्भागवतपुराण में प्रत्येक शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।[2]

(१) सर्ग की परिभाषा इस प्रकार है—

अव्याकृतगुणक्षोभात् महस्त्रिवृतोऽहमः।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥—१२।७।११

---

१. द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत २।१०।१-९।
२. द्रष्टव्य वही १२ स्कन्ध, ७ अध्याय।

अर्थात् मूलप्रकृति में लीन गुणों के क्षुब्ध होने पर महत् उत्पन्न होता है, उससे तीनों अहंकार उत्पन्न होते हैं जिससे पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय तथा भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी का नाम सर्ग है।

(२) प्रतिसर्ग के स्थान पर भागवत में संस्था शब्द का प्रयोग है और उसके नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक चार प्रकार बताये गये हैं (१२।७।१७)।

(३) वंश का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः (१२।७।१६)

अर्थात् ब्रह्मा द्वारा प्रसूत राजाओं की भूत, वर्तमान तथा भविष्य परम्परा का वर्णन।

(४) मन्वन्तर का परिचय इस प्रकार दिया है—

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥ (१२।७।१५)

मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् के अंशावतार—इन छः विशेषताओं से युक्त मन्वन्तर होता है।

(५) वंश्यानुचरित वह है जिसमें पूर्वोक्त वंश में उत्पन्न तथा मूल पुरुष राजाओं का विशेष विवरण वर्णित हो—

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये। (१२।७।१६)

अष्टादश महापुराण

महापुराणों के अन्तर्गत अठारह महापुराणों की गणना की गई है। यह संख्या अत्यन्त प्राचीन तथा परम्परागत है। यद्यपि शिवपुराण में एक स्थान (उमासंहिता १३।४१) पर यह संख्या २६ बतायी गयी है परन्तु पुराणों का नामनिर्देश नहीं किया गया है। वस्तुतः अत्यन्त प्राचीनकाल से पुराणों की संख्या निर्विवादरूप से १८ मानी जाती रही है। देवीभागवत (१।३।२१) में सभी पुराणों के नामों के आद्य अक्षरों के निर्देश द्वारा उनका नाम इस प्रकार बताया गया है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥

मकारादि दो पुराण (मार्कण्डेय तथा मत्स्य), भकारादि दो पुराण (भागवत तथा भविष्य), ब्रकारादि तीन पुराण ब्रह्म, ब्रह्माण्ड और ब्रह्मवैवर्त आदि चार पुराण (विष्णु, वामन, वाराह और वायु), अ (अग्नि), ना (नारदीय), प (पद्म), लिङ् (लिङ्ग), ग (गरुड), कू (कूर्म) तथा स्क (स्कन्द)—ये अष्टादश पुराणों के पृथक्-पृथक् नाम हैं।

पुराणों के नाम विभिन्न पुराणों में दिये गये हैं और कहीं-कहीं तो एक ही पुराण में एक से अधिक बार भी यह नाम तथा संख्या बतायी गयी है। विष्णुपुराण

(३।६।२०-२४) तथा श्रीमद्भागवत (१२।१३।३-८) में अष्टादश पुराणों का नाम-निर्देश मिलता है। मत्स्यपुराण के ५३ वें अध्याय में इन पुराणों का नाम-निर्देश तथा संक्षेप में उनके वर्ण्य विषय का भी निर्देश मिलता है। मत्स्य, स्कन्द, नारद तथा अग्निपुराणों में चतुर्थ स्थान पर वायु की गणना की गयी है। पर अन्य पुराणों की नाम-सूची में चतुर्थ स्थान पर शिव या शैवपुराण माना गया है।

इन दोनों पुराणों के महापुराणत्व के विषय में विद्वानों में मतभेद है, यथा कोई वायुपुराण को अष्टादशपुराणों में गिनता है तो कोई शिवपुराण को। इस विषय में विद्वानों का निष्कर्ष है कि वस्तुतः शिव और वायु एक ही पुराण के दो नाम थे। यह पुराण दो भागों में विभक्त था तथा इसमें २४ सहस्र श्लोक हैं। यह वायुप्रोक्त होने से वायुपुराण तथा शिवप्रोक्त होने से शिवपुराण कहा जाता था।[१]

अष्टादशपुराणों के नाम तथा श्लोकसंख्या की सारिणी इस प्रकार है—

श्लोक संख्या (सहस्र में)

पुराण नाम (विष्णुपुराणानुसार)	देवीभागवत	(भागवत)	अग्नि	मत्स्य	वर्तमान संख्या
१ ब्रह्म	१०	१०	२५	१३	१३७६१
२ पद्म	५५	५५	—	५५	४८४५२
३ वैष्णव (विष्णु)	२३	२३	२३	२३	६३७३
४ शैव (या वायु)	२४	२४	१४ (वायु) सहस्र ६ सौ (वायु)	२४	१०६६१
५ भागवत	१८	१८	१८	१८	१४५७६
६ नारदीय	२५	२५	२५	२५	१७५४६
७ मार्कण्डेय	९	९	९	९	६४४७
८ आग्नेय (अग्नि)	१५ सहस्र ४ सौ	१६ सहस्र	१२	१६	११४५७
९ भविष्य	१४ सहस्र ५ सौ	१४ सहस्र	१४	१४ ५ सौ	२५९५६
१० ब्रह्मवैवर्त	१८	१८	१८	१८	२०६६४
११ लैङ्ग (लिङ्ग)	११	११	११	११	९१८५
१२ वाराह	२४	२४	१४	२४	९७२०

१. इन दोनों पुराणों के विषय में विस्तृत विमर्श के लिये देखिये पं० बलदेव उपाध्याय नागरीप्रचारिणी पत्रिका (१९६४); श्री आनन्दस्वरूपगुप्त, पुराण पत्रिका १९६५ (७।२), तथा डा० ए० डी० पुसालकर 'स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणाज।'

१३ स्कन्द	८१ सहस्र १ सौ ८१		८४	८१	६३३४३
१४ वामन	१०	१०	१०	१०	५८१५
१५ कौर्म	१७	१७	८	१८	५६२५
१६ मात्स्य	१४	१४	१३	१४	१४०६२
१७ गारुड	१६	१६	८	१६	८७३८
१८ ब्रह्माण्ड	१२	१२ सहस्र	१२ सहस्र १ सौ सहस्र २ सौ	१२	१४२६८

पुराणों का वर्गीकरण

पद्मपुराण में सात्त्विक, राजस तथा तामस तीन प्रकार के पुराणों के वर्ग किये गये हैं। यहाँ तीनों वर्गों में छः-छः पुराण रखे गये हैं। सात्त्विक पुराण वे बताये गये हैं जिनमें भगवान् विष्णु का माहात्म्य अधिक रूप से वर्णित हो, राजस पुराणों में ब्रह्मा का प्राधान्येन वर्णन होता है और तामस पुराणों में भगवान् शङ्कर का—

सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः।
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते॥
—मत्स्य ५३।६८-६९

इस प्रकार मत्स्यपुराण के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस के अतिरिक्त कुछ मिश्रित पुराण भी हैं।

पद्मपुराण के अनुसार इन तीन कोटियों में निम्नलिखित प्रकार से पुराण विभक्त है—

सात्त्विक

१. विष्णु — २. नारद
३. भागवत — ४. गरुड़
५. पद्म — ६. वाराह

राजस—

१. ब्रह्माण्ड — २. ब्रह्मवैवर्त
३. मार्कण्डेय — ४. भविष्य
५. वामन — ६. ब्रह्म

तामस—

१. मत्स्य — २. कूर्म
३. लिङ्ग — ४. शिव
५. स्कन्द — ६. अग्नि

मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे ।।
वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ।।
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ।।
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ।।

—पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २६३।८१-८४

स्कन्दपुराण में कहा गया है कि दस पुराणों में शिव की स्तुति है। चार में ब्रह्मा की और दो में देवी तथा विष्णु का वर्णन है।

अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः ।।

अग्नि पुराण

पौराणिक वर्गीकरण की दृष्टि से अग्निपुराण तामस कोटि में आता है अर्थात् यह शिवभक्ति परक ग्रन्थ है। भागवत में इसे १५ सहस्र ४ सौ, देवी भागवत में १६ सहस्र, स्वतः अग्निपुराण में १२ सहस्र, मत्स्य पुराण में १६ सहस्र और नारदीय पुराण में १२ सहस्र श्लोकों का बताया गया है। वर्तमान मुद्रित आनन्दाश्रम संस्करण में लगभग ११४५७ श्लोक है। यह श्लोक संख्या अग्निपुराण में दी संख्या के समीप है।

अग्निपुराण, गरुड़पुराण तथा नारदपुराण ऐसे पुराण हैं जिनके विषय पुराणपञ्चलक्षण तक ही सीमित नहीं है। यह बात बहुत स्पष्ट है कि पञ्चलक्षण तक कम ही पुराण सीमित रहते हैं। उसमें भी अग्निपुराण तो और व्यापक है। वस्तुतः यह बहुविध विषयों को समाविष्ट किये हैं। शेष व्याकरण, छन्द, अलंकार, ज्योतिष आख्यानोपाख्यान इत्यादि नाना विषय इस पुराण में सन्निविष्ट हैं।

विषयक्रम को देखने से यह सुस्पष्ट भासित हो जाता है कि अग्निपुराण में उन सभी विषयों का विस्पष्ट विवेचन व निर्देश है जिन्हें मानव जानता-सुनता था और जिनसे इसका व्यवहार था। इस प्रकार यह सच्चे अर्थों में विश्वकोश है। विषयों का वर्णन करते समय अग्निपुराण ठोस एवं प्रामाणिक विवरण देता है—सारात्सारम्। इस पुराण को आरम्भ में ही विद्याओं का सार कहा गया है।

विष्णुः कालाग्निरुद्रोऽहं विद्यासारं वदामि ते।
विद्यासारं पुराणं यत्सर्वं सर्वस्य कारणम् ।। —अग्नि १।१३

आगे भी इस पुराण की प्रशस्ति करते हुए कहा गया है कि अग्निपुराण विष्णु का ही रूप है। इसके कर्ता और श्रोता साक्षात् जनार्दन हैं। इसीलिये यह पुराण सर्ववेदमय है, सर्वविद्यामय है।

वेदेषु सपुराणेषु यज्ञमूर्तिश्च गीयते ।
आग्नेयाख्यं पुराणं तु रूपं विष्णोर्महत्तरम् ।।
आग्नेयाख्यपुराणस्य कर्ता श्रोता जनार्दनः ।
तस्मात् पुराणमाग्नेयं सर्ववेदमयं महत् ।।
सर्वविद्यामयं पुण्यं सर्वज्ञानमयं वरम् ।

अग्नि २७१।१६-१८

इस प्रकार वर्तमान अग्निपुराण अपने को महापुराण की कोटि में गिनता है है तथा अपने विषयक्रम की दृष्टि से भी यह नितान्त महनीय तथा व्यापक है। परन्तु विद्वानों ने इसकी प्राचीनता के विषय में सन्देह प्रकट किया है और इसे मूल अग्नि वा वह्निपुराण नहीं माना है। यहाँ हम संक्षेप में इस विषय पर विवेचन करेंगे।

अग्निपुराण तथा वह्निपुराण

विभिन्न पुराणों में अग्निपुराण का अभिधान अग्नि, आग्नेय, अग्निउक्त, वह्निपुराण आदि हुआ है। यद्यपि ये सभी नाम एकार्थवाची ही हैं और उसी प्रकार एक ही पुराण के अभिधायक हो सकते हैं जैसे गरुड, गारुड, तार्क्ष्य, वैनतेय आदि संज्ञायें गरुडपुराण की परिचायक हैं तथा विष्णु, वैष्णव आदि विष्णुपुराण की। परन्तु 'वह्निपुराण' नामक एक दूसरा भी हस्तलेख प्राप्त हुआ है जो वर्तमान अग्निपुराण से सुतरां भिन्न है। पुराणशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा० हाजरा ने सप्रमाण इस वह्निपुराण को ही मूल अग्निपुराण माना है। इस विषय में उन्होंने बड़ोदाजर्नल के ५ वें खण्ड के चतुर्थ अङ्क तथा 'अवर हेरिटेज' पत्रिका के प्रथम-द्वितीय अङ्कों में विस्तृत विमर्श किया है।[1] इस वह्निपुराण का हस्तलेख भी हाजरा महोदय के पास है। उनके मतानुसार प्राचीन निबन्धकारों ने अग्निपुराण से जो वचन उद्धृत किये हैं, वे समग्रतः वह्निपुराण में ही उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः वर्तमान अग्निपुराण पाञ्चरात्रों के द्वारा प्रतिसंस्कृत वैष्णव पूजा का अवबोधक तंत्रप्रधान पुराण है।[2] डा० हाजरा ने वह्निपुराण को ही मूल अग्निपुराण माना है।

(१) मूल अग्निपुराण वह्निपुराण के नाम से ही प्रथित था जो अग्नि की महिमा से विशेषरूप से सम्बद्ध था।[3] जैसा कि स्कन्दपुराण के शिवरहस्य में उक्त है। यह लक्षण विशेषतः वह्निपुराण में ही घटित होता है, अतः इसी को मूल

१, द्रष्टव्य : Dr. R. C. Hazra : Discovery of the Genuine Āgneya-Purāṇa (Journal of the Oriental Institute, Baroda Vol. VI. No. 4. and Studies in the Genuine Āgneya Purāṇa. Our Heritage, Vol. V. II.

२. पं० बलदेव उपाध्याय पुराण-विमर्श पृ० १५१।

३. डा० रामाशङ्कर भट्टाचार्य, अग्निपुराण-विषयानु० ६१-६२।

अग्निपुराण मानना संगत है।

वर्तमान अग्निपुराण कर्मकाण्ड एवं तन्त्र-बहुल है। यही कारण है कि बल्लालसेन ने अपने निबन्धग्रन्थ 'दानसागर' में इसका ग्रहण नहीं किया है। उनका कथन इस प्रकार है—

तार्क्ष्यं पुराणमपरं ब्राह्ममाग्नेयमेव च।
त्रयोविंशतिसाहस्रं पुराणमपि वैष्णवम्
षट्साहस्रमिति लिङ्गं पुराणमपरं तथा ॥
दीक्षाप्रतिष्ठापाषण्डमुक्तिरत्नपरीक्षणैः ॥
ऋषिवंशानुचारितैः कोषव्याकरणादिभिः।
असङ्गतकथाबन्धपरस्परविरोधितः ॥
तन्मीनकेतनादीनां भण्डपाषण्डलिङ्गिनाम्।
लोकवञ्चनमालोक्य सर्वमेवाधीरितम् ॥

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है बल्लालसेन ने इसके प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया है—इसमें दीक्षाविधि, रत्नपरीक्षण, कोषव्याकरणादि का सन्निवेश है जो पुराण की पुराणता से अवरकोटिक हैं। यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि यह अग्निपुराण ही अधिक क्यों प्रचलित हो गया और इसका मूलरूप दब गया। वस्तुतः इसके प्रचार में इस पुराण के अन्तर्गत लौकिक विषयों का समावेश ही प्रमुख कारण है। तन्त्र, पूजा और घरेलू विद्याओं की व्यापकता के कारण यह नितान्त स्वाभाविक था कि भावुक जन-मन इसकी ओर ललक जाता और इसे यहाँ विश्रान्ति मिलती।

मूल अग्निपुराण में तान्त्रिक और व्यावहारिक विषयों का प्रधान था। अतः उसका प्रचार क्षीणतर हो गया और वह केवल हस्तलेख के रूप में ही यत्र-तत्र सुरक्षित रहा। बहुत से उद्धरण जो वह्नि या अग्निपुराण के नाम से उपलब्ध होते हैं या प्रचलित अग्निपुराण के नाम से उपलब्ध होते हैं वे प्रचलित अग्निपुराण में न मिलकर वह्निपुराण में ही उपलब्ध होते हैं। वह्निपुराण के बहुत से श्लोक अग्निपुराण में भी समाविष्ट हो गये हैं। किन्तु कुछ विचिकित्सा तो वह्निपुराण के बारे में भी उत्पन्न हो जाती है। वह्नि या अग्निपुराण का जो विषय मत्स्यपुराण (५३।२८-३०) और स्कन्द के प्रभास खण्ड (२।४७ ४८) में मिलता है वह पूर्णतः दोनों में किसी में भी घटित नहीं होता। अतः सम्भव है मूल अग्निपुराण का कुछ और ही रूप रहा हो। वर्तमान अग्निपुराण में १२ सहस्र (जैसा पहले सारणी में प्रदर्शित है) श्लोक है जो वह्निपुराण के अनुसार पूरी कर दी गई होगी। वह्निपुराण का काल-क्रम ईसा की चौथी-पाँचवीं सदी अनुमानित की गई है। वह्निपुराण के संग्रथन क्रम में तीन रूप दर्शाये गये हैं। प्रथम रूप यजुर्वेदीय अग्निहोत्री ब्राह्मणों ने किया, द्वितीय वैष्णवों ने किया और तृतीयतः बहुविध विषयों का एकत्र समावेश कर दिया गया।

---

(१) अन्य पुराणों में अग्निपुराण का विषय-वर्णन

विभिन्न पुराणों में अग्निपुराण के वर्ण्य विषयों की संक्षिप्त सूचियाँ प्रस्तुत की गई हैं। स्वतः अग्निपुराण के उपक्रम में उसके विषय वस्तु में निम्न निर्देश किया गया है :

विद्यासारं पुराणं यत् सर्वं सर्वस्य कारणम् ।। १३ ।।
सर्गस्य प्रतिसर्गस्य वंशमन्वन्तरस्य च ।
वंशानुचरितादेश्च मत्स्यकूर्मादिरूपधृक् ।। १४ ।।
द्वे विद्ये भगवान् विष्णुः परा चैवापरा च ह ।
ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाङ्गानि च षड् द्विज ।। १५ ।।
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः ।
छन्दोऽभिधानं मीमांसा धर्मशास्त्रं पुराणकम् ।। १६ ।।
न्यायवैद्यकगान्धर्वं धनुर्वेदोऽर्थशास्त्रकम् ।
अपरेयं परा विद्या यया ब्रह्माऽभिगम्यते ।। १७ ।।
यत्तदद‍ृश्यमग्राह्यमगोत्रचरणं ध्रुवम् ।
विष्णुनोक्तं यथा मह्यं देवेभ्यो ब्रह्मणा पुरा ।। १८ ।।
(अग्निपुराण १।१३–१८)

पुनः अग्निपुराण ने अपने विषयों का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है :

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वविद्याः प्रदर्शिताः ।
सर्वे मत्स्यावताराद्या गीता रामायणं त्विह ।। ५२ ।।
हरिवंशो भारतं च नवसर्गाः प्रदर्शिताः ।
आगमो वैष्णवो गीतः पूजा - दीक्षा - प्रतिष्ठया ।। ५३ ।।
पवित्रारोहणादीनि प्रतिमा - लक्षणादिकम् ।
प्रासादलक्षणाद्यं च मंत्रा वै भुक्तिमुक्तिदाः ।। ५४ ।।
शैवागमस्तदर्थश्च शाक्तेयः सौर एव च ।
मण्डलानि च वास्तुश्च मन्त्राणि विविधानि च ।। ५५ ।।
प्रतिसर्गश्चानुगीतो ब्रह्माण्डपरिमण्डलम् ।
गीतो भुवनकोशश्च द्वीपवर्षादिनिम्नगाः ।। ५६ ।।
प्रलयानां लक्षणं च शारीरकनिरूपणम् ।
वर्णनं नरकाणां च योगशास्त्रमतः परम् ।। २१ ।।
ब्रह्मज्ञानं ततः पश्चात् पुराणश्रवणे फलम् ।
एतदाग्नेयकं विप्र पुराणं परिकीर्तितम् ।। २२ ।।
तल्लिखित्वा तु यो दद्यात् सुवर्णकमलान्वितम् ।
तिलधेनुयुतं चापि मार्गशीर्ष्यां विधानतः ।। २३ ।।

पुराणार्थविदे सोऽथ स्वर्गलोके महीयते ।
एषानुक्रमणी प्रोक्ता तवाग्नेयस्य मुक्तिदा ॥ २४ ॥
श्रृण्वतां पठतां चैव नृणां चेह परत्र च ॥ २५ ॥

(२) विषय-विवेचन

(क) पौराणिक विषय (सर्गप्रतिसर्गादिक)

पुराणों के प्रधानत: वर्ण्य विषय पाँच माने गये हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितश्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

प्रायः सभी पुराणों में यह विषय पाठान्तर के साथ उपलब्ध होता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के द्वितीय अध्याय में भी इसी प्रकार का एक श्लोक दिया है :

सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः ।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति ॥

अर्थात् जगत् के सर्ग-प्रतिसर्ग आदि विषय यहाँ वर्णित हैं। अग्निपुराण में यद्यपि अन्य विषयों का प्राधान्य है तथापि इस पञ्चलक्षणात्मक विषय का भी यथास्थान सन्निवेश है। अग्निपुराण में १७ से २० अध्यायों में सृष्टिकथन है। प्रतिसर्ग अथवा प्रलय का वर्णन ३६८ अध्याय से और आगे वर्णित है। वंश का आशय यद्यपि राजवंश से लिया गया है ऋषिवंश से नहीं जैसा कि भागवत में अभिहित है :

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।

तथापि ऋषिवंश को भी इसके अन्तर्गत मानना अनुचित नहीं। पुराणों में वंश-परम्परा तो दोनों की ही वर्णित है। वंशानुचरित के अन्तर्गत वंश उत्पन्न राजाओं के चरित्र और क्रियाकलाप वर्णित होते हैं। वस्तुत: वंश और वंशानुचरित परस्पर आश्रित हैं। अग्निपुराण में राजवंश और उनका चरित अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं।

कल्पमन्वन्तर खण्ड का वर्णन अग्निपुराण में यत्र-तत्र सन्निहित है। १५० वें अध्याय में चतुर्दश मन्वन्तर का वर्णन है।

मुख्य-मुख्य स्थलों को छोड़कर ये विषय अन्यथा भी उल्लिखित मिल सकते हैं। यद्यपि वहाँ वे संक्षिप्त होंगे और प्रकरणवशात् उल्लिखित हैं।

(ख) लौकिक विषय

१. साहित्यशास्त्र

अग्निपुराण में ३३७ अध्याय से ३४७ अध्याय तक साहित्यशास्त्र के विषय वर्णित हैं। अध्याय ३३७ में काव्यादि का लक्षण निरूपण तथा भेदोपभेद वर्णित किये गये हैं। इनमें गद्य के भी भेदोपभेद का उल्लेख है तथा महाकाव्य का

विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें काव्य के तीन भेद बताये गये हैं—गद्य-पद्य और मिश्र।

गद्यं पद्यं मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम् ॥ ३३७।८

काव्य की परिभाषा करते हुए बताया गया है इसमें अलङ्कार स्फुट होना चाहिये, यह गुणयुक्त तथा दोषविहीन होना चाहिये—

काव्यं स्फुटदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥ ३३७।७

३३८ वें अध्याय में नाटक का निरूपण किया गया है। इसमें नाटक के अनेक भेदोपदों को प्रदर्शित कर आमुख, नान्दी इत्यादि का लक्षण भी बताया गया है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य इन पाँचों अर्थप्रकृतियों का निर्देश कर आरम्भ, प्रयत्न और पञ्चकार्यावस्थाओं का भी निर्देश कर पञ्चसन्धियों को बताया गया है। यहाँ पुराणकार ने देश-काल के उचित सन्निवेश को भी अपेक्षित बताया है।

३३९ वें अध्याय का वर्ण्यविषय रस है। इसके अन्तर्गत रस, आलम्बन; स्थायीभाव, उद्दीपन आदि का विस्तृत विवेचन कर नायिका भेद का भी निरूपण किया गया है। रस की संख्या यहाँ १० बतायी गई है :

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः ॥ ३३९।९

रस के निर्माण में कवि की चित्तवृत्ति को ही प्रधान बताया गया है। यदि कवि रसिक है तो प्रकृत्या शृङ्गाररसपरक वर्णना होगी और यदि वह विरक्त हुआ तो नीरस ही रचना होगी। आखिर अपने इस निर्माण का वही तो प्रजापति है :

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ॥ ३३९।१०-११

नायक की चार कोटियाँ बतायी गई हैं धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त। नायिकाओं के प्रति अनुरक्ति के प्रकार से भी नायक चार प्रकार के ही होते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। विदूषक के तीन प्रकार बताये गये हैं—पीठमर्द, विट और विदूषक। नायिकाओं के मुख्यतः तीन भेद बताये गये हैं—स्वकीया, परकीया और पुनर्भू।

३४ वाँ अध्याय रीतिवृत्ति-निरूपणात्मक है। प्रथमतः बताया गया है कि वाणी के पूर्ण ज्ञान के लिये रीति का ज्ञान परमावश्यक है। रीति के चार प्रकार हैं—पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी या लाटजा—

वाग्विद्यासंप्रतिज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा।
पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा ॥—३४०।१

पाञ्चाली अल्पसमासों वाली, कोमल तथा अलङ्कृत होती है, गौडी में दीर्घ समास होते हैं, वैदर्भी में न अधिक अलङ्कार और न अलङ्कार-विहीन भाषा होती है। न तो अधिक कोमल शब्द वाली होती है और न समासों का एकदम अभाव ही। लाटी में भाव स्पष्ट होना चाहिये और भाषा का अनावश्यक अलङ्करण न ही होता है। रीति के अनन्तर वृत्ति के चार भेदों को दर्शाया गया है। भारती, आरभटी, कौशिकी तथा सात्वती इन चारों वृत्तियों को बताकर कहा गया है कि भरतमुनि-प्रणीत होने से एक वृत्ति का नाम भारती है। भारती के अंगों—वीथी, प्रहसन और नाटक की प्रस्तावना को बताकर वीथी के उद्घातक, लपित आदि त्रयोदश भेदों को दर्शाया गया है।

३४१ वें अध्याय में नृत्यादि में अङ्गक्रियाओं का निरूपण किया गया है। नायिकाओं की चेष्टाओं का भेद दर्शाकर नृत्यकला में प्रयुक्त होने वाले अङ्गों की चेष्टाओं तथा हाव-भावों को बताया गया है।

३४२ वाँ अध्याय अभिनयनिरूपणात्मक है। अभिनय की परिभाषा देकर उसके सत्वाश्रय, अङ्गाश्रय, वागाश्रय और आहरणाश्रय इन चार भेदों को प्रदर्शित किया गया है और रसों के भेदोपभेदों का विमर्श है। रस-विमर्श के अनन्तर अलङ्कार-विमर्श है। अग्निपुराण ने अलङ्कार की परिभाषा देते हुये कहा है—

काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते ॥ ३४२ १७

पुनः अलङ्कार के शब्द, अर्थ और उभय भेद से शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार ओर शब्दार्थालङ्कार—ये तीन भेद किये गये हैं। पुनः शब्दालङ्कारों का विवेचन प्रारम्भ किया गया है।

३४३ वें अध्याय में शब्दालङ्कारों का विवेचन है। प्रथमतः अनुप्रास और यमक का निरूपण कर चित्र अलङ्कार का भेदोपभेदों के साथ प्रदर्शन है।

३४४ वें अध्याय में अर्थालङ्कारों का विमर्श है। इस पुराण के अनुसार अर्थालङ्कार से विहीन वाणी विधवा है।

अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती ॥ ३४४।२

३४५ वें अध्याय में शब्दार्थालङ्कारों का विवेचन है। शब्दार्थालङ्कारों की उपयोगिता बताते हुये कहा गया है कि जिस भाँति स्त्रियों का हार वक्ष और ग्रीवा दोनों को एक ही साथ अलङ्कृत करता है उसी प्रकार ये अलङ्कार भी शब्द और अर्थ दोनों को समान रूप से अलङ्कृत करते हैं :

शब्दार्थयोरलङ्कारो द्वावलङ्कुरुते समम्।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः ॥ ३४५।१

शब्दार्थालङ्कार के छः भेद बताये गये हैं : प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति और इन छहों अलङ्कारों का विवेचन किया गया है।

३४६ वें अध्याय में माधुर्यादि काव्यगुणों का विवेचन किया गया है। काव्य-गुणों के होने पर ही अलङ्कारादि की उपयोगिता है अन्यथा वे व्यर्थ हैं। जिस प्रकार कुरूपा स्त्री अच्छी प्रकार अलङ्कृत कर देने पर भी सुन्दर नहीं लगती उसी भाँति गुणविहीन कविता सालङ्कार होने पर भी ठीक नहीं होती—

अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥ ३४६।१

गुण की परिभाषा करते हुये कहा गया है कि जो काव्य में महती शोभा का आधान करे वह गुण है। इसके सामान्य और विशेष दो भेद होते हैं:

यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसो गुणः।
संभवत्येव सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा॥ ३४६।३

सामान्य के तीन भेद हैं—शब्दगुण, अर्थगुण तथा शब्दार्थगुण। शब्दगुण के सात भेद हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य और यौगिकी। पुनः अर्थगुण के छः भेद बताये गये हैं: माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि और सामयिकत्व। शब्दार्थ या उभयगुणों के छः भेद हैं: प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्ति, पाक और राग। इन सामान्य गुणों के अतिरिक्त वैशेषिकगुण का लक्षण देते हुये कहा गया है जो किसी रचना के अपने निजीगुण हैं वे वैशेषिक गुण कहलाते हैं।

३४७ वें अध्याय में दोष का विवेचन है। सहृदयों को उद्विग्न करने वाली बात ही दोष है। दोषों के वर्णन के अतिरिक्त दोष परिहार भी बताया गया है। कवि-समय का निरूपण भी येहाँ उपलब्ध है।

साहित्यशास्त्रीय अंश का महत्त्व—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध नहीं है अपितु वह समस्त सिद्धान्तों का सार-संकलन है। पुराणों में अग्नि, गरुड तथा नारद में सर्वाधिक विषय समाविष्ट हैं और इसी कारण ये तीनों पुराण विश्वकोश से माने गये हैं। वस्तुस्थिति यह थी कि अग्निपुराण किसी सिद्धान्त का परिपोषक नहीं है अपितु मान्य एवं प्रचलित सभी सिद्धान्तों का परिचायक है। अग्निपुराण के इस साहित्यशास्त्रीय भाग की कुछ अपनी विशेषतायें हैं जिनका संक्षेप में इस प्रकार निर्देश कर सकते हैं:

१. यह प्राचीन सिद्धान्तों का सार-संकलन है।

२ संक्षिप्त होते हुए भी कहीं-कहीं अलङ्कारादि के भेदोपभेद इतनी सूक्ष्मता से प्रदर्शित किये गये हैं कि इसके लेखक की सूक्ष्म और तीव्र पकड़ की प्रशस्ति किये बिना नहीं रहा जाता है। अग्निपुराण के साहित्यशास्त्रीय भाग का संकलनकर्ता साहित्यशास्त्र का गम्भीर विद्वान् था। उसने साहित्य के विभिन्न अङ्ग-उपाङ्गों का सम्यक् आलोडन कर उनके सार का अंश का यहाँ रूप खड़ा किया। भरत, भामह और दण्डी की परम्परा को पुराणकार ने चालू रखा और साहित्यशास्त्र के

प्रवर्धन तथा संरक्षण में योगदान दिया। डा० काणे ने अग्निपुराण के साहित्य-शास्त्रीय भाग का उपजीव्य दण्डी के काव्यादर्श और भामह के काव्यालङ्कार को माना है।[1] इसके अतिरिक्त अग्निपुराण में स्वयं 'भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती वृत्तिरुच्यते' कहकर भरत का प्राग्भाव स्वीकार किया गया है। इस विषय में डा० एस० के० दे का मत है कि अग्निपुराण का लेखक स्वयं सिद्धान्तकार नहीं है और न तो वह किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध ही है। यह प्राचीन सामग्री का सार संकलन है।[2]

२. आयुर्वेद

अग्निपुराण में आयुर्वेद का विवेचन विस्तृत रूप में मिलता है। आयुर्वेद-शास्त्र के प्रणेता के रूप में धन्वन्तरि और सुश्रुत नामक आचार्यों का उल्लेख है। शारीरिक, मानसिक और बाह्यप्रभावजन्य रोगों का बड़ी प्रामाणिकता और विशदता के साथ विवेचन है। रोगों के निरसन निमित्त उपयोगी औषधियों का भी वर्णन मिलता है। ये औषधियाँ मृतकों को भी जीवित करने में समर्थ हैं। इनका प्रतिपादन भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत से किया था :—

आयुर्वेदं प्रवक्ष्यामि सुश्रुताय यमब्रवीत्।
देवो धन्वन्तरिः सारं मृतसञ्जीवनीकरम्॥—२७४।१

इसमें सिद्धयोगों, सिद्धमन्त्रों का वर्णन है।

आयुर्वेदं मम ब्रूहि नराश्वेभरुगर्दनम्।
सिद्धयोगान् सिद्धमन्त्रान् मृतसञ्जीवनीकरान्॥—२७९।२

रोगों का वर्गीकरण करते हुये उन्हें चार कोटियों में विभक्त किया गया है। शारीर, मानस, आगन्तुक और सहज। शारीर में ज्वरादि, मानस में क्रोधादि, आगन्तुक में विघातोत्थ तथा सहज में वृद्धावस्थादि हैं। रोगों से मुक्ति के लिए विभिन्न प्रकार के दानों का भी वर्णन है (अ० २८०)। रोगों के कारण के विषय में भी पुराण ने विवेचन किया है। रोगों की उत्पत्ति किन कारणों से होती है। किस कारण से किस रोग की उत्पत्ति होती है (२८०।१७–२०)। वात-पित्त और कफ की उत्पत्ति तथा वृद्धि का विवेचन यहाँ मिलता है। वात, पित्त और कफ की वृद्धि से किन-किन विकारों की उपस्थिति होती है तथा इनकी पहचान क्या है इसका उल्लेख भी मिलता है। रोगों के कारण, पहिचान के अनन्तर उनकी चिकित्सा का विधान है। इसके लिए उपयुक्त औषधि और पथ्यादि का विवेचन यहाँ मिलता है। औषधि निर्माण विधि का विवेचन भी उपलब्ध है। सदा सभी रोगों के शमन के लिए विष्णु का ध्यान और पूजन विहित किया गया है।

---

१. द्रष्टव्य काणे, Introduction to Sahitya darpana P. 5.

2. S. K. De, History of Sanskrit Poetics, part 2. p. 254.

सर्वरोगप्रशान्त्यै स्याद् विष्णोर्ध्यानञ्च पूजनम् ॥
—२८०।४८-३०

आरोग्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। यहाँ बताया गया है कि आहार, मैथुन और निद्रा के विषय में सदा सचेष्ट रहना चाहिए। इनके अत्यन्त सेवन और अत्यन्त असेवन दोनों से हानियाँ हैं :

आहारो मैथुनं निद्रा तेषु यत्नः सदा भवेत्।
असेवनात् सेवनाच्च अत्यन्तं नाशमाप्नुयात् ।—२८१।१८

क्षीण शरीर का पोषण, मध्यम का रक्षण और स्थूल का कर्षण आवश्यक है :

क्षयस्य बृंहणं कार्यं स्थूलदेहस्य कर्षणम्।
रक्षणं मध्यकायस्य देहभेदास्त्रयो मताः ॥ २८१।१९

व्यायाम से कफ नष्ट होता है, मर्दन से बात और स्नान से पित्त नष्ट होता है।

व्यायामश्च कफं हन्याद् वातं हन्याच्च मर्दनम्।
स्नानं पित्ताधिकं हन्यात्तस्यान्ते चातपाः प्रियाः ॥
—२८२।३२-३३

वस्तुतः अग्निपुराण 'विद्यासागर' है और 'सारात्सारम्' का कथन करता है। यद्यपि यहाँ आयुर्वेद का वर्णन उतना क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक नहीं जितना आयुर्वेद के ग्रन्थों में, पर सुश्रुत, चरक आदि आचार्यों द्वारा वर्णित सिद्धान्तों एवं विषयों का सार यहाँ उपलब्ध होता है।

अश्वायुर्वेद—अश्वायुर्वेद का वर्णन २२८ वें अध्याय से २९० वें अध्याय तक है। अश्वलक्षण-चिकित्सादि के प्रवर्तक के रूप में शालिहोत्र नामक आचार्य का निर्देश है। शालिहोत्र अश्वायुर्वेद के प्रसिद्ध विद्वान् माने जाते हैं। अग्निपुराण में अश्व के लक्षण, वाहन प्रक्रिया तथा अश्वचिकित्सा का समुचित वर्णन है। वस्तुतः घोड़े और हाथी प्राचीनकाल के प्रचलित वाहन रहे हैं और इनका बहुत महत्त्व रहा है। ये शुभाशुभ के प्रदायक भी माने जाते रहे हैं। इस दृष्टि से अश्वायुर्वेद का बड़ा महत्त्व रहा है।

गजायुर्वेद—अश्व के ही समान गज की सवारी भी बहुत प्रसिद्ध रही है। गजायुर्वेद के प्रवर्तक के रूप में पालकाप्य नामक आचार्य का निर्देश है। इस प्रकरण में गज-परीक्षण तथा गजचिकित्सा दोनों वर्णित हैं। अन्त में गजशान्ति का वर्णन है। गजविद्या का उपदेश पालकाप्य आचार्य ने लोमपाद को ही दिया था :

गजलक्ष्म चिकित्साञ्च लोमपाद् ब्रवीमि ते।—२८७।१

वृक्षायुर्वेद—२८२ वें अध्याय में धन्वन्तरि ने वृक्षावेंद का वर्णन किया है। इसमें १२ श्लोकों में वृक्षों की चिकित्सा वर्णित है।

३. रत्नपरीक्षा —

अग्निपुर ण में रत्नपरीक्षा के विषय में भी एक अध्याय (२४६ में वर्णन) उपलब्ध होता है। प्रारम्भ में रत्नों का नाम गिनाया गया है और बताया गया है किस प्रकार के रत्न धार्य तथा अधार्य हैं। रत्न-परीक्षा-प्रकरण गरुड़पुराण में भी वर्णित है।

४. वास्तुविद्या —

अग्निपुराण में वास्तुविद्या बहुत वर्णित है। इस विद्या से सम्बद्ध कई अध्याय हैं (यथा ३८-४१, ६३-६४, १०४-६, २४७)। इसमें विभिन्न देवताओं के मन्दिरों की स्थिति, मन्दिर-निर्माण विधि, मूर्ति निर्माण के नियम, शालग्राम, मूर्ति-परिमाण, गोपुर-निर्माण, इत्यादि वर्णित हैं। प्रासाद-निर्माण, नगर निर्माण आदि का विवेचन भी विस्तार से मिलता है (१०४-१०६)। वस्तुतः वास्तुविद्या का वर्णन यत्र-तत्र कई स्थानों पर बिखरा हुआ है। मन्दिरों के वैराज, पुष्पक, कैलास, माणिक और त्रिविष्टप पांच प्रकार बताये गये हैं।

प्रतिमा-निर्माण और स्थापन-विधि का वर्णन भी बड़ी व्यापकता के साथ हुआ है। इसमें देवी-देवताओं की मूर्तियों के प्रकार, परिणाम, लक्षण आदि का कथन कर उनके पूजन का भी सविस्तार वर्णन है।

५. राजनीति —

अग्निपुराण में राजनीति का भी व्यापक वर्णन है। यह दो स्थानों पर उपलब्ध होती है, प्रथम २१८-२३७ अध्यायों में और दूसरी २३८-२४२ अध्यायों में। प्रथम पुष्करोक्त राजनीति है जिसे पुष्कर ने राम से कहा था और दूसरी रामोक्त नीति है जिसे राम ने लक्ष्मण से कहा था। विद्वानों की राय में पुष्करोक्त नीति परवर्ती रचना है।[1] मत्स्यपुराण के राजधर्म से यह साम्य रखता है। मत्यपुराण २१५-७, २२०, २२७ अग्निपुराण के प्रथम विवरण (पुष्करोक्त राजधर्म) का आधार प्रतीत होता है। द्वितीय विवरण कामन्दकीय नीतिसार से गृहीत है। पुष्करनीति में अभिषेक; सहायसम्पत्ति, अनुजीविवृत्त, दुर्गसम्पत्ति, राजधर्म, दण्ड, युद्ध, यात्रा, षाड्गुण्य तथा राजा के दैनन्दिन कृत्य वर्णित हैं। रामोक्तनीति में भी प्रायः ये ही विषय हैं। रामोक्तनीति में राज्यतन्त्र के मुख्य विषयों का विवेचन है और राजा के कर्त्तव्य तथा गुणों का वर्णन है। राज्य के सप्त अंग बताये गये हैं -स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और सुहृद :

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥-२३९।१

राज्यवृत्त को चतुर्विध बताया गया है :

---

१. द्रष्टव्य ज्ञानी, अग्निपुराण—ए स्टडी पृ० २५४।

न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं रक्षणं चरेत्।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राज्यवृत्तं चतुर्विधम्॥ २३८।२

राजनीति का षाड्गुण्य प्रधान अङ्ग है। षाड्गुण्य में सन्धि, विग्रह; यान; आसन और द्वैधीभाव आते हैं। इनका विस्तृत वर्णन (२४०।६-३२) हुआ है। शत्रुपराजय के लिये सात उपायों का वर्णन किया गया है। वे सात उपाय साम; दान, भेद, दण्ड, उपेक्षा, इन्द्रजाल और माया है :

साम दानञ्च भेदश्च दण्डोपेक्षेन्द्रजालकम्।
मायोपायाः सप्त परे निक्षिपेत्साधनायतान्॥ — २४१।४६

इस प्रकार हम देखते हैं कि अग्निपुराण में राजधर्म का विस्तृत और तथ्यपूर्ण विवेचन है। इसके अध्ययन से पता चलता है कि राजनीति से सम्बद्ध साहित्य व्यापक रूप से निर्मित हो चुका था और राज्यशासन की प्रवृत्ति बद्धमूल हो चुकी थी।

६. शस्त्रविद्या—

अग्निपुराण में शस्त्रविद्या का भी वर्णन उपलब्ध होता है। सैनिक शिक्षा का वर्णन अग्निपुराण २४९-२५२ अध्यायों में करता है। इसमें विस्तृतरूप से धनुर्वेद, शस्त्रपूजा, शस्त्र प्रयोग, अश्व या हाथी पर चढ़े हुए रहकर शस्त्र का उपयोग, युद्ध की हर कला इत्यादि वर्णित हैं। उस समय युद्ध में हाथियों का उपयोग भी बहुत होता था। अतः शत्रु-अवरोधार्थ हाथियों का उपयोग भी प्रशस्त माना गया है।

३. अग्निपुराण का रचनाकाल

पुराणों के रचनाकाल के विषय में निश्चयात्मक दृष्टि से कुछ कहना सुतरां असम्भव है। वस्तुतः पुराण जीवन्त साहित्य था जो जनता और विद्वान् दोनों में समानरूप से प्रचलित था। सूत इसे घूम-घूम कर जनता को सुनाया करते थे। विद्वानों की राय में वंश-परम्परा का धारण सूतों का प्रधान कार्य था। शास्त्रीय विषयों का संकलन व्यास ने किया और इस प्रकार पुराण लिखित रूप में प्रकट हुये। पर, वस्तुतः पुराण साहित्य निश्चित रूप से सर्वाधिक प्राचीन साहित्य है और इसका उद्भव और विकास हिन्दू जाति और सभ्यता के उद्भव तथा विकास से सम्बद्ध है।

अग्निपुराण, विषय-विस्तार की दृष्टि से बहुत व्यापक है। इसे विश्वकोश जैसा माना जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि विभिन्न विषयों की रचना समय-समय पर होती रही और तत्तद् अंश पुराण-वाङ्मय में समाविष्ट होते रहे। अग्निपुराण के काव्य-शास्त्रीय अंश की विवेचना के प्रसङ्ग में विद्वानों ने उसके निर्माण काल के विषय में ऊहापोह किया है। विद्वानों की सम्मति

में अग्निपुराण का साहित्यशास्त्रीय भाग दण्डी के काव्यादर्श की अपेक्षा अर्वाचीन है। दण्डी का समय सातवीं सदी माना जाता है। फलतः यह सातवीं सदी से बाद का निर्माण है। उधर भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। भोजराज का समय ग्यारहवीं सदी का मध्यभाग माना जाता है। अतः अग्निपुराण के इस भाग की रचना सातवीं सदी के बाद और ग्यारहवीं से पूर्व हुई थी। बहुत संभव रूप में नवीं सदी में या उसके बाद अग्निपुराण के इस अंश की रचना हुई।[1]

इसके विपरीत कुछ लोग इसकी रचना दण्डी से पूर्व मानते हैं और पाँचवी या छठी सदी इसका रचना काल निश्चित करते हैं।[2] पुराणों के प्रसिद्ध विद्वान् डा० आर० सी० हाजरा महोदय अग्निपुराण की रचना नवीं सदी में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि मतभेद होते हुए भी इसमें कोई विशेष मतभेद नहीं हो सकता कि वर्तमान अग्निपुराण की निर्मिति नवीं सदी में किसी समय हुई।[3] एस० डी० ज्ञानी की राय में इसका संकलन तीन चार शताब्दियों में हुआ और साम्प्रदायिक विचार धारायें जुड़ती गईं। मुख्यांश में परवर्ती रचनाओं का अन्वेषण किया जा सकता है। यह विकास-विस्तर की प्रक्रिया ७०० ई० या ८०० ई० से १००० या ११०० ई० तक हुई और इस अवधि में वह पुराण अपने वर्तमान रूप में आ गया।[4] एस० बी० चौधरी इसकी रचना आठवीं सदी के मध्य से ९ वीं सदी के मध्य तक मानते हैं। इस प्रकार विद्वानों की राय में अग्निपुराण नवीं सदी के आस-पास अपने वर्तमान रूप में बन गया।

---

१. बलदेव उपाध्याय, पुराण-विमर्श, पृ० ५५२; रमाशंकर भट्टाचार्य, अग्निपुराण-विषयानुक्रमणी, पृ० १३।

२. कन्हैया लाल पोद्दार—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ८२।

३. पौराणिक रेकार्डस पृष्ठ १३८।

४. अग्निपुराण— ए स्टडी—एस० डी० ज्ञानी पृष्ठ २८८।

२ : ५

कालिका पुराण

एक तान्त्रिक विवेचन

पुराण के विस्तृत साहित्य में कालिका पुराण की भूयसी-ख्याति है। शक्ति-पूजा के महत्त्वपूर्ण विषय को आश्रित कर लिखे गये पुराणों में इसका स्थान नितान्त महनीय तथा आदरणीय है। धर्मशास्त्र के निबन्धकारों ने इस पुराण से अनेक उद्धरण अपने ग्रन्थों के तत्तत् प्रसङ्ग पर बड़े आदर, श्रद्धा तथा सत्कार के साथ उद्धृत कर अपने कथन की पुष्टि की है। ऐसे निबन्धकारों की एक लम्बी परम्परा है जिनमें मुख्य निबन्धकार तथा उनके निबन्ध इस प्रकार हैं—लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु, अपरार्क की याज्ञवल्क्यस्मृतिटीका, वल्लालसेन का दान-सागर, हेमाद्रि का चतुर्वर्ग-चिन्तामणि, श्रीदत्त उपाध्याय का समयप्रदीप एवं आचारादर्श, चण्डेश्वर का कृत्यरत्नाकर तथा गृहस्थ-रत्नाकर, मदनपाल का मदनपारिजात, माधवाचार्य का कालनिर्णय और पाराशरस्मृति का भाष्य, विद्यापति की गंगावाक्यावली, वाचस्पति मिश्र का द्वैतनिर्णय, कृत्यचिन्तामणि एवं शुद्धचिन्तामणि, मदनसिंहदेव का मदनरत्नप्रदीप, रुद्रधर का शुद्धिविवेक, नरसिंह वाजपेयी का नित्याचारप्रदीप। इन निबन्धों में कालिकापुराण के पद्य उद्धृत हैं, परन्तु डा० हजारा के अनुसार वे वर्तमान पुराण में उपलब्ध नहीं होते। इनसे भिन्न निबन्धों में वर्तमान कालिका पुराण के श्लोक मिलते हैं। ऐसे निबन्धकारों के नाम हैं—शूलपाणि, विद्यापति (दुर्गाभक्तितरङ्गिणी में), श्रीनाथ आचार्य-चूडामणि, गोविन्दानन्द, रघुनन्दन, कृष्णानन्द आगमवागीश, गदाधर, मित्रमिश्र, अनन्त भट्ट, कमलाकर भट्ट, नन्द पण्डित। इन निबन्धकारों के उद्धरणों तथा नाम-निर्देशों से किसी भी आलोचक को कालिकापुराण के महत्त्व, प्रामाण्य तथा प्रसिद्धि के विषय में किसी प्रकार के सन्देह करने की गुंजाइश नहीं रहती।

कालिकापुराण[1] के चौखम्भा संस्करण में ९० अध्याय हैं जिनके श्लोकों की संख्या आठ सहस्र तीन सौ चौरानबे (८३९४) हैं। मेरी दृष्टि में वर्ण्य विषयों तथा वक्ता-श्रोता की भिन्नता के कारण इस पुराण के दो प्रधान खण्ड हैं। आदि ४५ अध्यायों को हम पूर्वार्द्ध कह सकते हैं एवं अन्तिम ४५ अध्यायों को हम उत्तरार्ध मान सकते हैं। पूर्वार्ध में कथानक का प्राधान्य है। विष्णु, शिव तथा महामाया की अनेक स्तुतियाँ हैं तथा शङ्कर एवं सती का, तदनन्तर शङ्कर तथा पार्वती का विश्रुत आख्यान प्रायः प्रसिद्ध घटनाचक्र से संवलित यहाँ दिया गया है।

---

१. प्रकाशक चौखम्भा विश्वभारती, वाराणसी, १९७५ ईस्वी।

कालिका-पुराण का उत्तरार्ध कामरूप में प्रतिष्ठित कामाख्या देवी के अनुष्ठान तथा पूजा के विधिविधान का बड़ा ही विस्तृत विशद विवरण प्रस्तुत करता है। इसी प्रसङ्ग में शक्ति के अन्यरूपों की भी, विशेषतः त्रिपुरा की, उपासना की भी विस्तृत उपलब्धि होती है। इस पूजा के ऊपर तान्त्रिकता की पूरी छाप है। आधारभूत तन्त्रों के नाम भी यहाँ दिये गये हैं। तथ्य तो यह है कि कालिकापुराण का यह उत्तरार्द्ध पूर्वार्ध की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है और ऊपर निर्दिष्ट निबन्धकारों द्वारा इसी खण्ड के श्लोक बहुशः उद्धृत किये गये हैं। दोनों खण्डों के स्वरूप की यथार्थ जानकारी के लिए अध्यायों के वर्ण्यविषय का प्रथमतः परिचय देना समुचित है।

वर्ण्य विषय का विवरण

कालिकापुराण का पूर्वार्ध (१ अध्याय–४५ अध्याय)

१. अध्याय—आरम्भ में भगवान् विष्णु के पादपद्म की प्रणति के अनन्तर माया की स्तुति है। प्रष्टा ऋषिगण हैं तथा उत्तरदाता मार्कण्डेय हैं। ब्रह्मा की मानसी कन्या सन्ध्या की उत्पत्ति तथा रूप का वर्णन (श्लोक २७–३८) ब्रह्मा के मानस पुत्र कामदेव का वर्णन (श्लोक ४२–४५)।

२. अध्याय—कामदेव द्वारा ब्रह्मा के मोहन का वर्णन।

३. अध्याय—दक्ष की कन्या रति का जन्म तथा कामदेव द्वारा उसका ग्रहण, रति के सौन्दर्य का वर्णन (३९–४२)।

४. अध्याय—कामदेव के सहायतार्थ ब्रह्मा के निःश्वास से वसन्त का प्रादुर्भाव हुआ। वसन्त के रूप का वर्णन बड़ा सुन्दर तथा साहित्यिक है (श्लोक २५–२९)।

५. अध्याय—शिव को मोहने के लिये विष्णु-माया की स्तुति ब्रह्मा ने की। यह पर्याप्तरूपेण दार्शनिक तथा मनोरम है, (श्लोक १५–५०)। योगमाया का स्वरूप स्निग्ध अंजन द्युति-वाला, चार भुजाओं से युक्त, सिंह पर आसीन, तलवार एक हाथ में और नीलकमल दूसरे हाथ में, केश बिलकुल खुले हुए बतलाया गया है (श्लोक ५२)। योगमाया की पुनः स्तुति (श्लोक ५४–५९) इन्हीं का नाम 'काली' था। इन्हीं के पूजा-विधान के प्रतिपादन होने से यह पुराण कालीपुराण और कालिकापुराण दोनों कहलाता है।

६. अध्याय—शिव के गणों का रूपतः वर्णन (श्लोक ३०–४५), 'मार' शब्द की व्युत्पत्ति (श्लोक ४९–५०); योगमाया की महिमा का बहुत सुन्दर दार्शनिक वर्णन (श्लोक ५९–७२)।

७. अध्याय—काम द्वारा शिव को मोहने के लिए अपने मारगणों को उद्बुद्ध करना।

८. अध्याय—दक्ष द्वारा महामाया की स्तुति (श्लोक १२-२६), तपस्या द्वारा दक्ष ने महामाया को प्रसन्न किया और वे ही सती रूप में उनकी पुत्री बनीं (श्लोक ५९)।

९. अध्याय—सती द्वारा शिवप्राप्ति के लिए शिव की प्रतिमास आराधना में क्रमशः उल्लिखित है। ब्रह्मा ने सती को पत्नी के रूप में ग्रहण करने के लिए शिव से प्रार्थना की। (हरानुनयन; श्लोक २३–४३)।

१०. अध्याय—दक्ष से शिवजी की पत्नी ग्रहण करने के लिए ब्रह्मादिक देवों की प्रार्थना (श्लोक ५०–६१)।

११. अध्याय—त्रिदेवों—विष्णु, ब्रह्मा तथा शङ्कर—का एकत्व प्रतिपादित किया गया है। यह वर्णन कालिकापुराण के उदारभाव का संकेत करता है, इस प्रसङ्ग में नारायण के ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—

न ब्रह्मा भवतो भिन्नो न शम्भुर्ब्रह्मणस्तथा।
न चाहं युवयोर्भिन्नोऽभिन्नत्वं सनातनम्॥ ५१॥
यज्ज्योतिरग्र्यं स्वपरप्रकाशं कूटस्थमव्यक्तमनन्तरूपम्।
नित्यं च दीर्घादिविशेषणाद्यैर्हीनं परं तच्च वयं, न भिन्नाः॥ ५६॥

१२. अध्याय—सृष्टि का विस्तार से वर्णन किया गया है (श्लोक ११–३७)। इसमें भी देवत्रय के एकत्व का विधान है। काल तथा माया का वर्णन (श्लोक ६०–६६)। उपनिषद् की यह प्रख्यात अद्वैत भावना यहाँ भी उल्लिखित है—"एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (श्लोक ६०) और इसी भावना के फलरूप तीन देवों में अभेद है।

शिव-सती वर्णन

[यहाँ १३ से १८ अध्याय तक विषय की एक ही इकाई वर्णित है और वह है शिव तथा सती का चरित्र-वर्णन]।

१३. अध्याय—ब्रह्मा से क्रुद्ध होने वाले शङ्कर को विष्णु ने त्रिदेवों का एकत्व प्रतिपादित कर शान्त किया। एकत्वप्रतिपादक श्लोक बड़े ही भावसम्पन्न हैं (श्लोक ४८–५०)।

१४. अध्याय—शिव और सती के विहार का विशद एवं विस्तृत वर्णन (श्लोक १५–५५)।

१५. अध्याय—बड़ा ही कवित्वपूर्ण अध्याय है जिसमें वर्षाकाल का भव्य, रोचक तथा अलङ्कार-प्रचुर वर्णन है (श्लोक २–१७) हिमालय का भी वर्णन साहित्यिक सौन्दर्य से मण्डित है (श्लोक ३५–४८)।

१६. अध्याय—दक्ष के यज्ञ में शिव के भाग को न देखकर पति के घोर अपमान से सती का शरीर जल उठा और होमाग्नि में उसने अपने को भस्म कर दिया। इसपर सती की सखी विजया का क्रन्दन अतीव करुणोत्पादक है। वियोग का वर्णन सीधे-सादे शब्दों में अतीव प्रभावशाली है (श्लोक ५३–६८)।

१७. अध्याय—दक्ष के यज्ञ का शिवगणों द्वारा विध्वंस (श्लोक ३०–४८)।

१८. अध्याय—सती के दाह की बात सुन कर शङ्कर अत्यन्त दुःखित होकर रोने लगे। उनके आँसुओं को रोकने के लिए देवों ने शनैश्चर की स्तुति की

(श्लोक १३–२०)। शनैश्चर के सन्तत उद्योग करने पर भी शिव के नेत्रों की अश्रु-धारा रुकी नहीं। पर्वत को विदीर्ण कर वह अश्रुधारा समुद्र में गिर कर कुछ शान्त हुई। इसलिये पृथ्वी पर आते-आते धारा शान्त हो गई और पृथ्वी को हानि नहीं पहुँचा सकी। सती के शव को शिव अपने कन्धे पर रखकर उन्मत्त की तरह चारों ओर घूमने लगे। अन्य उपाय न देखकर ब्रह्मा, विष्णु शनैश्चर और तीनों ही सती के शव के भीतर घुस गये और उसे काट-काट कर गिराने लगे। सती के अङ्गों के गिरने के स्थानों पर तीर्थ की प्रतिष्ठा हुई (श्लोक ४०–५०)। यह अध्याय भौगोलिक तथा धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

देवीकूट पर सबसे पहिले सती के दोनों पैर गिरे;

उड्डीयान पर सती के दोनों जंघा गिरे;

कामरूप में कामगिरि पर सती का योनिमण्डल गिरा (कामरूपे कामगिरौ न्यपतद् योनिमण्डलम्);

कामगिरि की भूमि पर सती का नाभि–मण्डल गिरा;

जालन्धर में सुवर्णहार से भूषित स्तन–युगल गिरा;

कामरूप से आगे पूर्णगिरि पर सती के कन्धे, ग्रीवा तथा शिर गिरे।

सती के शव को लेकर शिव जिस प्रदेश में घूमते रहे, पूर्वप्रान्त में वही याज्ञिक प्रदेश बन गया। सती के अन्य अंग काटकर आकाश-गंगा में फेंक दिये गये। सती के अंग गिरने वाले स्थानों पर शिव लिंग के रूप में विद्यमान रहने लगे। सती से उनका अत्यधिक जो नैसर्गिक अनुराग था। महामाया भिन्न-भिन्न नामों से उन स्थानों पर विश्रुत हुई (श्लोक ४८–५०) :—

देवीकूट पर महाभागा;
उड्डीयान पर कात्यायनी;
कामरूप पर कामाख्या;
पूर्णगिरि पर पूर्णेश्वरी;
जालन्धर गिरि पर चण्डी;

कामरूप के पूर्वी प्रान्त में दिक्करवासिनी तथा ललितकान्ता नाम से।

सती का सिर जहाँ गिरा, वहीं पर्वत पर शंकर बैठ गये और देवों ने उनकी प्रशस्त स्तुति की (श्लोक ५५–६७)। ब्रह्मा ने भी उनसे प्रार्थना की (श्लोक ७०–८१)।

१९–२३ अध्याय—शिव को शान्त करने की इच्छा से ब्रह्मा उनको हिमालय के पश्चिम भाग में स्थित शिप्र सरोवर पर ले गये जहाँ से शिप्रा नदी निकलती है।

[यहाँ तीन अवान्तर कथायें दी गई हैं—(१) शिप्रा नदी के उद्गम की कथा; (२) अरुन्धती का जन्म जो ब्रह्मा की मानसी कन्या सन्ध्या थी—(अध्याय २०) तीव्र तपस्या और वसिष्ठ के साथ विवाह (अध्याय २३); (३) दक्ष ने चन्द्रमा को शाप दिया जिससे वे यक्ष्मा से पीडित हो गये। ब्रह्मा ने उन्हें इस रोग से मुक्त

कराया—देवगण जहाँ चन्द्रमा को बचाने के लिए भूतल पर आये, वहीं सीता नामक नदी निकली जो बृहत् लोहित—सरोवर में गिर कर बाहर बहने लगी, तब उसका नाम चन्द्रभागा हुआ (अध्याय २०–२१)—चन्द्रभागा की उत्पत्ति की कथा यहाँ दी गई है।]

२४ अध्याय—ब्रह्मा ने योगमाया की प्रशस्त स्तुति की (श्लोक ६–२७) कि शिव के हृदय में अपना आवास छोड़ दे। विष्णु ने वहाँ प्रवेश कर शिव को शान्त किया; तब शिव एक हजार वर्ष तक तपस्या में लीन हो गये। (श्लोक ७०–८०)

अध्याय २४ से लेकर ४० अ० तक अवान्तर कथा—

२४ वें अध्याय में सृष्टि का वर्णन; २५ अध्याय में वराह की उत्पत्ति; २६–२६ अध्याय में सृष्टि का वर्णन तथा छोटी कथायें; ३० अध्याय में गोविन्द की सुन्दर स्तुति (श्लोक ४–१७), देवों ने विष्णु से वराह के द्वारा किये गये संकट से स्वर्ग के रक्षण के निमित्त प्रार्थना की। शिव ने वराह का रूप छोड़ कर शरभ का रूप धारण कर लिया, तब वराह को शरभ ने पराजित कर दिया।

३१ अध्याय—वराह शरीर से यज्ञ के विभिन्न अंगों के उदय की रहस्यमयी कथा। इसीलिए वराह यज्ञवराह के नाम से प्रख्यात हैं।[1]

३२ अध्याय—सृष्टि के प्रसंग में मत्स्यावतार का संक्षेप में कथन।

३३ अध्याय—अकाल में प्रलय होने का वर्णन।

३४ अध्याय—अकाल प्रलय के अनन्तर पदार्थों की सृष्टि।

३५ अध्याय—शिव ने वराह के उपद्रवों से जगत् की रक्षाकर अपना शरभ रूप छोड़ दिया।

३६ अ०–४० अ०—नरकासुरचरित

३६ से ४० अध्याय तक पाँच अध्यायों की एक ईकाई है—जिसमें नरक की कथा विस्तार से दी गई है। नरक पृथ्वी और वराह का पुत्र था। उसके जन्म की

---

१. यज्ञवराह का वर्णन निम्न लिखित पुराणों में उपलब्ध होता है—
(१) मत्स्य २४८।६७–७२; (२) वायु ६।१६–२३; (३) ब्रह्माण्ड का प्रक्रियापाद ५।९–२३; (४) ब्रह्मपुराण २१३।३३–३७; (५) हरिवंश, (६) पद्म-सृष्टिखण्ड १६।५५–६१; (७) विष्णुधर्मोत्तर १।२, ३।८; (८) विष्णुस्मृति १।३–९; (९) विष्णुसहस्रनाम का शांकरभाष्य (यज्ञांग शब्द की व्याख्या पर, श्लोक ११७)। इन पुराणों में एक ही प्रकार के श्लोक हैं। इन से भिन्न पाठ मिलता है विष्णुपुराण १।४।३२–३५; भागवतपुराण ३।१३। ३५–३८; अहिर्बुध्न्यसंहिता ३७।४०–४८। यज्ञवराह के इस रूप की आध्यात्मिक व्याख्या के लिए द्रष्टव्य पुराणम् पञ्चम खण्ड पृ० १९९–२३६; (वाराणसी : रामनगरदुर्ग, काशीराजन्यास द्वारा प्रकाशित, १९६३)।

कथा ३७ अध्याय में, अभिषेक की ३८ अध्याय में, उसकी तीव्र तपस्या की ३९ अध्याय में तथा उसके राज्य एवं चरित का विस्तार से वर्णन ४० अध्याय में किया गया है।

४१ अ०–४५ अ०—पार्वतीचरित्र

४१ से ४५ अध्याय तक पांच अध्यायों में शिव-पार्वती का प्रसिद्ध आख्यान वर्णित है। ४१ अध्याय में हिमालय की पुत्री के रूप में पार्वती का जन्म होता है तथा नारद जी वहाँ आकर उसके भावी पति के विषय में कहते हैं। ४२ अध्याय में शिव की समाधि भंग करने के लिए कामदेव का प्रयाण तथा उसकी सहायता के रूप में वसन्त का उदय होता है। वसन्त का वर्णन (श्लोक १३६–१४०)। ४३ अध्याय में मदनदहन के अनन्तर हताश होकर काली (पार्वती) हिमालय पर घोर तपस्या करती है। शिव परीक्षा के लिए जाते हैं आदि प्रख्यात कथा ४४–४५ अध्याय में दी गई है।

कालिकापुराण का उत्तरार्ध ४६ से ९० अध्याय तक

इस खण्ड के प्राश्निक हैं सगर और उत्तरदाता हैं और्व और इन्हीं दोनों के प्रश्नोत्तर रूप में शक्तिपूजा से सम्बद्ध नाना विषयों का बिराट वर्णन प्रस्तुत होता है और इसी तान्त्रिक पूजा के वर्णन तथा रहस्योद्घाटन के लिए कालिकापुराण की चरितार्थता है।

४६ अध्याय—भैरव तथा वेताल के शिवपुत्र के रूप में उत्पन्न होने की कथा का आरम्भ है। शिव की स्तुति (श्लोक २९–४०)

४७–५० अध्याय शिव पौष्यराज के पुत्र चन्द्रशेखर के रूप में तथा पार्वती तारावती के रूप में उत्पन्न होते हैं। इन दोनों के विवाह की कथा यहाँ दी गई है। कपोत मुनि का प्रसंग यहाँ आता है (४९ अध्याय)। चन्द्रशेखर तथा तारावती के विलास का स्थान करवीरपुर बताया गया है (५०।१५१)। मेरी दृष्टि में यह करवीरपुर दक्षिण महाराष्ट्र का कोल्हापुर है जो महालक्ष्मी का प्रख्यात क्षेत्र आज भी माना जाता है और जहाँ महालक्ष्मी की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है।

५१ अध्याय—वसिष्ठ द्वारा शिव के पूजन का विधान वर्णित है। पञ्चवक्त्र शिव के पूजन में पाँच प्रकार के मन्त्रों का वर्णन तथा शिव का ध्यान निर्दिष्ट है (श्लोक १३७–१४८)। मन्त्रों के नाम हैं—सम्पद, सन्दोह, नाद, गौरव तथा प्रासाद। इन नामों का अर्थ वर्णित है (श्लोक १३१–१३६)। शिव के पाँच मुख हैं—(१) सद्योजात पश्चिम ओर वाला शुक्ल वर्ण; (२) वामदेव (उत्तर तथा पीतवर्ण); (३) अघोर (दक्षिण तथा नील वर्ण); (४) तत्पुरुष (पूर्व तथा रक्तवर्ण) तथा (५) ईशान (मध्यस्थित तथा श्यामल वर्ण)। शिव के पूजन का विधान यहाँ वर्णित है। वैताल तथा भैरव द्वारा पञ्चवक्त्र की सुन्दर स्तुति (श्लोक १७९–१९७)।

वैष्णवी तन्त्र

५२ से ५६ अध्याय तक पाँच अध्यायों में वर्णित पूजाविधान वैष्णवी तन्त्र कहा गया है। सगर के प्रश्न करने पर और्व ने इस पूजापद्धति का वर्णन किया है जो अष्टादश पटलों द्वारा निर्णीत बतलाया गया है।[1] ५२ अध्याय की पुष्पिका है—महामायाकल्पेऽष्टादशपटले। वैष्णवी देवी का अष्टाक्षर मन्त्र है—ओं ह्री श्री वैष्णव्यै नमः। पूजाविधान का प्रकार इस प्रकार संक्षेप में है—प्रथम किसी नदी या तीर्थ में स्नान करना चाहिए। आसन ग्रहण करने के बाद जल से भूमि का अभ्युक्षण कर भूतों का अपसारण करे। हाथ से दिग्बन्धन करे। तदन्तर रक्त वर्ण के मण्डल की रचना करे। अर्घपात्र में ओं ह्रीं ह्रौं मन्त्र के द्वारा गन्ध, पुष्प तथा जल डाले। मन्त्रों के द्वारा अंगन्यास और करन्यास करे—पूजा के उपकरणों का का शोधन, कामेश्वरी, गुप्तदुर्गा, विन्ध्यकन्दर-वासिनी कोटेश्वरी, भुवनेश्वरी आदि ६४ योनियों का मध्य में पूजन (अध्याय ५४ श्लोक ३५–३९) इसके अनन्तर शैलपुत्री, चण्डघण्टा, स्कन्दमाता, कालिरात्रि आदि अष्ट योगिनी का पूजन आठों दिशाओं में करने का विधान (अध्याय ५४ श्लोक ४३–४), बलिदान जिसके पक्षी, महिष, छाग आदि नाना पशुओं का नाम निर्दिष्ट है (अध्याय ५५ श्लोक २–५) तथा नर-बलिदान के लिए उल्लिखित हैं। माला तथा जप का विधान, माला-जप की गणना का निर्देश (असंख्यातं च यज् जप्तं तस्य तन्निष्फलं भवेत्—५५।५७); सर्वकर्मों के साधन में समर्थ मन्त्र का जप (जो सप्तशती का प्रसिद्ध मन्त्र है)—

सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥—सप्तशती ११।१०

योनिमुद्रा का प्रदर्शन (५५–५६)—ये पूजा के क्रमिक अंग बतलाये गये हैं।

५६. अध्याय—देवी का कवच वर्णित है जिसके द्वारा साधक अपने शरीर के अंगों तथा मन का रक्षण विधिवत् सम्पन्न करता है।

विशेष रूप से ध्यातव्य है—५२ वें अध्याय का विषय अष्टादशपटल वाले 'महामायाकल्प' में वर्णित बताया गया है और ५६ अध्याय तक पञ्चाध्यायी का विषय 'महामायाकल्प' के अनुसार निर्दिष्ट किया गया है, क्योंकि इन अध्यायों की पुष्पिका में यही नाम सर्वत्र निर्दिष्ट हुआ है। अतः इन अध्यायों की पूजा विधि 'महामायाकल्प' के अनुसार है।

उत्तर तन्त्र

५७ अध्याय—यहाँ पूजनविधि उत्तरतन्त्र के अनुसार है। पूजा का प्रकार बड़े विस्तार से वर्णित है। इसमें कामराज मन्त्र तथा वाग्भव बीज का वर्णन है।

देवीतन्त्र

---

१. यदष्टादशभिः पश्चात् पटलैश्च स भैरवः।
सनिर्णयविधिं कल्पं निबबन्ध शिवामृते ॥—कालिकापु० ५२।५

५८ से ६१ अध्याय देवी तन्त्र का कथन —देवी की विशेष तिथियों पर नाना विशिष्ट द्रव्यों से पूजन—५८ अध्याय कामाख्या देवी के विषय में कहता है कि वही मूलमूर्ति, महामाया, योगनिद्रा हैं तथा प्रथम प्रतिपादित वैष्णवी तन्त्र-मन्त्र उन्हीं का है (५८।४८)। कामाख्या ही प्रधान देवी हैं जो वास्तव में एक रूप ही हैं, परन्तु विभिन्न कार्यों के सम्पादन के निमित्त नाना रूपों को धारण करती हैं—

एकैव तु महामाया कार्यार्थं भिन्नतां गता ॥ ५१ ॥
कामाख्या तु महामाया मूलमूर्तिः प्रगीयते ।
पीठैर्भिन्नाह्वया सा तु महामाया प्रगीयते ॥ ५२ ॥

—कालिका पुराण, अध्याय ५८ ।

कामाख्या के विशिष्ट स्वरूपों का वर्णन (श्लोक ५६—७१)

५९ अध्याय—चण्डिका का पूजा विधान, देवी के रूप का वर्णन (श्लोक १२-२१)। उग्रचण्डा, प्रचण्डा, चण्डोग्रा, चण्डनायिका, चण्डा, चण्डवती, चामुण्डा तथा चण्डिका इन आठ शक्तियों से परिवृत्त देवी का पूजन अभीष्ट है (श्लोक २२—२३)।

दुर्गातन्त्र

६० अध्याय —दुर्गातन्त्र के अनुसार महानवमी तिथि को दुर्गोत्सव का विधान—महिषमर्दिनी के पूजन का अन्य तिथियों में विधान और इसी प्रसंग में महिषासुरवध की कथा निर्दिष्ट है।

६१ अध्याय—इस अध्याय में अष्टादश-भुजा उग्रचण्डा, षोडश-भुजा भद्रकाली तथा दशभुजा दुर्गा के शारदीय उत्सव का वर्णन विस्तार से किया गया है। अष्टमी तथा नवमी में पूजन कर दशमी में विसर्जन करना चाहिये। दशमी को नाना प्रकार के वाद्य, गायन, नर्तन आदि के द्वारा उत्सव मनाना चाहिये (श्लोक १९-२२)। इस अवसर पर अश्लील गायनों की छूट दी गई है। अन्य देवियों के भी पूजाप्रकार का विवरण यहाँ विस्तार से दिया गया है।

६२ अध्याय—नीलगिरि पर्वत पर स्थित कामाख्या देवी की पूजा-अर्चा का विशेष विधान विस्तार से किया गया है। अन्त में उनकी दिव्य स्तुति है (श्लोक १३८-१४४)। इस अध्याय की पुष्पिका में इसे 'कामाख्यापूजातन्त्र' कहा गया है।

६३ अध्याय —त्रिपुरातन्त्र के अनुसार त्रिपुरा का पूजन—देवी के पूजन से पूर्व बटुक आदि भैरवों की पूजा बताई गई है। शक्तियों तथा इतर देवियों के साथ प्रधानभूता देवी त्रिपुरा की पूजा विशेषरूपेण वर्णित है।

६४ अध्याय —कामेश्वरीतन्त्र —कामेश्वरी के पूजनप्रकार वर्णित हैं। षट्कोण रक्तवर्ण मण्डल की रचना जिसके उत्तर में जालन्धर पीठ, पश्चिम में ओड्रपीठ, दक्षिण में कामरूप पीठ को अंकित करना चाहिये (श्लोक ११)। देवी का आवाहन, पूजन षोडशोपचारों से, अन्त में विसर्जन।

६५ अध्याय—शारदातन्त्र—सिंह पर आसीन तथा दशभुजाओं को धारण करने वाली देवी शारदा हैं (रूपमस्याः पुरा प्रोक्तं सिंहस्थं दशबाहुभिः—(६५–८)। शारदा के विशेष पूजन नवरात्र में होता है जिसका यहाँ पूरा विस्तृत वर्णन किया गया है।

६६ अध्याय—इस अध्याय में (क) नमस्कार तथा (ख) मुद्रा का यथाविधि विशद वर्णन है। सात प्रकारों के नमस्कारों के नाम और लक्षण-त्रिकोण (श्लोक १०), षट्कोण (श्लोक १२), अर्धचन्द्र (श्लोक १३), प्रदक्षिण (श्लोक १४), दण्ड (श्लोक १५), अष्टाङ्ग (श्लोक १७) तथा उग्र (श्लोक १८-१९) इनमें उग्र सबसे श्रेष्ठ तथा विष्णु को प्रसन्न करने वाला कहा गया है (योऽसावुग्रो नमस्कारः प्रीतिदः सततं हरेः (श्लोक २३) (ख) मुद्रा-- ब्रह्मा के द्वारा १०८ मुद्राओं की उत्पत्ति बताई गई है जिनमें ५५ मुद्रायें ही देवों के चिन्तन, योग, ध्यान, जप तथा विसर्जन में उपादेय मानी गई हैं। उनका नाम (श्लोक २५-३१) तथा उनका लक्षण (श्लोक ३६—१२०) मुद्रा के बिना जप, प्राणायाम आदि सब निष्फल होते हैं—

मुद्रां विना तु यज्जप्यं प्राणायामः सुरार्चनम्।
योगो ध्यानासने वापि निष्फलानि च भैरव ॥–का०पु०५६।३५

६७ अध्याय—बलिदान का विशद विवेचन। बलि देने के योग्य पक्षि पशुओं के नाम– सब पक्षी, कच्छप, ग्राह, मत्स्य, महिष, गोधिका, गौ, छाग, रुरू, शूकर, खड्ग (गैंड़ा), मृग, शरभ, शार्दूल। बलि के लिए मनुष्य का तथा स्वगात्र-रुधिर को बलि देने का उल्लेख है। इन पशुओं की बलि का फल। नर-मांस की बलि देवी तथा कामाख्या दोनों को अत्यन्त प्रीतिकारक[1] होता है। बलि के शीर्ष के रुधिरदान का विधान है। कहा गया है कि मन्त्रपूत रक्त सद्यः अमृत बन जाता है (मन्त्रपूतं शोणितं तु पीयूषं जायते सदा, श्लोक २०)। क्षत्रिय राजा के लिए बलिदान के विशेष नियम हैं—मनुष्य के रक्त को राजा कभी पत्ते में रख न देवे, बल्कि उसे धातु के पात्र में अथवा मिट्टी के बने बरतन में ही अर्पण करे। अश्वमेध को छोड़कर राजा अश्व की बलि न करे (श्लोक ४५ ४६)। नरबलि क्षत्रिय के लिए विहित है, ब्राह्मण के लिए नहीं। ब्राह्मण महादेवी के निमित्त कभी मद्य न देवे। सिंह, व्याघ्र तथा मनुष्य के बलि देने पर उसे नरक प्राप्त होता है। परन्तु जहाँ इनके बलि का विधान है वहाँ इनका प्रतिरूप बनाना चाहिये। बलि—पशु की प्रतिमा घी, अपूप (पूआ) अथवा यव-चूर्ण की बनानी

---

१. नरेण बलिना देवी सहस्रं परिवत्सरान्
विधिदत्तेन चाप्नोति तृप्तिं लक्षं त्रिभिर्नरैः ॥ १८ ॥
नारेणेवाथ मांसेन त्रिसहस्रं च वत्सरान्
तृप्तिमाप्नोति कामाख्या भैरवी मम रूपधृक् ॥ १९ ॥

चाहिये और उसे मन्त्रों से संस्कृत कर तलवार (चन्द्रहास) से काटना चाहिये ।[1]

इस सामान्य बलिविधान के अनन्तर विशेष बलिदान विशिष्ट देव या देवी के लिए देने का विधान है, जैसे भैरवदेव या भैरवी देवी को भैंसे की बलि दी जानी चाहिए और इसके लिए उपयुक्त मन्त्र का निर्देश है। (श्लोक ५७–५८) खड्ग (गैंडा), कृष्णसागर, शरभ आदि पशुओं की बलि के विशेष नियम तथा मन्त्र हैं। बलिदान का विषय यहाँ बड़े विस्तार तथा वैशद्य के साथ दो सौ श्लोकों में प्रतिपादित है।

षोडश उपचार

६८ से ७१ अध्याय तक चार अध्यायों में षोडश उपचारों का विस्तृत वर्णन है।

६८ अध्याय—भिन्न-भिन्न वृक्षों के काष्ठ के आसन बनाये जाते हैं जिस पर देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती है। पशुओं के (जिनमें ६ प्रकार के मृग सम्मिलित किये गये हैं) चर्म से भी आसन बनाने का विधान है (श्लोक १८)। आसन की लम्बाई-चौड़ाई का वर्णन। धातु से बने आसन उत्तम माने गये हैं, परन्तु लोहा, कांसा तथा सीसे के आसन न होकर शिला, मणि तथा रत्न के बने होने चाहिये।[2] इस निषेध के कारण इन धातुओं की हीनता है। ये तीनों धातु अधम कोटि के माने जाते हैं। अर्घपात्र का भी विधान बतलाया गया है।

६९ अध्याय—चार प्रकार के वस्त्र (कपास, ऊनी, वल्कल तथा रेशमी) के नाम नियत हैं, निषिद्ध वस्त्रों का भी निर्देश है (श्लोक २–४), परिधान सिले हुये वस्त्रों से बनाये जाते हैं; ४० प्रकार के आभूषण तथा विभिन्न प्रकार के गन्ध तथा धूप का विधान; पुष्पों का चयन; देवताविशेष के लिए विशिष्ट पुष्पों का उपहार दिया जाता है।[3] उनका यहाँ उल्लेख है। दीपक की तैयारी दीपवर्ति बनाने के लिए विशिष्ट कपड़े का उल्लेख है। दीपक के प्रकार—ध्यान देने की बात है कि जिस दीपक से चार अंगुल की दूरी पर गरमी का अनुभव हो, तो वह दीप नहीं होता[4]; उसे कभी पूजा में प्रयुक्त न करना चाहिए। यक्षधूप,

---

१. कृत्वा धृतमयं व्याघ्रं नरं सिंहं च भैरव ॥ ५३ ॥
अथवाऽपूपविकृतं यवक्षोद्रमयं च वा।
घातयेत् चन्द्रहासेन तेन मन्त्रेण संस्कृतम् ॥ ५४ ॥ का० पु०—अध्याय ६७

२. आयसं वर्जयित्वा तु कांस्यं सीसकमेव वा।
शिलामयं मणिमयं तथा रत्नमयं मतम् ॥—वही श्लोक २०

३. इसके लिए द्रष्टव्य पुष्पचिन्तामणि (प्रकाशक राजकीय पुस्तकालय, काठमाण्डू, नेपाल)

४. लभ्यते यस्य तापस्तु दीपस्य चतुरंगुलात्।
न स दीप इति ख्यातो ह्योघवह्निस्तु स श्रुतः ॥
—कालिकापुराण ६९।१२०

वृक्षधूप आदि नाना प्रकार के धूप प्रकार (श्लोक १४२-१४३) देवता के प्रीत्यर्थ षड्विध अंजन का उपदेश (सौवीर, यामुन, तुत्थ, मयूरयामुन, दुर्विका तथा मेघनील श्लो० १५५-१५६)

७० अध्याय—नैवेद्य का विधान। फलों के विभिन्न प्रकार देवताप्रीत्यर्थ; अन्य वस्तुओं का नैवेद्य के लिए निर्देश; भोज्य द्रव्यों का उल्लेख। खिचड़ी के नैवेद्य चढ़ाने से अतुल सौभाग्य पाने का उल्लेख है (कृशरान्नप्रदानेन सौभाग्यमतुलं लभेत्। श्लोक ३४) नाना प्रकार के नैवेद्यार्थ शाकों के नाम निर्दिष्ट हैं (श्लोक ४७-४९)

७१ अध्याय—परिक्रमा तथा नमस्कार का विवरण। इस विधान के साथ षोडश उपचार का वर्णन समाप्त होता है।

कामाख्या वर्णन

७२ अध्याय—कामाख्या देवी की महिमा का वर्णन। नील पर्वत पर स्थित देवी गरुडगामी विष्णु को समुद्रतल पर फेंक देती है और उसके पूजन से ही विष्णु का संकट छूटता है। कामाख्या का कवच (श्लोक ४७-६५) यहाँ कामाख्या के ध्यानविषयक रमणीय पद्य हैं (श्लोक ६३-६५)

७३ अध्याय—मातृकान्यास का वर्णन।

७४ अध्याय—नाना देवों के मन्त्र, यन्त्र, जप तथा ध्यान का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है (२३६ श्लोकात्मक अध्याय)

७५ अध्याय—आरम्भ में पुरश्चरण का विधान (श्लोक १-२६) तथा त्रिपुराकवच का विस्तार से निर्देश (श्लोक ३२-६६)। त्रिपुरा ही भैरवी नाम्ना प्रसिद्ध है। अतः 'त्रिपुराभैरवी' इन्हीं का अपर नाम है। स्तुति भी बड़ी सुन्दर है—

आद्या मध्या भाविनी नीतियुक्ता सम्यग्ज्ञानज्ञेयरूपा परा वा।
आदावन्ते मध्यभागे च तारा पायाद् देवी त्रैपुरी भैरवी वा ॥ ६४ ॥

अनन्तर त्रिपुरा के पूजन का विधान बतलाया गया है।

७६ अध्याय—मन्त्रों द्वारा सिद्धि का वर्णन। मन्त्रों के चार प्रकार होते हैं—सिद्ध, सुसिद्ध, साध्य तथा शात्रव। वसिष्ठ के उपदेश से वेताल तथा भैरव ने महामाया कामाख्या का पूजन किया और शिव के गणों का पद प्राप्त किया। इस अध्याय में शिव की गीतिमयी स्तुति अत्यन्त सरस तथा साहित्यिक सौन्दर्य से सम्पन्न है।

कामरूप-मण्डल

७७ से ८० अध्याय—इन चार अध्यायों में कामरूप-मण्डल का बड़ा ही विस्तृत भौगोलिक वर्णन है। वहाँ के नदी, पर्वत, कुण्डों का तथा वहाँ स्नान करने के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है। ८० अध्याय में नाना देवों के पूजाविधान के अवसर पर तत्तत् मन्त्रों का बाहुल्येन निर्देश है। वासुदेव की पूजा

विस्तार से दी गई है जहाँ नारद द्वारा प्रोक्त 'पांचरात्र' से मन्त्रों के ग्रहण का उपदेश दिया गया है (पञ्चरात्रोदिते भागे नारदेन यथोदितः, ८०।१४०) फलतः उस युग में वासुदेव-पूजन के लिए 'नारदपञ्चरात्र' वैष्णवों का सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ प्रतीत होता है।

८१. अध्याय—वसिष्ठमुनि के शाप के कारण कामरूप में वामाचार के प्रचार का उल्लेख किया गया है। यह महत्त्वपूर्ण कथा इस प्रकार है—एक बार वसिष्ठ ने शिव से कामरूप को यम के अधिकार में रखने की प्रार्थना की। तब शिव ने उग्रतारा तथा अपने गणों को समस्त लोगों को और चारों वर्णों के जनों को भी वहाँ से निकालने का आदेश दिया। आदेश के पालन के बाद ये लोग सन्ध्याचल पर रहने वाले वसिष्ठ को भी वहाँ से निकालने लगे। क्रुद्ध वसिष्ठ ने शाप दिया[1] कि हे उग्रतारा, तुमने उन्हें वामभाग से खदेड़ने का प्रयत्न किया था, इसलिये तुम्हारी पूजा वामभाव से होगी। शिव के गण म्लेच्छ हो जाँयगे और शिव स्वयं म्लेच्छप्रिय बन कर अस्थि और भस्म धारण करेंगे और पूरा कामरूप-मण्डल म्लेच्छों से व्याप्त हो जायेगा। न विष्णु का वहाँ आगमन होगा और न उनके आगम का प्रचलन होगा—आगम विरल हो जायेंगे। इस विरल कामरूपागम को जो कोई जानेगा, वही समय आने पर सम्पूर्ण फल को प्राप्त करेगा। वसिष्ठ के इसी शाप के कारण मूलतः विशुद्ध वैष्णवभावापन्न कामरूप में वामाचार का प्रचण्ड प्रचार सम्पन्न हुआ।

समग्र कामरूप जलप्लवित हो गया और ब्रह्मा का पुत्र लौहित्य नामक नद ही एकमात्र जलस्रोत रहा जो दक्षिण समुद्र में जाकर गिरता है।

८२. अध्याय—लौहित्य (अर्थात् ब्रह्मपुत्र) नद की उत्पत्ति की कथा यहाँ वर्णित है। शन्तनु की पत्नी अमोघा थी। शन्तनु कैलास के समीपस्थ लोहित

---

१. यस्मादहं धृतो वामे त्वयोत्सारयितुं मुनिः।
यस्मात् त्वं वाम्यभावेन पूज्या भव समन्त्रिका॥
भ्रमन्ति म्लेच्छवद् यस्मात् गणानां मन्दबुद्धयः।
भवन्तु म्लेच्छास्तस्माद् वै भवन्तो कामरूपके॥
तस्मात् म्लेच्छप्रियो भूयात् शंकरश्चास्थिभस्मधृक्।
एतत्तु कामरूपाख्यं म्लेच्छैर्गुप्तं मदत्वरम्॥
स्वयं विष्णुर्न चायाति यावत् स्थानमिदं पुनः।
विरलाश्चागमाः सन्तु य एतत्प्रतिपादकाः॥
विरलं यस्तु जानाति कामरूपागमं बुधः।
स एव प्राप्ते कालेऽपि सम्पूर्णफलमास्यति॥

—कालिकापुराण ८१।१९-२४

सरोवर के किनारे रहते थे। अमोघा की नासिका से जलधारा प्रवाहित हुई जिसके एक बालक वर्तमान था। उसके रूप का वर्णन इस प्रकार है—

...—— —— नीलवासाः किरीटधृक् ॥ ३३ ॥
रत्नमालासमायुक्तो रत्नगौरश्च ब्रह्मवत्।
चतुर्भुजः पद्मविद्याध्वजशक्तिधरस्तथा ॥ ३४ ॥
शिशुमारशिरःस्थश्च तुल्यकायो जलोत्करैः।

शन्तनु ने इस लौहित्यनामा पुत्र को चार पर्वतों के बीच में रख दिया—कैलास उत्तर में, गन्धमादन दक्षिण में, जारुधि पश्चिम में तथा संवर्तक पूरब में। कालान्तर में वह बढ़ते-बढ़ते पञ्च योजन तक फैल गया और दूसरा समुद्र प्रतीत होने लगा (श्लोक ४०)। उस ब्रह्मकुण्ड पर परशुराम अपने मातृवध के दोष के निवारणार्थ कालान्तर में आये।

८३. अध्याय—परशुराम के चरित का विस्तृत वर्णन।

८४. अध्याय—सदाचार का वर्णन साधारण नीति के वर्णन के अनन्तर नृपधर्म का विस्तार से कथन।

८५ अध्याय - राजा के कर्तव्य का वर्णन। इसी प्रसंग में राजा के द्वारा करणीय उत्सवों का विवरण है—शरत्काल में शारद नवरात्र की महाष्टमी में दुर्गापूजन, दशमी में नीराजन, पौष मास की तृतीया तिथि को पुष्याभिषेचन, श्रीपञ्चमी को भी यज्ञ, ज्येष्ठ मास में दसहरा पर्व तथा भाद्रपद द्वादशी को इन्द्रध्वज महोत्सव (श्लोक ६–१२)। इस अध्याय के शेषभाग में नीराजन विधि का वर्णन विस्तार से है (श्लोक १८–६०) तथा शत्रुबलि का भी संकेत है।

८६ अध्याय—पुष्यस्नान की विधि। पुष्यनक्षत्र से युक्त तृतीया को देवी का विशेष पूजन करना राजा का विशिष्ट कर्तव्य है!

८७ अध्याय—शक्रध्वज के उत्थापन का विशिष्ट विवरण। पुराण का कथन है कि इस उत्सव का प्रवर्तन राजा उपरिचर ने (जिनका दूसरा नाम वसु था) किया था। भाद्रपक्ष की द्वादशी को करणीय इस पूजन का विवरण बड़े विस्तार से यहाँ वर्णित है।

८८ अध्याय—जेठ की दशहरा में विष्णु की इष्टि राजा को करनी चाहिये। तथा श्रीपंचमी लक्ष्मी का पूजन कुन्द पुष्पों से करना चाहिये (श्लोक २१—२३) तदनन्तर राजा के लिए निषिद्ध कर्मों का निर्देश विस्तरशः किया गया है (श्लोक २५–६५) १२ प्रकार के पुत्रों के नाम—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम गूढोत्पन्न तथा अपविद्ध –ये छ पुत्र राजा के भाग के अधिकारी हो सकते हैं,) परन्तु कानीन, सहोढ, क्रींत, पौनर्भव, स्वयंदत्त तथा दास—ये छः पुत्र अधिकार के अयोग्य हैं। इनमें अन्तिम दासी पुत्र सबसे अधम होता है जो राज्य का अधिकारी नहीं होता। अनन्तर शूद्रों के आचार का वर्णन उपलब्ध है (श्लोक

४७–५०) अवशिष्ट भाग में राजा के कर्तव्याकर्तव्य का संक्षिप्त वर्णन है। विष्णुधर्मोत्तर में प्रथम ही इस विषय के वर्णन का निर्देश किया गया है (विष्णुधर्मोत्तरे पूर्वं मया रहसि भाषितम् ८८ ७०)

८६ अध्याय—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' का उदाहरणों से समर्थन। भैरव और बेताल के इस प्रसंग में कथानक का प्रतिपादन। खाण्डवदाह की कथा। भैरव के सन्तानों का वर्णन।

९० अध्याय—वेताल के सन्तान का कथन। कालिकापुराण की प्रशंसा। कालिका नामक पुण्यपुराण मन्त्र-यन्त्रमय है, शुद्ध, ज्ञान तथा काम देने वाला, वेद तथा लोक दोनों में गुह्यतम है।[1] मार्कण्डेय का कथन है कि वसिष्ठ जी ने इस अमृतमय पुराण को मुझ से सुना और पढ़ा था। इन्होंने इसे सुरालय (स्वर्गभूत) कामरूप में छिपा रखा था और अब महर्षियों को इस गुह्यपुराण को प्रकाश में ले आने का श्रेय है। अन्त में विष्णु तथा माया की स्तुति से यह कालिकापुराण समाप्त होता है।

इति सकलजगद् बिभर्ति यासां मधुरिपुमोहकरी रमास्वरूपम्।
रमयति च हरं शिवास्वरूपा वितरतु वो विभवं शुभानि माया॥

कालिकापुराण—महापुराण या उपपुराण ?

कालिकापुराण के धार्मिक महत्त्व की मीमांसा से पूर्व उसके स्वरूप का विवेचन आवश्यक है। प्रश्न है कि वह महापुराणों के अन्तर्गत माना जाय अथवा उपपुराण समझा जाय। महापुराणों की नामावली प्रस्तुत करने वाले; देवी-भागवत के प्रख्यात श्लोक

मद्वयं भद्वयं चैव व्रत्रयं व्रचतुष्टयम्।
आनापल्लिङ्गकूस्कानि पुराणानि विनिर्दिशेत्॥

के कथनानुसार केवल एक ही पुराण ककार या 'कू' से आरम्भ होता है और वह है कूर्मपुराण। कालिकापुराण का इसमें निर्देश नहीं है। परन्तु इसे भी महापुराणों के अन्तर्गत मानने का प्राचीन काल में आग्रह था और यही मूल भागवतपुराण माना जाता था। इस तथ्य का परिचय हमें हेमाद्रि (१३ शती) के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के इस कथन से होता है :—

यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतम्। (प्रथम जिल्द पृ० ५३१)

परन्तु हेमाद्रि से लगभग एक शताब्दी पूर्व होने वाले, वाराणसी के गहड़वालवंशी राजा जयचन्द्र के धर्माध्यक्ष लक्ष्मीधर ने अपने 'कृत्यकल्पतरु' में कालिकापुराण को स्पष्टतः उपपुराण की संज्ञा दी है :—

---

१. इति वः कथितं पुण्यं पुराणं कालिकाह्वयम्।
मन्त्र-यन्त्र-मयं शुद्धं ज्ञानन्दं कामदं परम्॥
इति गुह्यतमं लोके वेदेषु च तथा द्विजाः।—कालिकापुराण, अध्याय ९०

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्तु दृश्यते।
विजानीध्वं मुनिश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्।।

विनिर्गतम् उद्भूतं यथा कालिकापुराणादि। (कृत्यकल्पतरु, खण्ड १ पृ० ३०) यहाँ लक्ष्मीधर ने कालिकापुराण को अष्टादश पुराणों से ही उद्भूत बतलाया है। चण्डेश्वर ने अपने 'कृत्यरत्नाकर' में भी इस को स्वीकार किया है। बंगाल के निबन्धकार वल्लालसेन (१२ शती का अन्तिम चरण) ने जिन दानविधि के स्पष्ट प्रतिपादक उपपुराणों का निर्देश किया है उनमें कालिकाह्वय पुराण भी है:—

उक्तान्युपपुराणानि व्यक्तदानविधानि च।
आद्यं पुराणं साम्बं च कालिकाह्वयमेव च।। (दानसागर, पृ० ३)

उपपुराणों की जितनी सूची उपलब्ध हुई हैं उनमें कालिकापुराण का उल्लेख सर्वत्र है। इतने स्पष्ट प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कालिकापुराण निःसन्दिग्ध रूप से उपपुराण ही है। महापुराणों के अन्तर्गत इसे मानना साम्प्रदादिक हठधर्मिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मूल कालिकापुराण का अस्तित्व

इस प्रस्तावना के आरम्भ में ही नान्यदेव आदिकों का नामोल्लेख किया गया है जिनके ग्रन्थों में कालिकापुराण के मत तथा उद्धरण तो मिलते हैं, परन्तु ये उद्धरण वर्तमान कालिकापुराण में उपलब्ध नहीं होते। उद्धरणों का सम्बन्ध इन धर्मशास्त्रीय विषयों से है[1]—सुवर्णादि पदार्थों का दान, वर्ण तथा आश्रमों के धर्म, कालिका और शिव की पूजा, नाना प्रकार के व्रत, श्राद्ध, गंगास्नान की विशिष्ट पवित्रता आदि। उपलब्ध कालिकापुराण में इन विषयों का नितान्त अभाव है। अतः इससे भिन्न कालिकापुराण की कल्पना करना असंगत न होगा। एक और भी विषय विचारणीय है। इन प्राचीन निबन्धकारों के ग्रन्थों में दिये गये कालिकापुराण के लम्बे-लम्बे उद्धरणों में कहीं भी तान्त्रिक प्रभाव लक्ष्य नहीं होता। प्रचलित कालिकापुराण के स्वरूप से ठीक विपरीत स्वरूप वाले मूल कालिकापुराण की सत्ता मानने का विशदतर प्रमाण उपस्थित करता है वल्लालसेन का दानसागर। वल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' में दान विधिविषयक पुराणों के स्वरूप का गम्भीरता से विचार किया है। वे देवीपुराण को इसीलिए त्याज्य मानते हैं कि उसमें तान्त्रिक प्रभावों का स्पष्ट निर्देश था।[2] इतना ही नहीं,

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० हाजरा—स्टडीज इन उपपुराणज् पृष्ठ २३६-२३८, द्वितीय खण्ड, कलकत्ता, १९६३।

२. तत्तत्-पुराणोपपुराण-संख्या-बहिष्कृतं कश्मलकर्मयोगात्।
पाषण्ड-शास्त्रानुमतं निरूप्य देवीपुराणं न निबद्धमत्र।।
—दानसागर, श्लोक ६७

भविष्यपुराण के उन्हीं परिच्छेदों वाले भागांश का अपने कार्य के लिये उपयोग किया है, जहाँ तक सप्तमी कल्प का वर्णन हुआ था। अष्टमी तथा नवमी कल्प वाले परिच्छेदों पर तान्त्रिक प्रभावों की सत्ता होने से वे उनके उपयोगक्षेत्र के बाहर ही रहे।[1] परन्तु कालिकापुराण के विषय में वल्लालसेन ऐसी कोई चर्चा नहीं करते। पुराणों पर तान्त्रिक प्रभाव के इस गम्भीर विवेचक का कालिकापुराण के विषय में मौनावलम्बन इस तथ्य का स्पष्ट संकेत करता है कि उस युग में प्रचलित कालिकापुराण में तान्त्रिक विधि-विधानों का सर्वथा अभाव था और वह पुराण अधुना प्रचलित तन्त्रबहुल कालिकापुराण से सर्वतोभावेन भिन्न एवं पृथक् था। और यही था मूल कालिकापुराण। इस सिद्धान्त का पोषक प्रमाण रघुनन्दन के दुर्गापूजातत्त्व में उद्धृत इस वाक्य से उपलब्ध होता है— दुष्प्रापकालिकापुराणान्तरेऽपि। यहाँ कई पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि रघुनन्दन प्रचलित कालिकापुराण से भिन्न कालिकापुराण को जानते थे, जिसके हस्तलेख उनके समय में भी दुर्लभ हो गये थे।

निष्कर्ष—किसी मूलकालिकापुराण का अस्तित्व मध्य युग में अवश्य था जिसमें योगमाया शिव की शक्ति के रूप में चित्रित थी, जहाँ शैवमत का प्राचुर्य था तथा जहाँ धर्मशास्त्रीय विषयों के तथा पूजानुष्ठान के वर्णन में तान्त्रिक प्रभाव का सर्वतोभावेन अभाव था। प्रचलित कालिकापुराण इन तीनों तथ्यों में उससे भिन्नता रखता है। इसमें योगमाया नारायण की शक्ति बताई गई है (तत्र गत्वा जगद्धात्रीं विष्णुमायां जगन्मयीम्—कालिका ५।१४) तथा नारायण की पूजा नारदपञ्चरात्र की विधि से आदिष्ट है और वैष्णव आगमों का प्रभाव बहुशः निर्दिष्ट हैं तथा देवीपूजा के अवसर पर मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा कवच आदि समस्त तान्त्रिक उपकरणों का प्रचुर वर्णन है।[2]

मूल (?) कालिकापुराण का हस्तलेख

कालिकापुराण का एक अपूर्व हस्तलेख वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री बलरामशास्त्री भारद्वाज के पास सुरक्षित है, जो प्रचलित कालिकापुराण से एकदम भिन्न है। यह मूल कालिकापुराण प्रतीत होता है। नान्यदेव, हेमाद्रि, चण्डेश्वर आदि के अनुसार मूल कालिकापुराण तृणबिन्दु तथा अनिलाद के मुख्य संवाद रूप में वर्णित है,[3] यहाँ भी ये ही दोनों व्यक्ति आदि

---

१. सप्तम्यवधि पुराणं भविष्यमपि संगृहीतमतियत्नात्।
त्यक्त्वाष्टमीनवम्योः कल्पौ पाषण्डिभिर्ग्रस्तौ॥

—दानसागर, श्लोक ५९

२. द्रष्टव्य कालिकापुराण, अध्याय ५२–७६

३. डा० हाजरा—स्टडीज इन उपपुराणज् भाग २ पृष्ठ २३५ पर प्रथम टिप्पणी द्रष्टव्य।

से अन्त तक संवाद चलाते हैं। तृणबिन्दु प्रश्न करते हैं जिनका उत्तर अनिलाद (या पवनाद) देते हैं। यह हस्तलेख अशुद्धि-प्रचुर तथा अधूरा है, परन्तु उपलब्ध अंश की परीक्षा इसके स्वरूप की पर्याप्त परिचायिका है। इसमें भगवान् शङ्कर तथा सती का चरित्र बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। तदनन्तर पार्वती का विवाह तथा स्कन्द की पूरी कथा (जन्म तथा उनका वृत्तान्त, युद्ध भी) बड़े विस्तार से दी गई है। कथा के प्रसङ्ग में अवान्तर कथाएँ भी हैं। स्तुतियाँ भी हैं। पूजन का भी प्रसङ्ग है, परन्तु तान्त्रिक विधि-विधान का कहीं स्पर्श भी नहीं है। तीर्थमाहात्म्य का भी यत्र तत्र प्रसङ्ग आता है। गङ्गाद्वार, कुशावर्त, नीलाचल—तीर्थों के नामनिर्देश मिलते हैं (अध्याय ३६, श्लोक० ४५) इसी अवसर पर कहा गया है—

स्नात्वादौ कणितीर्थेसु मुक्तकेतुशिवामुखे।
कुशाख्ये तु ततो नीले मोक्षः स्याद् देहसंक्षये ॥ (३९।८)

देवी का जहाँ-जहाँ स्थान है, वहाँ-वहाँ 'ऊषर तीर्थ माना जाता है और ऐसे नव ऊषरों का नाम निर्दिष्ट है, परन्तु यह नाम स्पष्ट प्रतीत नहीं होता (४०।७४) नव ऊषर तीर्थों की परम्परागत नामावली वाराहपुराण में इस प्रकार निर्दिष्ट है :—

रेणुका सूकरः काशी काली कालौ वटेश्वरो।
कालिञ्जरो महाकालो ऊषरा नवमुक्तिदा ॥[1]

इन नव स्थानों में प्राणत्याग करने वाले जीवों को समान पुण्य मिलता है (नवेषु सदृशं पुण्यं मृतानामेषु देहिनाम्। (४०-७५)।

स्तुतियों से दो-चार पद्य नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं।

शिव की स्तुति—

नमः काण्डसृजे तुभ्यं हारिवामांगभूषिते।
विरंचिजनने तुभ्यं नीलकण्ठाय धन्विने ॥ १७ ॥
पुरुषोत्तमस्त्वमेवैको स्थूलसूक्ष्मो निरञ्जनः।
अणोरणुतरश्चासि अलक्षः सर्वलक्षकः ॥ २० ॥

—अध्याय २३

स्कन्द की स्तुति—

त्वं ब्रह्मा ब्रह्मवादी त्वं सुब्रह्मो ब्रह्मवत्सलः।
ब्रह्मण्यो ब्रह्मदेवश्च ब्रह्मज्ञो ब्रह्मसंग्रहः ॥ ११ ॥
त्वं सावित्रीमयो देवः सर्वत्रैवापराजितः।
मनुः सर्वात्मको देवः षडक्षररतीपरः ॥ १३ ॥
त्वं भर्ता सर्वभूतानां त्वं भूतः त्वं सुखावहः।
सर्वदृक् सर्व जेता षड्वक्त्रो भयनाशनः ॥ १७ ॥

---

१. शब्दार्थचिन्तामणि में यह श्लोक वाराहपुराणीय मानकर उद्धृत है, परन्तु वाराहपुराण की किसी भी मुद्रित प्रति में यह उपलब्ध नहीं होता।

भीमसेनः सुषेणश्च वीरसेनश्च भूपतिः ।
सिद्धसेनः सुराध्यक्षो भीमसेनो निरामयः ।। १६ ।।

—अध्याय २५

अर्धनारीश्वर की स्तुति—

शरण्यानां शरण्यस्त्वं भव देव त्रिशूलिनः ।
नमो मुञ्जार्धदेहाय रसनार्धविधारिणे ।। ११ ।।
पीनोन्नतकुचार्धाय वक्षोर्धाय नमो नमः ।
युग्मरूपाय तुर्याय विस्मयानन्दकारिणे ।।
अर्धनारी-शरीराय स्त्रीपुंसाय नमो नमः ।। १२ ।।

—अध्याय ४०

अनेक अध्यायों की पुष्पिका में यह कालिकापुराण कालीपुराण भी कहा गया है। यह हस्तलिखित प्रति पाठ की दृष्टि से नितान्त महनीय तथा आदरणीय है। हस्तलेख की छिन्न-भिन्नता के कारण विशुद्ध पाठ का निर्णय नहीं किया जा सकता। अतएव अन्य साधनों के अभाव में यह प्रकाशन-योग्य नहीं है[1]।

कालिकापुराण : देश और काल

कालिकापुराण के अन्तरङ्ग परीक्षण से स्पष्ट है कि इस पुराण का भौगोलिक क्षेत्र भारतवर्ष का पूर्वाञ्चल है और तिस पर भी कामरूप का प्रदेश। कालिका-पुराण के ७७ वें अध्याय में कामरूप के क्षेत्र में बर्तमान नदियों, सरोवरों, कुण्डों तथा पर्वतों का निर्देश बड़ी ही सूक्ष्मता तथा विस्तार के साथ किया गया है। पुराण का लेखक उस प्रदेश के इन भौगोलिक इकाइयों से पूर्ण परिचय रखता है। ईस प्रसंग में एक प्रमाण विचारणीय है। विद्यापति ने अपने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' में देवी के नैवेद्य के लिए उपयुक्त फलों के नाम प्रस्तुत करने वाले श्लोक कालिका पुराण (अध्याय ७०।४–१२) से उद्‌धृत किये हैं जिनमें एक श्लोक है :—

अक्षोडं पिण्डखर्जूरं करुणं श्रीफलं तथा ।
औदुम्बरं च पुन्नागं माधवं कर्कटीफलम् ।। ६ ।।

—कालिका अध्याय ७०

इन फलों के ऊपर टीका करते हुये वे करुण को गौडदेश में प्रसिद्ध फल बतलाते हैं (करुणं गौडदेशे प्रसिद्धम्) इससे विद्यापति का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि पुराण का रचयिता बंगाल में प्रख्यात फल से परिचित था। इन तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि कालिकापुराण का उत्पत्तिस्थल आसाम का कामरूप प्रदेश है अथवा आसाम का वह भाग है जो बंगाल के सन्निकट है।

---

१. इसके १६० + ९६ पृष्ठों को श्री बलिरामशास्त्री भारद्वाज ने मुद्रित भी किया था, परन्तु साधनाभाव से आगे मुद्रण नहीं हो सका। इन छपे फार्मों को मुझे अवलोकनार्थ देने के लिए मैं भारद्वाज जी का आभार मानता हूँ।

कालिकापुराण के रचनाकाल के विषय में इदमित्थं रूप से निर्णय करना कठिन व्यापार है। रचना-काल का कोई भी संकेत ग्रन्थ के भीतर उपलब्ध नहीं होता। केवल बाह्य साक्ष्य के ऊपर अवलम्बित होना पड़ता है। कालिकापुराण का प्राचीनतम निर्देश नान्यदेव के 'भरतभाष्य' में उपलब्ध होता है :—

इति रोविन्दकं समाप्तम् ।। कालिकाख्यपुराणे । यत्पुराणे पुरुषेरितं रोविन्दकाभिधं गीतं नान्यमहीभुजा। इति रोविन्दकं प्रोक्तं स्यादुत्तरमतः परम् ।।

(भाष्य के हस्तलेख के पृष्ठ १३२ पर, मद्रास)

'भरतभाष्य' के रचयिता नान्यदेव महीपति मिथिला के राजा नान्यदेव से अभिन्न माने जाते हैं जिसका राज्यकाल ईस्वी १०९७ से लेकर ११३३ है। डा० सिलवन लेवी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि नान्यदेव का सिंहासनारूढ़ होने का काल १०९७ ई० में पड़ता है।

फलतः कालिकापुराण का रचनाकाल १०५० ई० से अनन्तर नहीं हो सकता। पूर्वतन मर्यादा का उल्लेख हेमाद्रि के उस उद्धरण के द्वारा किया गया है जिसमें कालिकापुराण ही वास्तव में भागवतपुराण माना गया है (यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतम्)। यह उल्लेख श्रीमद्भागवत की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् युग का संकेत करता है। श्रीमद्भागवत की रचना का काल[1] ईस्वी सन् से षष्ठ शतक निर्णीत है। रचना के बाद एक शताब्दी का समय भागवत को प्रतिष्ठित तथा प्रख्यात होने में लगा होगा—ऐसा अनुमान किया जा सकता है। उसी युग में मूल कालिकापुराण की रचना सम्भावित है। फलतः कालिकापुराण को सप्तम शती में मानना उचित होगा। वर्तमान कालिकापुराण के सर्वाधिक प्राचीन निर्देश बंगाल के ग्रन्थकार शूलपाणि तथा मैथिल विद्यापति के द्वारा किये गये हैं। ये दोनों ग्रन्थकार १४ शती के लेखक हैं। शूलपाणि ने दुर्गोत्सव-विवेक में तथा विद्यापति ने अपने दुर्गाभक्तितरंगिणी में पूजाविषयक श्लोकों को उद्धृत किया है। कालिकापुराण कालिदास के कुमारसम्भव से तथा माघ के शिशुपालवध (७०० ई०) से परिचय रखता है। फलतः अष्टमी शती से (७५० ई०) वह कथमपि प्राचीन नहीं हो सकता। ग्रन्थ की रचना के अनन्तर प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा पाने के लिए शूलपाणि तथा विद्यापति से कम से कम दो तीन सौ वर्ष का काल-व्यवधान मानना अनुचित न होगा। फलतः प्रचलित कालिकापुराण का निर्माण सम्भवतः दशम शती के उत्तरार्ध में मानना चाहिये।[2]

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय पृ० १५१–१५३, वाराणसी, सं० २०१०।

२. विशेषरूप से द्रष्टव्य डा० राजेन्द्रचन्द्र हाजरा-स्टडीज इन उपपुराणज् (अंग्रेजी) दूसरा खण्ड, पृष्ठ २०९-२४५ (संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६३)

कालिकापुराण का महत्त्व : दार्शनिक दृष्टि

पुराण साहित्य के अन्तर्गत कालिकापुराण अपना एक स्पृहणीय महत्त्व तथा आदरणीय वैशिष्टय धारण करता है। इसके वैशिष्टय का संकेत जो ग्रन्थ के अन्त में (अध्याय ९० श्लोक २६) दिया गया है वह सर्वथा यथार्थ है। यह शुद्ध मन्त्र-यन्त्रमय पुराण है जो ज्ञान और काम दोनों को देने वाला है (मन्त्र यन्त्र-मयं शुद्धं ज्ञानदं कामदं तथा)। यह कथन सत्य है। महामाया तथा उसकी प्रतिनिधिभूता कामाख्या, त्रिपुरा, चण्डिका, देवी आदि के स्वरूप का प्रतिपादन कर उनकी उपासना की प्रक्रिया का विवरण सांगोपांग रूप से यह पुराण प्रदान करता है। इतना ही नहीं, नारायण, गोविन्द, विष्णु, शंकर, गणपति आदि देवों के अर्चाविधान का भी वर्णन मिलता है। यह पुराण उदारभाव से सम्पन्न है। यह विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा को एक ही परमात्मा का स्वरूप मानकर उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं स्वीकारता। विष्णु ने इस अभेदभावना को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

न ब्रह्मा भवतो भिन्नो न शम्भुर्ब्रह्मणस्तथा।
न चाहं युवयोर्भिन्नोऽभिन्नत्वं सनातनम् ॥ ५१ ॥
शिरोग्रीवादिभेदेन यथैकस्यैव धर्मिणः।
अङ्गानि मे तथैकस्य भागत्रयमिदं हर ॥ ५५ ॥

—कालिकापुराण, अध्याय ११

सर्वप्रथम योगमाया के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन है (अध्याय ५, श्लोक ५४–५९) अध्याय ८, श्लोक १२–२६; अध्याय ६, श्लोक ५९–७२) योगमाया स्निग्ध अंजन के समान कान्ति वाली, सुन्दर रूप, ऊँची डील-डौल वाली, चार भुजाओं से सम्पन्न, तलवार और नील कमल हाथ में लिए तथा खुले केशकलाप को धारण करने वाली बतलाई गई हैं। उनका वाहन सिंह है :—

स्निग्धाञ्जनद्युतिश्चारुरूपोत्तुङ्गा चतुर्भुजा।
सिंहस्था खड्ग-नीलाब्जहस्ता मुक्तकचोत्करा ॥—कालिका ५।५२

योगमाया जगत् की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति उभयरूपा है; चर और अचर जीवों की सनातनी शक्ति है तथा समस्त जगत् को मोहने वाली हैं (५।५४); योगियों के हृदय में प्रमिति (ज्ञानरूपा) वे ही हैं तथा विविध विषयों का अवलम्बन करने वाली विद्या है (५।५६); सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों की विकार-हीन समवस्थिति हैं, अशेष जगत् की बीजरूपा, ज्ञेय तथा ज्ञानरूपिणी संसार के हितार्थ अवतीर्ण होने वाली विष्णुमाया वे ही हैं (५।५९) मन्त्र के अन्तस् को बोधन करने वाली, परमानन्द स्वरूपा, योगियों के अन्तस्तल में शुद्ध विद्या रूपिणी योगमाया जगन्मयी कहलाती है।[1] वह नित्या है तथा जगत् के गर्भ में

१. मन्त्रान्तर्भावनपरा परमानन्दरूपिणी।
योगिनां सत्त्वविद्यान्तः सा निगद्या जगन्मयी ॥—कालिका० ६।६१

नित्यरूप से प्रकाशित होती है; इस जगत् के बाहर भी वे ज्योतिःस्वरूप से विराजमान है जो ज्योति, व्यक्त (कार्य जगत्) तथा अव्यक्त (कारण-जगत्) दोनों को प्रकाशित करती है (६।६६)। योगमाया परा, परात्मिका, शुद्ध, मल-रहित, लोक को मोहने वाली, वेदत्रयी, देवत्रयीरूपा, कीर्ति तथा संसार की वार्ता और गति दोनों हैं। (८।१६)

इस अचिन्त्य शक्तिसम्पन्ना योगमाया की नाना अभिव्यक्तियाँ देवी के रूप में जगत् के कल्याणार्थ विराजमान हैं। उनमें कामाख्या सर्वातिशायिनी है। कामाख्या का विशिष्ट पूजाविधान कालिका पुराण का प्रधान सुचिन्तित विषय है। कामाख्या ही महामाया है, वही मूलमूर्ति हैं।[1] भिन्न-भिन्न पीठों के साथ सम्बद्ध होने पर वही नाना नामों से प्रसिद्ध होती हैं। जिस प्रकार एक ही विष्णु नित्य होने से 'सनातन' तथा दुष्टजनों के अर्दन करने से 'जनार्दन' नाम से अभिहित होते हैं, उसी प्रकार महामाया कामरूपगिरि पर कामसम्पादन के लिए उत्पन्न होने से 'कामाख्या' नाम से विश्रुत हैं। वही कामकाल में रक्तकमलों से सम्पन्न प्रेतरूपी शिव पर रमण करती हैं। त्यक्तकामा होने पर वही कामाख्या श्वेत प्रेत पर रमण करती हैं। अन्य विवरण के अनन्तर उनके आसन का वर्णन है (५८।६६)। कामाख्या का ध्यानपरक यह श्लोक उनकी दिव्य सौन्दर्यमूर्ति का चित्रण करता है—

कामाख्यामक्षमालाभयवरदकरां सिद्धसूत्रैकहस्तां
श्वेतप्रेतोपरिस्थां मणिकनकयुतां कुङ्कुमापीतवर्णाम्।
ज्ञानध्यानप्रतिष्ठाम् अतिशयविनयां ब्रह्मशक्रादिवन्द्याम्।
अग्नौ बिन्द्वन्तमन्त्रप्रियतमविषयां नौमि सिद्ध्यै रतिस्थाम्।

—कालिकापुराण अध्याय ७२, श्लोक ६३

कालिकापुराण की भाषा-शैली

कालिकापुराण का साहित्यिक चमत्कार विशेष दर्शनीय है। भाषा में अपाणिनीय प्रयोगों का उतना बाहुल्य नहीं जितना इतर पुराणों में दृष्टिगोचर होता है। अनेक स्थलों पर यह काव्यसौष्ठव से सम्पन्न है। पार्वती-तपस्या के प्रसंग पर कालिदास के कुमारसम्भव की अविस्मरणीय छाया है। इस अवसर पर वसन्त के आगमन का स्निग्ध वर्णन है। (अध्याय ४२, श्लोक १३६–१४३)। पन्द्रहवें अध्याय में वर्षा का बड़ा ही रसपेशल, मधुर तथा यथार्थ वर्णन है। (अध्याय १५, श्लोक २–१८)। इस वर्णन की चारुता निरखने के लिए दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं :—

---

१. मूलमूर्तिर्महामाया योगनिद्रा जगन्मयी ॥ ४८ ॥
एकैव तु महामाया कार्यार्थं भिन्नतां गता।
कामाख्या तु महामाया मूलमूर्तिः प्रगीयते ॥ ५१ ॥

—कालिकापुराण, अध्याय ५८

स्निग्धनीलाञ्जनश्याममुदिरौघस्य पृष्ठतः ।
बलाकाराजिर्भात्युच्चैर्यमुनाघुष्टफेनवत् ॥ ८ ॥

चिकने नीले-आँजन के तरह श्याम बादलों की पीठ पर बगुले की पाँत वैसे ही शोभा पाती है जैसे श्याम यमुना के ऊपर सफेद फेन के टुकड़े। उपमा की चारुता स्पृहणीय है। हवा के थपेड़े खाने से हिलते-डुलते हुये बड़े-बड़े पेड़ आकाश में नाचते हुये प्रतीत होते हैं। ये कामीजनों को तो प्रीति पैदा करते हैं, परन्तु भीरुजनों को त्रास दे रहे हैं—

वाताहता महावृक्षा नृत्यन्त इव चाम्बरे।
दृश्यन्ते हर भीरूणां त्रासकाः कामुकेप्सिताः ॥ ७ ॥

कालिकापुराण देवों की स्तुति के लिए स्मरणीय रहेगा। ये स्तुतियाँ दार्शनिक तथ्य तथा साहित्यिक सौन्दर्य दोनों से सर्वथा भूषित हैं। विष्णु की स्तुति (अध्याय २२), गोविन्द की रमणीय स्तुति (अध्याय ३०), शिव की स्तुति (अध्याय १८) तथा देवी की गीतिमयी स्तुति (अध्याय ७६), साहित्यिक सुषमा, कोमल पदविन्यास तथा गाढ़ भक्तिभावना के कारण कालिकापुराण को काव्यमय कोमल विग्रह प्रदान कर रही है। एक दो उदाहरण इस सुषमा के परिचायक होंगे :—

विष्णु की स्तुति—

नमो नमः कारणकारणाय दिव्यामृतज्ञानविभूतिदाय।
समस्तलोकान्तरमोहनाय प्रकाशरूपाय परात्पराय ॥ (२२।६२)
त्वं पद्मया पद्मकरो विभासि वरासि-चक्राब्जधनुर्धरस्त्वम्।
त्वं तार्क्ष्ये प्रतिभासि नित्यं स्वर्णाचले तोययुतो यथाब्दः ॥ (३०।१६)

केशव की स्तुति—

अयोनिस्त्वं जगद्योनिः, अपादस्त्वं सदागतिः।
त्वं तेजः स्पर्शहीनश्च सर्वेशस्त्वमनीश्वरः ॥ (३३।२६)

शिव की स्तुति—

यदष्टशाखस्य तरोः प्रसूनं चिदम्बुवृद्धस्य समीपजस्य।
तपश्छदःसंस्थगितस्य पीनं सूक्ष्मोपगं ते वशगं सदैव ॥ (१८।७४)
सूक्ष्मं जगद् व्याधि गुणौघपीनं मृग्यम्बुधेः साधनसाध्यरूपम्।
चोरैरक्षैर्नोज्झितं नैव नीतं वित्तं तवास्त्यर्थहीनं महेश ॥ (१८।७७)

देवी की स्तुति—

जय जय देवि सुरगणार्चित—पादपङ्कजे।
विश्वस्य भूतिभाविनि शशिमौलि-केलिभाविनि गिरिजे।
नेत्रत्रयनिर्जितविवस्वद्विधुवह्निकान्तितुलितकमलजे।
मध्यनेत्रगतभ्रूभङ्गभक्तरक्तमति-चयज्वायकविमलजे ॥ (७६।६६)

देवी की यह कमनीय स्तुति तान्त्रिक सिद्ध की भक्तिमयी गीर्वाणवाणी का मधुमय प्रसाद है। यह मनोरम गीतिका है, जिसका मधुर गायन वीणा पर बड़ी सरसता से किया जा सकता है। यह गीतिका सचमुच भक्तिरसाप्लुत हृदय का अमृतमय उद्गार है। इस गीतिका के लिए भी यह कालिकापुराण साहित्य—संसार में चिर-स्मरणीय रहेगा। अन्त में भगवती के चरणारविन्द में यह प्रस्तावना भक्तिभावना से संप्लुत हृदय से समर्पित की जा रही है, जिससे उनकी कृपाधारा के कतिपय कणों को पाकर लेखक धन्यंमन्य बन जाय। तथास्तु—

सा पातु नः सकलयोगिजनस्य चित्तेऽ-
विद्यातमिस्रतरणिर्यतिमुक्तिहेतुः ।
या चास्य जन्तुनिवहस्य विमोहिनीति
माया विभोर्जनुषि शुद्ध-कुबुद्धि हन्त्री ॥ १।२



२ : ६

पुराणोंमें श्रीमारुति का चरित्र तथा वैदुष्य

(१)

श्रीमारुति का चरित्र

पवननन्दन हनुमानजी का चरित भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से इतना अनुस्यूत है कि श्रीराम-चर्चा के प्रसङ्ग में मारुति-चर्चा अनिवार्य है। हनुमान जी के चरित का विस्तार तो वाल्मीकीय रामायण तथा तत्सम्बद्ध इतर रामायणों में उपलब्ध होता ही है, परन्तु पुराण-साहित्य भी उनके चरित का कुछ ऐसा उल्लेख करता है, जो अन्यत्र अप्राप्य ही है। समग्र पुराणों के विपुल साहित्य के अन्वेषण और अनुशीलन के बिना हनुमान जी के पौराणिक आख्यान का यथार्थ परिचय नहीं मिल सकता। इस छोटे से लेख में एक दो पुराणों के ही प्रसङ्ग उपस्थित किये जाते हैं।

स्कन्दपुराण पञ्चम खण्ड 'अवन्तीखण्ड' के नामसे प्रख्यात है। इसके ७९ वें अध्याय में हनुमान जी के जन्म और पराक्रम की कथा वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड में वर्णित कथा के अनुरूप ही विस्तार से दी गयी है। यहाँ पर भी ऋषियों के द्वारा प्रदत्त उस शाप का संकेत है, जिसके कारण हनुमान जी अपने अतुल पराक्रम को भूल जाया करते थे। यदि ऐसा नहीं होता तो क्या वे बाली के अपराधों को देखते हुए भी उसे मार नहीं डालते। मुनियों ने श्रीराम जी से इस प्रसङ्ग में कहा था—

न बले विद्यते तुल्यो न गतौ न मतावपि ॥
अमोघवक्यैः शापस्तु दत्तोऽस्य मुनिभिः पुरा।
न ज्ञातं हि बलं येन बलिना वालिमर्दने ॥

(अ० ७९, श्लोक २१-२२)

हनुमानजी के द्वारा अनेक तीर्थों की स्थापना और अनेक शिवलिङ्गों की प्रतिष्ठा का भी विवरण यहाँ उपलब्ध है, जो सर्वथा नूतन प्रतीत होता है। इस खण्ड के ३१ वें अध्याय में उज्जयिनी में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा 'हनुमत्केश्वर' हर की स्थापना का प्रसङ्ग है। इस नामकरण के विषय में कहा गया है कि विभीषण के अभिषेक के अनन्तर हनुमानजी लंका गये थे और वहाँ से वे कुबेर द्वारा प्रदत्त और विभीषण द्वारा पूजित छः लिङ्गों में से एक लिङ्ग अपने साथ लाये थे। इसी की स्थापना उज्जयिनी में श्रीराम ने की तथा हनुमान-जी के नाम से इसे 'हनुमत्केश्वर' नाम की प्राप्ति हुई। हनुमान जी ने स्वयं अपने

हाथों ब्रह्महत्या के परिमार्जनार्थ नर्मदा के तट पर 'हनुमन्तेश्वर लिङ्ग' की स्थापना की थी (अ० ८३)। इतना ही नहीं, उन्होंने नर्मदा के ही तीर पर 'कपितीर्थ' नामक तीर्थ की भी प्रतिष्ठा की थी जहाँ हम श्रीराम और लक्ष्मण को अयोध्या से लौटकर दो शिवलिङ्गों की स्थापना करते हुए पाते हैं (अ० ८४)।

स्कन्दपुराण का तृतीय खण्ड 'ब्रह्मखण्ड' के नामसे विश्रुत है। यहाँ 'रामेश्वर-लिङ्ग' की स्थापना के प्रसङ्ग में हनुमान जी के विपुल पराक्रम की अपूर्व परिचिति हमें प्राप्त होती है। कहा गया है कि ब्रह्महत्या के मार्जन के लिये श्रीराम ने जब रामेश्वर की प्रतिष्ठा का विचार किया तब उन्होंने हनुमान जी को कैलाश से शिव लिङ्ग लाने के लिए भेजा। जब उधर आने में विलम्ब हुआ और इधर उपयुक्त मुहूर्त आ पहुँचा, तब अगत्या श्रीरामचन्द्रजी ने सीता जी के द्वारा निर्मित सैकत लिङ्ग की स्थापना कर दी। कैलास से शिवजी द्वारा प्रदत्त लिङ्ग के लाने पर हनुमान जी यहाँ की घटना से नितान्त दुःखित हुए और शिवजी की गौरव-रक्षा के लिए उन्होंने इस कैलासीय लिङ्ग की प्रतिष्ठा को ही उपयुक्त समझा। भगवान् शंकर के इस अपमान से दुःखित होकर वे 'सैकतलिङ्ग' के उखाड़ने में लग गये, परन्तु वह टस से मस नहीं हुआ। उल्टे हनुमान जी गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये। उन्हीं के महनीय गुणों के कीर्तन से उनकी निद्रा भङ्ग हुई। तब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के आदेश से उन्होंने (रामनाथ—रामेश्वर के उत्तर में) उस विशिष्ट लिङ्ग की स्थापना की, जो उन्हीं के नाम से 'हनुमाल्लिङ्ग' कहा जाता है—

उत्तरं रामनाथस्य लिङ्गं स्वेनाहृतं पुरा।
आज्ञया रामचन्द्रस्य स्थापयामास वायुजः ॥
(ब्रह्मखण्ड ४६।७७)

इसी संदर्भ में श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमान जी को विमल ज्ञान का उपदेश दिया, जिनमें मानव-जीवन की असारता का बड़ा प्रभावशाली, आकर्षक तथा आवर्जक स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। यह वर्णन वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या काण्ड (सर्ग १०५) के श्रीराम द्वारा भरत के ज्ञानोपदेश से अर्थतः ही नहीं, प्रत्युत शब्दतः भी साम्य रखता है। इस महनीय प्रसङ्ग के दो-तीन श्लोकों को दृष्टान्त रूप में देना पर्याप्त होगा। इनमें बड़े ओजस्वी तथा भावपूर्ण शब्दों में प्रभावी उदाहरणों द्वारा जीवन की निःसारता चित्रित की गयी है—

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णसमुद्रमुदकार्णवम् ॥
अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥

यथाहि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात् कश्चित् पथि स्थितः ।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ।।
एवं पूर्वेगतो मार्गः पितृपितामहैर्ध्रुवः ।
तमापन्नः कथं शोचेद् यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ।।
(वही १९-२०, २९-३०)

इसी ब्रह्मखण्ड के १५ वें अध्याय में दक्षिण समुद्र के मध्य में गन्धमादन पर्वत पर 'हनुमत्कुण्ड' नामक एक महनीय तीर्थ का उल्लेख है, जहाँ 'धर्मसख' नामक राजा ने पुत्रीय इष्टि के सम्पादन से अपनी सौ पत्नियों से सौ पुत्रों को प्राप्त किया था और अन्त में तप करते हुए स्वर्गलोक की प्राप्ति की थी—

सर्वलोकोपकाराय हनुमान् मारुतात्मजः ।
सर्वतीर्थोत्तमं चक्रे स्वनाम्ना तीर्थमुत्तमम् ।।
(१५।३)

हनुमानजी कहीं शंकरजी के अंशरूप में और कहीं साक्षात् शंकरजी के रूप में वर्णित किये गये हैं। इसके प्रमाणस्वरूप शिवपुराण की 'शतरुद्रसंहिता' के २० वें अध्याय का अनुशीलन करना चाहिये। वहाँ हनुमानजी की जन्म-कथा का विशिष्ट उल्लेख है। श्रीरामकार्य की सिद्धि के लिये शिवजी ने स्वयं हनुमान का रूप धारण किया था। दानवों को मोह में डालने के लिये विष्णु ने जब मोहिनी रूप धारण किया, तब उस रूप के अलोकसामान्य सौन्दर्य पर शिवजी विक्षुब्ध हो उस अन्तःक्षोभ से स्खलित शिववीर्य को सप्तर्षियों ने कानों के मार्ग से गौतम की पुत्री अञ्जना के गर्भ में संक्रान्त कर दिया और इस गर्भ से हनुमानजी का जन्म हुआ। इस प्रकार हनुमानजी शिवजी के वीर्योत्पन्न पुत्र हैं। हनुमानजी के "संकरसुवन" होने की प्रसिद्धि केवल भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत वह बृहत्तर भारत के 'मलय एशिया' देश में भी फैली है। इसका पूर्ण विवरण वहाँ के प्रचलित रामायण में उपलब्ध होता है। सूर्य को फल मानकर खाना, सूर्य से सब विद्याएँ सीखना और सूर्य के आदेश पर सुग्रीव की सेवा में उपस्थित होना—ये समग्र घटनाएँ 'शतरुद्रसंहिता' के २० वें अध्याय में विस्तार से वर्णित हैं।

'बृहद्धर्मपुराण' में वर्णित रामायण-कथा देवी-तन्त्र के द्वारा पूर्णतया प्रभावित हुआ है। इसके १८ वें अध्याय में वर्णन मिलता है कि शिव-पार्वती रावण की रक्षा के लिये लंका में निवास करते थे। उनके पास देवगण रावण के अत्याचार की कथा सुनाने के लिये गये। तब सीता के अपमान से क्षुब्ध होकर पार्वती ने लंका छोड़ने की बात कही। श्रीराम-काज की सिद्धि के लिये शिवजी ने हनुमान बनना स्वीकार किया एवं ब्रह्मा ने जाम्बवान् तथा धर्म ने विभीषण का रूप धारण किया। इस पुराण के २० वें अध्याय में हनुमान के शिवरूप होने का प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। अशोक वाटिका में जब हनुमानजी ने चण्डिका-मन्दिर को

देखा, तब अपने को शिवजी का रूप बतलाकर देवी से लंका छोड़ने के लिये आग्रह किया। हनुमानजी (शिव) ने अपने विश्वरूप का दर्शन कराया, जिसमें देवी ने रावण की सेना को संकट में और श्रीराम की सेना को सफलरूप में देखा। इस प्रकार पौराणिक साक्ष्य पर हनुमानजी शिवजी के साक्षात् अवतार सिद्ध होते हैं। यह 'बृहद्धर्मपुराण' उपपुराणों के अन्तर्गत माना जाता है। (द्रष्टव्य कलकत्ता के बिब्लिओथिका इंडिका में प्रकाशित १८९७ का संस्करण) यह अनेक तथ्यों के लिये 'महाभागवत' का पूर्णतया अनुसरण करता है (तुलनीय गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई १९१३ का संस्करण)। ये दोनों ही ग्रन्थ रामायण के ऊपर देवी के प्रभाव के द्योतक हैं।

पुराणों में हनुमानजी के विशाल पराक्रम का विशिष्ट विवरण उपलब्ध होता है। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में हनुमानजी ने अपने पराक्रम के विषय में स्वयं गर्जना की है—

मर्कटीडिम्भतुल्यां च लङ्कां पश्यामि सुव्रते ॥
मूत्रतुल्यं समुद्रं च शरावमिति भूतलम् ।
पिपीलिकासंघमिव ससैन्यं रावणं तथा ॥
(६२।७२-७६)

'मैं इस विशाल लंका को वानरी के बच्चे के समान छोटा समझता हूँ। समुद्र को मूत्र के समान, समग्र पृथ्वीतल को छोटे मृत्पात्र (पुरवा) के सदृश तथा असंख्य सैन्यों से युक्त रावण को चींटियों के झुण्ड के तुल्य मानता हूँ।' हनुमान का यह तथ्य-कथन साहित्यिक सौन्दर्य से मण्डित है।

'स्कन्दपुराण' का अवन्तीखण्ड कहता है कि हनुमानजी से बढ़कर जगत् में कोई भी प्राणी नहीं है। किसी भी दृष्टि से—चाहे पराक्रम, उत्साह, मति और प्रताप को देखें, चाहे सुशीलता, माधुर्य तथा नीति को परखें, चाहे गाम्भीर्य, चातुर्य, सुवीर्य और धैर्य पर दृष्टि डालें, हनुमानजी के सदृश इस विशाल ब्रह्माण्ड में कोई प्राणी है ही नहीं। विक्षुब्ध महासागर, सम्पूर्ण लोकों को दग्ध कर डालने के लिये उद्यत हुए संवर्तक अग्नि तथा प्रजाओं का संहार करने के लिये उठे हुए काल के समान प्रभावशाली इन हनुमानजी के सामने कौन ठहर सकेगा।

पराक्रमोत्साहमतिप्रतापैः सौशील्यमाधुर्यनयादिकैश्च ।
गाम्भीर्यचातुर्यसुवीर्यधैर्यैर्हनूमतः कोऽप्यधिकोऽस्ति लोके ॥
समेव विक्षोभितसागरस्य लोकान् दिधक्षोरिव पावकस्य ।
प्रजां जिहीर्षोरिव चान्तकस्य हनूमतः स्थास्यति कः पुरस्तात् ॥
(७९ । ४२)

भारतीय संस्कृति मारुतनन्दन आञ्जनेय हनुमानजी से अधिक पराक्रमी व्यक्ति की कल्पना ही नहीं कर सकती। इसलिये ही तो बजरंग (वज्राङ्ग) बली हनुमान

जी का स्मरण कर भारतीय योद्धा संग्राम के मैदान में कूदता है और विजयलक्ष्मी का आलिङ्गन करता है।

(२)

श्रीमारुति का वैदुष्य

हनुमानजी जितने शूर-वीर तथा पराक्रमी थे उतने ही, वे नाना प्रकार की विद्याओं के पारंगत पण्डित भी थे। हनुमान जी ने इन विद्याओं का अध्ययन स्वयं सूर्य भगवान् से किया था। सूर्य ऐसे विलक्षण गुरु हैं कि जो एक क्षण भी एक स्थान पर टिकते नहीं। प्रातःकाल उदय लेकर जब वे आकाश मण्डल पर चढ़ने लगते हैं, तब से लेकर सायंकाल तक उन्हें एक क्षण का विश्राम नहीं मिलता। ऐसे जंगम गुरु से स्थिरचित्त होकर विद्या का अध्ययन करना कितना कठिन है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु हनुमान जैसे विलक्षण शिष्य ने ऐसे गुरु से भी विद्या की उपलब्धि कर ली। रथ पर चढ़े हुए सूर्य विद्या का अध्यापन करते थे और उनके आगे हनुमान जी पिछले पैरों से चलते हुए उनका यथावत् ग्रहण करते थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि के द्वारा नाना शास्त्रों का अध्ययन तथा ज्ञान संपादन किया।

अञ्जनीकुमार व्याकरणशास्त्र में बड़े ही निपुण थे। इसका परिचय वाल्मीकि-रामायण के किष्किन्धा काण्ड के आरम्भ में मिलता है, जब वे रामचन्द्र को सुग्रीव से भेंट करने के लिये प्रार्थना करने गये थे। उनकी विमल, व्याकरण सम्मत तथा वैदिक तत्त्वों से युक्त वाणी को सुनकर भगवान् रामचन्द्र ने उसकी प्रशंसा में स्वयं कहा था कि जिस व्यक्ति ने ऋग्वेद का गंभीर अध्ययन, यजुर्वेद का मनन तथा सामवेद का पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त किया हो, क्या वह व्यक्ति इतना सुन्दर भाषण करने में समर्थ हो सकता है? इन्होंने समग्र व्याकरण का पूरा अध्ययन किया है क्योंकि बहुत विस्तृत भाषण करने पर भी इसमें किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं दिखलाई पड़ी। वाणी में जितने दोष दिखलाई पड़ते हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में है। उनमें से एक भी दोष इनकी वाणी में नहीं हैं। ऐसी विचित्र वाणी सुनकर किसका चित्त प्रसन्न नहीं हो जायेगा चाहे वह हाथ में तलवार लेकर मारने के लिये उद्यत शत्रु भी क्यों न हो? वाल्मीकि के शब्दों में ही हनुमान जी की इस वाणी की प्रशंसा सुनिये :—

न नृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
ना सामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥ २७॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥ २८॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥ ३२॥

(किष्किन्धा काण्ड तृतीय अ०)

इस प्रकार व्यारणशास्त्र के ज्ञान में हनुमान जी की प्रभुता का स्पष्ट परिचय देने वाले महर्षि आदिकवि वाल्मीकि जी हैं।

संगीतशास्त्र के भी वे बड़े विज्ञ आचार्य माने जाते हैं। संगीतशास्त्र के ग्रन्थों में श्री हनुमान जी का मत 'मारुति' और आञ्जनेय' के नाम से उपलब्ध होता है। संगीत-ग्रन्थों में निर्दिष्ट प्राचीन संगीताचार्यों में मारुति का, उनके द्वारा रचित 'आञ्जनेयसंहिता' तथा उनके विशिष्ट संगीत सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख बहुशः किया गया मिलता है। संगीतरत्नाकर (१-१७) में शार्ङ्गदेव ने (विक्रम की तेरहवी शती) प्राचीन संगीताचार्यों के साथ आञ्जनेय का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

> आञ्जनेयो मातृगुप्तः रावणो नन्दिकेश्वरः।
> स्वातिर्गणो देवराजः क्षेत्रराजश्च राहुलः॥

'संगीतपारिजातक' नामक ग्रन्थ में संगीतशास्त्र के प्रमुख तीन व्यक्ति निर्दिष्ट हैं जिनमें शार्दूल और काहल के साथ हनुमान जी संगीतशास्त्र के कर्ता के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं—

> कर्ता संगीतशास्त्रस्य हनूमांश्च महाकविः।
> शार्दूलकाहलावेतौ संगीतग्रन्थकारिणौ॥

हनुमान जी की रचित 'आञ्जनेय संहिता या 'हनुमत् संहिता' उनके संगीत विषयक विशिष्ट मत का प्रकाशक है परन्तु नाना ग्रन्थों में उल्लिखित होने पर भी यह ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं होता। तंजौर के राजा रघुनाथ ने अपने 'संगीतसुधा' नामक ग्रन्थ में इस संहिता का निर्देश 'अञ्जनानन्दनसंहिता' के नाम से किया है तथा उनके मनन की बात लिखी है। संगीतरत्नाकर के टीकाकार 'कल्लिनाथ' देशीयराज के सम्बन्ध में आञ्जनेय का मत इस प्रकार दिया है:—

तथा चाह आञ्जनेयः—

> येषां श्रुतिस्वरग्रामजात्यादिनियमो न हि।
> नानादेशगतिच्छाया देशीरागास्तु ते स्मृताः॥

इन प्रमाणों से निश्चित है कि हनुमानजी संगीतशास्त्र के प्रमुख आचार्य थे जिनके संगीत मत का उल्लेख प्राचीन संगीत ग्रन्थों में बहुशः किया गया है।[1]

मध्य कालीन भक्त कवियों ने भी हनुमान जी के संगीत कला की प्रशंसा की है। तुलसीदास ने अपनी विनयपत्रिका में हनुमान जी के संगीतज्ञ होने का निर्देश किया है।

विनयपत्रिका में तुलसीदास जी ने अञ्जनी-नन्दन की स्तुति में अनेक पदों का निर्माण किया है। उनमें उनकी विद्या की, गायन की तथा नर्तन की भूरि-भूरि

---

१. द्रष्टव्य—कल्याण हनुमान विशेषांक, १९७५ जनवरी (पृष्ठ ३८६–३८९)

प्रशंसा अनेकत्र की गई है। गान तथा अन्य विद्याओं के विषय में गोस्वामी जी ने लिखा है—

जयति निगमागम-व्याकरण-करन लिपिकाव्य-कौतुक-कला-कोटि सिन्धो।
सामगायक,भक्तकामदायक,वामदेव-श्रीरामप्रिय प्रेम - बन्धो ।।
(विनयपत्रिका पद २८)

गोस्वामी जी की दृष्टि में हनुमान जी सामगायन करने में गायकों में अग्रणी थे। ऊपर के पद में तो 'सामगायक' सामान्य शब्द का प्रयोग है परन्तु पद २७ में उन्हें 'सामगाताग्रणी' (अर्थात् सामगायकों में अग्रगण्ये) बतलाया गया है। मारुतनन्दन अध्यात्मशास्त्र वेद-वेदांग तथा वेदान्त (उपनिषदों) के महनीय ज्ञाता के रूप में चर्चित किये गए हैं—

जयति वेदान्तविद,विविधविद्या-बिशदबेद-बेदांगविद ब्रह्मवादी।
ज्ञान वैराग्य विज्ञान भाजन विभो, विमल गुन गनत सुक नारदादी ।।
(विनयपत्रिका २६ पद)

रामचन्द्र को भगवती जनकनन्दिनी के साथ राजसिंहासन पर विराजमान देखकर हनुमान जी निर्भर आनन्द से नाचते हैं—

जयति सिंहासनासीन सीता रमन निरखि निर्भर हरस नृत्यकारी (पद २७)

और रामकथा के श्रवण में इतने मग्न हो जाते हैं कि उनका शरीर रोमाञ्चित, लोचन सजल तथा वाणी शिथिल हो जाती है—

जयति रामायण-श्रवण-संजात रोमांच-लोचन सजल शिथिल बानी (पद २९)

इस प्रकार वे संगीत के मर्मज्ञ आचार्य ही नहीं है, प्रत्युत रसिक श्रोता, सरस गायक एवं कौतुकी नर्तक भी हैं।

महाराष्ट्र के सन्त रामदास स्वामी ने भी हनुमान जी को 'संगीत-ज्ञान-महंता' शब्द से सम्बोधित किया है। श्रीमद्भागवत ने भी हनुमान जी के रामनाम की उपासना, गायन तथा जप का वर्णन किया है। भागवत के पंचम स्कन्ध १६ वा अध्याय में लिखा है कि हनुमान जी किंपुरुष वर्ष में विराजित श्रीरामचन्द्र जी के चरण कमलों के समीप श्रद्धापूर्वक बैठते हैं और किन्नरों के साथ अनन्य भक्ति-पूर्ण हृदय से उनकी उपासना करते हैं। वहाँ अन्य गंधर्वों के साथ आर्ष्टिषेण श्री राम का मंगलमय गुणगान किया करते हैं। उसे हनुमान जी अत्यन्त भक्ति-पूर्वक श्रवण करते हैं। वे स्वयं इस मंत्र का जप करते हैं :—

'ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति।'

(श्रीमद्भागवत ५।१६।३, देवी भागवत ८।१०।१४)

वे भावविभोर होकर भगवान की इस प्रकार स्तुति करते हैं। यह स्तुति पाँच श्लोकों में हैं जिनमें से तीन पद्य यहाँ दिये जा रहे हैं :—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ ५ ॥
न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः ॥ ७ ॥
सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत् कोसलान् दिवमिति ॥ ८ ॥

(श्रीमद्भागवत् ५ स्क०, १६ अ०)

पद्यों का क्रमशः तात्पर्य है—

प्रभो! आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसों के वध के लिये ही नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्यों को शिक्षा देना है। अन्यथा अपने स्वरूप में ही रमण करने वाले साक्षात् जगदात्मा जगदीश्वर को सीताजी के वियोग में इतना दुःख कैसे हो सकता है।

आपके ये व्यापार केवल लोक-शिक्षा के लिये ही है। लक्ष्मणाग्रज! उत्तम कुलों में जन्म, सुन्दरता, वाक् चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ योनि—इनमें से कोई भी गुण आपकी प्रसन्नता का कारण नहीं हो सकता। यह बात दिखाने के लिये ही आपने इन सब गुणों से रहित हम बनवासी बानरों से मित्रता की है।

देवता, असुर, वानर अथवा मनुष्य--कोई भी हो, उसे सब प्रकार से श्रीरामरूप आपका ही भजन करना चाहिये, क्योंकि आप नर रूप में साक्षात् श्रीहरि ही हैं और थोड़े किये को भी बहुत अधिक मानते हैं। आप ऐसे आश्रित-वत्सल हैं कि जब स्वयं दिव्यधाम को सिधारे थे, तब समस्त उत्तर कोसलवासियों को भी अपने साथ ही लेते गये थे।

इस प्रकार हनुमान का अवतार मानवों के कल्याण के लिए, उत्पीडित दीन-हीन जनों के मंगल के लिए तथा इस भूतल से पाप, ताप, सन्ताप के दूरीकरण के लिये हुआ था। उनका जीवन ही सच्चे दास-व्यक्ति का प्रमाण उपस्थित करता

है। उनके प्रत्येक कार्य में अपूर्वता है, बिलक्षणता है तथा आकर्षण शक्ति से सम्पन्नता है। इनके समग्र जीवन का एकत्र निरूपण इस अधोलिखित पद्य में महाकवि लछिराम ने बड़ी ही सरस भाव भंगी से किया है :—

सोक मैथिली को हर्‌यो बिहरि असोक–बाग,
दूत रघुवीर, भर्‌यो गुनन गँभीर को।
दाह्यौ लंक प्रलै-ज्वाला-माला-सी प्रताप धर,
अछयकुमारे मार्‌यौ बजरसरीर को॥
परम बिरागी, मिल्यो रच्छक बिभोषन सों,
'लछिराम' धरनिधनी है धर्मधीर को।
जालिम जलधि–कूद्‌यो हनूमान बलवान,
सिरमौंर साखामृग, सुवन समीर को।

(रामचन्द्रभूषण—३२६)

लौकिक संस्कृत साहित्य

खण्ड ३

सत्कविरसना-शूर्पी निस्तुषतर-शब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा दासी ।।

३ : १

संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार

वृन्दारका यस्य भवन्ति भृंगा मन्दाकिनी यन्मकरन्दबिन्दुः।
तवारविन्दाक्ष! पदारविन्दं वन्दे चतुर्वर्ग-चतुः स्यदं तत्॥

संस्कृत भाषा के प्रेमियों तथा संस्कृत परिषद् के सभ्य गण,

आप लोगों ने अपनी स्वाभाविक कृपा के द्वारा मुझे इस सभा के सभापति पद के ऊपर जो आसीन किया है इसके लिये मैं आप लोगों को किन शब्दों से धन्यवाद दूँ। यह मैं ठीक-ठीक नहीं जानता। मेरा यह कथन केवल उपचार-मात्र नहीं है, प्रत्युत बिलकुल सच्चा है। अनेक संस्कृत के धुरन्धर महान् विद्वानों के रहने पर भी आप लोगों ने जो मुझे अपनी कृपा का भाजन बनाया है, इस विषय में आप लोगों की निसर्ग कोमल अनुकम्पा ही कारण है। इस जन की गुण-गरिमा कोई भी गणनीय नहीं है। जो कुछ भी हो, मैं आप लोगों के महान आदेश को पाकर वाराणसी से यहाँ आया हूँ और यथाशक्ति देववाणी के महनीय गुणों का कुछ वर्णन कर अपने को पवित्र करना चाहता हूँ।[१]

देववाणी लोकवाणी थी

संस्कृत हमारी देववाणी है। हमारे धर्म से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले समग्र ग्रन्थ इस भाषा में निबद्ध किये गये हैं। वे ग्रन्थ भी संस्कृत में हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध धर्म से नहीं है। मानव-जीवन के लक्ष्यभूत चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों विषयों पर हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने जो रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे सब संस्कृत में निबद्ध हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों की भाषाए संस्कृतमूलक हैं, यह किसे विदित नहीं है? विचित्र बात तो यह है कि सुदूर दक्षिण की द्राविडी भाषाओं का भी बहुत बड़ा अंश संस्कृत भाषा पर आश्रित है। आर्य लोगों ने जिन उपनिवेशों को स्थापित किया, वहाँ संस्कृत राजभाषा के रूप में मान्य हुई। इस प्रकार संस्कृत का महत्त्व हमारी संस्कृति तथा सभ्यता के इतिहास में बहुत बड़ा है।

यहाँ हम वैदिक संस्कृत के विषय में कुछ नहीं कहते, जो अपने समय में बोलचाल की भाषा थी ही। लौकिक संस्कृत के विषय में लोगों की भ्रान्त धारणा बनी हुई है कि यह बोलचाल की भाषा कभी नहीं रही। इसे सुव्यवस्थित रूप

---

१. छत्तरपुर (मध्य प्रदेश) की संस्कृत-परिषद् का अध्यक्षीय भाषण मार्च (१९५७ ईस्वी)।

प्रदान करने का श्रेय महर्षि पाणिनि को प्राप्त है। संस्कृत भाषा में जो एकरूपता तथा व्यवस्था दीख पड़ती हैं, वह सब पाणिनि की ही अनुकम्पा का प्रसाद है। कुछ लोग यह दोष पाणिनि पर लगाते हैं कि उन्होंने सूत्रों के द्वारा भाषा को जकड़ कर उसे अस्वाभाविक बना दिया। परन्तु यह तथ्य नहीं है। यदि पाणिनि का व्याकरण न होता तो संस्कृत भाषा में इतने रूपांतर होते, उसमें इतनी विकृति आ जाती कि हम उसे पहचान भी नहीं सकते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी भाषाविज्ञान के नियमों के आधार पर बनी है। यह उनके भाषा-ज्ञान का चूडान्त निदर्शन है। पाणिनि के अनन्तर वार्तिककार कात्यायन हुए, जिन्होंने अष्टाध्यायी पर वार्तिकों की रचना की। इन वार्तिकों में पाणिनिकाल के अनन्तर प्रयुक्त होनेवाले शब्दों की व्युत्पत्ति बतायी गयी है।

विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में पतंजलि ने 'अष्टाध्यायी' पर 'भाष्य' लिखा, जो इतना सुन्दर, उपादेय तथा प्रामाणिक है कि उसे 'महाभाष्य' के नाम से पुकारते हैं। लौकिक संस्कृत के कर्ता-धर्ता ये ही तीन मुनि हैं, जिनके कारण व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से विख्यात है। बाद के युग में संस्कृत व्याकरण पर जो कुछ लिखा गया वह केवल इस 'मुनित्रय' के ग्रन्थों की व्याख्यामात्र है। विद्वानों का कथन है कि इस 'मुनित्रय' के द्वारा संस्कृत होने के कारण ही यह देववाणी 'संस्कृत' नाम से अभिहित की जाती है। दण्डी इस बात के समर्थक हैं—संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः (काव्यादर्श)।

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोक-व्यवहार में उसका क्या रूप था; वह बोलचाल की भाषा थी या नहीं। इसके विषय में दो विरोधी मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृत ही बोलचाल की भाषा थी, संस्कृत तो केवल साहित्यिक भाषा है, जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता रहा, बोलचाल में नहीं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोलचाल की भी भाषा रही है, किसी समय में भारतीय जनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी, धीरे-धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होने लगा, परन्तु इसका प्रचलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा।

महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलायी गयी है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध करता है। जो भाषा वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की बोली थी, उसे यास्क ने स्थान-स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से की है जो लोक-व्यवहार में आते थे। उस समय भिन्न-भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट

प्रयोग काम में लाये जाते थे, उन सबका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रिया-पद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पंजाब के पश्चिमोत्तर प्रान्त) में 'जाना' अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसके संज्ञा-पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग करते थे। पूर्वी प्रान्तों (प्राच्य) में 'दाति' क्रिया-पद का प्रयोग 'काटना' अर्थ में होता था, परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र' शब्द का प्रयोग 'हँसिया' के अर्थ में होता था। इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि का प्रामाण्य

पाणिनि के समय में (विक्रम-पूर्व पाँच सौ) संस्कृत का यह रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को 'भाषा' ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्याभिवादन के अवसर पर पाणिनि के प्लुत स्वर का विधान किया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना हो तो संस्कृत में 'अगच्छ कृष्ण ३' कहना पड़ेगा। वहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा। इसी प्रकार अभिवादन करने के अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा, जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे—आचार्य, देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये (गुरु जी, मैं देवदत्त आपको प्रणाम कर रहा हूँ), तो वह कह कर आशीर्वाद देगा—आयुष्मान् एधि देवदत्त ३ ! (आयुष्मान् बनो हे देवदत्त३)। इस आशीर्वाद-वाक्य में 'देवदत्त' शब्द के अन्त का अकार प्लुत हो जाएगा, यह पाणिनि की व्यवस्था है।

इन नियमों का उपयोग तभी हो सकता है जब भाषा वस्तुत: बोली जाती हो। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने संस्कृत के उन रूपान्तरों को लिखा है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों द्वारा व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं, जैसे दण्डा-दण्डि (डंडा-डंडी, लाठा-लाठी); केशाकेशि (नोचा नोची; बालों को खींच कर होनेवाला युद्ध), हस्ताहस्ति (हाथा-हाथी या हाथापाई), उदरपुरं भुङ्क्ते (पेट भर खाता है।) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल की भाषा थी। यदि ग्रन्थ के लिखने में ही उसका उपयोग होता, तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

कात्यायन

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रम-पूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतंजलि के समय (विक्रम पूर्व द्वितीय शतक) में संस्कृत भाषा विकसित होती गयी; उसमें नये-नये शब्द आने लगे, नये-नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा। इसीलिए कात्यायन ने वार्त्तिक लिखकर उनकी व्यवस्था कर दी। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है,

परन्तु कात्यायन के समय में 'महत्त्व' के अर्थ में इनका प्रयोग होने लगा। 'अरण्यानी' का अर्थ हुआ—बड़ा जंगल। इसी प्रकार कात्यायन के समय में 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की लिपि के अर्थ में होने लगा। पाणिनि के समय में 'यवन की स्त्री' के लिए इसका प्रयोग होता था। पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की प्रक्रिया दिखलायी है। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होने भी किया है; यथा, 'चलने' के अर्थ में सुराष्ट्र (काठियावाड़) में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं; पूरब देश में 'रहति' का; आर्य लोगों में 'गच्छति' का। पतंजति ने ऐसे लोगों को 'शिष्ट' बतालाया है जो बिना किसी अध्ययन के ही संस्कृत शब्दों का शुद्ध प्रयोग करते थे। इनके जो प्रयोग होते थे वे सर्वसाधारण के लिए प्रमाणभूत माने जाते थे।

महाभाष्य

महाभाष्य ने एक बड़ा रोचक संवाद दिया है जिसमें 'प्राजितृ' (चलाने वाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में एक वैयाकरण तथा एक सारथि में खूब वाद-विवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा, 'इस रथ का प्रवेता कौन है? सूत—आयुष्मन्, मैं इस रथ का प्राजिता (चलाने वाला) हूँ। वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—देवानां प्रिय, महाशय जी, आप केवल 'प्राप्तिज्ञ' हैं 'इष्टिज्ञ' नहीं हैं (अर्थात् लोक-व्यवहार के प्रयोग से अनभिज्ञ हैं)। वैयाकरण—अहो, यह 'दुरुत' (दुष्ट सूत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है! सूत—आपका 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द 'सू' (उत्पन्न करना) धातु से बना है, 'वेञ' (बुनना) धातु से नहीं। अत: यदि आप निन्दा कहना चाहते हैं तो 'दु:सूत' शब्द का प्रयोग करें।

सूत का कथन अधिक उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकनेवाला समझे और बोले, उसे बोलचाल की भाषा न कहना कहाँ तक ठीक है? मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है, चाहे खड़ी-बोली में वे न दीख पड़ें, जैसे—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु (भाष्य १, ३, १) की छाया हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती है 'गोड़ी कइली मूड़ी कइली, तऊ हमार गुन त का तू मनल' (हर प्रकार की सेवा मैंने तुम्हारी की, परन्तु तुमने उसका कुछ भी गुन नहीं माना)। 'कृ' धातु का सामान्य अर्थ है 'करना', परन्तु इसका एक और भी विशिष्ट अर्थ है, जिसका उल्लेख महाभाष्यकार ने किया है। यह अर्थ है—'साफ करना', 'दबाना' या 'सेवा करना'। इसी विशिष्ट अर्थ में भाष्यकार के ये प्रयोग हैं—पृष्ठं कुरु (पीठ को दबाओ), पादौ कुरु (पैरों को दबाओ या उनकी सेवा करो)। इस अर्थ में 'कृ' का प्रयोग संस्कृत साहित्य में भी बहुत कम उपलब्ध होता है। जयदेव ने गीत-गोविन्द की एक अष्टपदी में इसका विशिष्ट प्रयोग किया है—

करकमलेन करोमि चरणमह—
मागमितासि विदूरम्। (सर्ग १२)

इन मुहावरों के प्रयोग से संस्कृत भाषा की सजीवता, लोकप्रियता तथा व्यावहारिकता का पता चलता है। इन प्रमाणों के आधार पर, विक्रम से हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय तथा बाद की अनेक शताब्दियों तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की भाषा थी, इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृतप्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रक्खा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाएगा। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। धारा नरेश राजा भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुत प्रयोग होता था। हम उस जुलाहे की बात कभी नहीं भूल सकते जिसने संस्कृत में अपना परिचय देते समय कहा था, 'काव्य तो मैं उतना अच्छा नहीं बनाता पर यदि यत्न से लिखूँ तो सुन्दर भी लिख सकता हूँ।' एक साधारण जन की इतनी संस्कृतज्ञता तथा काव्य-प्रेम अत्यन्त श्लाघनीय है।

संस्कृत का महत्त्व

आप संस्कृत भाषा के प्रचार चाहने वाले उदारचेता महानुभाव हैं। आप तो जानते ही होंगे कि यह हमारी सुरभारती अन्य भाषाओं में सबसे प्राचीन तथा सबसे श्रेष्ठ है। पश्चिमी भाषाशास्त्रियों का कहना है कि आर्यभाषाओं के बीच संस्कृत के समान प्राचीन भाषा कोई दूसरी नहीं है। मेरी सम्मति में उनका यह कथन प्रायोवाद है। तथ्यवाद तो यह है कि संस्कृत आर्यभाषाओं की जननी है। संस्कृत का महत्त्व उसकी प्राचीनता ही के कारण नहीं है, बल्कि उपादेयता के कारण भी। कौन विद्वान् नहीं जानता कि संस्कृत-भाषा का परिचय अन्य भाषाओं के भी गूढ़ रहस्यों को खोलने में समर्थ होता है। अंग्रेजी भाषा बड़ी ही समृद्धिशालिनी और महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, परन्तु उसका भी परिचय संस्कृत के बिना ज्ञान के पूरा नहीं हो सकता। अंग्रेजी में रात के लिए 'नाइट' शब्द का व्यवहार होता है। 'नाइट' की वर्तनी (स्पेलिंग) पर ध्यान दीजिये। यह वर्तनी है - night इस शब्द के भीतर दो वर्ण gh अनावश्यक से हैं क्योंकि इनका उच्चारण ही नहीं होता। अब किसी अंग्रेजीदाँ से पूछिये कि तब ये निकाल क्यों नहीं दिये जाते। इसका ठीक उत्तर एक संस्कृतज्ञ व्यक्ति ही दे सकता है। 'gh' घकार का द्योतक है। अतः नाइट शब्द के पेट में इन अनुच्चार्यमाण दो वर्णों की सत्ता इस बात का प्रमाण है कि इसके मूल शब्द में घकार या कोई कवर्गीय वर्ण है। वह मूल शब्द है— संस्कृत का नक्तम् (= रात)। इसीलिए लैटिन भाषा का एतत्सदृश शब्द है Noctus (नाकतुस्) जिससे अंग्रेजी भाषा का एक विशेषणपरक शब्द बनता है Nocturnal (नाक्टरनल)। फलतः इस दीर्घ परम्परा की जानकारी के लिए संस्कृत का परिचय आवश्यक है। संस्कृत की इसी विशिष्टता के कारण इसके

अध्ययन की सुन्दर व्यवस्था यूरोपीय विश्वविद्यालयों में की गई है जहाँ संस्कृत के प्राध्यापक का पद मान्य और प्रतिष्ठित माना जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि मुसलमानी देशों में भी संस्कृत के अध्ययन की ओर अभिरुचि बढ़ रही है। आप शायद जानते न होंगे कि काबुल विश्वविद्यालय में पठान बालकों को संस्कृत पढ़ाई जाती है अनिवार्य रूपेण न सही। उन लोगों का विश्वास है कि पठान बालक अपनी मातृभाषा 'पश्तो' में प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह संस्कृत से परिचय न रखे। फारस के शिक्षाधिकारियों ने इसी प्रकार तेहरान विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापन का सुप्रबन्ध किया है तथा टर्कीवाले भी अपने मुख्य विद्यालय में संस्कृत के अध्यापन की व्यवस्था करने जा रहे हैं। क्या यह संस्कृत के लिए गौरव की बात नहीं है कि हम ईसाई और मुसलमानी देशों में उसके अध्यापन की व्यवस्था पाते हैं। तथ्य बात यह है कि संस्कृत भाषा विश्वभाषा है और संस्कृत साहित्य विश्व साहित्य है। जिस प्रकार आजकल संसार के समस्त सभ्य व्यक्ति अंग्रेजी भाषा से कुछ न कुछ परिचय रखता है उसी प्रकार प्राचीन और मध्ययुग में संस्कृत की ऐसी ही महनीय तथा श्लाघनीय स्थिति थी। संस्कृत का ज्ञान सभ्यता तथा शिष्टता का चिन्ह था और जो उससे मण्डित नहीं होता वह शिक्षित कहलाने की योग्यया नहीं रखता था। संस्कृत के इस महत्त्व को आज फिर से जानने और जगाने की आवश्यकता है। संस्कृत के इस उदात्त रूप से हम लोग अनभिज्ञ ही हैं।

बृहत्तर भारत में संस्कृत

देववाणी के प्रभूत गौरव की जिज्ञासा हमें बृहत्तर भारत के देशों की ओर ले जा रही है जहाँ भारत की संस्कृति संस्कृत भाषा की कृपा से फूलती फलती रही है। यह तो सच्चा इतिहास है कि भारत वर्ष के निगमागम में प्रवीण ब्राह्मणों ने भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के प्रचारार्थ मलयद्वीप (मलाया प्रायद्वीप), वारुणद्वीप (बोरनियो), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), चम्पा तथा कम्बुज देश (कम्बोडिया) आदि नाना द्वीपों और देशों में अपने विशिष्ट उपनिवेश बसाये तथा वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचुर प्रचार किया। हिन्दू राज्य स्थापित किये। और ऐसे मान्य ब्राह्मणों में कौण्डिन्य का नाम अत्यन्त श्रद्धा तथा भूयसी प्रतिष्ठा का भाजन है। यहाँ के हिन्दू राजाओं ने संस्कृत भाषा का अपने देशों में खूब ही प्रचार किया और भारतीय राजाओं के समान इन महीपतियों ने संस्कृत को राजभाषा बनाया। इन राजाओं के शिलालेख तथा अभिलेख संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इन शिलालेखीय संस्कृत काव्यों के अध्ययन से हमें संस्कृत के महनीय गौरव का परिचय मिलता है। इन काव्यों की भाषा पाणिनि व्याकरण के सूत्रों से नितान्त विशुद्ध संस्कृत है। युद्धों के वर्णन में प्रौढता है। राजाओं की प्रशस्तियाँ नितान्त हृदयंगम है। देवताओं की स्तुति भक्तिरस से स्निग्ध है। ये काव्य भारत में लिखित संस्कृत काव्य के इतिहास में एक ललित

लड़ी जोड़ते हैं। कतिपय उदाहरणों से इस कमनीयता को परखिए।

चम्पादेश के भद्रवर्मा (तृतीय) नामक राजा की यह वर्णन-परिपाटी वीररस से ओत-प्रोत है। अनुप्रास की छटा सहृदयों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है तथा वीररस के अनुकूल ओजोव्यञ्जक पदों का प्रौढ़ प्रयोग अत्यन्त आश्चर्य-जनक है। श्लोक की गाढबन्धता का परिचय उसके पाठ से ही भली-भाँति लग सकता है। यह पद्य ८३१ शाके (= ९०९ ईस्वी) के एक शिलालेख में उट्टंकित किया गया है :—

तुंगत्वङ्गत्-तुरङ्ग-त्वरित-खरखुरोद्धूतधूलिप्रधूम्रे
नाना नाराच धारारुण रुधिरकणाशोकपुष्पाङ्किताग्रे।
गर्जद् राजद्-गजेन्द्रध्वनिहतपटहोन्नादिताशान्तराले
चम्पाराजाधिराजः स जयति महसाऽऽजौ यथा पाण्डुसुनुः॥

बृहत्तर भारत के नाना देशों में भगवान् शंकर की उपासना का प्रचार खूब था और इसलिए इन देशों के राजाओं के द्वारा अनेक शिवलिंग स्थापित किये गये हैं तथा उनकी भक्तिभाव-पूरित कमनीय स्तुतियाँ संस्कृत में शिलाओं पर खुदी हैं। एक दो स्तुतियों को देखिये।

शंकर की स्तुति की बोधिका यह मालिनी कितनी सरल तथा सरस है—

जयति जितमनोजो ब्रह्मविष्णवादि - देव-
प्रणतपद-युगाब्जो निष्कलोऽप्यष्टमूर्तिः।
त्रिभुवनहितहेतुः सर्व-संकल्पहारी
परपुरुष इह श्रीशानदेवोऽयमाद्यः॥

(विक्रान्त वर्मा का शिलालेख ६५३ श०)

महादेव का स्वरूप वाणी के अगोचर है। वह अपरिमेय होने से विद्वानों की बुद्धि को सदैव चमत्कृत किया करता है। उसे यथार्थ रूप से जानने वाला व्यक्ति जगत् में कोई भी नहीं है। इसका वर्णन कितनी स्वच्छता से इस पद्य में किया गया है—

ऐश्वर्यातिशयप्रदो मुखभुजां यस्तप्यमानस्तपः
कन्दर्पोत्तम-विग्रह-प्रदहनो हिमाद्रिजायाः पतिः।
लोकानां परमेश्वरत्वमसमं यातो नदद्वाहनो
याथातथ्य-विशारदास्तु जगतामीशस्य नो सन्ति ही॥

वही शिलालेख

इस पद्य में विद्यमान विरोध के चमत्कार को तो देखिये। शिव स्वयं तो किसी अर्थ के लिए तपस्या करते हैं, परन्तु देवताओं को ऐश्वर्य का उत्कर्ष प्रदान करते हैं। हैं तो पार्वती के पति, परन्तु कामदेव को भस्म कर डाला है !! सवारी तो है बैल की, परन्तु धारण करते हैं संसार के परम पद को। शिव धन्य हैं जिनमें इन विरोधी गुणों का जमघट एक साथ वर्तमान रहता है। महाकवि कालिदास ने भी

ठीक यही बात कही है—"न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः" = शिव के यथार्थ रूप तथा गुण को जानने वाला कोई भी प्राणी जगत् में नहीं है।

शिवजी की आठ मूर्तियाँ हैं—पृथ्वी जल आदि जिनके द्वारा वे जगत् का मंगल साधन किया करते हैं। इस पद्य के अन्तिम चरण में विद्यमान उपमा पर ध्यान दीजिए। वह कितनी सुन्दर है। शब्दों का विन्यास जितना रुचिर और हृदयावर्जक है—

यस्यात्मानः सकलमरुतां मानिनां माननीया
अष्टौ पुण्या वरहितकृतः सर्वलोकान् वहन्ति।
अन्योन्यस्य स्वगुण - विदयागाढ - संवद्ध्यमाना
योग्या युग्या इव पथि पथि स्यन्दनान् स्यन्दमानान्।

इस पद्य की दार्शनिकता पर दृष्टिपात कीजिए यह नाना रूपात्मक जगत् भगवान शंकर से उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार सूर्य से रश्मियों का समुदाय। और प्रलय में उसी प्रकार यह शंकर में ही लीन हो जाता है।

स्वाः शक्तीः प्रतियोग्यतामुपगता क्षित्यादयो मूर्तयो
लोकस्थित्युदयादिकार्यपरता तामिर्विना नास्ति हि।
इत्येवं विगणय्य शक्तिवशिना येनाध्रियन्तेऽथ वा
का नामेह विभुः क्रिया न भजते याः स्युः परार्थोदये॥

(राजा प्रकाशधर्म के शिलालेख से, ५१९ शक)

इन देशों में शिव के साथ शक्ति की भी विशिष्ट उपासना प्रचलित थी जिसकी यह प्रशस्त-स्तुति भव्य कविता का नमूना है। कम्बुज देश में तंत्रशास्त्र का भी अध्ययन विशेष रूप से प्रचलित था। भगवती की स्तुति में यह अनुप्रास-बहुल श्लोक इस बात का प्रमाण है कि वहाँ के कवियों की प्रौढ़ि काव्य रचना में बहुत दूर तक बढ़ी चढ़ी थी। नीचे के पद्य को पढ़िये इसमें भकार को छोड़कर किसी अन्य वर्ण का दर्शन नहीं होता। भारत के भी कविजन ऐसी रचना के शब्द सौष्ठव को तथा आलङ्कारिक योजना को विशेष पसन्द करते थे। भगवती की स्तुति का यह भव्य पद्य इस प्रकार है :—

भूताभूतेशभूता भुवि भवविभवोद्भावभावात्मभावा
भावाभावास्वभावा भवभवकभवा भावभावैकभावा।
भावाभावाग्रशक्तिः शशिमकुटतनोरर्धकाया सुकाया
काये कायेशकाया भगवति नमतो नो जयेव स्वसिद्धया॥

(राजा जयपरमेश्वर वर्मा के शिलालेख से ९७२ श०)

बृहत्तर भारत के इन देशों में केवल संस्कृत काव्य का ही निर्माण विशेष रूप से नहीं होता था, प्रत्युत मीमांसा आदि छहो दर्शन तथा बौद्ध आगम का अध्ययन यहाँ कम नहीं था। काशिका के साथ व्याकरण में निपुणता पानेवाले विद्वानों का विशेष उल्लेख मिलता है। यहाँ तीन प्रकार के आश्रम थे—वैष्णव आश्रम, ब्राह्मण

आश्रम तथा सौगत आश्रम। इनमें संस्कृत का अध्यापन कराया जाता था। इन आश्रमों के अध्यक्ष (अर्थात् आचार्य) 'कुलाध्यक्ष' नाम से अभिहित होते थे। भारतवर्ष में व्याकरणज्ञाता की जिस प्रकार महती प्रतिष्ठा आज भी विद्यमान है, उसी प्रकार बृहत्तर भारत् के देशों में भी शैव–मत के आचार्य एवं पाशुपत–मत के आचार्य की अपेक्षा वैयाकरण का सर्वाधिक सम्मान किया जाता था। यह स्थिति विक्रम के दशकशतक में विद्यमान थी। फलत: वहाँ के नरेशों का ध्यान संस्कृत के प्रसार-प्रचार की ओर विशेष रूपेण दृष्टिगोचर होता है। वहीं के राजा राजेन्द्र वर्मा के शिलालेख में (लेखन काल ८८३ श० सं०=९६१ ई०) उपलब्ध यह पद्य लेखक के व्याकरण का गाढ़ परिचय प्रदर्शित कर रहा है—

राजन्वतीत्यन्यनृपोऽन्वशात् प्राङ् नीपातनाल्लक्षणमन्तरेण।
यो लक्षणैः संस्कृतवर्णबंधि-पदैस्तु साधुत्वधरां धरित्रीम्॥

इस पद्य में प्रथम पद की सिद्धि 'राजन्वान् सौराज्ये' (अष्टाध्यायी ८।२।१४) के द्वारा बनती है। फलत: लेखक का वैयाकरणत्व सुतरां अभिव्यक्त होता है।

पद्यों की रचना में जिस प्रकार व्याकरण की शुचिता है, उसी प्रकार उनके भावों तथा तात्पर्यों में दर्शनत्व का पर्याप्त पुट भी विद्यमान रहता है। इस पद्य को पढ़िये—

यतो जगत् स्थास्नु चरिष्णु रूपं
विवर्ततेऽर्कादिव रश्मिजालम्।
यत्रैव भूपः परिलीयते तद्
अहो विचित्रो महतां निसर्गः॥

बृहत्तर भारत में इस संस्कृत काव्य के सुन्दर निदर्शन उपलब्ध होते हैं। विशेष पुस्तकालय की स्थापना प्रत्येक आश्रम में की गई मिलती है जहाँ दो लेखक, दो पुस्तकों को रखने वाले (पुस्तक-स्थापक) तथा ६ पत्रकारक रहते थे। पत्रकारकों का काम था नये ग्रन्थों का हस्तलेख तैयार करना। पुस्तक-संग्रह का नाम था 'पुस्तकाश्रम' जो आजकल के प्रचलित 'पुस्तकालय' शब्द की अपेक्षा विशेष सुन्दर तथा मनोरम है। मेरे कथन का सारांश यह है कि केवल भारतवर्ष में ही नहीं प्रत्युत इन बाहरी प्रदेशों तथा द्वीपों में संस्कृत भाषा के अध्यापन तथा संस्कृत साहित्य की समृद्धि के लिये वहाँ के शासकों का महनीय उद्योग आज भी हमारी श्लाघा तथा आदर का भाजन है। इन सुदूर देशों की जनता संस्कृत को अपनी राज-भाषा समझती थी तथा उसके संवर्धन के लिए सदा तैयार रहती थी। यह तो हुई भारत के बाहर संस्कृत की स्थिति।

अब भारत की ओर आइये और संस्कृत के गौरव को समझिये। विद्वानों को बताने की आवश्यकता नहीं कि आज भारत में विद्यमान समग्र प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य की समृद्धि संस्कृत भाषा तथा साहित्य के ऊपर अवलम्बित है। द्राविड़ साहित्य के लिए भी यह कथन ठीक है। मलयालम भाषा में अस्सी प्रतिशत शब्द

संस्कृत से लिये गये हैं। कन्नड भाषा में साठ प्रतिशत, तेलगू में पचास प्रतिशत तथा द्राविड भाषा में तीस प्रतिशत। भारत के प्रान्त अपने देशाचार तथा भारत के विषय में भले ही भिन्न हों, परन्तु भारत की अखंडता तथा एकता संस्कृत के कारण ही है। कौन कहता है कि भाषा यह मृत है? जो भाषा साहित्य-रचना के प्रान्तीय भाषाओं को स्फूर्ति तथा उत्साह आज भी प्रदान करती है, वह क्या कभी मृत भाषा कही जा सकती है? कभी नहीं। वह हमारे जीवन के प्रतिक्षण में जाग्रत है। वह हमारी केवल धार्मिक भाषा ही नहीं है, बल्कि व्यावहारिक भाषा भी है।

यदि हम लोग अपने संस्कृति के अभ्युदय की, अपने साहित्य के विकास की, अपने भाषा में प्रौढ़ता की और अपने आचरणों में दिव्यता की, कामना करते हैं, तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम लोग संस्कृत का प्रचार और प्रसार नाना प्रकार के उपायों से करें। यह काम एक व्यक्ति का नहीं है। सब राज्यों के अधिकारी यदि सामूहिक रूप से मिलकर संस्कृत के अभ्युत्थान की योजना बनावें तो अवश्य सफल हो। भारत सरकार ने जो संस्कृत भाषा का आयोग नियुक्त किया वह सामयिक था और उससे देश का कल्याण हुआ है। हमारा तो यह निश्चित मत है कि अंग्रेजी स्कूलों में संस्कृत भाषा का अध्ययन मैट्रिक-परीक्षा तक अनिवार्य बना दिया जाय। इससे अनेक लाभ होंगे। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा है परन्तु इसमें प्रौढ़ि लाने के लिए संस्कृत का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के लिए नये शब्दों की व्यवस्था संस्कृत के ही आधार पर की गई है। परन्तु संस्कृत के छात्रों के जीवन-निर्वाह का भी प्रश्न है। यदि इन छात्रों को कोई वृत्ति निश्चित रूप से प्राप्त न हो सकेगी तो उनका संस्कृत अध्ययन उपयोगी न हो सकेगा।

अतएव यह हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम स्वयं संस्कृत सीखें और अपने बालकों को संस्कृत सिखावें। ऐसा उद्योग करें कि इसका प्रचार केवल भारत में न होकर भारत के बाहर समुद्र के उस पार तक भी हो जाय। हम भारतीयों को चाहिए कि हम संस्कृत में लिखे हुए ग्रन्थों को पढ़ें, अपने जीवन को उन्नत बनावें और ठीक अर्थ में आर्य बनें। आर्य का यह लक्षण कभी नहीं भूलें। आर्य वही है जो शांत वैर को कभी नहीं जगाता, गर्व नहीं करता। किसी प्रकार पराजय नहीं स्वीकार करता, विपत्ति आने पर भी जो बुरा काम नहीं करता वही सच्चा आर्य है।

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न गर्वमारोहति नास्तमेति
न दुर्गतोऽपीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं मुहुराहुरार्याः ॥

३ : २

संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीयता

सामान्य रीति से समझा जाता है कि राष्ट्रीय भावना की कल्पना विदेशों की उपज है और अंग्रेजों के इस देश में आने पर उन्हीं के सम्पर्क में इस पवित्र भावना का उदय भारतवर्ष में हुआ, परन्तु यह मान्यता एकदम भ्रान्त है। देश-प्रेम, देशोन्नति तथा राष्ट्रीय समुदय की भावना संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में पूर्ण रीति से विकसित है। संस्कृत साहित्य ही स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक चिन्तन की पूर्ण अभिव्यक्ति है। संस्कृत साहित्य के उद्गम का युग भारतवर्ष की पूर्ण स्वतन्त्रता का काल है जब भारतवर्ष विश्वभर में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा था, जब इसके अदम्य उत्साही सन्तान अपनी भुजाओं के बल पर भारतीय संस्कृति की पताका सर्वत्र फैला रहे थे तथा जब इसका "विश्वबन्धुत्व" का संदेश संसार के सभ्य मानवों तथा जातियों को भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर कर रहा था।

सच पूछिये तो संस्कृत साहित्य से इस विषय में तुलना करने पर भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में निबद्ध साहित्य बहुत ही फीका प्रभावहीनन प्रतीत होगा, क्योंकि वह तो पराधीनता के युग की अभिव्यक्ति है और यही कारण है कि न साहित्यों में भौतिक जीवन के प्रति वह उल्लास, भविष्य उदय की ओर वह आशावाद तथा आध्यात्मिक जीवन की ओर वह हार्दिक अनुराग दृष्टिगोचर होता जो संस्कृत-साहित्य की निजी सम्पत्ति है। फलतः संस्कृत-साहित्य में राष्ट्र-मण्डल की भावना, एक राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्र को जीवित इकाई जानने की बुद्धि पूर्ण रूप से पायी जाती है।

वैदिक युग से ही यह कल्पना बद्धमूल है कि भारतीय आर्य 'सप्त-सिन्धु' प्रदेश के ही निवासी हैं, कहीं बाहर से आकर यहाँ बसने वाले जीव नहीं हैं। फलतः इस मातृभूमि के प्रति उनकी अनुरक्ति होना स्वाभाविक ही है। वेद में यह पृथ्वी माता के रूप में, देवता के रूप में वर्णित है। प्राचीनतम द्योतमान देव दो ही है—एक तो है हमारे ऊपर प्रकाशमान आकाश जो पितृरूप है तथा दूसरा है प्राणियों को आश्रय देनेवाली पृथ्वी जो मातृरूपा मानी जाती है। वैदिक आर्यों के ही दोनों प्राचीनतम देव हैं। माता-पिताकी यह युग्म कल्पना 'द्यौष्पितर' तथा 'पृथ्वी' के रूपमें हमें वेदों के मन्त्रों में बहुशः उपलब्ध होती है। इस उदात्त कल्पना का प्रथम दर्शन हमें ऋग्वेद के ही मंत्रों में मिलता है। कुछ मन्त्रों को लीजिये—

द्यौर्मे पिता जनिता (ऋग्वेद १।१६४।३३)

द्यौर्नः पिता जनिता (अथर्व ६।१०।१२)

द्यौर्मे पिता पृथिवी मेमाता (काठक संहिता ७।१५।१६)
यं मे नाभिरिह मे सधस्थम् (ऋग्वेद १०।६१।१९)

अथर्ववेद का पृथ्वी-सूक्त तो वैदिक आर्यों के राष्ट्र-प्रेम का समुज्ज्वल प्रतीक है। इस पूरे सूक्त (अथर्व १२ काण्ड, १ सूक्त) में पृथ्वी के स्वरूप का जो साहित्यिक वर्णन है वह आर्यों के देश के प्रति प्रगाढ़ अनुराग की अभिव्यक्ति करने वाली देश-भक्ति का सरस परिचायक है। पृथ्वी की महिमा का यह महनीय विवरण स्वातन्त्र्य के प्रेमी तथा स्वच्छन्दता के रसिक आथर्वण ऋषि का हृदयोद्गार है। इस सूक्त के ऋषि ने ६३ मन्त्रों में मातृरूपिणी भूमि को समग्र पार्थिव पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप में उद्घोषित किया है तथा प्रजा को समस्त बुराइयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने और सुख-सम्पत्ति की वृष्टि करने के लिये भव्य प्रार्थना की है। एक दो दृष्टान्तों से इस माहात्म्य को परखिये—

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥

अर्थात् जिसे अश्विन ने नापा, जिस पर विष्णु ने अपने पादप्रक्षेपों को रखा; जिसे सामर्थ्य के स्वामी (शचीपति) इन्द्र ने अपने वास्ते शत्रुओं से रहित बनाया वह भूमि मुझे इसी प्रकार दूध दे जिस प्रकार माँ अपने बेटे को दूध पिलाती है।

एक दूसरे मंत्र में पृथ्वी के ऊपर मानवों के नाचने-गाने, कूदने-फांदने और लड़ने-भिड़ने का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है। जहाँ युद्ध के समय सैनिकों का गर्जन होता है तथा नगाड़ा बजता है, वह पृथ्वी हमारे सब शत्रुओं को भगा डाले तथा हमारे शत्रुओं का नाश कर हमें शत्रु-विहीन कर दे—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां नदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान्
असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥ (मन्त्र ४१)

कितना उल्लासमय उद्गार है वैदिक ऋषि का और कितनी आशा है भौतिक जीवन को सुखमय बनाने की। वैदिक आर्य सर्वदा भौतिक जीवन को सुन्दर, सुखमय तथा उपयोगी बनाने की प्रार्थना अपने इष्ट देवताओं से किया करता था। जिस पृथ्वी पर उसका निवास था तथा जो उसके भोग-विलास और सुख-समृद्धि की जननी थी उसे पूजनीया माता के समान आदर की दृष्टि से देखना नितान्त स्वाभाविक है।

ऋग्वेद का नदी सूक्त (१०।७५) अपने देश की पवित्र नदियों के प्रति उच्च आग्रह, अनुराग तथा प्रगाढ़ प्रेम का प्रतिनिधित्व करता है। इस मंत्र में गंगा

यमुना का प्रथमतः उल्लेख इसका स्पष्ट प्रतीक है कि ये नदियाँ ऋग्वेदीय युग में भी पवित्रता की दृष्टि से देखी जाती थीं। यह सुप्रसिद्ध मंत्र है—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जिकीये शृणुह्या सुषोमया॥
(ऋग्० १०।७५।५)

इस सूक्त के अन्य मंत्रों में भारतवर्ष की नदियों के नाम हैं और उनसे ऋषि कामनापूर्ति के लिए विनय कर रहा है। फलतः वैदिक आर्यों की दृष्टि में ये नदियाँ कोई केवल जलमयी निर्जीव वस्तुयें नहीं थीं, प्रत्युत वे कल्याण करने वाली सजीव देवता थीं और इसलिए उनसे प्रार्थना सुनने तथा कामना पूरा करने के लिए इतना आग्रह किया गया है। आर्य देश की एकता तथा अखण्डता की इससे बढ़कर शोभन कल्पना क्या की जा सकती है?

पुराणों का प्रामाण्य

पुराणों के पृष्ठों में यह राष्ट्र-भावना और भी मुखरित होती है तथा राष्ट्र के एकत्व तथा देश-भक्ति का सरस राग स्पष्टतः सुनायी पड़ता है। प्रत्येक पुराण भारतवर्ष को एक इकाई के रूप में मानता है तथा इसके विभिन्न प्रान्तों, नदियों, पर्वतों, सरोवरों, तीर्थों, आश्रमों तथा नगरों का बड़ा ही विशद तथा यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करने में वह सर्वदा जागरूक रहता है। इसलिये प्रत्येक पुराण में "भुवनकोष" का विषय वर्ण्य विषयों में सम्मिलित किया गया है। भारतवर्ष की अखण्डता तथा देश-प्रेम का यह राग विष्णुपुराण तथा भागवत के प्रख्यात पद्यों में बड़ी सुन्दरता से अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। देवता लोग भारतवासियों की धन्यता के गीत गाते हैं, क्योंकि यह भारत देश स्वर्ग तथा मोक्ष पाने का सुखद पन्थ है, और देवता होने के बाद भी यहाँ जन्म लेकर मानव अपने परम कल्याण का सम्पादन करता है—

गायन्ति देवाः खलु गीतकानि धन्यास्तु ते भारभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
(विष्णुपुराण)

भागवत के शब्दों में तो स्वर्गलोक में कल्प की आयु पाने की अपेक्षा भारतवर्ष में क्षणभर की आयु पाना श्रेयस्कर है, क्योंकि इस कर्मभूमि के ऊपर क्षणभर में किये गये कर्मों का संन्यास कर मानव भगवान् नारायण के अभयपद को सद्यः प्राप्त कर लेता है—

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः।
(भाग० ५।१९।२३)

भारतवर्ष में जन्म लेना देवताओं की भी ईर्ष्या का विषय है। देवता लोग भारत में जन्म लेने के लिये तरसा करते हैं और भारतवासियों के शोभन कर्मों की

भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते हैं कि भारतवासियों के ऊपर तो स्वयं भगवान् ही प्रसन्न रहते हैं। भारत के प्रांगण में जन्म लेना मुकुन्द की सेवा का मुख्य उपाय है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और इसलिये भारत में उत्पन्न होने के लिए हमारी भी स्पृहा है—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

पूजा के अवसर पर धार्मिक कृत्यों के विधान प्रसंग में भी राष्ट्रीय भावना की पर्याप्त अभिव्यक्ति होती है। संकल्प के विधान का क्या रहस्य है ? संकल्प के अवसर पर प्रत्येक उपासक अपने सामने अखण्ड भारत का भौगोलिक चित्र प्रस्तुत करता है। वह अपने स्नान या दान के संकल्पवाक्य में देश, काल, कर्त्ता तथा कर्म इन चारों वस्तुओं का एक साथ योग देकर अपने आपको समग्र भारत का एक प्राणी बतला कर गर्व का अनुभव करता है। वह जानता है कि वह जिस अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में भागीरथी में स्नान कर रहा है, वह जम्बूद्वीप के भरतखण्ड तथा भारतवर्ष के 'कुमारिका खण्ड' के अन्तर्गत विद्यमान तीर्थ है। भारतवर्ष को ही गुप्तकाल में 'कुमारीद्वीप' की संज्ञा प्रदान की गयी थी, क्योंकि भारतवर्ष की लम्बाई दक्षिण में 'कन्याकुमारी' से लेकर उत्तर में गंगा के उद्गम स्थान तक मानी जाती थी—

आयामस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः। (मत्स्य ११४।१०)

स्नान के समय जिस क्षण स्नानार्थी भारत की सप्त सिन्धुओं से अपने जल में समावेश के लिये इस मंत्र में प्रार्थना करता है, उस समय उसके मानस-पटल पर भारतवर्ष के अखण्डरूप का चित्र प्रस्तुत हो जाता है:—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

पूजा के समय उपयुक्त वस्त्र के विधान से भी स्पष्ट है कि भारत में खद्दर का प्रचार प्राचीन काल से था क्योंकि शास्त्र का आदेश था कि जो वस्त्र उस समय पहना जावे, उसे न तो जला होना चाहिये, न मूषक के द्वारा दूषित होना चाहिये, न सिला हुआ होना चाहिए, न पुराना होना चाहिये, परन्तु इनके अतिरिक्त उसे विदेश में न बनकर स्वदेश में ही बना होना चाहिये। धर्मशास्त्र के प्रणेताओं का यह विशेष आग्रह है कि पूजा के अवसर पर स्वदेशी वस्त्र ही पहने जांय। उस युग में बाहर से वस्त्रों का आना भले ही सिद्ध हो, परन्तु धार्मिक अवसरों पर स्वदेशी तथा स्वकीय वस्त्र ही पहने जाते थे। फलतः भारत में स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार प्राचीन काल से चला आता है। धर्मशास्त्रीय श्लोक यह है—

न स्यूतेन न दग्धेन, पारक्येण विशेषतः।
मूषकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्यात् विचक्षणः॥

इस प्रकार धर्मशास्त्र में भारतवर्ष की अखण्डता, स्वदेशी वस्त्र (खद्दर) का धारण तथा सप्त-सिन्धुओं का मांगलिक स्मरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धार्मिक विधि-विधानों में भी राष्ट्रीय भावना का भव्य प्रसार था।

कालिदास का प्रामाण्य

कालिदास हमारे भारतवर्ष के महनीय राष्ट्रीय कवि हैं। अतः उनके काव्यों में देशप्रेम की भव्यभावना की सत्ता मिलने पर हमें आश्चर्य नहीं होता। कालिदास उज्जयिनी के महाकाल के उपासक थे और इसलिए शिव की पूजा-अर्चना के प्रति उनका आग्रह रखना स्वाभाविक ही है। कालिदास ने शंकर की अष्टमूर्तियों का उल्लेख अपने काव्य तथा नाटकों में अनेक बार किया है। शाकुन्तल की नान्दी में भगवान् शिव के प्रत्यक्षदृश्य मूर्तियों का क्रमबद्ध निर्देश है—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वः ताभिरष्टाभिरीशः॥

मालविकाग्निमित्र की नान्दी में भी अष्टमूर्ति का संकेत है—अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः। इसी प्रकार कुमारसम्भव (६।७६) में भी इनका उल्लेख है—

कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि॥

इससे स्पष्ट है कि कालिदासने शिवकी अष्टमूर्तियों की उपासना के प्रति अपना विशेष आग्रह दिखलाया है। इसका रहस्य क्या है ?

इन मूर्तियों के नाम हैं—सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश। इन मूर्तियों के प्रतीक शिवलिंगों का स्थापन भारतवर्ष के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक उपलब्ध होता है। इनमें यजमान की मूर्ति का प्रतीक शिवलिंग नेपाल में पशुपतिनाथ माने जाते हैं तथा सबसे दक्षिण में चिदम्बरम् में आकाशमूर्ति का प्रतिनिधि शिवलिंग विराजमान है। इसी प्रकार चन्द्रमूर्ति के प्रतीक दो शिवलिंग विद्यमान हैं—एक तो प्रख्यात सोमनाथ का ऐतिहासिक शिवलिंग गुजरात में विद्यमान है तथा दूसरा चन्द्रनाथ का शिवलिंग चट्टग्राम (चिटागाँव) में विराजमान है। इसी प्रकार अन्य मूर्तियों के प्रतीक रूप शिवलिंग भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध होते हैं जिनका वर्णन पुराणों में दिया गया है। इस प्रकार नेपाल के पशुपतिनाथ से लेकर दक्षिण के चिदम्बरम् तक तथा पश्चिम में सोमनाथ से लेकर पूरब में चन्द्रनाथ (चट्टगाँव जिला, पूर्वी पाकिस्तान) तक भगवान् शंकर की मूर्तियाँ स्थापित पायी जाती हैं। अतः इन अष्टमूर्तियों के धारणकर्ता शंकर की स्तुति कालिदास के हृदय में अखण्ड भारत प्रेम

की उज्ज्वल परिचायिका है। यह कवि समस्त भारत को एक अखण्ड अविभाज्य रूप में मानता तथा जानता है।

इतना ही नहीं, वह भारतवर्ष के भालस्थल पर विराजमान हिमालय का प्रशंसक कवि है। ऐसा कौन सच्चा भारतीय कवि होगा जिसके हृदय में हिमालय अपनी सुन्दरता, उदारता तथा भव्यता के कारण प्रकृष्ट प्रभाव नही जमाता? कालिदास की कविता में हिमालय अपने पूर्ण वैभव के साथ विलसित होता है। रघुवंश, विक्रमोर्वशीय, शाकुन्तल में तो हिमालय प्रसंगवश विराजमान है; परन्तु कुमारसम्भव तो हिमालय की सौन्दर्य तथा शोभा का ही कमनीय काव्य है। वहाँ हिमालय एक निर्जीव प्रस्तर-खण्ड न होकर सजीव देवतात्मा है, जिसके हिमाच्छादित कैलाश के ऊपर भूतभावन भगवान् शंकर, पार्वती के साथ, अपनी अखण्ड तपस्या में निरत चित्रित किये गये हैं। कालिदास की प्रतिभा के आलोक में हिमालय का वह चित्र प्रकाशित होता है जिसकी पात्रता, उदारता तथा प्रभा से भारतीय संस्कृति सद्यः आलोकित हो उठती है। कालिदास हिमालय के वैज्ञानिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक—इन समस्त रूपों का सांकेतिक परिचय देते हैं। जिस हिमालय का भौतिक रूप इस श्लोक में चित्रित है—

आमेखलं संचरतां घनानां, छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः॥
(कुमार १।५)

वही हिमालय धातु-रूपी लाल होठों, देवदारु-रूपी बाहुओं तथा शिलारूपी वक्षःस्थल को धारण करनेवाला एक महनीय जंगम पुरुष के रूप में भी अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है इस पद्य में—

धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारु - बृहद्भुजः।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति॥
(कुमार ६।५१)

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में भारतीय राष्ट्र की उन्नत कल्पना के दर्शन हमें नाना युगों में प्राप्त होते हैं। राष्ट्र की अभ्युन्नति के निमित्त शुक्ल यजुर्वेद के एक मंत्र में राष्ट्र के विभिन्न अंगों की अभिवृद्धि के लिये जो सुन्दर प्रार्थना उपलब्ध है वह आज भी—इतनी शताब्दियों के बीतने पर भी—उसी प्रकार अभिनन्दनीय है जिस प्रकार उस वैदिक युग में। आज स्वतंत्र भारत की यही सांस्कृतिक प्रार्थना होनी चाहिये :—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (शु० यु० २२।२२)

हे भगवन्, हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्राह्मतेज से सम्पन्न हों। क्षत्रिय शूरवीर, बाण चलाने में कुशल, शत्रुओं का संहार करने वाले तथा महारथी उत्पन्न हों। धेनु दूध देने वाली हो। बैल बोझा ढोने वाला हो। घोड़ा शीघ्रगामी हो। नारी सुन्दर गात्रवाली तथा रमणीय गुणवाली हो। रथ पर बैठकर समरांगण में उतरने वाला योद्धा विजयी बने। युवा सभा में बैठने की योग्यता रखने वाला हो, अर्थात् सभ्य-शिष्ट, गुणी विनयी हो। हमारे राष्ट्र में आवश्यकता के अनुसार मेघ वृष्टि दे। हमारी ओषधियाँ फलयुक्त हों तथा समय पर पक्व हों। हमारा योगक्षेत्र सदा सम्पन्न हो, अर्थात् अलभ्य वस्तु का लाभ हो तथा लभ्य वस्तु की ठीक-ठीक वृद्धि हो।

इस वैदिक मन्त्र में जिस आदर्श का चित्र प्रस्तुत किया गया है वह नितान्त श्लाघनीय तथा अनुकरणीय है। वैदिक ऋषि की दृष्टि राष्ट्र के प्रत्येक अंग पर पड़ती है पशुओं से लेकर युवकों तक और वह प्रत्येक पदार्थ के अभ्युदय की कामना करता है। हमारे युवकों को इस मन्त्र के 'सभेयो युवा' वाक्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। 'सभेय' शब्द की व्युत्पत्ति है—सभायां साधुः सभेयः। सभा में निपुण होना ही युवक की भूयसी विशिष्टता है। सभा में ठीक ढंग से बैठना-उठना, उसके नियमों से परिचित होना, अनुशासन मानना, बोलने की कला का पारखी बनना आदि अनेक विशिष्ट गुणों की सत्ता का संकेत 'सभेय' शब्द में विद्यमान है। वैदिक 'सभेय' शब्द का प्रतिनिधि शब्द लौकिक संस्कृत का 'सभ्य' शब्द है। इस प्रकार सभा में निपुण होना सभ्य बनने की मुख्य पहिचान है और यही सभ्यता का मुख्य आधार है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत के कवियों की मनोरम वाणी में भारत की राष्ट्रीयता का अपूर्व सन्देश उल्लसित होता है। वे भारत को एक राष्ट्र ही नहीं मानते, प्रत्युत उसे स्वर्ग से भी बढ़कर मानते हैं। कर्मभूमि भारत भोगभूमि स्वर्ग से निःसन्देह महनीय, विशाल तथा महत्तम है—इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन संस्कृत काव्यों में विशदता के साथ किया गया है।

३ : ३

राजकीय संरक्षण और संस्कृत काव्य-शास्त्र

संस्कृत साहित्य शास्त्र की अलंकार-विधा पर रचित कुछ महत्वपूर्ण कृतियों पर तत्कालीन उन राजाओं का प्रभाव है, जिनके या तो वे रचनाकार आश्रित थे, या जिनके संरक्षण में वे काव्य सर्जन कर रहे थे। इन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में अलंकारादि के उदाहरणों के लिए जिन श्लोकों की रचना की है, वे मुख्यतया उन राजाओं के प्रशस्तिमूलक श्लोक ही हैं। वस्तुतः प्रारम्भ से ही रचनाकार आश्रयदाता राजाओं के यश, विद्या, वैभव, बल, प्रताप से सम्बन्धित श्लोकों की रचना कर उन्हें अलंकार के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करता रहा है। कश्मीर से आये रचनाकारों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। उन्होंने अपने संस्कृत-प्रेमी विद्याव्यसनी राजाओं से सम्बन्धित प्रशस्ति-मूलक श्लोकों को ही अलंकार के लिए उद्धरण दिया है। ये प्रशस्तिमूलक श्लोक प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से आश्रयदाता राजाओं के प्रभाव के व्यंजक हैं। साथ ही ये यह भी व्यक्त करते हैं कि वे प्राचीन राजा किस प्रकार संस्कृत विद्या के एकनिष्ठ प्रेमी थे। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व इन राजाओं का अलंकारों से सम्बन्धित सर्जन पर प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से रहा है। पर चौदहवीं शताब्दी के बाद से यह प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाता है। इस शताब्दी के उपरान्त रचनाएँ प्रत्यक्षतः सुधी राजाओं के प्रभाव एवं प्रेरणा से रची गयी हैं। ये रचनाएँ अपनी भावसम्पदा और शिल्प-विद्या में पूर्व प्रचलित परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। क्योंकि इस समय के रचनाकारों ने अपनी अलंकारपरक रचनाओं में आश्रयदाता राजाओं के शौर्य, दानशीलता और अद्वितीय गुणों की प्रशस्ति की है। इस प्रकार संरक्षक एवं आश्रय-दाता राजाओं का काव्य-सर्जन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। इसी दृष्टि से कुछ विशिष्ट आलंकारिकों का अन्वेषण, विश्लेषण एवं समालोचना प्रस्तुत की जा रही है।

विद्याधर :

सर्वप्रथम विद्याधर की 'एकावली' उल्लेख्य है। यहाँ रचना एवं रचनाकार के सम्बन्ध में अन्तर एवं बाह्य साक्ष्य कम प्रकाश डालते हैं। इसके प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में इनका नाम 'महामहेश्वर' है। अतः इस आधार पर निश्चित किया जाता है कि विद्याधर एक महान शिव-भक्त थे। उनके जीवन के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है। परन्तु उनकी रचनाओं में उद्धृत प्रसिद्ध संस्कृत कवियों के आधार पर उनके काल का निर्णय किया जा सकता है। विद्याधर ने

अपनी 'एकावली' में न केवल श्री हर्ष के नाम का ही उल्लेख किया है[1], अपि तु उनकी रचनाओं के श्लोकों को भी उद्धृत किया है।[2] इन्होंने अर्जुनवर्मदेव[3] द्वारा पुरस्कृत कवि हरिहर का भी उल्लेख किया है। मल्लिनाथ ने मेघदूत, शिशुपाल वध और अन्य काव्य की टीका में एकावली से श्लोकों को उद्धृत किया है। इस प्रकार अन्तर एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि विद्याधर तेरहवीं शताब्दी के अन्त और चौदहवी शताब्दी के प्रारम्भ में विद्यमान थे।

विद्याधर ने मम्मट के "काव्यप्रकाश" के आदर्श पर अपनी रचना की है तथा अलंकारों के संयोजन में रूय्यक के ऋणी हैं। 'एकावली' आठ अध्यायों (उन्मेष) में विभक्त हैं, जो संस्कृत काव्य शास्त्र के मुख्य विषयों पर विचार प्रकट करती है। प्रथम अध्याय काव्य में व्यंजना पर प्रकाश डालता है। यहाँ ध्वन्यालोककार का प्रभाव स्पष्ट है। प्रस्तुत ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय शब्दों की तीन शक्तियों एवं अर्थ-मीमांसा का व्यंजक है। तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय 'ध्वनि' एवं "गुणीभूत व्यंग्य" को व्याख्यायित करते हैं। अन्य दो उन्मेष काव्य-गुण एवं काव्य-दोष को विवेचित करते हैं। एकावली का संक्षिप्त विश्लेषण उसकी रचना-प्रक्रिया को मम्मट से प्रभावित सिद्ध करता है।

विद्यानाथ :

विद्यानाथ प्रख्यात 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के रचयिता हैं। इनका वैयक्तिक इतिहास अज्ञात है। परन्तु यह निश्चित है कि ये एकशिला या वारंगल[4] के आन्ध्रनरेश प्रतापरुद्र के राजाश्रित थे। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ एक अलंकारपरक रचना है, परन्तु इससे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का भी उन्मेष होता है। प्रतापरुद्र आन्ध्र नरेश हैं। उनकी राजधानी एकशिला में रही जो आजकल वारंगल नाम से विख्यात है। ये महादेव[5] एवं मुन्मुडी या मुम्मडम्बा[6] के पुत्र थे। ये काकतीय राजा थे। 'प्रतापरुद्र कल्याणं' नाटक इनकी वैयक्तिक विजयों एवं पूर्वजों के ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करता है। वीररुद्र के नाम से ज्ञात प्रतापरुद्र काकतीय राजा परिवार के सातवें राजा थे। इनका काल १२७८ ईस्वी

---

१. कृत्वा काव्यमवाप विश्वमहितां कीर्तिं कविग्रामणीः।
श्री हर्ष : (एकावली : बी० एस० एस० पृ० १८–१९)

२. क्रियेत् चेत साधु विभक्तिचिन्ता।
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।। नैषध ३–१।

३. श्रियमद्भुतां हरिहरो लेभेऽर्जुनक्ष्माभृतः; एकावली पृ० १९।

४. योद्धारो वयमित्यरीनभिभवन्त्यन्ध्रक्षमाभृद्भटाः।

५. विडर्गोमाता तदनुमहिता मुन्मुण्डी वा तृतीया।

६. वही पृ० १६ प्रतापरुद्रः पृ० २२

से १३१७ ई०[1] के मध्य था । विद्यानाथ इनके समकालीन थे । चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में होने के कारण ये विद्याधर के भी समकालीन थे ।

प्रतापरूद्र यशोभूषण नौ अध्यायों (प्रकरणों) में विभक्त है । ग्रन्थ सर्जन के प्रारम्भ में ही विद्यानाथ ने इसके औचित्य को प्रतिपादित किया है । अपने ग्रन्थ संरचना के औचित्य प्रदर्शन में उन्होंने कहा है कि पूर्वकालिक आलंकारिकों ने काव्य शास्त्र के विविध पक्षों का बृहद् विवेचन किया है, परन्तु किसी ने उसके 'नायक' (हीरो) पर विस्तृत विवेचन नहीं किया है । इसीलिए विद्यानाथ 'नायक' को प्रमुख मानकर अपनी अलंकार रचना को प्रस्तुत करते हैं । उसमें उन्होंने 'नायक' के रूप में अपने संरक्षक राजा के गुणों की प्रशस्ति की है । परिणामतः यह रचना पूर्व प्रचलित परम्परा से हटकर रची गयी है । निश्चय ही यह संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में अपने ढंग की प्रथम रचना है ।

इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय नायक और नायिका के गुणों एवं भेदों को वर्णित करता है । 'काव्य-प्रकरण' नामक अध्याय में काव्य के प्रकारों का वर्णन है । तृतीय अध्याय नाटय-शास्त्र के विषयों का सूक्ष्म वर्णन करता है । यद्यपि यह दशरूपक पर आधृत है, पर विश्वनाथ के साहित्यदर्पण के पहले और धनञ्जय के बाद नाटय-शास्त्र पर यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है । इसमें पाँच अंकों का आदर्श संस्कृत नाटक का भी उल्लेख है । रस, काव्यदोष और गुण, इसके अन्य तीन खण्डों में वर्णित हैं । अन्त के तीन अध्याय शब्द-अर्थ की आलंकारिकता तथा महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं ।

नरसिंह कवि

नञ्जराज यशोभूषण के रचयिता नरसिंह कवि हैं । यह ग्रन्थ गायकवाड ओरियन्टल सीरीज न० ४७, में प्रकाशित है । प्रस्तुत ग्रन्थ रचनाकार के व्यक्तिगत इतिहास के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालता है । ये मैसूर के विद्वान ब्राह्मण परिवार 'सनगर'[2] में उत्पन्न थे । इनके पिता शिवराम[3] और आध्यात्मिक गुरू सन्यासी योगानन्द[4] हैं ।

इस रचना का काल-निर्णय उसके आश्रयदाता राजा के काल से किया जा सकता है । नञ्जराज सीधे मैसूर राजाओं में नहीं आते । परन्तु सम्पूर्ण राज्य पर इनका प्रभुत्व था । ये सर्वाधिकारी थे । कलले[5] के राजघराना में इनका जन्म

१. त्रिवेदी इन्ट्रोडक्शन टु प्रतापरुद्र : (बी. एस. एस.) पी. २२ वही पृ० १२—१३—१४

२. सनगर कुलेन्दोर्नरसिंहाभिधाविदुषः कृतिरियमभिनीय दर्शनीयेति ।
नञ्जराज पृ० ८

३. शिवरामसुधीसूनोर्नरसिंह कवेः कृतिः ।—नञ्जराज पृ० १

४. योगानन्दयतीन्द्राय सान्द्राय गुरवे नमः । नञ्जराज पृ० १

५. वही, पृ० १३

हुआ था। इनके पिता वीरराज[1] और भाई देवराज थे। नञ्जराज कृष्णराज द्वितीय (१७३४ ई० से १७६६ ई०) के राज्य में वित्त एवं राजस्व मंत्री थे। इतिहास में नञ्जराज एक सफल राज्य मन्त्री एवं कुशल प्रशासक के रूप में वर्णित हैं। इन्होंने उत्तर के मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना करते हुए देश की रक्षा की है। इसके साथ ही ये कन्नड़ के अच्छे लेखक भी थे। इनके आश्रित विद्वानों ने इन्हें नवभोजराज[2] की उपाधि दी थी। ये सब अन्तः साक्ष्य सिद्ध करते हैं कि नञ्जराज यशोभूषण १८ वीं शताब्दी के मध्य में रचा गया था।

प्रस्तुत रचना सात अध्यायों (विलासों) में विभक्त है। प्रथम अध्याय नायक और नायिकाओं के पारम्परित वर्गीकरण के अनुसार उनके गुणों का विवेचन करता है। द्वितीय अध्याय शब्द की तीनो शक्तियों, ६ नाट्य वृत्तियों और काव्य के मुख्य भेदों को उपस्थित करता है। तृतीय अध्याय में व्यंग्य काल का अनुशीलन है और चतुर्थ तथा पंचम अध्याय रस, गुण, दोष का विवेचन करता है। सप्तम अध्याय अलंकारों का विवेचक है।

निष्कर्षतः नञ्जराज यशोभूषण प्रतापरुद्रयशोभूषण के आदर्श पर लिखा गया है। फिर भी इससे नव्यता है और यह विद्यानाथ से पूर्णतः भिन्न विचार को व्यक्त करता है।

देवशंकर भट्ट :

देवशंकर भट्ट का अलंकार-मंजूषा भी एक महत्वपूर्ण रचना है। बहुत पहले यह ग्रन्थ डा० आर० सी० भण्डारकर[3] द्वारा प्रकाश में लाया गया था। ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात है कि लेखक का नाम देवशंकर है। उनके पिता नाहाना भायी है। उनकी उपाधि 'पुरोहित' थी। ये रानर के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे और उरःपतन में रहते थे। डा० भंडारकर उसे सुरत के पास क्रमशः आज का रान्डर और अल्पाद मानते हैं।

यह पूर्णतः अलंकार ग्रन्थ है। इसके उद्धृत श्लोक पेशवा माधव राव प्रथम एवं उनके चाचा रघुनाथ राव की यशोगाथा व्यक्त करते हैं। ये दोनों इस रचना के काल को निर्धारित करते हैं। माधवराव पेशवा सन् १७६१ में पेशवा बने और इनके चाचा १७६८ में बने। अतः यह रचना १८ वीं शताब्दी के तृतीय चरण में रची गयी है।

उपसंहार

अलंकार रचनाओं के इस संक्षिप्त ऐतिहासिक सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि मुख्यतः ये ग्रन्थ अलंकार को दृष्टि में रखकर नहीं लिखे गये थे, इनका मुख्य

१. नञ्जराज पृ० १५६
२. ,, पृ० ८६
३. द्रष्टव्य डा० भंडारकर, कलेक्टेड वर्क्स खण्ड द्वितीय, पृष्ठ ३२६—३२८

उद्देश्य था अपने आश्रयदाता राजाओं के शौर्य, यश की प्रशस्ति करना। परन्तु इसके द्वारा काव्य-शास्त्र के विभिन्न पक्षों का उन्मीलन होता रहा है और काव्य-शास्त्र को नयी दृष्टि मिलती रही। आश्रयदाता राजाओं का प्रभाव इन ग्रन्थों पर है। रचनाकार के लिए राजाश्रय दो प्रकार से लाभप्रद रहा। प्रथमत : राजाश्रय प्राप्त होने से रचनाकार को अपनी दैनन्दिनी चिन्ताओं से मुक्ति रहती थी। वे अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का उपयोग सर्जन में करता था। दूसरा : रचनाकार अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का उपयोग करने के लिए उनसे उपयुक्त विषयों को प्राप्त करता था। वह अपने ही आश्रयदाता को आदर्श नायक के रूप में प्रतिष्ठित कर अपनी सर्जनशक्ति का परिचय देता था। वे उन्हीं राजाओं के यश, गुण को काव्य का विषय बनाकर अपनी रचना करते थे।

उपर्युक्त अलंकारपरक रचना का प्रभाव बाद के हिन्दी कवियों पर पड़ा। हिन्दी साहित्य के इतिहास-वेत्ताओं को ज्ञात है कि 'एकावली' और 'प्रतापरुद्र-यशोभूषण' की भाँति हिन्दी में भूषण कवि ने शिवराज भूषण की रचना कर उक्त परम्परा का स्मरण दिलाया है। वास्तव में बाद राजाओं का संस्कृत साहित्य के प्रति अनुराग कम हो गया और उनका मूल्यवान संरक्षण भी कवियों को नहीं मिलने लगा। परिणामतः उक्त प्रकार की रचना का क्रमशः बाद की शताब्दियों में ह्रास हो गया।

---

३ : ४

श्रव्य काव्य से दृश्य काव्य की वरीयता

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः ।[1] (वामन)
काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्ममेव ।[2] (अभिनवगुप्त)

हमारे भारतीय आलोचकों ने काव्य के नाना प्रभेदों में सौन्दर्य तथा चारुता की दृष्टि से उत्कर्षापकर्ष का विवेचन बड़ी मार्मिकता के साथ किया है : इस विषय में एक विख्यात लौकिक आभाणक है – काव्येषु नाटकं रम्यम् = काव्यों में नाटक रमणीय होता है, सामाजिक के हृदय को रमाने वाला होता है । इसकी पर्याप्त समीक्षा करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह लोकोक्ति कोई सामान्य निराधार उक्ति नहीं है, प्रत्युत यह साहित्यशास्त्र के एक प्रौढ़ सिद्धान्त की परिचायिका है ।

इस विषय का पर्याप्त विवेचन भारतीय और पाश्चात्य आलोचकों ने समय-समय पर किया है । बहुमत इसी पक्ष में है कि श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य समधिक रुचिर तथा मनोज्ञ होता है । भारतवर्ष में भरतमुनि ने नाट्य की ही सर्वप्रथम समीक्षा की । श्रव्य काव्य तो वाचिक अभिनय का प्रकारमात्र होने के कारण गौण माना गया और श्रव्य काव्य की समीक्षा भी नाट्य-समीक्षा के बाद ही आरम्भ हुई । नाटक सरस साहित्यिक रचना का प्रतीक ठहरा । अतः वही समीक्षा का सर्वमान्य विषय निर्धारित किया गया ।

काव्य के दो मुख्य भेद हैं—श्रव्य तथा दृश्य । श्रव्य काव्य श्रवण के माध्यम द्वारा सामाजिक के हृदय को स्पर्श करता है और दृश्य काव्य नेत्र के माध्यम द्वारा दर्शक के हृदय को आकृष्ट करता है । लक्ष्य एक ही है सामाजिक का हृदयावर्जन, परन्तु माध्यम भिन्न-भिन्न हैं । श्रव्य काव्य में माध्यम है श्रवण तथा दृश्य काव्य में वह माध्यम है नेत्र । वह निर्विवाद सत्य है कि कानों से सुनी गई वस्तु की अपेक्षा नेत्रों के द्वारा दृष्ट वस्तु विशेष रोचक तथा सद्यःहृदयावर्जक होती है । अतः लौकिक दृष्टि को मानकर भी हमारा कथन कथमपि अयुक्तिक नहीं कहा जायगा कि श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य अधिक रोचक, अधिक रम्य तथा अधिक मनोज्ञ होता है ।

---

१. वामन – काव्यालंकारसूत्र, १।३।३०
२. अभिनवभारती, पृ० २९२ (बड़ोदा संस्करण)

नाट्य और चित्रपट

अब शास्त्र-दृष्टि से विचार कीजिए। इस विषय का विवेचन हमारे शास्त्रकारों ने बड़ी मार्मिकता से किया है। आचार्य वामन हमारे प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने इस विषय की विवेचना की ओर ध्यान दिया। वे अनिबद्ध काव्य मुक्तक—की अपेक्षा निबद्ध को श्रेयान् मानते हैं और निबद्ध काव्यों या सन्दर्भकाव्यों में दशरूपक को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। इस श्रेष्ठता की व्याख्या के समय वे नाटक की तुलना चित्रपट के साथ करते हैं। सामग्री की पूर्णता के कारण चित्रपट दर्शकों के नेत्रों का सर्वाधिक आवर्जन करता है। चित्रकार की तूलिका रेखात्मक आकारों में नाना प्रकार के रंगों को भरकर उनमें जीवन का इतना संचरण कर देती हैं कि वे एकान्त जीवित पदार्थ प्रतीत होते हैं। रंग के रुचिर मिश्रण के कारण चित्रपट एकदम सजीव तथा रोचक हो उठता है। चित्रपट की विचित्रता का क्या कारण है? 'विशेषसाकल्य' अर्थात् चित्रोपयोगी समस्त विशिष्ट वस्तुओं की पूर्णता। रूपक की भी यही दशा है। रंगमंच के ऊपर शिक्षित नटों के द्वारा उचित भावभंगी के साथ जब रूपक का अभिनय होता है, तब दर्शकों के लोचनों के सामने जीवित पदार्थ अपने पूर्ण गरिमा के साथ प्रस्तुत होते हैं। दर्शक जीवन के साथ इतना तादात्म्य तथा एकात्म्य देखता है कि आत्मविभोर हो जाता है और वह भूल जाता है कि वह बाह्य अभिनेय पदार्थ का ही साक्षात्कार कर रहा है। रूपक हमारे जीवन का औचित्यपूर्ण यथार्थ अनुकरण है। अभिनीयमान राम, सीता आदि व्यक्तियों का नटों के ऊपर आरोपण होने के हेतु ही रूपक की 'रूपक' संज्ञा सार्थक मानी जाती है। धनञ्जय का कहना है[1]—रूपकं तु समारोपात्। श्रव्य काव्य—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि—को पाठक पढ़ता है तथा सुनता है। जिस कथानक का साहित्यिक वर्णन उसमें प्रस्तुत किया जाता है उसका मानस प्रत्यक्ष कर के ही वह आनन्दबोध कर सकता है। इस प्रकार श्रव्य काव्य में जीवन के साथ सम्पर्क परोक्ष ही होता है, परन्तु दृश्य काव्य में वास्तव जीवित व्यक्तियों का अनुकरण हम शिक्षित नटों के द्वारा अनुकूल वेशभूषा के साथ इतनी सुन्दरता से पाते हैं कि वर्ण्य विषय एकदम जीवित-सम्पन्न बन हमारे इन विलोचनों के सामने ही झूलने लगता है। अतः नाटक में जीवन के साथ सम्पर्क अपरोक्ष होता है; जीवन की यथार्थता का केवल आभास ही उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत यथार्थता की पूर्ण अभिव्यक्ति यहाँ सम्पन्न होती है। इसी प्रत्यक्षदृश्यता तथा यथार्थता के कारण रूपक चित्र के सदृश मनोज्ञ है और समस्त काव्य-प्रकारों में मनोज्ञतम है।

रूपक—साहित्यिक कृति की 'प्रकृति'

वामन ने रूपक की श्रेष्ठता का जो द्वितीय कारण बतलाया है उसका भी समर्थन किया जा सकता है। दशरूपकों से ही काव्य के अन्य प्रभेदों की कल्पना की

---

१. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्।
—वामन, काव्यालंकारसूत्र १।३।३०-३१

जाती है। कथा, आख्यायिका तथा महाकाव्य—यह दशरूपक का ही विलास है।[1] इस मत का समर्थन किया जा सकता है। नाटक में केवल कथनोपकथन के ही द्वारा कथानक की मुख्य घटनाएँ दर्शकों के सामने रखी जाती हैं। अनेक वस्तुओं की तो केवल सूचना ही दी जाती है। इन्हीं सूच्य अंशों को पूर्ण कर यदि छन्दोमयी वाणी में कवि कथानक का वर्णन करता है तो वही महाकाव्य बन जाता है और यदि गद्य के माध्यम द्वारा कथानक का चित्रण करता है तो यह कथा या आख्यायिका हो जाता है। अतः इस ढंग से हम सिद्ध कर सकते हैं कि नाटक ही साहित्यिक रचना का चरम अवसान है, रसस्निग्ध रचना का अन्तिम रसपेशल विकास है। परन्तु नाटक को समग्र काव्य-प्रभेदों की 'प्रकृति' मानना अर्थवाद मात्र ही प्रतीत होता है, कोई प्रौढ़ अभ्रान्त शास्त्रीय तथ्य नहीं। किसी काव्य-प्रकार को 'प्रकृति' और किसी को उसकी 'विकृति' मानना केवल आलोचक की वैयक्तिक रुचि की सूचनिका है, दृढ़ साहित्य-सिद्धान्त नहीं।

काव्य-कला के द्विविध पक्ष

वामन के ही पद का अनुसरण हमारे आलोचक-शिरोमणि परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में किया है। उनकी इस विषय की मीमांसा अधिक प्रौढ़ तथा सयुक्तिक है। उनकी आलोचना समझने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि काव्यचिन्तन के विषय में भारतीय आलोचनाशास्त्र का दृष्टिकोण क्या है। काव्य-समीक्षण के दो पक्ष होते हैं—कविपक्ष तथा सामाजिक पक्ष अथवा कारक पक्ष और भाव पक्ष। सारस्वत तत्त्व के ये ही कवि और सहृदय ही, दो उपादेय उपकरण हैं। कवि अपने प्रातिभ चक्षु के द्वारा अदृष्टपूर्व तत्त्वों का साक्षात्कार कर अपनी शब्दतूलिका से उनका उन्मीलन करता है। सहृदय अपनी भावयित्री प्रतिभा के आधार पर इन शब्दार्थमय चित्रण के अन्तर्निहित आनन्द का अपनी वासना के द्वारा अनुभव करता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने कवि तथा सहृदय को 'सारस्वत तत्त्व' के उन्मीलन का आश्रय माना है—

सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयताम्[2]।

इन उभय पक्षों से रूपक अन्य काव्यभेदों से श्रेयस्कर है। कारयित्री प्रतिभा का जितना चमत्कार रूपक में दृष्टिगोचर होता है, भावयित्री प्रतिभा का उतना ही प्रभाव उसमें स्पष्टतर होता है। रसवत्ता की दृष्टि से और रसास्वाद के उत्कर्ष की दृष्टि से दोनों प्रकार से रूपक श्रव्य काव्य की अपेक्षा निःसन्देह मनोज्ञ होता है।

---

१. ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः। ततो दशरूपादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्यैव सर्वं हीदं विलसितं यत् कथाख्यायिके महाकाव्यमिति।
—वामन काव्यालङ्कारसूत्र, १।३।३१

२. लोचन का मङ्गलश्लोक।

रसवत्ता की पूर्णता

रूपक रसवत्ता की पूर्ति की चरम दृष्टान्त है। रसवत्ता का आश्रय है औचित्य। जिस रचना में औचित्य का जितना ही अधिक सहयोग होता है, वह रचना उतनी अधिक रसपेशल होती है। नाटच औचित्य का समधिक अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है। भरतमुनि का एतद्विषयक महत्त्व-सम्पन्न सिद्धान्त है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
बेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः[1]॥

नाटच में औचित्य की प्रशंसनीय परम्परा विद्यमान रहती है। वय के अनुरूप रहता है वेष, वेष के अनुसार होता है गति-प्रचार, तदनुगत होता है पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप ही रहता है अभिनय। इस औचित्य की परम्परा के विद्यमान रहने के कारण नाटच में रसवत्ता पूर्णरूपेण विद्यमान रहती है। इसी विशिष्टता को लक्ष्यय में रखकर अभिनवगुप्त का कहना है[2] कि नाटच में भाषा, वृत्ति, काकु, नेपथ्य आदि के औचित्य संवलित होने के हेतु रसवत्ता की पूर्ति होती है, परन्तु काव्य में इतना औचित्य दृष्टिगत नहीं होता। महाकाव्य की नायिका अपनी स्वाभाविक प्राकृत भाषा को छोड़कर संस्कृत में बोलती है। क्या यह सर्वथा अनुचित नहीं है? सन्दर्भरस के अनुकूल न होने पर भी महाकाव्य का रचयिता नगरों तथा प्रासादों के नदियों तथा पर्वतों के लम्बायमान बीहड़ वर्णनों में अपनी व्युत्पत्ति क्या प्रदर्शित नहीं करता? ऐसी दशा में नाटक स्वाभाविकता, औचित्य तथा रसवत्ता की पूर्णता से बाध्य होकर आलोचक-प्रवर अभिनवगुप्त को कहना पड़ रहा है कि काव्य तो मुख्यतः दशरूपकात्मक ही होता है—

काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव[3]

रसास्वाद का उत्कर्ष

काव्य का प्रधान लक्ष्य है सामाजिक के हृदय में रसोन्मेष। पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र काव्य में कविपक्ष की बलवत्ता मानता है, भारतीय रसशास्त्र काव्य में सहृदयपक्ष की प्रधानता अंगीकार करता है। पश्चिम में काव्य 'कविप्रतिभा-व्यापारगोचर' होता है, तो भारत में वह 'सहृदय-चर्वणा-व्यापारगोचर' माना जाता है। रस की प्रतीति के लिये सामाजिक का 'सहृदय' होना नितान्त आवश्यक

---

१. भरत—नाट्यशास्त्र (काशी संस्करण) १४।६८
२. तत्र नाट्ये ह्यु चितैर्भाषावृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते च रसवत्ता। सर्गबन्धादौ तु नायिकाया अपि संस्कृतैवोक्तिरिति बहुतरमनुचितम्। अभिनवभारती, पृ० २९२
३. अभिनवभारती, पृ० २९२

है। सहृदय का वृत्तिलभ्य अर्थ है कि कवि के हृदय के साथ संवाद—साम्य, एकरूपता—धारण करने वाला व्यक्ति। अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार सहृदय वही व्यक्ति होता है जिसका मनोमुकुर काव्य के अनुशीलन के अभ्यास से—काव्य के निरन्तर अध्ययन तथा चिन्तन से—नितान्त विशद हो जाता है, जिससे वह वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयी-भवन-योग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः[1]।

अतः सहृदय का हृदय कवि के हृदय के साथ इतना साम्य रखता है कि स्फुट तथा प्रकीर्ण पद्यों के श्रवणमात्र से ही उसे रस-प्रतीति हो जाती है, क्योंकि वह अनभिव्यक्त अंशों की पूर्ति स्वतः अपनी भावयित्री प्रतिभा के बल पर कर लेता है। नाटक के श्रवणमात्र से वह आनन्द की अनुभूति कर लेता है। साधारण जन की यह दशा नहीं होती। उसे मुक्तक काव्य से रसास्वाद लेने के अवसर पर अनेक पदार्थों तथा घटनाओं की व्याख्या करनी पड़ती है। इस आवश्यक भूमिका के बिना वह इन प्रकीर्ण पद्यों से रस का आस्वादन नहीं कर सकता। यही कारण है कि अव्युत्पन्न व्यक्ति को बिहारी के दोहे समझाने के अवसर पर उनके समुचित प्रसङ्गों की मीमांसा आवश्यक होती है। रूपक भी आस्वाद्य होने के निमित्त व्याख्या की अपेक्षा रखता है। निर्मल चित्तवाले सहृदय को इस व्याख्या तथा प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो नाट्य की अपेक्षा के बिना ही काव्यमात्र से प्रतीति ग्रहण कर लेता है[2]। परन्तु ऐसे प्रसङ्गों की कमी नहीं, जब सहृदय का भी हृदय चिन्ता तथा उद्वेग से कलुषित तथा विक्षिप्त होता है। हृदय का उद्वेग चित्त को इतना विक्षिप्त कर देता है कि रूपक के पढ़ने तथा सुनने पर भी पठन तथा आकर्णनमात्र से उसे रस का आस्वाद नहीं होता। ऐसी दशा में उसके लिये भी अभिनय की विपुल मनोरञ्जन सामग्री की अपेक्षा रहती है।

जब सहृदयों की ऐसी दशा है, तब 'अहृदयों' की तो कथा ही निराली है। उनके रसबोध के लिये अभिनय की भूयसी आवश्यकता है। नाट्य उनको दो प्रकार से सहायता पहुँचाता है। प्रथम तो नटों के द्वारा रूपक के अभिनय से वह वर्णनीय वस्तुओं को प्रत्यक्ष तथा जीवित रूप में चित्रित करता है। उचित वेश-भूषा, जवनिका की सज्जा रङ्गमञ्च की सजावट, नेत्ररञ्जक चित्रकारी तथा विभाव,

---

१. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ११

२. ये तु काव्य भ्यासपाक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति सहृदयाः तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेन परिस्फुट एवं साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रतीत्युत्पत्तिकृत् अनपेक्षितनाट्यमपि।

—अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २८८

अनुभाव एवं सञ्चारी के अभिनय आदि के द्वारा दर्शकों को वर्ण्य वस्तु में जीवन की सत्यता प्रतीत होने लगती है। उनके लिये शकुन्तला किसी अतीत काल की कोई विस्मृत नायिका नहीं रहती। मालिनीतट पर हिमालय की तलेटी में रचा गया महर्षि कण्व का आश्रम किसी अज्ञात अतीत युग की स्मृति उद्बुद्ध नहीं करता, प्रत्युत रङ्गमञ्च के चारु-चित्र तथा नट के कौशलपूर्वक अभिनय से वस्तुएँ जीवित वर्तमान की सजीव मूर्तियाँ ही प्रतीत होती हैं। इतना ही नहीं, रसिक नटों के द्वारा पस्तुत संगीत की माधुरी श्रोताओं के ऊपर अपना विचित्र प्रभाव जमाती है। उनका हृदय अपने स्वगत दुःखों से कितना भी दबा क्यों न हो, शोक तथा क्रोध आदि रस प्रतीति से प्रतिकूल वृत्तियों के उदय के कारण कितना भी संकट-संकीर्ण तथा ग्रन्थिल क्यों न हो गया हो, उदात्त संगीत की स्निग्ध माधुरी उनके श्रवण को आकृष्ट कर हृदय की ग्रन्थि भञ्जन करने में सर्वथा कृतकार्य होती ही है[1]। तथ्य बात यह है कि रस-चर्वणा के निमित्त तदनुकूल चित्तवृत्ति की सत्ता एकान्त आवश्यक होती है। रसास्वाद के लिये अनुकूल वातावरण तथा अनुरूप चित्त-प्रसाद उत्पन्न करने के लिये नाट्य सर्वथा समर्थ होता है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। श्रव्य काव्य में रसानुकूल सामग्री का उदय रसिक श्रोता की चित्त-वृत्ति पर ही आश्रित रहता है। यदि वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की क्षमता उसमें वर्तमान रहती है, तो रस के आस्वादन में विलम्ब नहीं लगता, अन्यथा काव्य अरण्यरोदन में ही अपने जीवन की समाप्ति करता है। अहृदय की सहृदय रूप में परिणति का सर्वप्रधान साधन है नाट्य। 'निजसुखादिविवशीभाव'— अपने सुख-दुख आदि भावों के वश में होना—रसास्वादन के लिये महनीय प्रत्यूह है जिसका निराकरण अभिनय, अङ्गहार, संगीत तथा सजावट आदि नाटकीय उपकरणों के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। अभिनवगुप्त का स्पष्ट कथन है—

निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तद्रूपप्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैः आतोद्य-गान-विचित्रमण्डप-विदग्धगणिकादिभिः उपरञ्जनं समाश्रितं, येन अहृदयोऽपि सहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते।[2]

इसी कारण साहित्यिक कलात्मक अनुभूति तथा रसास्वाद की पूर्ति के लिये काव्य के समस्त प्रभेदों में रूपक सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि उसका प्रभाव केवल सहृदयों के ही ऊपर नहीं होता, प्रत्युत समस्त व्यक्तियों पर, चाहे वे सहृदय हों या अहृदय, समभावेन पड़ता है। इस प्रकार जीवन की सत्यता की अनुभूति की दृष्टि से, रसवत्ता से स्निग्ध होने की दृष्टि से और रसास्वादन के उत्कर्ष से पेशल होने की दृष्टि से

१. अभिनवभारती, पृ० २६२

२. अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २८२-८३।

रूपक काव्य-प्रभेदों में सर्वथा अभिराम, हृदयङ्गम तथा रमणीय है।

नाट्यरस

नाट्य रस के उन्मेष का सर्वाधिक रम्य प्रतीक है। इसीलिये भरत नाट्यशास्त्र में उसे नाट्यरस की संज्ञा प्राप्त है। 'नाट्यरस' की अभिनवी व्याख्या है[1]—(१) नाट्य के समुदाय रूप से उत्पन्न रस (नाट्यात् समुदायरूपाद् रसः) अथवा (२) नाट्य ही रस है। रस-समुदाय ही नाट्य है (नाट्यमेव रसः रससमुदायो हि नाट्यम्)। इसका तात्पर्य है कि नाट्य रस के उन्मीलन का प्रधान साधन है। यह व्याख्यान काव्य में रस की सत्ता का निराकरण नहीं करता। नाट्य रस के उपकरणभूत विभाव अनुभाव तथा सञ्चारी भाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में साक्षात् सम्पर्क स्थापित करता है। यही योग्यता जब श्रव्य काव्य को प्राप्त होती है, तभी काव्य में रसका आस्वादन उत्पन्न होता है। काव्य में भी यह 'प्रत्यक्षसाक्षात्कार' कवि की अलौकिक वर्णन-शक्ति के प्रभाव से उत्पन्न हो सकता है। कवि पदार्थों का इतना उज्ज्वल तथा प्रभावशाली वर्णन करता है कि वे पदार्थ अभिनेय पदार्थों के समान पाठकों के नेत्रों के सामने सजीव रूप से स्फुरित हो उठते हैं। इसीलिये अभिनवगुप्त के नाट्यगुरु भट्ट तौत का सम्माननीय सिद्धान्त है—रस नाट्यायमान ही होता है। काव्यार्थविषय में भी प्रत्यक्षकल्प साक्षात्कार के उदय पर ही रस का उदय सम्पन्न होता है :—

काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।[2]

प्रयोगत्व की स्थिति पर पहुँचे बिना काव्य में रस के आनन्द की सम्भावना ही नहीं रहती, परन्तु क्या श्रव्य काव्य इस विषय में दृश्य काव्य के प्रयोगत्व की योग्यता कभी प्राप्त करता है? भट्ट तौत का कहना है तभी कि प्राप्त कर सकता है जब कवि प्रौढ़ उक्ति के द्वारा उद्यान, नदी आदि विषयों का इतना सजीव वर्णन करता है कि वे प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थों के समान स्फुटतर प्रतीत होने लगते हैं। कवि की प्रौढ़ोक्ति में ही श्रव्य काव्य को दृश्य काव्य के समान प्रयोग-सम्पन्न करने की क्षमता सर्वथा सिद्ध है। तभी काव्य में रस का आस्वाद हो सकता है, अन्यथा नहीं। भट्ट तौत के विश्रुत परन्तु अनुपलब्ध 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ का इस विषय में स्पष्ट कथन है—

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोग-प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यान कान्ता-चन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः।[3]

---

१. अभिनवभारती, पृ० २९२
२. अभिनवभारती, पृ० २९१
३. वही, पृ० २९२

काव्य और नाट्य

अब विचारणीय प्रश्न है कि रूपक का पूर्वोक्त रमणीयता कविजन्य है अथवा नटजन्य है ? रूपक कवि की प्रतिभा का एकमात्र विलास है अथवा नट की अभिनय कला का संचलित चमत्कार है ? इस विषय में आलोचकों के द्वारा उद्भावित सिद्धान्त में विशेष अन्तर नहीं है। साधारणतया समझा जाता है नाटक 'प्रयोग-प्रधान' होता है तथा श्रव्य काव्य 'वर्णनाप्रधान' होता है। यह समझ ठीक है, परन्तु पाश्चात्यों का तथा तदनुसारी भारतीय आलोचकों का यह मत सर्वथा अभ्रान्त नहीं है कि नाट्य में नट की कला कवि की कला की अपेक्षा समधिक मनोज्ञ होती है। आलोचकम्मन्यों की कमी नहीं है जो नट को कवि के द्वारा अनुद्भावित अर्थ का व्याख्याकार मानकर उन्हें कवि से बढ़कर स्थान देने के पक्षपाती हैं। भारतीय आलोचकों की स्पष्ट सम्मति है कि नाटक की रोचकता में नट की अपेक्षा कवि अधिकतर चमत्कार प्रस्तुत रहता है। इसलिये भोजराज अभिनेता की अपेक्षा कवियों को तथा अभिनय की अपेक्षा काव्य (रूपक) को समधिक सम्मान तथा आदर प्रदान करने के पक्षपाती हैं—

अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहु मन्यामहे, अभिनेयेभ्यश्च काव्यमिति।[1]

दृश्य तथा श्रव्य काव्यों की मौलिक एकता

भारतीय आलोचनाशास्त्र में रूपक का रचयिता तथा श्रव्य काव्य का निर्माता दोनों ही अभिन्नरूपेण 'कवि' शब्द के द्वारा वाच्य होते हैं। पाश्चात्य जगत् में ड्रामाटिस्ट तथा पोयट में शब्दतः तथा अर्थतः पार्थक्य किया जाता है, परन्तु हमारे साहित्य में दोनों ही 'कवि' हैं। समग्र रुचिर साहित्यिक रचना 'काव्य' के नाम से अभिहित की जाती है और यही काव्य रूपक, श्रव्यकाव्य गीतकाव्य आदि नाना विभेदों में विभक्त किया जाता है। रसात्मक काव्य के द्वारा सामाजिक के हृदय में रागात्मिका वृत्ति का उदय करने वाली वस्तु ही तो 'काव्य' नाम से अभिहित की जाती है। श्रव्य काव्य में कवि स्वयं वर्णन, कथन तथा चित्रण के द्वारा वह अलौकिक स्थिति उत्पन्न कर देता है कि श्रोता के हृदय में अविलम्ब रस का उन्मीलन होता है। रूपक में भी यही कार्य है, यही ध्येय है, परन्तु यह सम्पन्न किया जाता है नटों के द्वारा। अतः आनन्द के उदय की दृष्टि से दोनों में यही तारतम्य है। महिमभट्ट ने इस विषय का एक प्राचीन पद्य अपने व्यक्तिविवेक में उद्धृत किया है[2]—

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्॥

प्रयोग की भी आवश्यकता प्रत्येक दर्शक के लिये नहीं होती। सहृदय पाठक

---

१. डाक्टर राघवन्—शृङ्गारप्रकाश (प्रथम खण्ड), पृष्ठ ८० में उद्धृत वाक्य।
२. व्यक्तिविवेक (काशी संस्करण), पृ० ९६।

अनभिनीत नाटक से उसी प्रकार आनन्द उठा सकता है। जितना उसके पठनमात्र से। साधारण दर्शक के ही हृदय में रसोद्बोध के निमित्त प्रयोग की आवश्यकता बनी रहती है। इसलिये भारतीय आलोचकों तथा कवियों ने नाटक में प्रयोगता—अभिनेयता—को कभी भी महत्त्व नहीं दिया। यदि दर्शक में रागात्मिका वासना विद्यमान है, तो वह अभिनय की किसी प्रकार अपेक्षा नहीं रखता। महाकवि भवभूति के नाटकों में अनेक अंश अभिनय के द्वारा प्रदर्शन की क्षमता नहीं रखते; तो क्या यह दूषण है? बिलकुल नहीं। 'नाटक' की महनीयता कवि की प्रतिभा का विलास है, नट के अभिनय-कौशल का चमत्कार-प्रदर्शन नहीं है। साधारण नाटक ही, रसाभिव्यक्ति के निमित्त अभिनय की सहायता रखता है, महान् नाटक न नट की अपेक्षा रखता है और न अभिनय की। वह स्वतः महनीय तथा महान् होता है। उसके चमत्कार को हृदयंगम करने के लिये रङ्गमञ्च पर अभिनय की तनिक भी अपेक्षा नहीं रहती। उसका आनन्द तो घर के किसी कोने में बैठकर पढ़ने से भी उठाया जा सकता है। अभिनय तो अन्धे की लकड़ी के समान है जो लोक के ही रसास्वाद के निमित्त जागरूक रहता है।

पाश्चात्य मत से साम्य

भारतीय आलोचकों की यह मीमांसा—नाट्य तथा काव्य का वैशिष्ट्य—पश्चिमी आलोचकों को भी मान्य है। पश्चिमी आलोचना रूपक के लिये अभिनय की एकान्त आवश्यकता मानती है, यह अर्थवाद मात्र है। अरस्तू का कहना है कि महाकाव्य के समान ही विषादान्त रूपक अभिनय के बिना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करता है—केवल पठनमात्र से यह अपनी शक्ति का उन्मीलन करता है[1]। अँगरेज, फ्रेंच तथा जर्मन अनेक यूरोपीय कलामर्मज्ञ इस विषय में एक मत रखते हैं कि नाटक के लिये अभिनेयता आवश्यक गुण नहीं है। लैम्ब का तो यहाँ तक कहना है कि नाटक की मूर्धन्य तथा श्रेष्ठ रचना जितनी सुन्दरता से लिखी जाती है उतनी सुन्दरता से कठिनता से अभिनीत की जा सकती है; साधारण कोटि के नाटक ही नटों के हाथ में पड़कर विशेष चमत्कार करते हैं।[2]

कवियों का भी यही अनुभव है। अँगरेजी साहित्य के विश्रुत कवि टामस हार्डी ने 'डाईनास्ट' नामक विपुलकाय नाटक की रचना की है जो परिमाण में, बिना सन्देह, 'उत्तररामचरित' या 'बालरामायण' से चौगुना है। उसकी भूमिका में उन्होंने यह दिखलाया है कि नाटक तो कमरे के भीतर बैठकर शान्त मन से पढ़ने

१. ट्रैजेडी लाइक एपिक पोएट्री प्रोडयूसेज़ इट्स ट्रू इफ़ेक्ट ईविन विदाउट ऐक्शन; इट रिवील्स इट्स पॉवर बाइ मीयर रीडिंग।—पोएटिक्स।

२. ए मास्टरपीस इज़ रेथरली ऐज़ वेल रिप्रेज़ेन्टेड ऐज़ इट इज़ रिटेन; मीडियॉक्रिटी ऑलवेज़् फ्रेयर्स बेटर विथ दी ऐक्टर्स।—चार्ल्स लैम्ब।

की वस्तु है, रङ्गमञ्च के ऊपर अभिनीत होना नाटक के लिये आवश्यक गुण नहीं है। अभिनेय रूपकों का प्रभाव क्षणिक तथा अस्थायी होता है, परन्तु पठनीय नाटकों का प्रभाव स्थायी तथा चिरकालीन होता है। दोनों की इस विशिष्टता की अभिव्यक्ति के लिये वे प्रथम प्रकार के नाटक के लिये सामान्यतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग करते हैं और दूसरे प्रकार के महनीय नाटक को वे 'एपिक ड्रामा' के अभिधान से पुकारते हैं। हार्डी की यह विवेचना भोजराज के सिद्धान्त की ही व्याख्या है कि नट की अपेक्षा कवि का विशेष आदर होता है तथा नाट्य की अपेक्षा काव्य का समधिक सत्कार किया जाता है। इस प्रकार भारतीय आलोचनाशास्त्र के रूपक-विषयक तथ्य का पाश्चात्य विवेचकों द्वारा उद्भावित सिद्धान्त के साथ आश्चर्यजनक साम्य उपलब्ध होता है।



३ : ५

संस्कृत नाटक–आकृति और प्रकृति

संस्कृत नाटक की मूल प्रकृति में ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो उन्हें दूसरे नाटकों से तुरन्त पृथक् करती हैं। संस्कृत नाटककार का दृष्टिकोण सदा आदर्शवादी रहा है और इसीलिए उसका उद्देश्य व्यापार अथवा पात्र के साक्षात् चित्रण द्वारा जीवन का दर्पण प्रस्तुत करना नहीं है। श्रव्य-काव्य के समान ही दृश्य-काव्य का उद्देश्य दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष करना ही है और इसीलिए भारतीय नाटककार परिचित तथा प्रसिद्ध कथानकों को ग्रहण कर सामाजिकों के हृदय में नाटक द्वारा रस का उन्मीलन करता है। 'रसोन्मेष' सिद्धान्ततः और व्यवहारतः नाटककार का ध्येय माना गया है और इसीलिए अन्य समस्त नाटकीय तत्त्व—व्यापार, चरित्र, संविधानक योजना आदि—इसी प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त गौण रूप से ही विद्यमान रहते हैं। सिद्धान्त रूप से अवसर की अनुकृति नाट्य मानी गई है (अवस्थानुकृतिः नाट्यम्), परन्तु व्यापार तथा पात्र-चित्रण नाटककार के लिए गौण व्यापार होता है। इसके भीतर विद्यमान वैषम्य को वह सदा अपने से दूर रखता है कि कहीं इन्हीं में उलझा हुआ दर्शकों का मन रस के आस्वाद लेने से सद्यः पराङमुख न हो जाय। इसीलिए कवि प्रदर्शन के लिए परिचित आख्यान को ही पसन्द करता है, जिसके रसास्वादन की प्रचुर सामग्री को अंकित कर वह दर्शकों के हृदय में उन भावों को सद्यः स्फुरित कर सके जो उसके हृदय को प्रभावित और उल्लसित बनाये रहते हैं। रसोन्मेष के प्रति संस्कृत आलोचकों का इतना अधिक आग्रह है कि अभिनवगुप्त के गुरु भट्ट तौत की सम्मति में काव्य का आनन्द भी अभिनीयमान रस के ही कारण होता है। भरत मुनि ने तो स्पष्ट ही कहा है—'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते ।'[1] अतएव कथावस्तु की कल्पना तथा विविधता की कमी की ओर आधुनिक आलोचना उचित हो सकती है, परन्तु वह भारतीय नाटक की मौलिक प्रकृति का विश्लेषण नहीं करती और इसलिए वह सर्वथा मान्य नहीं हो सकती। भारतीय आलोचकों की सम्मति में वस्तु तथा रस दोनों के उन्मेष में किसीका अतिरेक नहीं करना चाहिए। न तो 'अतिरस' (रसातिरेक) द्वारा वस्तु को नितान्त विच्छिन्न कर देना चाहिए और न वस्तु, अलंकार, आदि द्वारा रस का तिरोधान करना चाहिए। मध्यमार्ग ही प्रशस्त होता है कवि के लिए—

---

१. 'नाट्यशास्त्र', षष्ठ अध्याय।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ।
रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलंकारलक्षणैः ॥ (दशरूपक ३-३२)

: १ :

विषय की विभिन्नता का अभाव भारतीय नाटकों में आधुनिक दृष्टि में बेतरह खटकता है। रामायणी कथा का ही आश्रय लेकर विरचित इन रूपकों में यदि विचित्रता का अभाव तथा एकरूपता का आधिक्य है, तो आश्चर्य की बात नहीं। ऐसी प्रतिकूल आलोचना का उत्तर जयदेव ने अपने 'प्रसन्न राघव' में बड़ी मार्मिकता के साथ दिया है। उनका कथन है कि रामकथा का आश्रयण कवियों के प्रतिभा-दारिद्रय का सूचक नहीं है, प्रत्युत् मर्यादापुरुषोत्तम राम के महनीय गुणों का ही यह अवगुण है। राम में इतने अभिराम गुण-समुदाय अपने पूर्ण वैभव के साथ विराजमान हैं कि उनकी ओर आकृष्ट न होना कवियों के वश की बात नहीं है।[1] आदर्श नायक के लिए राम से बढ़कर अधिक गुणशाली व्यक्ति की कल्पना ही असम्भव है, अतएव यदि कवियों की दृष्टि तथा लेखनी ने राम के गुणगणों के कीर्तन में अपने को चरितार्थ बनाया, तो यह नितान्त नैसर्गिक तथा युक्तियुक्त है। परन्तु रामायणीय नाटक के कर्ताओं ने भी अपने नाटकों में घटना का वैचित्र्य तथा काव्य-प्रतिभा का सरस विलास प्रदर्शित करने का भरसक उद्योग किया है।

इस क्षुण्ण मार्ग को छोड़कर प्रकरण तथा प्रहसन के प्रणेताओं ने मध्य श्रेणी के पात्रों तथा तत्सम्बद्ध घटनाओं को अंकित करने का उद्योग किया है। नाटक की रचना की ओर कवियों की स्वाभाविक रुचि इतनी अधिक थी कि 'प्रकरण' जैसे रूपक के उचित निर्माण की ओर उसका ध्यान नहीं गया। फिर भी शूद्रक का 'मृच्छकटिक' मध्यम श्रेणी के पात्रों की अवतारणा करने में तथा धन-सम्पन्न नगर में दैनन्दिन घटने वाली सामाजिक घटनाओं के चित्रण में एक प्रकार से बेजोड़ नाटक है। उच्च श्रेणी के लोगों में नाटकीय कला की ओर स्वाभाविक सम्मान के कारण उनका चरित्र चित्रित होना स्वाभाविक ही है, परन्तु संस्कृत का नाटककार समाज के मध्यम श्रेणी के लोगों की अभिरुचि, नैसर्गिक प्रवृत्ति तथा आवश्यक मनोरञ्जन के प्रति भी उदासीन नहीं है। प्राचीन काल में प्रसिद्ध तीन कथाचक्रों के आख्यानों के प्रति विशेष अनुराग दृष्टिगोचर होता है—(१) रामकथा, (२) महाभारत-कथा तथा (३) उदयन-कथा। प्रथम दोनों तो

---

१. स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां,
कवीनां को दोषः सः तु गुणगणानामवगुणः ।
यदेतैर्निःशेषैरपरगुण - लुब्धैरिव जग—
त्यसावेकश्चक्रे सतत-सुख-संवास-वसतिः ॥
—प्रसन्नराघव की प्रस्तावना

भारत की जातीय सम्पत्ति हैं। भारतीय सांस्कृतिक जीवन के आधार-स्तम्भ होने के कारण इनका जनता के सामने नाना रूपों में प्रदर्शन जातीय गौरव की अभिवृद्धि के लिए तथा जातीय चरित्र के निर्माण के निमित्त नितान्त आवश्यक है। उदयन की कथा प्राचीन काल की एक रोमाञ्चक (रोमाण्टिक) प्रणय-कहानी है जो अपने लालित्य, कौतूहलवर्धन तथा मनोज्ञ वातावरण के कारण कालिदास के समय से लेकर अनङ्गहर्ष के युग तक जनता के हृदय का आकर्षण और अनुरञ्जन करती रही है। लोककथा के प्रति भी संस्कृत नाटककर्ताओं का ध्यान गया है और उसका चित्रण कर नाटक के प्रभाव को बढ़ाने का उन्होंने खूब उद्योग किया है। 'बृहत्कथा' को उपजीव्य कोटि में रखने को धनञ्जय का शास्त्रीय आदेश[1] इस तथ्य की ओर संकेत करता है। भास द्वारा निबद्ध 'अविमारक' एक प्राचीन लोककथा पर अवलम्बित नाटक है। प्रहसन के रचयिताओं ने स्वाभाविक रीति से मध्यम श्रेणी से अपने पात्रों को चुना है। उनकी दृष्टि विशेषतः उस युग के धार्मिक संघर्ष तथा नाना धर्मानुयायियों के चरित्र-वैषम्य की ओर स्वभावतः आकृष्ट हुई है, परन्तु उनका कथानक सामान्य जनता के जीवन को स्पर्श करता हुआ प्रवाहित हुआ है। इस प्रकार संस्कृत नाटक में लोकवृत्त के नाना रूपों की अभिव्यक्ति करने का पूर्ण उद्योग है। रामायण तथा महाभारत के बहुशः चित्रण के कारण नाटकीय आख्यानों के वैचित्र्य तथा प्रसृति में कमी पड़ती है, तथापि प्रकरण और प्रहसन के आख्यानों के द्वारा इस कमी की पूर्ति का प्रयत्न किया गया है।

: २ :

यही कारण है कि संस्कृत नाटक रस तथा कविता के वातावरण से नितान्त पुष्ट रहता है जिससे नाटककार वस्तु के विन्यास तथा पात्रों के चरित के विकास की ओर अधिक दृष्टि न डालकर आदर्शवादी वातावरण उपस्थित करने में व्यस्त रहता है। इस विषय में नाटक की तुलना भारतीय ललित कला के साथ पूर्ण रूप से की जा सकती है। ललित कला (जैसे चित्रकला) का उद्देश्य यह नहीं रहता कि वह चित्रित वस्तुओं के अपने रूप तथा आकृति को यथार्थरूपेण अंकित करे, प्रत्युत वह दर्शकों के हृदय पर आध्यात्मिक भावना की एवं उदात्त चरित्र की कमनीय छाप तथा कमनीयता की कोमल अभिव्यक्ति करने में ही अपने को कृतार्थ मानती है। इसलिए संस्कृत के नाटकों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश होता है भावाभिव्यञ्जक गीत्यात्मक पद्य, जिनके द्वारा पात्रों की मानसिक वृत्तियों का पूर्ण चित्रण कवि प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य नाटकों के समान यहाँ 'संवाद' को

---

१. इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ॥
—दशरूपक १–६८

सजाने तथा विकसित करने की ओर नाटककार की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रवृत्ति के कारण नाटकों में चित्रित पात्र परम्परायुक्त होते हैं और अपने समाज के आदर्श प्रतिनिधि हैं। संस्कृत का नाटककार पात्रों में वैयक्तिक विशिष्टता दिखलाकर उन्हें आधुनिक श्रेणी के पात्रों की कोटि में लाने का उद्योग नहीं करता। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि संस्कृत में चरित्र-चित्रण केवल कल्पना-प्रसूत व्यापार है, वास्तविकता तथा यथार्थ से वह मण्डित नहीं है। परम्पराबद्धता पात्रों के चरित-विकास में दूषण उपस्थित नहीं करती। संस्कृत नाटककार संसार की अनन्त विचित्रता की अनुभूति कर अपने पात्रों को विशिष्ट व्यक्ति, जीवित प्राणी और यथार्थ जीव बनाने से कभी पराङ्मुख नहीं होता। चारुदत्त परम्परामुक्त होने पर भी दीनों का रक्षक तथा आर्तों का सहायक है और ऐसे शोभन गुणों से मण्डित है कि वह कल्पना-जगत् का प्राणी न होकर भूतल पर चलने-फिरने वाला जीवित प्राणी है। दुष्यन्त भारत का सम्राट् अवश्य है, फिर भी उसके जीवन में कवि ने जिस उत्थान पतन की, आलोड़न-विलोड़न की मार्मिक अभिव्यक्ति की है, वह उसे अविस्मरणीय चरित्र का वास्तविक व्यक्ति बना रही है। तथ्य यह है कि संस्कृत नाटकों में चित्रित पात्र उच्च व्यक्तित्व तथा जीवनी शक्ति से मण्डित हैं तथा उनके अनुरूप प्राणी ढूंढ़ने पर आज भी मिल जाते हैं। कुछ पात्रों को तो हम 'सर्वदेशीय' मानने के इसीलिए पक्षपाती हैं कि उनके भीतर चित्रित मानवता की अभिव्यक्ति भारत में ही न मिलकर विश्व के अन्य देशों में पूर्ण रीति से मिल सकती है। मृच्छकटिक के सभिक, माधुरक, शकार तथा शर्विलक ऐसे ही सुन्दर तथा सार्वभौम चरित्र हैं।

आधुनिक दृष्टि से आलोचना करने पर संस्कृत के रूपक नाटक न होकर 'नाटकीय काव्य' ही माने जा सकते हैं। परन्तु यह तो भारतीय आदर्श के अज्ञान का ही दुष्परिणाम है। संस्कृत नाटकों में कवित्वमय वातावरण है। रोमाञ्च तथा कविता का सद्भाव उनमें विचित्र प्रकार की स्फूर्ति प्रदान करता है। रसोन्मेष ही लक्ष्य होने के कारण संस्कृत का नाटककार बाह्य प्रकृति तथा मानव-प्रकृति के प्रभावोत्पादक वर्णन करने से कभी पराङ्मुख नहीं होता। पश्चिमी आलोचना भी तो नाटक के विषय में एकमत नहीं है। वहाँ अब व्यापार की प्रमुखता नाटक का मूलाधायक तत्त्व नहीं माना जाता, प्रत्युत वर्णन भी उसका पोषक तत्त्व अंगीकृत किया गया है। अंग्रेजी के मान्य कवि टामस हार्डी ने अपने विपुलकाय 'डाइनास्ट' नामक नाटक की आकार-संगति के विषय में (जो भवभूति के 'उत्तररामचरित' का कम-से-कम तिगुना तो अवश्य ही होगा) स्पष्ट ही लिखा है कि रंगमंच के ऊपर अभिनेय नाटक क्षणिक मूल्य का होता है। आदर्श तथा मूल्यवान् नाटक वही होता है जो रंगमंच को दृष्टि में रखकर न लिखा गया हो, प्रत्युत बन्द कमरे के भीतर पढ़ने में ही जिसका आनन्द उठाया जा सके। हार्डी ने ऐसे नाटकों को 'एपिक ड्रामा' की संज्ञा दी है। हार्डी के दृष्टिकोण से संस्कृत का बड़ा से-

बड़ा नाटक भी अपने वर्णनात्मक रूप के कारण नाटकीयत्व से कथमपि वञ्चित नहीं माना जा सकता है। तथ्य यह है कि संस्कृत नाटक का वातावरण नितान्त सभ्य, शिष्ट तथा उदात्त है। इसलिए अश्लीलता, घृणा तथा अरुचि उत्पन्न करने वाले दृश्य—जैसे वध, युद्ध, लड़ाई-दंगा, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन आदि—का बड़ी सोच-समझ के बाद रंगमंच पर निषेध किया गया है।[1] इसमें वास्तविकता के अपलाप की बात नहीं है। इसीलिए दुःखान्त न होने पर भी संस्कृत के नाटक दुःख तथा वेदना, अन्तर्व्यथा तथा मार्मिक क्लेश की पूर्ण अभिव्यक्ति से कथमपि पराङ्मुख नहीं है

: ३ :

संस्कृत का नाटककार विशेषतया उदात्त तथा सांस्कृतिक वातावरण में ही अपने नाटकों की रचना करता है और उस वातावरण को वह सर्वदा बनाये रखता है। यही कारण है कि वह रंगमंचीय शिष्टता पर भी विशेष आग्रह दिखलाता है। रंगमंच के ऊपर भोजन, शयन, युद्ध आदि दृश्य नितान्त वर्जनीय होते हैं। मृत्यु का प्रदर्शन दर्शकों के सामने कभी भी नहीं किया जाता। फलतः यूनानी नाटकों के समान जीवन की विषम परिस्थिति तथा मृत्यु में समाप्त होने वाले विकट संघर्षों का प्रदर्शन भारतीय रंगमंच पर कभी नहीं किया जाता। इस सर्वमान्य नियम के निषेध भी संस्कृत नाटकों में उपलब्ध होते हैं। भास ने बड़ी हिम्मत कर मृत्यु के दृश्यों को रंगमंच के ऊपर प्रदर्शित किया है। उनका 'उरुभंग' शोकपर्यवसायी रूपक है तथा 'बालचरित' में कंस की मृत्यु के समान 'प्रतिभा नाटक' में भी दशरथ की मृत्यु रंगमंच के ऊपर ही होती है। अन्य ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें इस नियम का पालन अक्षरशः किये जाने पर भी वस्तुतः नहीं किया गया है। 'मृच्छकटिक' में 'वसन्तसेना' की काल्पनिक हत्या रंगमंच के ऊपर ही होती है। शकार वासवदत्ता को अपने अनुकूल बनाने के लिए लाखों प्रयत्न करता है, परन्तु जब वह चारुदत्त से अपना हृदय हटाने के लिए तथा शकार से हृदय जुटाने के लिए तैयार नहीं होती, तब उसको गला घोंटकर मार डालता है, परन्तु वह गिरकर भी मरती नहीं।[2] और 'नागानन्द' में मृतक व्यक्ति मंच के ऊपर ही पुनरुज्जीवित किया जाता है।[3] इसी नियम के उचित अनुष्ठान के कारण

१. 'दशरूपक', ३।३४-३५।

२. शकार—मल गब्भदाशि मल (नाट्येन कण्ठे निपीडयन् मारयति। वसन्तसेना मूर्च्छिता निश्चेष्टा पतति)—मृच्छकटिक, अङ्क, ८, पृष्ठ २४६, पूना १९०९।

३. गरुडः (सोद्वेगम्)—कष्टम् उपरतोऽयं महात्मा। तत् किमिदानीं करोमि। —नागानन्द, पञ्चम अंक, पृ० २२७, चौखम्भा संस्करण। तथा पृष्ठ २३२, वही।

कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी की दुःखान्त कथा को सुखद बनाया है और भवभूति ने 'उत्तररामचरित्र' में बाध्य होकर रामायण के अन्तिम दुःखान्त आख्यान को सुखान्त बनाया है। जीमूतवाहन की कथा तो आत्मत्याग की महनीय दुःखान्त कहानी है; परन्तु इस भव्य तथा प्रभावशाली पर्यवसान को कवि ने दैवी अनुकम्पा को बीच में लाकर सुखान्त बनाया है। इस विषय में संस्कृत रूपकों तथा यूनानी नाटकों में बड़ा ही मौलिक अन्तर है। यूनानी नाटककार की दृष्टि में जीवन-संघर्ष का पूर्ण परिचायक तथा निदर्शक नाटक 'ट्रैजिडी' (त्रासदी) ही है। यूरोपीय नाटकों में मृत्यु का प्राबल्य अन्य समस्त विषयों को ढक देता है और अपने उग्र नैराश्यवाद तथा अनिश्चितता के कारण दर्शकों के हृदय को तीव्र शोक की भावना से पूरे तौर पर अभिभूत कर लेता है। परन्तु भारतीय नाटकों में दृष्टिकोण का भेद होने से ऐसी स्थिति नहीं आने पाती। भारतीय कवि मृत्यु को कर्मवाद के अटल सिद्धान्त के कारण अस्वीकार नहीं करता, परन्तु आत्मा के अमरत्व के कारण वह उसे एकान्त पर्यवसान भी नहीं मानता और इसीलिए मृत्यु की तीव्रता तथा उग्रता हमारे नाटकों में उतनी दुःखद नहीं प्रतीत होती।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृत के नाटकों में दुःखद प्रसङ्गों का चित्रण नहीं है। ऐसा होने नाटक को एकांगी, अधूरा तथा वास्तविकता से पृथक् नहीं बनता, क्योंकि मानव जीवन मे सौख्य की अपेक्षा दुःख का ही पलड़ा भारी है। जीवन में प्रतिपद संघर्ष मानव को क्लेश तथा कष्ट के ही विकट मार्ग पर अग्रसर करता है, फलतः ऐसी घटनाओं का चित्रणाभाव नाटक को एकांगी बना देता। परन्तु संस्कृत के नाटकों के आदि तथा मध्य में ऐसे दुःखद तथा त्रासद प्रसंगों का पूर्ण निर्वाह होता है। केवल नाटक का अन्त मृत्यु से नहीं होता। 'अभिज्ञान-शकुन्तल' तथा 'मृच्छकटिक' में दुःखात्मक घटनाएँ और दृश्य हैं और 'उत्तरराम-चरित' में तो आदि से लेकर अन्त तक शोकमयी भावना की तीव्र अभिव्यक्ति है। राम अपनी सतीसाध्वी धर्मपत्नी का कठोर गर्भ की दशा में केवल निराधार तथा असत्य कलंक की आशंका से परित्याग कर देते हैं। इससे बढ़कर शोकजनक परिस्थिति क्या हो सकती है? सिद्धान्तवादियों की दृष्टि में केवल मृत्यु होने से ही ट्रैजिडी नहीं होती, जो वस्तुतः उद्वेगजनक होने से रसास्वाद में विघ्न तथा विराम उत्पन्न करता है। संस्कृत का नाटक जीवन के राजमार्ग पर चलता है और भय तथा आशंका, खून-खराबी तथा हत्या के गली-कूचे में वह कभी पैर रखना ठीक नहीं समझता। दार्शनिक दृष्टि से भी भारतीय कवि इसे हेय तथा गर्हणीय मानता है। रसास्वाद की दृष्टि से उद्वेजक तथा घृणास्पद होने के हेतु, मार-काट तथा हत्या आदि की घटनाओं का अङ्कन इसीलिए हमारे यहाँ नहीं होता। फलतः जीवन की आनन्ददायक उदात्त भावनाओं के भीतर गुणीभूत होने के कारण त्रासदी का विकास संस्कृत रूपकों में सम्पन्न न हो सका।

: ४ :

रूपक के उत्कृष्ट आकर्षण तथा हृदय-वर्जन का रहस्य उसके अभिनय के ऊपर आश्रित है। अभिनय के लिए ही रूपकों की सृष्टि हुई और इसलिए नाटकों को अभिनेय तथा रंगमञ्चोपयुक्त होना नितान्त आवश्यक होता है। अभिनेय नाटकों में रंगमञ्च की सजावट, पात्रों के वेष-विन्यास तथा वचन-विन्यास आदि के कारण ही दर्शकों के हृदय में रसोन्मेष की क्षमता श्रव्य-काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक मानी गई है। अभिनय भारवर्ष में एक नितान्त प्रौढ़ तथा गूढ़ कला के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित था। पाणिनि के सूत्रों (४।३।११०-१११) में उल्लिखित शिलालि तथा कृशाश्व के 'नटसूत्र' मुख्यतया अभिनय के सिद्धान्तों के प्रतिपादक नटोपयोगी प्राचीन ग्रन्थ थे। भरत का 'नाट्यशास्त्र' (रचनाकाल द्वितीय शती विक्रमी) चतुर्विध अभिनय के विविध प्रकारों का विस्तार से वर्णन करता है। नन्दिकेश्वर का 'अभिनय दर्पण'[1] केवल अभिनय-कला के ही सिद्धान्त तथा व्यवहार का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादक एक महनीय ग्रन्थ है जिसमें नाटक का विश्लेषण बिल्कुल ही नहीं है। परम्परया जाना जाता है कि यह 'अभिनयदर्पण' नन्दिकेश्वर ही के द्वारा प्रणीत बृहत्काय, परन्तु अधुना अप्राप्य, 'भरतार्णव' नामक ग्रन्थ का एक संक्षिप्त संस्करण है। 'अग्निपुराण' तथा 'विष्णुधर्मोत्तर' में भी अभिनय के विषय में कतिपय अध्याय उपलब्ध होते हैं। परन्तु 'अभिनयदर्पण' की एतद्विषयक प्रसिद्धि की तुलना 'नाट्यशास्त्र' को छोड़कर अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं की जा सकती।

अभिनय चार प्रकार का होता है—(क) आङ्गिक (जिसमें हस्त तथा पाद के संचार से उत्पन्न मुद्राओं तथा चारी आदि का विषय अपेक्षित है), (ख) वाचिक (संवाद तथा कथोपकथन से सम्बन्धित वस्तुओं का अभिनय); (ग) आहार्य (उचित वेश, वस्त्र तथा भूषण आदि का ग्रहण), तथा (घ) सात्त्विक (परिस्थिति के अनुरूप नटों द्वारा भावों तथा रसों का प्रदर्शन)। इन चारों प्रकार के अभिनव के प्रतिनिधि स्वयं नटराज शंकर हैं जिनकी यह सुन्दर स्तुति 'अभिनयदर्पण' का मंगल श्लोक है—

'आङ्गिकं' भुवनं यस्य, 'वाचिकं' सर्ववाङ्मयम्।
'आहार्यं' चन्द्रतारादि तं नुमः 'सात्त्विकं' शिवम्॥

इन चारों का विस्तृत तथा हृदयग्राही वर्णन नाट्यशास्त्र के विभिन्न अध्यायों में है। 'अभिनयदर्पण' तो केवल आङ्गिक अभिनय का ही प्रतिपादक एक नटोपयोगी

---

१. इसका केवल अंग्रेजी अनुवाद डॉ० आनन्द कुमार स्वामी ने अमेरिका से १९१७ में The Mirror of Gestures के नाम से प्रकाशित किया है। संस्कृतमूल तथा नवीन अंग्रेजी अनुवाद डॉ० मनमोहन घोष ने प्रकाशित किया है, कलकत्ता, १९३४।

शिक्षण-ग्रन्थ है। रस के उन्मीलन के निमित्त 'अभिनयदर्पण' का कहना है कि नट मुख से गीत का अवलम्बन करे, हाथ द्वारा अर्थ का प्रदर्शन करे, नेत्रों से भाव दिखलाए और पैरों से ताल का विधान करे—

आस्येनालम्बयेद् गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्।
चक्षुर्भ्यां दर्शयेद् भावं पादाभ्यां तालमादिशेत्॥ ३६॥

हस्त-संचालन के साथ रसोन्मेष का क्रमिक सम्बन्ध बतलाने वाला यह पद्य अभिनय के मौलिक तत्त्व को उद्घाटित करता है—

यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः॥ ३७॥

जिधर हाथ जाता है उधर ही दृष्टि जानी चाहिए, जिधर दृष्टि, उधर मन जाना चाहिए, जिधर मन उधर भाव का प्रकटन होना चाहिए और जिधर भाव हो, उधर ही रस का सञ्चार होना चाहिए। अभिनय के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर नव्य आलोचकों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। नन्दिकेश्वर तथा भरत के विषय-वर्णन में स्थान-स्थान पर अन्तर अवश्य है, परन्तु अनेक अङ्गक्षेपों के रूप तथा विनियोग के विषय में ऐकमत्य है। इतने प्राचीन काल में अभिनय जैसे व्यावहारिक शास्त्र का इतना आश्चर्यकारी वैज्ञानिक विश्लेषण इस बात का साक्षी है कि संस्कृत के नाटक रंगमञ्च के ऊपर आवश्यक सामग्री से सज-धजकर नटों तथा नटियों द्वारा उचित रूप से अभिनीत किये जाते थे। यह अभिनय कभी तो राजाओं की रंगशाला में चुने हुए विशिष्ट व्यक्तियों, जैसे उनके सामन्त आदि, के सामने किया जाता था अथवा कभी-कभी विशिष्ट उत्सवों के अवसर पर (जैसे कालप्रियानाथ की यात्रा के समय भवभूति के नाटकों का) सामान्य जनता के सामने यह अभिनय किया जाता था।

'प्रेक्षागृह' की रचना के प्रकारों का परिचय हमें भरत के नाट्यशास्त्र (द्वितीय अध्याय) से मिलता है।[1] इसके रूप का आभास हमें रामगढ़ में गुफा के भीतर उपलब्ध रंगशाला से होता है। अतः भरत के वर्णन की यथार्थता में सन्देह करने को तनिक भी गुंजाइश नहीं है। शाकुन्तल की राघवभट्ट-निर्मित टीका में भी फूल चुनने, भ्रमर-बाधा दिखलाने, त्रस्त सखियों द्वारा भौंरे को उड़ाने, कलश द्वारा पौधों तथा लताओं को सींचने आदि के अवसर पर तत्तद् अभिनय का प्रकार दिखलाया गया है। मूल में केवल 'नाटयति' पद आता है, परन्तु राघवभट्ट ने परम्परानुसारी व्याख्या कर इसके विशिष्ट रूपों को दिखलाया है। लेखक की दृष्टि में अभिनय कला का इतना विशिष्ट विस्तृत वर्णन शायद ही कहीं उपलब्ध होता है और यह संस्कृत नाटकों के व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक प्रयोग का प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय रचित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ४७८–४८३। दशम संस्करण, काशी, १९८३।

: ५ :

हमारे मान्य नाटककारों का उद्देश्य जनता का केवल मनोरञ्जन नहीं है, प्रत्युत जनता के चरित्र को सुधारने का पूरा प्रयत्न है। नाटक लोकवृत्त का अनुकरण है (लोकवृत्तानुकरणम्)। फलतः लोक में घटने वाली नाना रसात्मक घटनाओं का तथा नाना प्रकार के वैयक्तिक चरित्र का कीर्तन कवियों ने अपने रूपकों में किया है। पाश्चात्य आलोचकों की यह धारणा है कि कालिदास तथा भवभूति जैसे मान्य नाटककार भी जीवन के संघर्ष के प्रति उदासीन थे तथा उन्होंने 'जीवन की वास्तविकता' को अभिव्यक्त करने का कहीं भी प्रयत्न नहीं किया, परन्तु यह आलोचना एकाङ्गी, भ्रान्त तथा अधूरी है। भारतवर्ष की भूमि को प्रकृति ने इतना उर्वर, इतना सम्पन्न बनाया था कि यहाँ आर्थिक समस्याओं के विवेचन के लिए नाटक-रचना का अवसर ही नहीं आता, क्योंकि देश की समृद्धि तथा जनता के सौख्य के कारण यहाँ आर्थिक स्तर पर भेद-भाव की सत्ता मानना बिल्कुल असम्भव था। लोग सामान्यतः जीवन के रक्षाकारी साधनों से प्रचुर मात्रा में सम्पन्न थे। दरिद्रता कभी भी उनके सामने अपने नग्न रूप में नहीं नाचती थी। राजा प्रजा के हितसाधन में संलग्न था। वह प्रजा को अपनी सन्तान के समान समझता था। इसी पारस्परिक सौहार्द, राजा की प्रकृतिरञ्जनता तथा प्रजा की राजनिष्ठता के कारण जनता के भीतर उस सामाजिक तथा आर्थिक विषमता का वातावरण ही नहीं जन्मा था, जो आधुनिक 'समस्या-नाटकों' का जन्म माना जाता है। क्षणिक और तात्कालिक समस्याओं के समाधान की आशा अपने नाटककारों से करना इसीलिए असम्भव है। यूरोप में भी समस्या-नाटकों का जन्म अभी कल की घटना है। इब्सन ने ही तो सर्वप्रथम गद्यात्मक नाटकों द्वारा किसी विशिष्ट सामाजिक समस्या का सुलझाना अपनी कला की विशिष्ट दिशा के लिए खोज निकाला। अंग्रेजी के प्रख्यात नाटककर्ता जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने इब्सन को ही आदर्श मानकर नाना प्रकार से रोचक, समस्या-प्रधान रूपकों का प्रणयन किया। यूरोप की विषम सामाजिक परिस्थितियों में इसका उदय समयोचित हुआ है, जिसका प्रभाव आज के नाटक-साहित्य पर विशेष रूप से पड़ रहा है। ऐसे समस्या-नाटकों की दृष्टि से प्राचीन संस्कृत नाटकों की आलोचना अनुचित ही नहीं, प्रत्युत इतिहास-विरुद्ध भी है।

जीवन की शाश्वत समस्याओं को, जैसे धर्म तथा काम के, धर्म तथा अर्थ के, प्रणय तथा कर्तव्य के, स्वार्थ तथा परमार्थ के, पारस्परिक संघर्ष का अपनयन तथा उनमें मञ्जुल समन्वय उपस्थित करने में संस्कृत नाटककार किसी भी शिष्ट साहित्य के नाटककारों से आगे ही हैं। संस्कृत का नाटककार भारतीय संस्कृति का सन्देशवाहक कवि है, जो उसके विशुद्ध रूप के प्रदर्शन में ही अपनी कला की पूर्ण अभिव्यक्ति मानता है। भारतीय संस्कृति धर्म, अर्थ तथा काम जैसे

पुरुषार्थत्रयी के समसेवन पर आग्रह रखती है इसलिए उसका आदर्श वाक्य यही है—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः
यो ह्येकसक्तः स जनः जघन्यः।
द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं
स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे।।

मानव-मात्र को धर्म, अर्थ तथा काम की सेवा समभाव से करनी चाहिए। वह व्यक्ति सचमुच जघन्य है जो एक ही पुरुषार्थ के सेवन में आसक्त रहता है। अनासक्त भाव से पुरुषार्थत्रयी की उपासना तथा पारस्परिक सामञ्जस्य-बुद्धि भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है और संस्कृत कवियों ने अपने नाटकों में इस शाश्वत सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़ी ही रोचकता के साथ अनेक प्रतीकों की उत्थापना कर किया है।

संस्कृत का नाटककार मनुष्यों की चित्तवृत्ति का नाना परिस्थितियों में चित्रण करता है। वह कामवासना की शक्ति से परिचित होता है तथा अर्थ की उपयोगिता तथा महत्त्व से अवगत होता है। मनुष्य-जीवन के निर्वाह तथा विकास के लिए इन आवश्यक साधनों का वह कभी अपलाप नहीं कर सकता। परन्तु धर्म तथा अर्थ-काम पारस्परिक संघर्ष के लिए विरुद्ध पक्ष के योद्धाओं के समान आपस में लड़ने के लिए तैयार रहते हैं। कभी मनुष्य के हृदय को काम तथा अर्थ नित नूतन चाकचिक्य द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, तो कभी धर्म ही उसके ऊपर पूर्ण प्रभाव स्थापित करने के लिए तत्पर होता है। ऐसी दशा में संघर्ष अनिवार्य होता है और संस्कृत का नाटककार अपने नाटक में इस संघर्ष का चित्रण कर उसमें पूर्ण सामञ्जस्य-प्रदर्शन करता है। 'उत्तर रामचरित' में भवभूति ने प्रेम तथा कर्तव्य के बीच भीषण संघर्ष दिखलाने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। प्रजारञ्जक राम प्रजाओं के आश्वासन के निमित्त एक निराधार लोकनिन्दा के कारण अपनी सती पतिव्रता धर्मपत्नी का परित्याग उस विकट परिस्थिति में कर कर्तव्य की वेदी पर अपने वैयक्तिक सौख्य की तिलाञ्जलि देते हैं। वे जानते हैं कि सीता सर्वथा निर्दोष है, परन्तु रघु के पवित्र कुल के माथे पर कलंक का टीका लगने की आशंका से वे उद्विग्न हो उठते हैं और उसका परित्याग कर देते हैं। राम जीवमात्र के प्रतिनिधि हैं और जब भवभूति के राम अपनी दशा बतलाते हुए कहते हैं कि दुःख की संवेदना के लिए ही राम में चैतन्य अर्पित किया गया है, (दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम्—उत्तरराम०) तब भवभूति जगत् की दुःखमयी स्थिति की ओर स्पष्टतः संकेत करते हैं। भवभूति का यह निश्चित मत है कि काम को बीभत्स से बिना दूर किये न उसमें शुद्धता आ सकती है और न उसमें पवित्रता का प्रवेश हो सकता है। 'मालती माधव' में अघोरघण्ट मालती

को श्मशान में वध करने के लिए चुरा ले जाता है, तब माधव उसे मारकर मालती का उद्धार करता है। इस रहस्य की व्याख्या की जा सकती है। मालती प्रीति-स्थानीया है, अघोरघण्टा बीभत्सता का प्रतीक है और माधव ज्ञान का। प्रीति-भक्ति तथा ज्ञान का सामरस्य होने पर ही जगत् का वास्तव मंगल सम्पन्न होता है, परन्तु प्रीति को सांसारिक भावना बलात् खींचकर उसे उन्मार्ग में ले जाती हैं। फलतः उसकी ऊर्ध्व गति, उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) न होकर बीभत्स कार्यों में लगने से अधोगति ही होती है। ज्ञान ही बीभत्स से हटाकर प्रेम को विशुद्ध बनाने की क्षमता रखता है और तभी यह काम धर्मविरुद्ध बनकर जगत् का परममंगल वाहक होता है। धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ (गीता)। धर्माविरुद्ध काम भगवान् की विभूति है। भवभूति विशुद्ध दाम्पत्य-प्रणय के कवि हैं। वे स्वच्छन्द, अतएव उच्छृङ्खल, प्रणय के प्रधान तिरस्कर्ता हैं। विशुद्ध दाम्पत्य-प्रणय -'कर्तव्य-निष्ठा' के साथ किसी प्रकार का संघर्ष नहीं रखता। इसके रूप चित्रण में उनका यह पद्य नितान्त प्रसिद्ध है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

(उत्तरराम० ५)

महाकवि कालिदास ने अपनी अनुपम कृति 'अभिज्ञान-शकुन्तल' में श्रेय और प्रेय के परस्पर संघर्ष का बड़ा ही उदात्त चरित्र खींचा है। शकुन्तला को दो शक्तियाँ अपनी ओर खींच रही है—एक के प्रतिनिधि हैं दुर्वासा और दूसरी के प्रतिनिधि हैं दुष्यन्त। दुर्वासा (दुष्ट वस्त्रवाला, बाहरी चाकचिक्य से विहीन व्यक्ति) आध्यात्मिकता का प्रतीक है जो डंके की चोट अपने अस्तित्व की सूचना देकर भारतलक्ष्मी को अपनी ओर आकृष्ट करता है और उसे गर्त से बचने के लिए उपदेश देता है।[1] वह श्रेय का प्रतीक है। भारत का सार्वभौम राजा दुष्यन्त भोगविलास या भौतिकवाद का अवतार है। वह छिपे चोर की तरह शान्त आश्रम में प्रवेश करता है और अपने प्रलोभनों से उसे अशुद्ध तथा अशान्त बना देता है। वह निश्चयेन प्रेय का प्रतीक है। अतः शाकुन्तल नाटक में श्रेय तथा प्रेय का संघर्ष प्रदर्शित किया गया है। दुर्वासा ऋषि के 'तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्' कथन में 'उपस्थित' शब्द बड़े महत्त्व का है। श्रेय स्वयं जीव के सामने तापस के रूप में आकर विशुद्धरूप में उपस्थित है। उसका तिरस्कार भयंकर परिणाम का रूपक है। प्रेय छिपे छिपे जीव के चित्त को चुराने का प्रयास करता है। फलतः वह

१. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥

नितान्त हेय है। शकुन्तला उपस्थित श्रेय का तिरस्कार कर अनुपस्थित दूरस्थ प्रेय को अपना हृदय दे देती है। परिणाम तुरन्त मिलता है—भरी सभा में तिरस्कार-पूर्ण बहिष्कार। वह फिर मारीच के आश्रम में अपनी माता मेनका के पास ऋषि की देख-रेख में घोर तपस्या करती है, अपने कालुष्य को दूर भगाती है, स्वार्थ को परमार्थ की वेदी पर निछावर करती है, अपने प्रेय को श्रेय के अनुकूल बनाकर उसके साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करती है। तब उसका जीवन धन्य होता है और वह शाश्वत सौख्य तथा शान्ति का वरण करती है। आधुनिक युग में कालिदास का सन्देश नितान्त उपादेय तथा उपयोगी है। विश्व की वर्तमान स्थिति में इससे अधिक उपयोगी तथा व्यापक सन्देश नवीन नाटककारों के लिए और क्या हो सकता है?

३ : ६

नाट्यकला तथा शान्तरस

नाटक में शान्तरस का प्रदर्शन किया जा सकता है या नहीं, इस प्रश्न की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों ने बड़ी छानबीन तथा गम्भीरता के साथ की है। नाट्य में शान्तरस के विरोधी आचार्यों की भी एक लम्बी परम्परा है। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गए तर्कों तथा युक्तियों का अनुशीलन कर हम अभाववादियों के तीन अवान्तरपक्षों की कल्पना कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वन्यभाववादियों के तीन अवान्तरपक्षों की कल्पना की है। इन पक्षों को मैं अत्यन्ताभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी संज्ञा देना अत्यन्त उचित समझता हूँ।

अत्यन्ताभाववादी

इस पक्ष के प्रस्तावक आचार्यों की सम्मति में शान्तरस का इस जगतीतल पर सर्वथा अभाव ही विद्यमान है। इस संसार में राग-द्वेष का अखण्ड साम्राज्य उज्जृम्भित हो रहा है। महनीय जातियों तथा राष्ट्रों में ही यह बात नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति का भी हृदय राग-द्वेष की वृत्तियों का क्रीड़ास्थल है। अनादिकाल से अविद्या का प्रवाह प्रवाहित होता आ रहा है जिसके वश में होकर जीव किसी से प्रेम (राग) करता है तथा किसी दूसरे व्यक्ति से बैर (द्वेष) करता है। यह प्रवाह इतना प्रबल तथा पुष्ट है कि इसका उन्मूलन करना नितान्त असाध्य है। अविद्या के प्रवाह को नष्ट करने वाले उद्योगशील पुरुषार्थियों की कमी नहीं है, परन्तु यह प्रवाह आज भी अपनी उद्दाम गति से प्रवाहित होता ही रहता है। शान्त की स्थिति रागद्वेष आदि भावों के उन्मीलन पर ही आश्रित रहती है और इन भावों के उच्छेद की कल्पना भी आकाश कुसुम के समान नितान्त असम्भाव्य तथा अकल्पनीय है। ऐसी दशा में शान्त रस का व्यावहारिक जगत् में सर्वथा अभाव मानना ही न्याय-संगत प्रतीत होता है। अतएव शान्तरस को काव्य तथा नाट्य में निबद्ध करने वाला कवि कभी भी द्रष्टाओं के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। शान्तरस का निबन्धन इस प्रकार कथमपि उपादेय तथा आकर्षक सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए दशरूपक के 'अवलोक' में धनञ्जय ने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है—

'अन्ये तु वस्तुतस्तस्य अभावं वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्।' (दशरूपक)

'न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति' (दशरूपक)

आनन्दवर्धन के मत में शान्तरस के अभाव का मुख्य कारण है—सर्वजनानुभव गोचरता का अभाव। रस को सब जनों के अनुभव का गोचर होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु संसार के प्राणियों को अविद्या, रागद्वेष वृत्तियों के पंक में निमग्न देख कर क्या हम कभी कल्पना कर सकते हैं कि ये भ्रान्त मानव कभी भी शान्त रस का आस्वादन करने में समर्थ होंगे—

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति, नैतावतासै अलोक सामान्य महानुभाव चित्तवृत्तिविशेषवत् प्रतिक्षेप्तुं शक्यः। (ध्वन्या पृ० १७७)

फलतः अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या का प्रवाह दुरुच्छेद्य है तथा हृदय संवाद का नितान्त अभाव है। अतएव शान्त रस की सत्ता हम कथमपि मानने के लिए उद्यत नहीं हैं।

इस तर्क का खण्डन भली भाँति किया जा सकता है। इस पृथ्वी तल को इतने सन्त-महात्माओं ने अपने अलौकिक जीवन से, अपने शान्त उपदेशों से तथा अदम्य कारुणिकता तथा मैत्री से अलंकृत किया है कि अविद्या का उच्छेद न मानना कथमपि युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। साधारण मानव यदि जनकोलाहल तथा रागद्वेष के स्तर से ऊपर उठने में अपने को सक्षम नहीं पाता, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि रागद्वेष का उन्मूलन सम्भव ही नहीं। अपने देश में उदात्त जीवन बिताने वाले ऋषि मुनियों का प्रत्यक्ष दृष्टान्त इस बात का स्पष्ट बोधक है कि अविद्या की वागुरा दुरुच्छेद्य भले हो, परन्तु वह सर्वथा अच्छेद्य नहीं है। हृदय संवाद के तर्क पर शान्त का अभाव भी तर्कहीन ही है। 'सर्वजनानुभव गोचरता' किसी भी रस की उपलब्धि के लिए अकाट्य हेतु नहीं है। भरत मुनि ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को बतलाया है कि भिन्न-भिन्न रस के अनुभव तथा आस्वाद के लिए भिन्न-भिन्न 'प्रकृति' की आवश्यकता होती है। एक ही 'प्रकृति' विभिन्न रसों का आस्वाद नहीं ले सकती। वीर प्रकृति व्यक्ति को भयानक से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और वीतराग पुरुष को शृंगार रस का आस्वाद नहीं होता, तो इस कारण वीर तथा शृंगार को हम रस के अन्तर्गत नहीं मान सकते।[1] कथमपि नहीं, 'सर्व हृदय संवाद' के अभाव में भी वीर तथा शृंगार को हम रसकोटि से बहिर्मुख नहीं कर सकते। शान्त रस में भी हृदय संवाद होता है। किन पुरुषों का? संसार से वैराग्य रखने वाले वीतराग पुरुषों का हृदय संवाद शान्तरस के प्रदर्शक काव्यों के पढ़ने में तथा नाटकों के देखने में सर्वथा होता ही है। ऐसी दशा में शान्त रस का अभाव कैसे माना जाय?

---

१. ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद् रस्यमानता एव नोपपन्ना। क एवमाह नास्तीति? यतः प्रतीयते एवेत्युक्तम्। ननु प्रतीयते, सर्वस्य श्लाघास्पदं न भवति। तर्हि वीतरागाणां शृङ्गारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसाच्च्यवताम्।

—लोचन, पृष्ठ १७७

फलतः इस जगत् का शम नामक भाव अङ्ग ही नहीं है, प्रत्युत एक महनीय तथा उज्ज्वलतम अंग है, परन्तु उसका अनुभव साधारण जनता की उपलब्धि से दूर ही रहता है। शान्त रस की उपलब्धि अवश्य ही असाधारण बनी रहेगी, जिस प्रकार महापुरुषों की जीवन लीलाएँ। "जायस्व म्रियस्व" ही इस विश्व की सामान्य गति का निदर्शन है, परन्तु फिर भी शंकर तथा रामानुज, गोरखनाथ तथा कबीर, सूर तथा तुलसी जैसे महनीय आत्माओं ने अपने जीवन में उच्च आध्यात्मिकता का निदर्शन दिखलाया। तथ्य तो यह है कि साहित्य, काव्य तथा नाटक त्रिवर्ग के वर्णन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता, परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का वर्णन तथा चित्रण भी उसके लिए उसी प्रकार उपादेय है। पुरुषार्थ का सरस तथा सुभग चित्रण ही काव्य सामान्य का तात्पर्य है। लोकवृत्त का अनुकरण नाटक का स्वविषय है। ऐसी दशा में उपकारव्रती अध्यात्मनिष्ठ महामानवों की जीवन-लीला का चित्रण जिस प्रकार कवि अपने काव्यों में करता है, उसी प्रकार मोक्ष जैसे चरम पुरुषार्थ का निदर्शन भी काव्य में भली भाँति दिखलाया जा सकता है। इसीलिए अभिनवगुप्त, कामोचित चित्तवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा रसास्वाद के उदय के समान मोक्षोपयोगिनी चित्तवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा रस का आस्वाद उत्पन्न होना स्वाभाविक मानते हैं (द्रष्टव्य अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ ३३४, बड़ौदा संस्करण)।

प्रस्थानवादी

रससम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय श्री भरत मुनि को है। फलतः रस के समस्त सिद्धान्तों के निरूपण की अन्तिम कोटि भरत रचित नाट्यशास्त्र ही है। नाट्यशास्त्र एक शताब्दी की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है। नाट्यशास्त्र के प्राचीन हस्तलेखों में शान्तरस का निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं था। यही कारण है कि लेखक के द्वारा सम्पादित तथा चौखम्भा कार्यालय, काशी से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के रसाध्याय (षष्ठ अध्याय) में शान्तरस का कहीं भी निर्देश नहीं है। इस संस्करण को मूल आधार मान कर प्रस्थानवादी आचार्यों का कथन है कि जब भरत मुनि ने ही शान्तरस का निर्देश नहीं किया, तब शान्त की रस के भीतर गणना ही किस प्रकार की जा सकती है? भरत के इस निर्देशाभाव के कारण शान्त को रस न मानने वाले आचार्यों की कमी नहीं है। धनञ्जय ने दशरूपक में इस मत की ओर संकेत किया है।

इस युक्ति का भी समाधान भली भाँति किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र के रसाध्याय में शान्त का वर्णन आचार्य अभिनवगुप्त के समय में (अर्थात् १० वीं शती के अन्त में) अवश्य विद्यमान था, तभी तो उन्होंने इसके ऊपर भी अपनी विस्तृत व्याख्या लिखी है (द्रष्टव्य अभिनव भारती, गायकवाड़ सीरीज में प्रकाशित भाग १, पृष्ठ ३३३-३४२)। यह अंश स्पष्ट ही रसाध्याय के समाप्त होने पर पीछे से जोड़ा गया है, परन्तु यह संयोजन भी अभिनवगुप्त से प्राचीन किसी काल में

किया गया होगा। अभिनवगुप्त ने अपने भाष्य में दिखलाया है कि किस प्रकार शान्त को न मानने वाले आचार्य केवल आठ ही रस मानते थे (शान्तापलापिनस्तु अत्र अष्टौ इति पठन्ति तत्र शान्तस्य स्थायी 'विस्मयक्षमाः' इति कैश्चित् पठितः)। भरत की इस कारिका में केवल आठ रसों का ही निर्देश है—

शृंगार - हास्य - करुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ ६।१६

परन्तु शान्त रसवादी आचार्यों ने 'अद्भुत शान्ता नव नाट्ये रसाः स्मृताः' पाठ स्वीकार किया है। इसी प्रकार स्थायिभाव की गणनापरक कारिका में 'जुगुप्साविस्मयश्चेति' (नाट्य० ६।१८) के स्थान पर 'जुगुप्साविस्मयशमाः' पाठ उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्र के परिबृंहित संस्करण में अभिनव भारती के अनुसार। प्रश्न यह है कि इस परिवर्तन का कर्त्ता कौन हो सकता है। 'काव्यालंकार सारसंग्रह' के अध्ययन से स्पष्ट है कि उद्भट शान्तरस को मानते थे। वे नाट्यशास्त्र के प्रथम ज्ञात व्याख्याकार हैं तथा नव रसों की सत्ता मानने वाले प्रथम आलंकारिक हैं। फलतः बहुत सम्भव है कि इन्होंने ही नाट्यशास्त्र के पाठ में पूर्वोक्त परिवर्तन किये थे, जिनका निर्देश अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में किया है।

भरत के नाट्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन से हम अनुमान ही क्या निश्चय कर सकते हैं कि भरत भी शान्तरस की सत्ता से पूर्णतया अवगत थे। जब नाटक लोकवृत्त के ऊपर आश्रित रहता है, तब क्या लोक में शान्तरस के उपासक मुनिजनों का अस्तित्व नहीं है, जिनका चित्रण करते समय शान्तरस की विशद प्रतीति काव्य या नाटक में भली भाँति हो सकती है। नाट्य की उपयोगिता बतलाते समय भरत के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

क्वचिद् धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचित् शमः। (१।१०६)
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ॥
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति। (१।११५)
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शनम् ॥ (१।१२१)

भरत के मूल वाक्यों का अर्थ यही है कि नाटक में धर्म, क्रीड़ा तथा अर्थ के साथ शम का प्रदर्शन भी किया जाता है; नाट्य, तपस्वियों को विश्रान्ति प्रदान करता है तथा उसमें ब्रह्मर्षियों का चरित्र भी दिखलाया जाता है। ये कथन भरत के मूलग्रन्थ से है तथा नितान्त प्रामाणिक हैं। अभिनवगुप्त ने प्रथम उद्धरण को देकर पूछा है कि क्या भरत मुनि शान्तरस को अंगीकार नहीं करते—

प्रतीयत एवेति मुनिनाप्यङ्गीकृत-एव 'क्वचिच्छमः'
इति वदता—लोचन, पृष्ठ १७७ (काव्यमाला सं०)

भरत ने नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय में दर्शकों के वैशिष्ट्य का वर्णन किया है कि दर्शकों के साथ सामरस्य धारण करना ही नाटक का प्राण है तथा इसी प्रसंग में विविध प्रकार के दर्शकों के तोष का वर्णन इस श्लोक में किया है—

तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते ।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः ॥
(काशी सं० २७।५९)

श्लोक का तात्पर्य है कि संसार से वीतराग दर्शकों का तोष मोक्ष में होता है। इस श्लोक की संगति तभी बैठ सकती है जब नाटक के वर्ण्य विषयों में मोक्ष को भी यथोचित स्थान प्राप्त हो सके। अभिनवगुप्त ने भी इस वाक्य की ओर अभिनव भारती में स्पष्ट संकेत किया है (द्रष्टव्य प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३४०)। भरत ने २४ वें अध्याय में काम को प्रत्येक पुरुषार्थ से सम्बद्ध होने के कारण चार प्रकार का माना है—केवल काम, धर्मकाम, अर्थकाम तथा मोक्षकाम।

धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च ।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगो यः काम स तु संस्मृतः ॥
(२४।६१)

'मोक्ष काम' का तो स्पष्ट अर्थ है मोक्ष के विषय में अनुराग या प्रेम। यह स्पष्ट ही शान्त की ओर संकेत है। भरत ने स्वयं लिखा है—

धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥
(२७।६१)

यहाँ धार्मिक आख्यान तथा पुराणों में प्रदर्शित कथानकों का स्पष्ट निर्देश है जिसके दर्शन से वृद्ध लोग सन्तुष्ट होते हैं तथा आनन्द पाते हैं।

इन तर्कों का सामूहिक फल यह है कि भरत शान्तरस की स्वीकृति न देने पर भी शान्त के उपयोगी वातावरण से परिचित हैं, उसके चित्रण को नाटक में आवश्यक बतलाते हैं तथा उसमें आनन्द लेने वाले वृद्धजनों की चित्तवृत्ति से वे अवगत हैं। नाटच को लोकवृत्त के ऊपर आश्रित मानने वाला आचार्य क्या कभी शान्तोपयोगी चित्रण से पराङ्मुख हो सकता है? फलतः प्रस्थानवादी आचार्यों के मत को हम कथमपि महत्त्व नहीं दे सकते कि भरत मुनि शान्तरस से सर्वथा अपरिचित हैं।

अन्तर्भाववादी

कतिपय आचार्य शान्तरस की सत्ता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उसे वे स्वतन्त्र रस की स्थिति में रखना पसन्द नहीं करते, प्रत्युत पूर्व सम्मत किसी रस के भीतर उसका अन्तर्भाव मानते हैं। ये अभाववादी न होकर अन्तर्भाववादी के नाम से अभिहित किये जा सकते हैं।

वीर में शान्त का अन्तर्भाव

बहुत से आचार्य शान्तरस को वीर रस के भीतर अन्तर्भुक्त मानते हैं, क्योंकि वीर का स्थायी भाव उत्साह यहाँ भी विद्यमान रहता है। प्रत्येक कार्य के सम्पादन के लिए उत्साह की आवश्यकता होती है। बिना उत्साह के कोई कार्य क्या अपनी

वास्तविक सिद्धि पा सकता है ? शान्त रस के उपादान, त्याग, तपस्या, परोपकार, दया आदि का निर्वाह पूर्णरूप से तभी हो सकता है जब कर्ता का हृदय उत्साह के द्वारा परिचालित हो। अतः शान्त में भी उत्साह का दर्शन होने के कारण वह वीररस के भीतर समुचित रीति से अन्तर्हित किया जा सकता है।

वीर रस के भेदों की अवधि नहीं है। भरत मुनि ने इसके तीन प्रधान भेद माने हैं—युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर—जिनमें युद्धवीर तो वस्तुतः वीर रस का शुद्ध निदर्शन है। दानवीर में दान देने लिए उत्साह का प्राधान्य रहता है जैसे सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में राजा हरिश्चन्द्र। 'धर्मवीर' में धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में समधिक समुत्साह दृष्टिगोचर होता है जैसे युधिष्ठिर। इन तीनों के अतिरिक्त दयावीर नामक वीर का एक चौथा भी प्रभेद है और इसका प्रादुर्भाव बोधिसत्व के परोपकार के निमित्त जीवन के उत्सर्ग जैसे कार्यों में होता है। नागानन्द नाटक में दयावीर की ही प्रधानता है, क्योंकि इसका नायक जीमूतवाहन गरुड़ से नागों की रक्षा करने के लिए अपना समर्पण करने में कभी नहीं हिचकता। दयावीर का स्थायीभाव भी रस के अन्य प्रभेदों के समान ही 'उत्साह' है। फलतः बहुत से आचार्य दयावीर से एकाकार होने के कारण शान्तरस की पृथक् सत्ता मानने के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में दयावीर ही शान्त रस का प्रतीक है। अभिनवगुप्त के मत में तो दयावीर, धर्मवीर तथा दानवीर कोई नये रस नहीं हैं; प्रत्युत शान्त के ही ये नामकरण हैं (लोचन ११७-११८) भट्ट गोपाल ने अपनी 'काव्यप्रकाश-व्याख्या' (पृष्ठ १३९-१४०) में स्पष्ट लिखा है कि दयावीर शान्त का ही नामान्तर है और इसीलिए भरत मुनि ने वीररस के तीन ही प्रभेद बतलाये हैं—युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर—

दयावीर इति शान्तस्यैव नामान्तरकरणम्, येन
दानवीरं युद्धवीरं धर्मवीरं तथैव च।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधसंमितम्,
इति त्रैविध्यमेवास्य मुनिना वीरस्याभ्यधायि ॥

इस मत का उदय श्रीहर्ष के द्वारा नागानन्द नाटक की रचना के अनन्तर होना प्रतीत होता है। इस मत में एक विशेषता तो अवश्य है कि यह मत उन लोगों के मत से अवश्य ही शोभन है जो निर्वेद जैसे संचारी भाव को स्थायी भाव के पद पर प्रतिष्ठित करने की गलती करते थे। उत्साह अवश्य ही स्थायी भाव है वीररस का। अतएव शान्त का स्थायी भाव उत्साह मानने में पहली जैसी गलती तो अवश्यमेव नहीं होती, परन्तु इस सिद्धान्त से भी हमारी समस्या का समाधान नहीं होता। उत्साह के ऊपर शान्त को आश्रित मानने वाले भी आचार्य बालू की भीत पर अपना किला बना रहे थे; क्योंकि दोनों के स्वरूप में स्पष्ट अन्तर है। आनन्दवर्धन की सम्मति में वीररस अभिमान प्रधान होता है और शान्तरस अहंकार प्रशम रूप होता है—

"न तस्य वीरेऽन्तर्भावः कर्त्तुं युक्तः। तस्य अभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य च अहंकार-प्रशमैकरूपतया स्थितेः।"

—ध्वन्या० पृ० १७७

उत्साह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमें बतलाता है कि जब तक प्राणी अपने भीतर सुप्त अहंभाव को जाग्रत नहीं करता, तब तक उसके हृदय में उत्साह का आविर्भाव नहीं होता। प्राणी को उत्साह किसी कार्य के करने के लिए तभी आता है, जब वह अभिमान को जाग्रत कर अपने अन्तःप्राण को उद्‌बुद्ध करता है। उधर शान्त में इससे विपरीत स्थिति ठहरती है। शान्त का उपासक व्यक्ति अहंभाव का नितान्त प्रशमन कर देता है। उसका हृदय-सागर किसी भी कामना-लहरी से उद्वेलित नहीं होता, कोई भी संकल्प उसके अहंकार को नहीं जगाता। फलतः शान्त व्यक्ति सर्वदा निरीह, निष्काम तथा निरहंकार की स्थिति में रहता है। इस प्रकार स्वरूपगत भेद होने से शान्तरस का अन्तर्भाव वीररस के भीतर कथमपि नहीं किया जा सकता।

शान्तरस के उन्मीलन में उत्साह की हेतुता का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। दान-उत्साह तथा धर्मोत्साह शान्त के ही दो अंग हैं। वीर के अन्य भेदों का भी उत्साह शान्त में अवश्यमेव विराजता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने पाण्डित्य वीर, क्षमा वीर जैसे नवीन प्रभेदों को वीररस के भीतर दिखलाया है। इनके भीतर वर्तमान उत्साह की भी शान्त में आवश्यकता है। विरोधी को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए किसी धर्मोपदेशक के हृदय में 'पाण्डित्योत्साह' की मात्रा होनी ही चाहिए। इसी प्रकार 'क्षमावीर' का उत्साह भी शान्त के लिए आवश्यक उपादान है। परन्तु शान्त रस में 'उत्साह' संचारिभाव के रूप में ही उपस्थित रहता है, स्थायी भाव के रूप में नहीं। इसीलिए यह अन्तर्भाव का तथ्य एकदम तर्कहीन तथा अनुपयुक्त है। अभिनवगुप्त इसीलिए उत्साह को शान्त रस में 'अभ्यधिक अन्तरंग' मानते हैं, परन्तु उसे शान्तरस का प्राण (स्थायीभाव) तो कभी भी नहीं मानते—

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायैवउद्यम इति उत्साहोऽस्य परोपकार-विषयेच्छाप्रयत्नरूपो दयापरपर्यायः अभ्यधिकोऽन्तरङ्गः। अतएव तत् केचित् दयावीर-त्वेन व्यपदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन।

—अभिनवभारती, पृष्ठ ३३८ (भाग प्रथम)

बीभत्स में शान्त का अन्तर्भाव

मोक्ष मार्ग का पथिक अध्यात्म में रति रखता है तथा संसार के विषय में वह घृणा का भाव रखता है। विषयों से वैराग्य होने के लिए उनमें घृणाभाव का उदय स्वाभाविक है। विषय में आसक्त व्यक्ति क्या कभी मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकता है? विषयों के प्रति घृणा होना तो मोक्षमार्ग का संबल माना जा

सकता है। यही जुगुप्सा का भाव है। शान्त में इसकी सार्वत्रिकी स्थिति होने के कारण जुगुप्सा शान्तरस का स्थायी भाव माना जाता है तथा बीभत्स रस के भीतर शान्त का अन्तर्भाव उपन्यस्त है।

'जुगुप्सा' के विषय में अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का अपना निजी मत है; जिसका उपन्यास हम 'अभिनव भारती' में पाते हैं। रसों के प्रभेद दर्शन के अवसर पर भरत ने बीभत्स के प्रभेदों का उल्लेख किया है—

बीभत्सः क्षोभणः शुद्धः उद्वेगी स्याद् द्वितीयकः।
बिष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः॥

(नाटयशास्त्र ६।८१, काशी संस्करण)

बीभत्स दो प्रकार का होता है—क्षोभण तथा उद्वेगी। क्षोभण उत्पन्न होता है रुधिर आदि के देखने से और उद्वेगी पैदा होता है विष्ठा कृमि के द्वारा। इनमें प्रथम प्रकार शुद्ध कहलाता है और दूसरा प्रकार अशुद्ध। इस व्याख्या में 'शुद्धः' 'क्षोभणः' का विशेषण माना गया है, परन्तु भट्टतौत के मत में 'शुद्ध' भी बीभत्स का तृतीय प्रकार है। इसीलिए कहीं-कहीं 'द्वितीयकः' के स्थान पर 'तृतीयकः' पाठ उपलब्ध होता है। संसार के भावों से, वस्तुओं से या द्रव्यों से जो स्वतः घृणा का भाव जनमता है, वही शुद्ध बीभत्स का उत्पादक होता है। पतञ्जलि ने इसीलिए कहा है—'शौचात् स्वांग-जुगुप्सा परैरसंसर्गः' (योगसूत्र २।४०)। शौच के धारण करने से यति को अपने ही अंगों में जुगुप्सा उत्पन्न होती है और इसलिए वह दूसरों से कभी संसर्ग नहीं रखता। वह मोक्षमार्ग में अग्रसर होता है—

उपाध्यायस्त्वाह—बीभत्सस्तावत् विभावविशेषात् यत्र तु संसार नाट्यनायक राग प्रतिपक्षतया मोक्षसाधनत्वाद् शुद्धः। यदाहुः 'शौचात् स्वांग जुगुप्सा' तथा 'वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनमिति'। तेन सोऽपि परमार्थतः त्रिविध एव।

—अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३३२

भट्टतौत के इस मार्मिक कथन का तात्पर्य यह है कि संसार के प्रति राग हटाने के लिए उसके प्रतिपक्ष की भावना नितान्त आवश्यक है। संसार के सुखों का तिरस्कार हम तभी कर सकते हैं, जब हम सांसारिक विषयों के घृणित रूप की भावना करें। फलतः इस प्रतिपक्षभावना से उत्पन्न बीभत्स का रस 'शुद्ध' कहलावेगा। इतने पर भी भट्टतौत बीभत्स के दो ही प्रभेद मानते हैं, क्योंकि यह बीभत्सरस नितान्त दुर्लभ होता है। ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत ही कम है, जो संसार के विषयों में जुगुप्सा का भाव रखते हों—

द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेन अप्राचुर्यं सूचयति। (वही, पृ० ३३२)

धनञ्जय ने इसी बीभत्स के अन्तर्गत शान्त की सत्ता मानने का निर्देश अपने 'दशरूपावलोक' में किया है।

इस पूर्वपक्ष का यही समाधान है जो वीर रस के विषय में प्रथमतः दिया गया है। जिस प्रकार उत्साह शान्त रस का अन्तरंग भाव है, जुगुप्सा भी वैसा

ही है। 'शुद्ध जुगुप्सा' शान्त रस के उदय में सहायक हो सकती है, परन्तु वह शान्त का सर्वस्व नहीं है। अर्थात् जुगुप्सा शान्त रस का केवल संचारी भाव ही है; वह कभी स्थायी भाव की कोटि में नहीं पहुँच सकता। फलतः यह अन्तर्भाव एकदम भ्रान्त और निराधार है।

"आदि ग्रहणेन विषय जुगुप्सारूपत्वात् बीभत्सेऽन्तर्भावः शक्यते। सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति, न तु स्थायितामेति। पर्यन्त निर्वाहे तस्या मूलत एव विच्छेदात्"—लोचन, पृष्ठ १७८

इस प्रकार शान्त रस का अभाव मानना कथमपि युक्तियों के सहारे समर्थित नहीं किया जा सकता। कुछ आचार्यों का मत है कि शान्त का चित्रण काव्य में भले ही सिद्ध हो, परन्तु नाट्य में उसका प्रदर्शन कथमपि न्याय्य तथा उचित नहीं प्रतीत होता। इस मत का मौलिक रहस्य यह है—व्यापार के विराम होने पर शान्त की स्थिति हैं। शान्त रस वहाँ होता है जहाँ न दुःख है, न सुख, न द्वेष है और न चिन्ता; न राग है और न द्वेष—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

शान्तरस की यह पर्यन्त भूमि क्या कभी नाटक में दिखलायी जा सकती है? नाटक में होती है व्यापार की प्रधानता तथा अभिनय की मुख्यता, परन्तु शान्त रस का ऊपर चित्रित रूप क्या कभी अभिनय का विषय बन सकता है? इसका स्पष्ट उत्तर है—नहीं, परन्तु यही दशा तो प्रत्येक रस की पर्यन्त भूमि के अभिनेयत्व के विषय में है। क्या शृंगार का चरम उत्कर्ष कभी अभिनीत हो सकता है? ऐसी दशा में केवल शान्त के ऊपर ही अभिनेयता का लाञ्छन लगाना कहाँ तक न्याय्य है? तथ्य यह है कि शान्त रस के विभाव आदिकों का पूर्ण अभिनय रंगमंच के ऊपर किया जा सकता है और किया जाता है। नागानन्द शान्तरस प्रधान नाटक है, क्योंकि इसमें बोधिसत्व का चित्रण जीमूतवाहन के रूप में किया गया है। इसलिए भगवान् बुद्ध की जीवनलीला को चित्रित करने वाले नाटकों की सफलता इस विषय वाले नाटकों से कथमपि न्यून नहीं है।

इस समीक्षण का यही निष्कर्ष है कि नाट्यकला में शान्त रस का चित्रण पूर्णतया किया जा सकता है। भरत के अनुसार भी यह 'प्रकृतिरस' है, जहाँ अन्य रस उसके एक-एक वैशिष्ट्य को अपनाकर विकृति धारण करते हैं; तथा नवीन अभिधानों से मण्डित होते हैं।

३ : ७

संस्कृत नाटक : कथावस्तु

(१)

संस्कृत नाटच-शास्त्र में कथा-वस्तु के स्वरूप तथा महत्त्व का विवेचन बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। नाटक की रचना केवल किसी क्षणिक भावना की तृप्ति के उद्देश्य से नहीं की जाती, प्रत्युत उसका प्रयोजन नितान्त गम्भीर, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। 'नाटच' का स्वरूप ही है—लोकवृत्तानुकरण अर्थात् संसार में विद्यमान चरित्र तथा वृत्तान्त का अनुकरण। फलतः उसका नाना भावों से सम्पन्न तथा नाना अवस्थान्तरात्मक होना स्वाभाविक है। भारतीय आचार्य नाटक के इतिवृत्त को किसी सीमित चहारदीवारी के भीतर बन्द करने के पक्षपाती नहीं हैं। नाटक का दरवाजा प्रत्येक कथा-वस्तु के प्रवेश करने के लिए सदा खुला रहता है। आधुनिक पाश्चात्य नाटकों की कथा-वस्तु से इसकी तुलना करने पर इस विषय का महत्व स्वतः हृदयंगम हो सकता है। प्रगतिशील नाटकों की कथा-वस्तु एकाकार होती है। वह किसी धनी-मानी अधिकारी के द्वारा पदाक्रान्त तथा उत्पीडित मानव की कहानी होती है। यही स्वर प्रत्यक्षतः या अनुमानतः प्रत्येक पाश्चात्य नाटक के कथानक में गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है, परन्तु भारत में नाटक का आदर्श महान् है तथा महनीय है। वह किसी वर्ग की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों को अग्रसर करने का साधन नहीं है, प्रत्युत उसका प्रभाव भारतीय समाज के प्रत्येक स्तर पर समान-भावेन पड़ता है। वह मानव-जीवन की शाश्वत प्रवृत्तियों को स्पर्श करने वाला एक सार्वभौम साधन है। भरत के नाटचशास्त्र का गम्भीर अनुशीलन हमें इसी तथ्य पर हठात् पहुँचाता है—

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च ।
सर्वोपदेशजननं नाटचमेतद् भविष्यति ।।

नाटच-शास्त्र १।११०

नाटक लोक के स्वभाव का अनुकरण है और लोक का स्वभाव एकरस नहीं होता। वह सुख तथा दुःख का अनमिल घोल है जिसमें कभी सुख अपनी नितान्त आह्लादकता के कारण चित्त को आकृष्ट करता है, तो कभी दुःख अपने विषादमय बाणों के द्वारा मानव-हृदय को बेधता है। संस्कृत नाटक की कथा-वस्तु दोनों को अपना आधारपीठ बनाती है। इसलिए संस्कृत नाटककारों पर दोषारोपण करना कि वे केवल मानव-जीवन के सुखमय चित्रों के ही आलेख्यकर्ता थे और इसीलिए वे जीवन के सच्चे व्याख्याता न थे एकदम अज्ञान मूलक है, इस भ्रान्त धारणा का निराकरण नितान्त श्रेयस्कर है।

सुखान्त होना संस्कृत नाटक की अव्यावहारिकता का चिह्न नहीं है। भारतीय नाटक नाट्य शास्त्रीय विधि-विधानों का पालन करता हुआ जीवन का एकांकी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता; वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा सार्वभौम चित्रण करता है। संस्कृत के नाटकों में दुःख का, मानवीय क्लेश तथा कमजोरियों का चित्रण होता है, परन्तु कहाँ ? नाटक के आदि में अथवा मध्य में, पर्यवसान में नहीं। भवभूति के उत्तररामचरित से बढ़कर मानव-क्लेश, वेदना तथा परिताप और पश्चात्ताप का चित्रण करने वाला दूसरा नाटक नहीं हो सकता। अन्त में सुखपर्यवसायी होने पर भी वह राम और सीता जैसे मान्य व्यक्तियों के दुःखद जीवन की विषम परिस्थिति की वेदनामयी अभिव्यक्ति है। संस्कृत का नाटककार भरत के आदेशों का अक्षरशः पालन करता है और भरत का आदेश है कि सुखदुःखात्मक लोक-दशा का चित्रण नाटक में नितान्त आवश्यक होता है—

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।
नाना-पुरुष-संचारा नाटके सम्भवेदिह ॥

—भरत नाट्य-शास्त्र २१।१२१

इसीलिए कथावस्तु में सर्वभाव, सर्वरस, सर्वकर्मों की प्रवृत्तियों तथा नाना अवस्थाओं का संविधान आवश्यक माना गया है—

सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः।
नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधीयते ॥

—वही, २१।१२६

(२)

दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष, रस का उन्मीलन सिद्ध करना भारतीय नाटककार का चरम लक्ष्य होता है और इसीलिए वह पश्चिमी नाट्यकारों की भाँति 'व्यापार' को नाटक का सर्वस्व नहीं मानता। इस तथ्य को हृदयंगम करना संस्कृत नाटकों की कथा-वस्तु के विवेचन के लिए नितान्त आवश्यक है। भारतीय ललित कला का उद्देश्य यह नहीं रहता कि वह अपनी चिन्तित वस्तुओं के रूप तथा आकृति को यथार्थरूपेण अंकित करे, प्रत्युत वह दर्शकों के हृदय पर आध्यात्मिक भावना, सौन्दर्य की कमनीय छाप डालने में ही अपने को कृतार्थ समझती है। नाटक की कथा-वस्तु चुनने तथा सजाने का यही उद्देश्य कवि के सामने रहता है। इसीलिए कथा-वस्तु को उदात्तता के ऊपर प्रतिष्ठित होना चाहिए, क्षुद्रता के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं। रामायण तथा महाभारत को कथा-वस्तु के लिए उपजीव्य होने का रहस्य इसी तथ्य में अन्तर्निहित होता है। ये दोनों काव्य भारतीय दृष्टि से ही उदात्त, उन्नत तथा औदार्यपूर्ण नहीं हैं, प्रत्युत मानवता की दृष्टि से भी इनके कथानकों का महत्त्व नितान्त उच्च है। रामायणीय नाटकों की कथा-वस्तु की एकरूपता के विषय में 'प्रसन्न राघव' के कर्ता जयदेव का यह

प्रतिनिधि उत्तर सचमुच मार्मिक तथा सत्य है। रामकथा का आश्रयण कवियों के प्रतिभा-दारिद्रय का सूचक नहीं हैं, प्रत्युत मर्यादा पुरूषोत्तम रामचन्द्र के महनीय गुणों का यह अवगुण है—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः ॥

(प्रसन्नराघव की प्रस्तावना)

'औदात्य' की कसौटी

'उदात्तता' की यह कसौटी नाटकों के ही लिए नहीं होती, प्रत्युत उन 'प्रकरणों' के लिए भी जहाँ नाटककार कथा-वस्तु के चुनाव में अपनी कमनीय कल्पना का पूर्ण साम्राज्य पाता है। इस प्रकार 'कथा-वस्तु' को रस-निर्भर बनाने में कवि के लिए दो आवश्यक साधन होते हैं: औदात्य और औचित्य।

नाटकीय कथा-वस्तु के विवेचन के अवसर पर उसका 'औदात्य' कभी नहीं भुलाया जा सकता। नाटक में शृंगार अथवा वीर रस का प्राधान्य रहता है और इसीलिए प्रेम अथवा युद्ध का वर्णन कथानकों में होता है। प्रेम की उदात्तता पर आग्रह होना स्वाभाविक है। संस्कृत का नाटककर्ता केवल मनोरंजन के लिए अपने रूपकों का प्रणयन नहीं करता, प्रत्युत समाज को स्पर्श करने वाली घटनाओं का चित्रण कर उसके स्तर को उदात्त बनाने की भावना से भी प्रेरित होता है और यहीं औदात्य का महत्त्व आता है। 'प्रहसन' तथा भाण में हास्य रस का पुट रहता है, परन्तु यहाँ क्षुद्रता; हीनता या छिछोरेपन के लिए महनीय प्रहसनों में स्थान नहीं होता। वस्तु की रचना में प्राचीनता की दुहाई नहीं दी जाती, बल्कि कवि को प्रौढ़ प्रतिभा के लिए पूरा मैदान खाली रहता है परन्तु उसमें एक ही अंकुश होता है और वह है औदात्य तथा औचित्य का। 'धर्माविरुद्ध काम' भगवान् की एक भव्य विभूति है और इसीलिए संस्कृत की कथा-वस्तु काम के पल्लवन में धर्म से संघर्ष को सहन नहीं कर सकती। पुरुषार्थत्रयी में धर्म का स्थान सबसे ऊँचा माना ही जाता है और इसीलिए धर्म और काम दोनों के धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित कर चलने की व्यवस्था हमारे आचार्यों को अभीष्ट है। अर्थकामी चित्रण कथा-वस्तु में मिलता है, परन्तु धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करके नहीं, प्रत्युत धर्म के नियन्त्रण में रहकर ही। इसलिए संस्कृत में आधुनिक प्रकार के 'समस्या नाटकों' का अभाव है, परन्तु उसमें शाश्वत समस्याओं के सुलझाने का खुल कर प्रयत्न है।

(३)

कथावस्तु में औचित्य

औदात्य के अनन्तर औचित्य का महत्त्व समझना बड़ा जरूरी होता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की युक्तिमत्ता के लिए भरत ने औचित्य को प्रधान

सहायक माना है। नाटक तो कवि के हाथों 'औचित्य' निर्वाह का एक महनीय अस्त्र है जो अपनी उचितरूपता के कारण ही—कथा-वस्तु के साथ पात्र, भाव तथा भाषा के औचित्य के हेतु—दर्शकों के हृदय पर गहरी छाप डालता है। भरतमुनि का आदेश है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं हि पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥

(नाट्य-शास्त्र १४।६८)

कथा-वस्तु के लिए औचित्य का मण्डन प्रधान प्रसाधक होता है। ऐसी कोई कथा या उसका अंश जो नायक के चरित्र को गर्हणीय या निन्दनीय बनाने में हेतु बनाता है कथमपि ग्राह्य नहीं होता है। धनंजय का आदेश है—

यत् तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥

—दशरूपक ३।२२

कथा-वस्तु मात्र में नायक या रस का विरोधी अंश या तो सर्वथा त्याज्य होता है अथवा उसकी अन्यथा प्रकल्पना होती है। ध्यान देने की बात है कि नाटककार 'इतिवृत्त' प्राचीन ऐतिहासिक कथानक, को पूर्णतया चित्रित कर (जैसा वह इतिहास में प्रसिद्ध होता है) अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता, प्रत्युत वह उसके अनुचित अंशों को काट-छाँट कर उसे रसपेशल बना डालता है। इसलिए तो आनन्दवर्धन की यह गम्भीर उक्ति है :—

"काव्य प्रबन्ध की रचना करते समय कवि को सब प्रकार से रस-परतन्त्र होना चाहिये। इस विषय में यदि इतिवृत्त में रस की अनुकूल स्थिति न दीख पड़े, तो उसे तोड़ कर भी स्वतन्त्र रूप से रसानुकूल अन्य कथा की रचना करनी चाहिये। कवि के इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसकी सिद्धि तो इतिहास से हो ही जाती है।[1]

नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित् प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत् सिद्धेः।

(जैसे मायुराज-कृत उदात्तराघव)

इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर अनेक राम-नाटकों में, कपट के द्वारा 'बालिवध' का राम के चरित्र पर लांछन-रूप होने से एकदम परिहार ही कर दिया गया है। भवभूति के 'वीर-चरित' में रावण के सहायक होने के कारण बालि मारा गया; इस प्रकार कथा में उचित परिवर्तन कर दिया गया है। निष्कर्ष यह है कि कथा-

१. ध्वन्यालोक ३।१४ पर वृत्ति, पृष्ठ १४८ (निर्णयसागर)

वस्तु की रसपेशलता तथा रस-निर्भरता के निमित्त उसे उदात्त तथा उचित बनाने का नाटच-शास्त्रीय उपदेश गम्भीर तथा मौलिक है।

कथा-वस्तु की रसात्मकता पर नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष जोर दिया गया है अवश्य, परन्तु उसमें भी औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कथमपि न्याय्य नहीं होता। वस्तु तथा रस—इन दोनों में मंजुल सामंजस्य होना ही नाट्य-कला का उच्च आदर्श है। न तो रस का अतिरेक होना चाहिए जिससे वस्तु का दूरविच्छेदन हो जाय। रसातिरेक का फल वस्तु के एकान्त विच्छेद के ऊपर पड़ता है। यह एक छोर है जिससे बचकर रहना नाटककार का मुख्य कर्तव्य होता है। और दूसरा छोर होता है वस्तु, अलंकार तथा नाट्य-लक्षणों के द्वारा रस का तिरोधान और इस छोर को भी छूना नाटक में अभीष्ट नहीं होता। कवि के लिए नाटक में मध्यम मार्ग ही प्रशस्त होता है। उसे अपनी कथा-वस्तु को रस, अलंकार तथा नाटच-लक्षणों से सजाकर स्निग्ध तथा सुन्दर बनाना पड़ता है, परन्तु कथा-वस्तु की ही मुख्यता होती है। वह तो काव्य का शरीर ही ठहरा। दीवाल के रहते चित्रकारी की साधना होती है। शरीर रहते ही अलंकारों का प्रसाधन हृदयंगम तथा साध्य होता है। उसी प्रकार कथा-वस्तु की सार्वभौम सत्ता का तिरस्कार या तिरोधान रस, अलंकार, आदि के द्वारा कथमपि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने कथा-वस्तु के सजाने तथा प्रसाधन के निमित्त मध्य-मार्ग को ही प्रशस्थ माना है। धनञ्जय के इस मौलिक निरूपण का यही रहस्य है—

न चाति रसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतांनयेत्।
रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलंकारलक्षणैः॥

—दशरूपक।

कथा वस्तु के प्रकार

कथा-वस्तु के दो प्रकार होते हैं—(१) आधिकारिक (मुख्य) तथा (२) प्रासंगिक (गौण)। 'अधिकार' का अर्थ है फल की स्वामिता (अधिकारः फलस्वाम्यम्) और अधिकारी से तात्पर्य है उस पात्र से जो उस फल को पाता है और उसके द्वारा सम्पन्न कथा-वस्तु 'आधिकारिक' नाम से अभिहित होती है (नाट्य-शास्त्र, अध्याय २१, श्लोक ३)। मुख्य कथा में योग देने वाली, सहायता करने वाली कथा 'प्रासंगिक' कहलाती है:—

कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम्।
परोपकरणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुषंगिकम्॥

ना० शा० २१।५

'प्रासंगिक' विस्तारदृष्टया दो प्रकार की होती है। (१) पताका जो कुछ विस्तृत हो तथा (२) प्रकरी जो बहुत ही छोटी हो। रामायणीय नाटक में सुग्रीव

का वृत्तान्त मुख्य कथा का बहुत दूर तक अनुगमन करता है तथा सिद्धि में सहायता देता है और इसलिए वह 'पताका' का उदाहरण माना जाता है। श्रमणा का लघु वृतान्त प्रकरी का दृष्टान्त है। कथा-वस्तु के विस्तार तथा निर्वाह के ऊपर ही नाट्यकर्ता की कला-सिद्धि मानी जाती है। एक अंक के भीतर कितने काल की घटनाओंका प्रदर्श न अभीष्ट होता है ? भरतका मत[१] है कि पूरे दिनकी कथा एक अंक में सम्पन्नन हो सके, तो अंक का छेद कर के प्रवेशकों के द्वारा उसका विधान करना चाहिए। अंक छेद करके एक महीने में होने वाली या एक साल में होने वाली घटनाओं का प्रदर्शन करना चाहिए प्रवेशक आदि के द्वारा, परन्तु वर्ष से ऊपर की घटनाओं का निदर्शन कभी अभीष्ट नहीं माना जाता।

जिस प्रकार बीज नाना उपकरणों से समृद्ध होकर फल के रूप में परिणत होता है उसी प्रकार कथा-वस्तु भी नाना उपकरणों तथा घटनाओं में समृद्ध होकर फलउत्पादन में समर्थ होती है। इसीलिए वृत्त की पाँच अवस्थाएँ मानी गई गई हैं—(१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्ति सम्भव, (४) नियताप्ति तथा (५) फलयोग और बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ स्वीकृत की जाती हैं। इन दोनों के क्रमिक समन्वय से उत्पन्न नाटकीय कथा-भाग में पाँच सन्धियाँ तथा उनके अवान्तर ६४ अंग माने जाते हैं। सन्धियों के नाम तो प्रसिद्ध ही हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ (४) सावमर्श, (५) निर्वहण। 'नाटक' तथा 'प्रकरण' में इन समग्र सन्धियों की सत्ता विद्यमान रहती है, अन्य रूपकों में यथासम्भव कम सन्धियाँ भी हो सकती हैं।

संस्कृत के नाट्य-शास्त्र में वर्णित कथा-वस्तु की रूपरेखा का यह एक सामान्य परिचय है।

---

१. दिवसावसानकार्यंयद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम्।
अंकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद् विधातव्यम्॥ २८
अङ्कच्छेरं कृत्वा मासकृतं वर्ष संचितं वापि।
तत् सर्व कर्तव्यं वर्षादूद्ध्वं न तु कदाचित्॥ २९

भरत अ० २१

३ : ८

नाट्यशास्त्र तथा रंगमंच

(१)

प्राचीन नाटच-शास्त्र

नाटच का विकास तथा शास्त्रीय अध्ययन इस भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल में ही सम्पन्न हो चुका था। अनेक मान्य आलोचकों ने नाटच को ही अपनी आलोचना का केन्द्रबिन्दु स्वीकार किया। कश्मीर के आलोचक शिरोमणि अभिनवगुप्त औचित्य तथा रस-परिपाक की दृष्टि से नाटक को समस्त वाङ्मय विभूतियों में अग्रगण्य मानते थे। वे दशरूपकात्मक काव्य को ही समस्त काव्यों में प्रधान अंगीकार करते थे। काव्यं तु मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव। जो कुछ भी कारण हो, इतना तो निर्विवाद है कि आलोचना-जगत् में नाटच की ही आलोचना श्रव्य की आलोचना की अपेक्षा प्राचीनतर है। अलंकार शास्त्र का अध्ययन प्रथमतः नाटचशास्त्र का उपाङ्ग बनकर ही प्राचीन काल में होता था। नाटच नाना कलाओं के उचित संविधान होने पर ही यथार्थ रूप से सिद्ध हो सकता है। इसीलिए प्राचीन नाटचशास्त्र इन उपादेय विद्याओं का भी विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करता है।

प्राचीन नाटचाचार्य

आजकल प्राचीन नाटचाचार्यों में भरत मुनि का ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है, परन्तु उसकी आलोचना हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि भरत का नाटचशास्त्र अनेक शताब्दियों के अध्ययन तथा अनुशीलन का परिणत फल है। विक्रम पूर्व अष्टम शती में पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट शिलालि तथा कृशाश्व ही हमारे प्राचीनतम नाटचाचार्य हैं, परन्तु इनके नटसूत्र का आज तक कहीं पता नहीं चलता। कोहल एक कृती नाटचाचार्य हैं जिन्होंने भारतवर्ष में नाटच का लोकप्रिय प्रसार कर कमनीय कीर्ति कमाई है। इनके विशिष्ट सिद्धान्तों का निर्देश नाटच तथा संगीत ग्रन्थों ने बहुशः किया है। वर्तमान भरत-नाटच शास्त्र के संवर्धन तथा उपबृंहण में कोहल का विशेष हाथ था। इसका पूरा परिचय अभिनव-भारती से भली-भाँति लग सकता है। इनके अतिरिक्त वात्स्य शाण्डिल्य तथा धूर्तिल आज नाममात्र से ही अवशिष्ट हैं। प्राचीन नाटचशास्त्र के स्वरूप का दिग्दर्शन करानेवाला एकही ग्रन्थ अवशिष्ट है जिसे ग्रन्थ न कहकर ग्रन्थराज कहना चाहिए। भरत का नाटचशास्त्र सामान्य ग्रन्थ न होकर भारतीय ललितकलाओं का विश्वकोष है। वर्तमान नाटचशास्त्र शताब्दियों के साहित्यिक उद्योग तथा सत्प्रेरणा का दिव्य परिणाम है। इस ग्रन्थ में तीन स्तर मिलते हैं—(१) सूत्र, (२) भाष्य, (३) कारिका। मूलग्रन्थ

सूत्रात्मक था जिसके ऊपर विशद भाष्य की रचना कालान्तर में की गई। इस सूत्र-भाष्य अंश का परिचय रस तथा भावप्रतिपादक षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में हमें मिलता है। अधिकांश ग्रन्थ कारिकाओं में निबद्ध है। शारदातनय के कथनानुसार भरत नामक दो आचार्य हुए थे। वृद्ध भरत ने १२ हजार श्लोकों में नाट्य का निरूपण किया था, जिसका संक्षेप भरत मुनि ने ६ हजार श्लोकों में किया है। वर्तमान नाट्यशास्त्र के ६ हजार श्लोकों में होने के कारण यह 'षट्सहस्री संहिता' के नाम से विख्यात है।

नाट्य की उत्पत्ति

भारतवर्ष में ललित कलाओं का आविर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल में ही हुआ था। नाट्य की उत्पत्ति भारतीय प्रतिभा का ही विशिष्ट विलास है। आज भी ऐसे विद्वानों की कमी देश में नहीं है जो मानसिक दासता के शिकार बने हुए भारतीय नाट्य के ऊपर यूनानी नाट्य का प्रभाव स्वीकार करते हैं। नाट्य की उत्पत्ति भारतवर्ष की ही पुण्यभूमि में हुई और वह हुई भारतीय मनीषियों की प्रभविष्णु प्रतिभा के बल पर ही। नाट्य वेद के समान ही उपादेय तथा मानव जीवन के लिए कल्याणकारी संबल जुटाने वाला शास्त्र है। चारों वेदों से एक-एक प्रधान उपकरण को ग्रहण कर रचा गया है यह नाट्यवेद, जो देश तथा वर्ण की सीमित परिधि को पार कर समग्र वर्णों के हृदय को आवर्जित करने में कृतकार्य होता है। भरत के कथनानुसार ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीति, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस का ग्रहण कर नाट्यवेद नामक नवीन वेद की निर्मिति की। भरत के शब्दों में—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

इस प्रकार भारतीय आलोचना के अनुसार नाट्य वह कला है जिसमें अभिनय के साथ पाठ्य का योग रहता है तथा गीति के साथ रस का सन्निवेश सिद्ध रहता है। नाट्य का प्रधान लक्ष्य है मानव हृदय का आवर्जन के साथ-साथ उदात्तीकरण। नाट्य का उद्देश्य एक परिधि के भीतर सीमित न होकर सब प्रकार के मनुष्यों का कल्याण साधन करना है।

नाट्य धर्म में प्रवृत्त मानवों के लिए धर्म का उपदेश करता है। क्लीबों के हृदय में उत्साह फूंक देता है; दुर्विनीतों के लिए निग्रह का काम सिखलाता है। वेदना से विकल चित्तवाले व्यक्तियों के हृदय पर सुख तथा शान्ति का मलहम पोतता है। तात्पर्य यह है कि भिन्न वृत्ति वाले व्यक्तियों के चित्त की आराधना करने वाला यदि कोई एक पदार्थ है तो वह नाट्य ही है। इस कला के प्रवीण पारखी कालिदास की यह उक्ति जितनी मार्मिक है उतनी विशद भी है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृत-व्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाटचं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

प्रेक्षागृह

अत्यन्त प्राचीन काल में नाटक का अभिनय बाहर मैदान में आकाश के नीचे ही हुआ करता था, परन्तु नाना प्रकार के विघ्नों के उठ खड़े होने पर रंगमंच का आविर्भाव हुआ। नाटचशास्त्र 'प्रेक्षागृह' का विवरण बड़े विस्तार से प्रस्तुत करता है। प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। इनमें विकृष्ट भेद विस्तृत होता था जिसमें देवताओं से सम्बद्ध दृश्य दिखलाये जाते थे। 'चतुरस्र' स्पष्ट ही चौकोना होता था; परिमाण में मध्यम आकार का होता था और विशेष कर राजाओं के लिए निश्चित किया गया था। 'त्र्यस्र' तिकोने ढंग का प्रेक्षागृह था जो मात्रा में सबसे छोटा था तथा सामान्य प्रकृति के लिए विहित था। प्रेक्षागृहों के विधान के विषय में भरतमुनि बड़े ही वैज्ञानिक हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि प्रेक्षागृह को विस्तार में अधिक होना नितान्त अनुचित है, क्योंकि ऐसी दशा में उच्चारित शब्द स्पष्ट रूप से दर्शकों के कानों तक पहुँच नहीं सकता। 'सुश्रव्यता' नाटच का प्रधान गुण है और इसकी सिद्धि मध्यम परिमाणवाले प्रेक्षागृहों के अस्तित्व पर ही आश्रित हो सकती है—

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठचमुच्चारितस्वरम् ।
अनभिव्यक्तवर्णत्वात् विस्वरत्वं भृशं व्रजेत् ॥
(ना० शा० २।१६)

प्रेक्षागृह का आधा भाग तो दर्शकों के निमित्त सुरक्षित रखा जाता था और आधा भाग नटों के व्यवसाय के लिए निश्चित रहता था। इसमें भी आधा भाग रंगपीठ कहलाता था जिसके ऊपर अभिनय कार्य निष्पन्न होता था। सबसे पिछला भाग 'रङ्गशीर्ष' के नाम से अभिहित होता था और यहीं नटों के लिए नेपथ्य विधान होता था। प्रेक्षागृहों के विभिन्न स्थानों पर नाना देवताओं की पूजा होती थी। सूत्रधार का वस्तुतः इन आवश्यक विधानों का सम्पादन ही मुख्य कार्य होता था। यह आरम्भिक पूजन 'पूर्वरङ्ग' कहलाता था और एक विस्तृत व्यापार होता था जिसका केवल अन्तिम अंश नान्दी के नाम से आज भी संस्कृत नाटकों में अवशिष्ट है। इस नान्दी के अनन्तर ही पात्र का प्रवेश होता था। पूर्वरङ्ग के अवसान में श्रोताओं के हृदयवर्जन के लिए संगीत का यथावत् संविधान होता था और उस अवसर पर गाई जानेवाली गीति ध्रुवा के नाम से विख्यात है। ध्रुवा-गीति के पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—उत्थापनी, परिवर्ता, अपकृष्टा, अड्डिता तथा विक्षिप्ता। इनका गायन विशिष्ट स्वर में विशिष्ट ताल तथा मात्रा के योग से होता था। उत्थापनी ध्रुवा का उदाहरण यहाँ देना अनुचित न होगा—

देवं विभुं त्रिभुवनाधिपतिं
कैलासपर्वत-गुहाभिरतम् ।
शैलेन्द्र - राज - तनया - दयितं
मूर्ध्ना नतोऽस्मि त्रिपुरान्तकम् ॥

अभिनय

अब प्राचीन काल के अभिनय की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। अभिनय चार प्रकार के होते हैं—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य, (४) सात्त्विक। इन चारों अभिनयों के द्वारा प्रस्तुत कथावस्तु ही दर्शकों के सामने अभिनेय पदार्थ का यथार्थ रूप दिखला सकती है तथा उनका मनोरञ्जन कर सकती है। आंगिक अभिनय का सम्बन्ध दृष्टि, मुख, हस्त तथा पाद आदि नाना अवयवों से है। भरतमुनि ने इस अभिनय का इतना सांगोपांग विस्तृत विवरण दिया है कि आजकल के वैज्ञानिक युग में भी वह विलक्षण तथा विचित्र प्रतीत होता है। हाथों के द्वारा प्रस्तुत अभिनय का प्रकार दो चार दस नहीं है, प्रत्युत पूरे १०८ हैं। इन अंगहारों का रूप भी समझना आज-कल के लिए असम्भव हो जाता, परन्तु धन्यवाद है तेरहवीं शती में दक्षिण भारत पर शासन करने वाले राजसिंह (१२४३ ई०-१२७३ ई०) को जिन्होंने चिदम्बरम् के सुप्रसिद्ध शैव मन्दिर के गोपुरं में इन समग्र करणों को नाट्यशास्त्र के तद्विषयक श्लोकों के साथ खुदवाया है। ये आज भी नटराज मन्दिर की शोभा बढ़ा रहे हैं। रस का सद्यः उन्मीलन दर्शकों के हृदय में करना ही नाट्य का प्रधान लक्ष्य है और इस कार्य में नेत्रों का विधान बड़ा ही सहायक होता है। भरत ने ३६ प्रकार की रस तथा भावोद्बोधक, दृष्टियों का विवरण अपने ग्रन्थ में दिया है जिनसे हमारे मनोभावों की अभिव्यक्ति स्पष्टरूप से दर्शकों को होती है। इस प्रसंग के महनीय मनोवैज्ञानिक मूल्य की ओर हम अपने श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करना उचित समझते हैं।

वाचिक अभिनय में नटों तथा पात्रों के पाठ्य का विधान रहता है। पाठ्य के द्वारा ही कोई पात्र अपनी भावना अभिव्यक्त करता है तथा अन्य पात्रों के साथ कथनोपकथन में प्रवृत्त होता है। इसीलिए भरत ने इसे नाट्य का शरीर माना है तथा इस कार्य में विशेष यत्न करने के लिए कहा है—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता ।
अङ्गनेपथ्यतत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥
(१५।२)

पाठ्य दो प्रकार का होता है—संस्कृत तथा प्राकृत। उच्चकोटि के पात्रों की भाषा संस्कृत होती है तथा नीच श्रेणी के पात्रों की भाषा प्राकृत होती है। नाट्य का पाठ्य कवित्वमय होता है। अतः उसके लिए दोषों का परिहार, गुण तथा अलंकारों का संग्रह करना नितांत आवश्यक होता है। अभिनय का सर्वस्व होता है—औचित्य

विधान। जो वस्तु जिस प्रकार की होती है उसे उसी प्रकार से रंगमंच के ऊपर दिखलाना औचित्य की परिधि के भीतर आता है। भरत का विधान बड़ा ही साहित्यिक, सरस तथा उपादेय है।

वयोऽनुरूपः प्रथममस्तु वेषो
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥
(१४।६८)

प्रथम तो उम्र के विचार से उचित वेष होना चाहिए। वेष के अनुरूप होनी चाहिए गति तथा क्रिया। पाठ्य गतिप्रचार के अनुरूप होता है तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए। इस नियम के यथावत् पालन करने से ही नाट्यकला में सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

आहार्य अभिनय के भीतर वेश-भूषा तथा आभूषणों का विधान किया जाता है। अधिक आभूषणों के धारण करने से नट श्रान्त हो जाता है, इसीलिए ठोस सोने के गहनों के स्थान पर लाह से भरे गहने होने चाहिए। यह वर्णन प्रयोग पर दृष्टि रखनेवाले आचार्य की गहरी दृष्टि का सूचक है—

गुर्वाभरणसन्नो हि चेष्टां न कुरुते पुनः।
गुरुभारावसन्नस्य स्वेदो मूर्च्छा प्रजायते॥
तस्मात् न सम्यक् च कृतं सौवर्णं भूषणं भवेत्।
जतुपूर्णाल्परत्नं तु न खेद-जननं भवेत्॥
(२३।४७, ४८)

इसी प्रसंग में श्मश्रुकर्म का विधान भी किया जाता था। दाढ़ी रखने की प्रथा प्राचीन भारत में बहुलता से थी। अतः रंगमंच पर अवतीर्ण होने वाले पात्रों के वेष को सजाने के लिए उचित दाढ़ी रखने का भी विशेष नियम रखा जाता था।

सात्त्विक अभिनय अन्तिम प्रकार का अभिनय है जिनमें पुरुषों की तथा स्त्रियों की नाना चेष्टाओं– हाव, भाव, हेला आदि—का प्रदर्शन दिखलाया जाता था। नाट्य के साथ संगीत का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। संगीत के प्रयोग से अभिनय नितान्त स्निग्ध तथा मंजुल हो जाता है। अतः आजकल की भाँति प्राचीन काल में संगीत का मधुर संविधान रंगमंच पर अवश्य होता था।

प्रवृत्ति

नाट्य प्राचीन काल में जीवित कला थी। नाट्य प्रदर्शन की तत्कालीन अनेक शैलियाँ थीं जिनमें चार शैली का, जिसे प्रवृत्ति कहते थे भरत मुनि ने निर्देश किया है। दाक्षिणात्या प्रवृत्ति का प्रचलन विदर्भ तथा उससे दक्षिण देशों में था। आवन्तिका में वीर तथा शृंगार रसों का प्रदर्शन मुख्य था। औड्रमागधी पूरब भारत की प्रवृत्ति थी तथा मध्यदेश की शैली पाञ्चाली के नाम से पुकारी जाती थी।

भारतीय नाटचशास्त्र का यह एक सामान्य चित्रण है। इससे स्पष्ट है कि नाट्य भारतवर्ष की प्रतिभा का स्वतन्त्र विलास है। जिस 'जवनिका' शब्द का आश्रय लेकर नाट्य के ऊपर यूनानी प्रभाव बतलाया जाता है वह शब्द वस्तुतः जवनिका है, यवनिका नहीं। प्रयोग नाट्य का साधन है और दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष लक्ष्य। इस व्यवसाय में प्राचीन नाटच सर्वथा समर्थ होता था, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है।

(२)

संस्कृत रंगमंच

भारतीय मनीषियों की प्रतिभा सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ ही साथ तद्व्यवहार के विवरण देने में भी समर्थ रही है। नाट्य की उत्पत्ति जिस प्रकार भारतीय नाटचाचार्यों की सैद्धान्तिक प्रतिभा का बिलास है, उसी प्रकार रंगमंच की रचना उनकी व्यावहारिक प्रतिभा का निदर्शन है। भारत में समग्र साधनों से परिपूर्ण रंगमंच का उदय उतना ही प्राचीन है, जितना अभिनय का उदय। श्री भरतमुनि ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ भरतनाटच शास्त्र में इन दोनों विषयों का प्राचीनतम आद्य विवरण प्रस्तुत किया है। भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी प्रभाव का भ्रान्त आरोप करनेवाले आलोचक आँख खोलकर देख लें कि भारतीय रंगमंच की सर्वाङ्गीण व्यवस्था, रमणीय सज्जा तथा वैज्ञानिक निर्मिति के साथ यूनानी रंगमंच की अनगढ़, अव्यवस्थित तथा ग्रामीण रचना की कदापि तुलना नहीं हो सकती। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर बना हुआ है। भारतीय रंगमंच की अपनी एक सुश्लिष्टता है जिसके कारण उसका प्रभाव बृहत्तर भारत, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों के रंगमंचों पर कभी पड़ा था तथा वह प्रभाव उसी रूप में आज भी देखा जा सकता है।

रंगमंच का प्राचीन संस्कृत नाम है प्रेक्षागृह या रंगशाला। अपने जीवन के आरम्भ में भारतीय नाटक का अभिनय ठेठ आसमान के नीचे खुले मैदान में होता था जिसके देखने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था, परन्तु विघ्नों के उदय ने नाटचाचार्यों को बाध्य किया कि वे नाट्य प्रयोगों को खुले मैदानों से हटाकर बन्द स्थानों में ले जायँ। भरत के कथनानुसार प्रथम अभिनीत नाट्य 'महेन्द्र-विजय' था जिसमें देवताओं का विजय तथा दानवों का पराजय दिखलाया गया था। पराजय के दृश्य दैत्यों के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जगाने में समर्थ हुए। फलतः अभिनय समाप्त होने से पहिले ही दैत्यों ने यह विघ्न उपस्थित कर दिया कि बलशाली देवों ने अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग कर ही बड़े धैर्य से तथा बड़े बल से उनका प्रशमन किया। परन्तु इस कलह तथा विघ्न से नाटक प्रयोग को सदा के लिए बचाने के लिए ब्रह्मा की आज्ञा से विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह का निर्माण किया।

भरतमुनि के कथनानुसार प्राचीन भारत के प्रेक्षागृह या नाट्य-मण्डप तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों प्रेक्षागृहों के नाम थे (१) विकृष्ट, (२) चतुरस्र, (३) त्र्यस्र। इनमें से विकृष्ट सबसे बडा होता था तथा देवताओं के ही लिए नियत किया गया था। इसका परिमाण था १०८ हाथ। इसके आकार का ठीक पता नहीं चलता है। सम्भवतः यह गोलाकार होता था। चतुरस्र तो स्पष्ट ही चौकोर रंगमंच था जिसकी लम्बाई होती थी ६४ तथा चौड़ाई ३२ हाथ। यह मध्यम कहलाता था तथा राजाओं के लिए तथा साधारण जनता के लिए भी यह प्रेक्षागृह आदर्श माना जाता था। 'त्र्यस्र' तिकोने ढंग का रंगमंच था जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। इसका उपयोग सम्भवतः छोटे-छोटे नाटकों के अभिनय के अवसर पर किया जाता था।

आदर्श रंगमंच

इन तीनों रंगशालाओं में 'चतुरस्र' या मध्यम प्रेक्षागृह आदर्श समझा जाता था। इसके वैशिष्टय के वर्णन के अवसर पर भरत मुनि की वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक पटुता का उज्ज्वल दृष्टान्त हमें उपलब्ध होता है। आदर्श प्रेक्षागृह के चुनाव के अवसर पर तीन बातों पर विशेष दृष्टि रखी जाती थी। दर्शकों को रंगपीठ पर होने वाले वार्तालाप (पाठ्य) तथा गायन (गेय) का श्रवण खूब अच्छी तरह होना चाहिए। नाट्य प्रयोग में गीतियों का उपभोग दर्शकों के मनोरंजन के निमित्त ही किया जाता है। यदि श्रोताओं के कानों के लिए गायन अस्फुट ही बने रहे तथा पात्रों की परस्पर बातचीत स्पष्ट रूप से श्रुतिगोचर नहीं होती थी तो वे उस अभिनय का आनन्द नहीं उठा सकते। रंगमंच के विशाल होने में एक और भी हानि है और महती हानि है। अभिनयों में सात्विक अभिनय का महत्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न रसों के अभिनय प्रसंग में, पात्रों के मुखमण्डल पर अभिनीत भाव अपना प्रभाव डालता है। इसका साक्षात्कार उचित रीति से मध्यम परिमाणवाले प्रेक्षागृहों में ही हो सकता है। भरतमुनि के शब्दों में—

> यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः।
> स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्॥
> यावत् पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्।
> प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते॥

नाट्यशास्त्र २।२३, २४

मध्यम रंगशाला ६४ हाथ की लम्बाई तथा ३२ हाथ की चौड़ाईवाली एक चौकोर शाला होती थी। इसका निर्माण शुभ मुहूर्त में किया जाता था। जमीन को ठीक समतल तथा चौरस बनाने के लिए उसे हल से जोतकर ठीक करते थे। चारों कोनों पर प्रधान खम्भे लगाये जाते थे। दक्षिणपूर्व से आरम्भ कर इन

स्तम्भों का नामकरण चारों वर्णों के नाम पर ब्राह्मण स्तम्भ, क्षत्रिय स्तम्भ, वैश्य स्तम्भ तथा शूद्र स्तम्भ होता था। रंगशाला के दो मुख्य भाग होते थे जिसमें आधा भाग प्रेक्षकों के लिये निश्चित होता था तथा दूसरा आधा भाग रंगमंच के निमित्त सुरक्षित रहता था। रंगमंच के सबसे पिछले भाग का नाम था 'रंगशीर्ष' जो ८ हाथ लम्बा तथा ४ हाथ चौड़ा होता था। इससे आगे वाला भाग ठीक इतने ही परिमाण का होता था और 'नेपथ्यगृह' कहलाता था। रंगशीर्ष में अभिनय के रक्षक देवी-देवताओं की विशिष्ट पूजा होती थी तथा नेपथ्यगृह तो स्पष्टतः पात्रों के वेशभूषा के सजाने तथा परिवर्तन के निमित्त पृथक् प्रयोग में आता था। रंगशीर्ष से नेपथ्यगृह में आने के लिए दो दरवाजे बनाये जाते थे। नेपथ्यगृह के आगे होता था रंगपीठ (१६ हाथ लम्बा और ८ हाथ चौड़ा) जिसपर पात्रों के द्वारा समग्र अभिनय दिखलाया जाता था। रंगपीठ से होकर नेपथ्यगृह में जाने के लिए एक दरवाजा होता था और इसी का उपयोग पात्र अपने प्रवेश तथा निर्गम के लिए किया करते थे। एक बात ध्यान देने की है कि रंगपीठ के दोनों बगल में डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी (बरामदा) बनायी जाती थी। रंगशीर्ष के बनावट का विधान पाया जाता है। इसे न तो कूर्मपृष्ठ कछुए की पीठ की तरह होना चाहिये और न मत्स्यपृष्ठ, बल्कि दर्पण के समान समतल तथा चिक्कण होना चाहिये।[1] कभी कभी पात्र प्रवेश रंगपीठ पर नहीं आता, प्रत्युत नेपथ्यगृह से ही उसके विषय में सूचना दी जाती है। ऐसे पात्र-प्रवेश को 'चूलिका' कहते हैं।

नाट्य-मण्डप

नाट्य मण्डप पर्वत की गुफा के आकार का होना चाहिये। उसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं। सम्भवतः ऊपरी खण्ड में देवताओं से सम्बद्ध घटनाएँ प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवीय घटनाओं का अभिनय किया जाता था।[2] नाट्यमण्डप की दीवालों को नाना प्रकार के चित्रों से सजाया जाता था जो सामयिक तथा विषय से सम्बद्ध होने से नितान्त उपयुक्त होते थे। रंगमंच की रचना निवात में (विशेष हवादार) स्थान में नहीं होनी चाहिये। नहीं तो आवाज गम्भीर न होगी और न शब्दों की श्रुति ही ठीक-ठीक श्रोताओं को हो सकेगी।

दर्शकों के बैठने के स्थानों की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की जाती थी। आजकल के सीढ़ीनुमा या गैलरीवाले आसन को अधिकांश आलोचक पश्चिमी नाटयकला

---

१. कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च।
शुद्धादर्शतलाकारं रंगशीर्षं प्रशस्यते॥ नाट्यशास्त्र २।७६

२. कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्॥ नाट्यशास्त्र २।८७

की देन मानते हैं, परन्तु वस्तुतः यह भारतीय प्रतिभा का व्यावहारिक निदर्शन है। भरतमुनि ने गैलरी की ही व्यवस्था दर्शकों के निमित्त मान्य बतलायी है। दर्शकों के निवेशन अर्थात् बैठने के स्थान सोपानाकृति सीढ़ी के ढंग के होते थे।[1] जमीन से सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं तथा इसका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। एक विशेष बात का ध्यान रखा जाता था कि ये समग्र बैठने के स्थान रंगपीठ से देखने योग्य होते थे (रंगपीठावलोक्य) अर्थात् निवेशनों की सजावट ऐसी होती थी कि कहीं पर बैठकर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भलीभाँति किया जा सके।

पश्चिमी रंगमंच

प्राचीन प्रेक्षागृह का यह निखरा रूप भारतीयों की निजी प्रतिभा का विलास है। यूनानी रंगशाला से इसकी तुलना करने पर इसकी सर्वाङ्गीणता तथा वैज्ञानिकता का पता लग सकता है। प्राचीन यूनान की रंगशाला एक साधारण सी वस्तु होती थी। अत्यन्त प्राचीन काल में रंगपीठ के लिए एक ऊँचा स्थान होता था जिस पर वाद्यमण्डली (आरचेस्ट्रा) तथा एक दो पात्र बैठते थे। दर्शकों के लिए कोई व्यवस्था न होती थी। अभिनय प्रायः पहाड़ के बगल में नीची जमीन पर होता था जहाँ दर्शक अपने बैठने के लिए ऊँचा नीचा स्थान स्वयं खोज लिया करते थे। बहुत पीछे गैलरी बनी। रोमनकला में ही रंगपीठ के पीछे नेपथ्यगृह के लिए भी विशिष्ट मकान बनाया गया तथा पूरे रंगमंच के सुव्यवस्थित प्रकार की योजना सम्पन्न हुई। यह सुपरिणाम था, परंतु भारतवर्ष में प्रेक्षागृह का ही विकसित रूप है जिसमें पश्चिमी नाटयकला से छोटी-मोटी चीजें नवीन परिस्थिति के अनुसार यत्र तत्र निविष्ट कर ली गयी हैं।

प्राचीन रंगपीठ यथार्थवादी था, परन्तु घृणा या उद्वेग के जनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। आजकल जिन दृश्यों का प्रदर्शन उचित माना जाता है उनमें से अनेक दृश्य प्राचीन काल में वर्ज्य थे रंगपीठ पर युद्ध का प्रदर्शन, भोजन, शयन आदि। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े-हाथी रंगमंच पर दिखलाये जाते थे। उस समय घास-फूस के बने पदार्थों को चाम से मढ़कर दिखलाने की प्रथा थी। भरत नाटयशास्त्र में इस अभिनय विषय का बड़ा ही सांगोपांग वर्णन उपलब्ध होता है।

---

१. स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः।
रङ्गपीठावलोक्यन्तु कुर्यादासनजं विधिम्॥

भारतीय रंगमंच का प्रभाव बृहत्तर भारत के नाटच प्रयोग पर विशेष रूप से पड़ा। बर्मा, स्याम, कम्बोज, जावा, बाली, मलय आदि समस्त देशों के नाट्य तथा अभिनय के ऊपर भारतीय नाटक का व्यवस्थित प्रभाव पड़ा है। कम्बोडिया की राजकीय रंगशाला 'राम-राम' के नाम से पुकारी जाती थी। यह हमारी रंगभूमि के सदृश ही रचना के विषय में थी। इसमें एक तरफ बिल्कुल खुला रहता था। रंगपीठ के पास ही पात्रों के वेशभूषा के परिवर्तन तथा सजावट के लिये नेपथ्यगृह की व्यवस्था होती थी। रामायण के अभिनय के अवसर पर ही पात्र पुरुष होते थे, नहीं तो स्त्रियाँ ही नटों की भूमिका में अवतीर्ण होती थीं। रंगशाला का एक विशेष प्रबन्धक होता था जो हमारे नाटचाचार्य के समान होता था। नटियों के सजाने, सिखलाने तथा तैयार करने का भार राजमहल की किसी विशिष्ट शिक्षित महिला के ऊपर होता था। जावा के नाटक छाया-नाटक ही होते थे जिन्हें 'वयंग' कहते हैं। इनके सात विभिन्न प्रकारों का वर्णन तथा विभाजन पाया जाता है। भारतवर्ष में 'पुत्तलिका नृत्य' के समान ही इनका भी प्रदर्शन किया जाता था। इन नाटकों के विषय तथा प्रकार के ही लिये जावा साहित्य भारतीय साहित्य का ऋणी नहीं है, प्रत्युत इनके अभिनय, प्रदर्शन तथा प्रयोग के लिये भी। इस प्रकार भारतीय रंगमंच अपनी वैज्ञानिकता, सुव्यवस्था तथा विपुल प्रभावशालिता के कारण विश्व की रंगशालाओं के इतिहास में अपना पर्याप्त महत्व रखता है।

३ : ९

यवनिका या जवनिका

(१)

हमारे माननीय महर्षियों की सम्मति में एक ही शब्द यदि सम्यक् रूप से जाना जाय तथा उचित रीति से प्रयुक्त किया जाय, तो वह स्वर्ग में तथा लोक में, परलोक में तथा इहलोक में 'कामधुक्' होता है।

'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति'।

शतपथ ब्राह्मण की यह उक्ति आध्यात्मिक विषयों के लिये जितनी चरितार्थ है, व्यावहारिक विषयों के लिये भी उतनी ही उपयुक्त है। 'जवनिका' शब्द का समीक्षण इस कथन का पर्याप्त रूप से परिचायक है। भारतीय रंगमंच पर अभिनय के अवसर पर जिस परदे का प्रयोग किया जाता है उसके लिये अधिकांश विद्वज्जन 'यवनिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द के आदिम अंश की समीक्षा कर यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त बना लिया है कि भारतीय नाटक के विकास पर यवनानी नाटकों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। वे ऐतिहासिक प्रमाणों के अतिरिक्त 'यवनिका' शब्द को इस प्रसंग में अपने अशक्त भवन की दृढ़ नींव समझते हैं।

पहली बात ध्यान देने की यह है कि 'जवनिका' हमारे नाट्यशास्त्र का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द नहीं, प्रत्युत लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाला साधारण शब्द है। 'अमरकोश' में इसका प्रयोग 'पटवेश्म' (खेमा) को ढकनेवाले परदे के अर्थ में किया गया है। प्राचीनकाल में वस्त्रों से बने घरों का वर्णन मिलता है। 'अमर' ने ऐसे घर के लिये 'दूष्य' शब्द का प्रयोग किया है—

दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि।

—अमरकोश २।१।१२०

'अमर' के टीकाकार क्षीरस्वामी ने वस्त्रवेश्म के लिये 'पटकुटी', 'पट्कुड्य', 'गुणशालिनी' तथा 'स्थूला' शब्दों का व्यवहार होना लिखा है।[1] 'अमर' के दूसरे टीकाकार भानुजिदीक्षित[2] (समय सत्रहवीं शती) ने इसी प्रसंग में 'कुटर',

---

१. अमरकोशोद्घाटन, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित, पूना ओरिएंटल सिरीज संख्या ४३, पृष्ठ १५८।

२. भानुजिदीक्षित प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के पुत्र थे, इसका पता उनकी टीका के मंगलश्लोक तथा पुष्पिका से चलता है—

मंगलश्लोक—"बल्लवीवल्लभं नत्वा गुरुं भट्टोजिदीक्षितम्।
अमरे विदधे व्याख्यां मुनित्रयमतानुगाम्॥"

'पटकुटी' तथा 'पटवास' शब्दों का उल्लेख किया है।[1] 'वस्त्रवेश्म' का प्रचलन प्राचीन काल में मुसलमानों के संपर्क से पहले भी था। कालिदास इसके प्रचलन से परिचित हैं। उन्होंने 'रघुवंश' के पंचम सर्ग में इसका उल्लेख किया है। विदर्भ देश के राजा भोज ने अपनी भगिनी इन्दुमती के स्वयंवर में कोशल देश के राजकुमार अज को बुलाने के लिये उनके पिता रघु के पास दूत भेजा था। रघु ने निमंत्रण स्वीकार कर अज को विदर्भ प्रस्थान करने की आज्ञा दी। विदर्भ देश अयोध्या से दूर था। अतः उन्हें रास्ते में बने हुए घरों में निवास करना पड़ा जो राजकीय सामग्री से सज्जित होने के कारण अज के लिये उद्यान-विहार के समान ही आनंददायक प्रतीत हुआ। कालिदास कहते हैं—

तस्योपकार्या रचितोपचारा
वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनो-
र्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥

—रघुवंश, सर्ग ५, श्लोक ४१

यहाँ 'उपकार्या' की मल्लिनाथी टीका 'उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु' से स्पष्ट है कि कालिदास का कपड़ों के बने घरों से ही अभिप्राय है। इस उल्लेख से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'खेमा' (अंग्रेजी 'टेंट') बनाने तथा उसमें रहने का प्रचलन प्राचीन भारत में था और राजा लोग यात्रा में उसका उपयोग करते थे।

'जवनिका' का प्रयोग उस खेमे को ढ़कनेवाले परदे के लिये किया जाता था जिसे आजकल हिन्दी में 'कनात' कहते हैं। मल्लाह नाव की गति तीव्र करने के लिए गोनधर (मस्तूल) के ऊपर जिस कपड़े का परदा बाँधते हैं उसे आजकल 'पाल' कहते हैं। इस पाल के लिये भी 'जवनिका' शब्द का प्रयोग कोशों में किया जाता है। इन दोनों विशिष्ट अर्थों का सामान्य रूप है 'ढकना', 'आवरण करना' और इसीलिये जवनिका का सामान्य अर्थ हो गया 'परदा' (जो वस्तु किसी को ढककर

पुष्पिका—"इति श्रीबघेलवंशोद्भवमहीधरविषयाधिपश्रीकीर्तिसिंहदेवाज्ञया श्रीभट्टोजिदीक्षितात्मज-श्रीभानुजिदीक्षितविरचितायाममरटीकायां व्याख्यासुधाख्यायां तृतीयः कांडः समाप्तिमगात्।"

इस टीका का नाम 'व्याख्यासुधा' ग्रंथकार निर्दिष्ट अभिधान है। पंडितों में यह 'रामाश्रमी-के नाम से अधिकतर प्रसिद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षितजी के संन्यासाश्रम का नाम 'रामाश्रम' था और इसीलिये यह टीका भी तन्नाम से प्रसिद्ध हुई।

१. रामाश्रमी, निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ४०७।

उसे तिरोहित कर देती है)। परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले अनेक शब्द कोशों में मिलते हैं—

१—प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा ।

—अमरकोश २।६।१२०

२—प्रतिसीरा जवनिका तिरसः करिकारिणी ।
अपटी स्यात् पुमान् कांडपटोऽथोल्लोच इत्यपि ।।

—केशवकृत कल्पद्रुमकोश, पृष्ठ ५३, श्लोक ३००
(श्री रामावतार शर्मा द्वारा संपादित,
गायकवाड़ सिरीज, प्रथम संस्करण)

३—पद्माकरस्तड़ागे प्रतिसीरा जवनिकायां स्यात् ।

—शाहजीकृत शब्दरत्नसमन्वय-कोश, पृष्ठ २९०, पंक्ति १५

४—अन्त.पटः पटी चित्रा, कांडपटः ।

—शब्दरत्नावली

कोशों के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले प्रधान शब्द हैं प्रतिसीरा, तिरस्करिणी, अपटी, कांडपट, अन्तःपट, पटी तथा चित्रा । इन शब्दों से प्रसिद्धतर शब्द है 'जवनिका' और वह है जकारादि, यकारादि नहीं। शुद्ध भी 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं ।

'जवनिका' की उत्पत्ति टीकाकारों की सम्मति में इस प्रकार है—

१—जवन्ति अस्यां जवनिका । —क्षीरस्वामी

२—जवति अस्याम् । 'जुः' सौत्रो गतौ वेगे च । ल्युट्—करणाधिकरणयोश्च (३।३।११७), स्वार्थे कन् (५।४।५ सूत्रेण ज्ञापनात्) । —रामाश्रमी

३—जवनिका स्त्री । सौत्र धातु जु करणे ल्युट् संज्ञायां कन् ।

वाचस्पत्य, पृष्ठ ३०८०

४—जु इति सौत्रो धातुर्गतौ वेगे च। जवनः । 'जुं चङ्क्रम्यदन्द्रम्य—सृ—गृधि—ज्वल—शुच—लष—पत—पदः' (३।२।१५०) इति युच्—कौमुदी । स्त्रियां ङीप् जवनी जवनिका ।

५—जवनं वेगेन प्रतिरोधनमस्ति अस्याः । जवनः ठन् टाप् च ।

—शब्दकल्पद्रुम

इन भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि 'जवनिका' शब्द की व्युत्पत्ति 'जु' धातु से है। 'जु' धातु धातुपाठ में परिगणित न होकर ३।२।१५० सूत्र (जु चङ्क्रम्य ....) में महर्षि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इसका अर्थ है गति तथा वेग। अतः 'जवनिका' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होगा वह आवरण जिसमें दौड़कर लोग चले जायँ अथवा वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर उधर हटाई जा सके।

'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों का एक ही अर्थ होता है। इन दोनों में 'जवनिका' का प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय है, 'जवनी' का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत ही न्यून है, परन्तु आवरण के अर्थ में प्रयोग दोनों का ही होता है।

'जवनिका' का प्रयोग 'नाटचशास्त्र', 'दशरूपक' जैसे शास्त्रीय ग्रंथों, 'भर्तृ-हरिशतक' तथा 'शिशुपालवध' जैसे प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथों तथा 'हरिवंश' और 'भागवत' जैसे पुराणों में समभावेन उपलब्ध होता है जिससे इसकी लोकप्रियता का पूरा पता हमें मिलता है—

१—एतानि च बहिर्गीतान्यन्तर्जवनिकागतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि तु ॥

—नाटचशास्त्र, अध्याय ५, श्लोक ११

२—अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकाऽर्थस्य सूचनात्।

—दशरूपक

३—नरः संसारान्ते विशति यमधानीं जवनिकाम्।

—भर्तृहरिशतक

४—समीरशिशिरः शिरःसु वसतां
सतां जवनिका निकामसुखिनाम्।
बिभर्ति जनयन्नयं मुदमपा-
मपायधवला बलाहकततीः ॥

—माघ-काव्य, ४।५४

५—रेजुर्जवनिकाक्षेपैः सपक्षा इव खे नगाः।

—हरिवंश पुराण, अध्याय २, श्लोक ८८

६—मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाटचधरो यथा ॥

—श्रीमद्भागवत, १।८।१९

इन उद्धरणों में से प्रथम दो में तो 'जवनिका' शब्द का प्रयोग नाटकीय आवरण के लिए हुआ है और अंतिम चार में सामान्य परदे के अर्थ में। सर्वत्र जकारादि 'जवनिका' का ही प्रयोग मिलता है, यकारादि का नहीं। ऐसी दशा में परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग कथमपि न्यायसंगत नहीं। एक प्रबल प्रमाण और भी है। 'यवनिका' के पक्षपाती भी परदे के अर्थ में 'यवनि' शब्द का प्रयोग कथमपि न्याय्य नहीं मानते। 'यवनि' का अर्थ है यवन जाति की स्त्री, और इसी अर्थ में इसका प्रयोग कालिदास ने भी किया है—

यवनी-मुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः
बालातपमिव ब्जानामकालजलदोदयः ॥

रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ६१

परंतु परदे के अर्थ में 'जवनिका' के समान 'जवनी' का प्रयोग भी मिलता है और यह होना भी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। 'जवनिका' में स्वार्थे कन् की अधिकता है, परंतु स्वार्थ में कन् प्रयोग की सत्ता होने के कारण अर्थ में तनिक भी अंतर नहीं है।

श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी विख्यात 'आर्या-सप्तशती' में जवनी का प्रयोग परदे के अर्थ में शोभन प्रकार से किया है—

व्रीडाप्रसरः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्टचेष्टेयम्।
जवनी-विनिर्गमादनु नटीव दयिता मनो हरति॥

—आर्यासप्तशती, श्लोक ५३८

इस कमनीय आर्या का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नटी परदे से निकलने के बाद प्रथमतः लज्जा दिखलाती है, तदनंतर भाव-पुष्ट चेष्टाओं से सामाजिकों का चित्त हरण कर लेती है, उसी प्रकार दयिता का स्वभाव भी है। वह भी पहले लज्जा दिखलाती है, परंतु पीछे अपनी शृंगार रस से पुष्ट चेष्टाओं के द्वारा अपने प्रियतम का मन हर लेती है।

भारतीय नाटचकला पर यवनानी प्रभाव का पक्षपाती कोई भी विद्वान् इस आर्या में 'जवनी' के स्थान पर 'यवनी' का परिवर्तन कभी नहीं कर सकता। यदि 'यवनिका' का प्रयोग न्याय्य होता, तो यह परिवर्तन सिद्ध करने में व्याकरण कभी व्याघातक न होता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परदे के लिये उचित तथा प्रयुक्त शब्द 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

इस झमेले का गूढ़ कारण भी खोजा जा सकता है। राजशेखर का सुप्रसिद्ध सट्टक है 'कर्पूरमंजरी'। समग्र रूप से प्राकृत भाषा में निबद्ध नाटिका को ही 'सट्टक' कहते हैं। इस सट्टक के अवांतर अंकों के नाम हैं 'जवनिकांतरम्'। मेरी समझ में इस नाम के संस्कृतीकरण ने विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। सट्टक में सब कुछ प्राकृत भाषा में है। तब अंक का यह नामकरण भी प्राकृत में ही निबद्ध होगा, यह कल्पना कुछ अनुचित नहीं है। वररुचि के 'आदेर्यो जः' ('प्राकृतप्रकाश-सूत्र') सूत्र के अनुसार संस्कृत शब्दों का आदिम यकार प्राकृत में जकार हो जाता है। इसी नियम को ठीक ठीक न समझने के कारण भ्रांति का उद्गम हुआ है। जब संस्कृत आद्य यकार का प्राकृत में जकार होता है, तब प्राकृत का आदि जकार संस्कृत में यकार हो ही जायेगा। अतः 'जवनिकांतरं' का संस्कृतरूप होगा 'यवनिकान्तरम्', और इस प्रकार नाटकीय परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द विराजने लगा। भ्रांति यही है। 'आदेर्यो जः' नियम का विपर्यय संस्कृत में सर्वत्र उचित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों को 'जवनिकांतरं' के संस्कृतीकरण ने धोखे में डाल दिया। कोशों में कहीं कहीं गलती से 'यवनिका' शब्द का ही निर्देश मिलता है। रामाश्रमी टीका में 'जवनिका'

के स्थान पर 'यवनिका'[1] पाठान्तर दिया गया है, परन्तु अप्रयुक्त होने के कारण यह शब्द कथमपि मान्य नहीं हो सकता। इसकी व्युत्पत्ति किसी प्रकार अर्थ-सिद्धि में सहायक हो सकती है, परन्तु इस शब्द का प्रयोग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी दशा में 'यमनिका' को मान्यता प्रदान करना उचित नहीं।

इस प्रसंग में विचारणीय वस्तु यवनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभाव भी है। यवनान देश में नाट्य के लिये परदे की चाल नहीं थी। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिये रंगमंच बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। नाटक का अभिनय खुले मैदान में ही दर्शकों के सुभीते के लिये किया जाता था। उसपर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यवनानी नाटकों में परदा ही नहीं था, तब भारतीयों के लिये उनकी नकल का प्रश्न ही नहीं उठता। ऊपर कहा गया है कि 'जवनिका' भारतीय नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द नहीं, एक सामान्य शब्द है। यदि भारतीय नाट्य-रचयिताओं ने इसे यवनानी रंगमंच से लिया होता, तो वे इसे नाटकीय परदे के अर्थ में ही सीमित किए रहते, परन्तु वस्तुस्थिति इसके नितान्त विरुद्ध है। ऐसी दशा में 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्रामक एवं सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतन्त्र है, इसी प्रकार अभिनय-कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। 'जवनिका' के लिये भारतीय नाटककार यवनों के पराधीन नहीं हैं। नाटकीय परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की नहीं।

: २ :

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'जवनिका' की स्थिति रंगमंच पर कहाँ थी तथा उसकी संख्या कितनी थी। जर्मनी के प्रख्यात संस्कृत विद्वान् डाक्टर विंडिश ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय रंगमंच पर एक ही परदा उपयोग में आता था और वह रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में डाला जाता था।[2] प्रेक्षागृह की जिस रचना का वर्णन 'भरत नाट्यशास्त्र' के द्वितीय अध्याय में किया गया है उससे सिद्ध है कि प्रेक्षागृह का आधा भाग तो प्रेक्षकों के लिये रहता था और आधे में नाटकीय उपकरणों का स्थान रहता था। बीच में रहता था रंगपीठ और इसके पीछे होता था रंगशीर्ष। रंगशीर्ष के पीछे और सबके अंत में नेपथ्यगृह रहता था जहाँ पात्र अपनी भूमिका के लिए वेशभूषा की सजावट किया करते थे। रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में दीवार होती थी जिसमें आने जाने के लिए दो द्वार बनाए जाते थे। विंडिश के अनुसार नेपथ्यगृह

---

१. यमनिका इति वा पाठः। यमयति—यम उपरमे (भ्वा० प० अ०) ल्युट् (३।३।११७) कन् (ज्ञापित ५।४।५)। —रामाश्रमी २।६।१२०

२. डाक्टर कीथ कृत संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६१

की इसी दीवार के ऊपर ही परदा डाला जाता था। परन्तु भीत के ऊपर परदा डालने का उपयोग ही क्या हो सकता है ? परदा तो उस स्थान पर डालना चाहिए जहाँ पात्रों के बैठने या खड़े होने के लिये पर्याप्त स्थान हो। अभिनवगुप्त ने इसी पक्ष का समर्थन किया है। उनके अनुसार मुख्य परदा रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के मध्य में पड़ता था—

'तत्र जवनिका रंगपीठतच्छिरसोर्मध्ये'।[1]

इस मुख्य परदे के अतिरिक्त कतिपय अन्य परदे भी रंगमंच पर विद्यमान रहते थे, ऐसा प्रतीत होता है। 'मालविकाग्निमित्र' के दूसरे अंक के आरंभ में नाटयसूचना है—

ततः प्रविशति संगीतरचनायाम् आसनस्थो राजा सवयस्यो धारणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः।

राजा आसन पर बैठा हुआ दिखलाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के बीच में होनेवाले परदे को हटाकर वह रंगमंच पर आसनस्थ दिखलाया गया है। यह मानना सर्वथा उचित ही है। इसके बाद कंचुकी का निष्क्रमण होता है तथा गणदास का आगमन। इस अवसर पर 'मालविका' अभिनय दिखलाने के लिये आ रही है, परन्तु उसके आने में कुछ विलम्ब हो रहा है, जिससे उद्विग्न होकर अग्निमित्र कह रहा है—

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्॥[2]

इस पद्य का तात्पर्य है कि मेरे नेत्र नेपथ्य में स्थित उस मालविका के दर्शन के लिये नितांत उत्सुक हैं। व्याकुलता के कारण परदे को उघाड़ देने का मानों उसने निश्चय कर लिया है। इस पद्य के 'तिरस्करिणी' पद से प्रतीत होता है कि राजा की दृष्टि इसी एक परदे के ऊपर पड़ रही थी जिसके उघाड़ देने पर मालविका के दर्शन होने की उसे पूर्ण आशा थी। इससे स्पष्ट है कि मुख्य परदे के अतिरिक्त अन्य परदों का भी उपयोग प्राचीन भारतीय रंगमंच पर अवश्यमेव किया जाता था। मुख्य परदे को हटाकर तो राजा स्वतः उपस्थित था तथा अन्य परदे के भीतर अभिनय के लिए सुसज्जित मालविका अपने प्रवेश की प्रतीक्षा कर रही थी। यहाँ स्पष्ट ही अन्य परदे का उल्लेख है। भरत नाटयशास्त्र के तेरहवें अध्याय में 'कक्ष्या विभाग' तथा इक्कीसवें अध्याय में 'आहार्याभिनय' का विस्तृत वर्णन है। इन अध्यायों के सूक्ष्म अनुशीलन से 'जवनिका' के विषय में अनेक उपयोगी बातों का पता चल सकता है।

---

१. अभिनव-भारती, गायकवाड़ सिरीज, अध्याय ५, श्लोक १२
२. मालविकाग्निमित्र, अंक २, श्लोक २

३ : ११

महाकवि कालिदास

(क)

कालिदास का अध्यात्मचिन्तन

जयति कविकण्ठहारः श्रीरघुकारः प्रमेयकेदारे
यन्मतिदात्रविलूने शिलोञ्छमिव कुर्वते कवयः ॥
श्रोत्रेतराणि भुवने करणान्यसंख्यै-
श्चत्वारि तृप्तिमहतां विषयैर्लभन्ते ॥
श्रोत्राय पक्वसुकृतस्य जनस्य पुण्याः
श्रीकालिदासगिर एव दिशन्ति तृप्तिम् ॥

कालिदासकविता के रसिक महानुभाव,

आज साहित्यजगत् के इतिहास में यह संस्मरणीय दिवस है जब हम कालिदास जयन्ती का यह श्लाघ्य समारोह मनाने जा रहे हैं।[1] संस्कृत के ललित साहित्य के इतिहास में ही अनुपम नहीं है शारदा का वह वरद पुत्र कालिदास, प्रत्युत विश्व के कमनीय कविता-कानन का संचरणशील है वह कविकेशरी कालिदास। भारतभूमि से प्रबल आक्रामक शकों को परास्त करनेवाले शकारि सम्राट् विक्रमादित्य की राजधानी यह उज्जयिनी आज धन्य है जिसके कण-कण को कालिदास ने अपनी मधुर कविता से मुखरित किया था और जिसके जन-जन में कालिदास ने भारतवर्ष के अखण्डत्व की राष्ट्रीय चेतना का संचार किया था।

प्रतिभा का वह प्रकाशपुञ्ज

विमल प्रतिभा का धनी था वह महाकवि। कभी वह प्रतिभा शुभ्रसलिला शिप्रा के तरल तरङ्गों पर बहते और अठखेलियाँ करते हंसदम्पती के साथ कल्लोलें करती, तो कभी वह हिमाच्छादित हिमालय की गुफा में किन्नर-मिथुनों की ललित लीलाओं का साक्षात्कार करती। कभी वह प्रयाग के गंगा-यमुना की स्पृहणीय संगमस्थली में अपने आराध्य देव भूतभावन के कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्गरागा तनु की दिव्य छटा निरीक्षण करती, तो कभी वह अगम्य अलका के सुवर्णबालुकाराशि में गूढमणि क्रीडा करने वाली यक्षकन्याओं के सात्त्विक सौन्दर्य पर रीझ उठती। कभी वह वाल्मीकि के आश्रम में परित्यक्ता विदेह-नन्दिनी सीता के हार्दिक भावों के चित्रण में व्यस्त होती, तो कभी वह पञ्जरस्थिता मधुरवचना सारिका से

१. अखिल भारतीय कालिदास जयन्ती समारोह (उज्जैन १९६८ ई०) का अध्यक्षीय भाषण।

अपने विप्रयुक्त प्रियतम की स्मृति को पूछने वाली यक्षपत्नी की भावभँगी के निभालन में निमग्न रहती। धन्य है कालिदास की यह अलोक-सामान्य-दिव्य-प्रतिभा जिसका मधुर विलास आज भी रसिकजनों के हृदय में मेघदूत के ललित शृंगार की आभा बिखेरता है और जिसका विमल विन्यास आज भी शाकुन्तल के अभिनव अभिनय में अपनी अपूर्वता बरसाता है। उस प्रकाश-स्तम्भ से गत बीस शताब्दियों में प्रभा फूटती रही है और भारतीय कविमानसों को स्निग्ध बनाती रही है। आज तो समस्त विश्व ही कालिदास की प्रतिभा का पुजारी है जिसकी अर्चना में वह श्रद्धा का सुमन चढ़ा रहा है और जिसके सत्कार में वह पलकों के पाँवड़े बिछा रहा है। यह सुभग समारोह मेरे इस तथ्यकथन का भव्य भाष्य है।

लक्ष्मी का वह लाडिला

इस उज्जयिनी के राजसिंहासन पर आरूढ होने वाले सम्राट् विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में सर्वश्रेष्ठ था वह कालिदास, जिसके काव्य की प्रभा दो सहस्र वर्षों से अधिक बीत जाने पर भी किञ्चिन्मात्र भी धूमिल नहीं हुई है, प्रत्युत समय के प्रवाह से आलोचना की आग में सन्तप्त होकर वह आज अपनी प्रखरता से विश्व के मनीषी जनों को चकाचौंध कर रही है। सम्राट् विक्रमादित्य के द्वारा संभावित, समादृत तथा संपूजित वह कवि लक्ष्मी का भी लाडिला था। वह यूनान के तथा पाश्चात्य जगत् के सर्वश्रेष्ठ महाकवि होमर से सौभाग्य की तुलना में कहीं अधिक भाग्यशाली था—उस होमर से, जो द्वारे-द्वारे अपनी कविता को गा गा कर जीविका उपार्जन करता था और जिसे अपने सिर को ढक कर सोने के लिए स्थान मिलना भी दूभर था, भले ही मरने के बाद उसकी जन्मभूमि होने का गौरव लूटने के लिए सात नगरियाँ आपस में संघर्ष करती थीं।[1]

कालिदास के नाटकों को राजकीय रंगशाला में अभिरूपभूयिष्ठा विद्वज्जन-मण्डिता परिषद् के सामने सम्राट् के आश्रय में अभिनीत होने का गौरव प्राप्त था और वह इस विषय में अंग्रेजी के महनीय महाकवि शेक्सपीयर से कहीं अधिक सौभाग्यसम्पन्न था जिसे अभिनय करने वाली नाटचमण्डली द्वारा अपने नाटकों के अभिनय से जीविका उपार्जन करना पड़ता था और जो स्वयं ही नट बनकर रंगभूमि के ऊपर अभिनेता के रूप में अवतीर्ण होता था।

मैं महाकवि कालिदास को भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक मानता हूँ। इस विशाल देश के जनमानस में राष्ट्रीय चेतना फूँकने वाला राष्ट्रकवि मानता हूँ। इस विशाल तथा विराट देश की दिव्य सम्पत्तिमयी संस्कृति कालिदास के काव्यों में बोलती है तथा उनके नाटकों में अपना सुभग स्निग्ध लास्य प्रस्तुत कर जनमानस के रंगमंच पर अपना अभिनय दिखलाती है। अंग्रेजों के प्रथम समागमन

---

1. Seven cities warred for Homer; being dead
Who, living, had no roof to shroud his head,

के समय आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व यह भारतवर्ष संस्कृति से विहीन तथा अज्ञान के अन्धतामिस्र से परिपूर्ण देश समझा जाता था, परन्तु यह कालिदास की ही रचना थी जिसने विश्व के साहित्यिकों का ध्यान भारत के विशाल साहित्यिक उपलब्धियों की ओर आकृष्ट किया। आज से लगभग १८० साल पहले सन् १७८६ ई० में सर विलियम जोन्स ने शाकुन्तल का अंग्रेजी अनुवाद किया और इसी अनुवाद का जर्मन अनुवाद दो वर्ष बाद जार्ज फारेस्टर ने किया। इसी अनुवाद ने गेटे के हृदय में शकुन्तला के प्रति तथा भारतीय साहित्य के प्रति जो उदात्त भावनायें उपजाई, वे इतिहास की वस्तु हैं। उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। संसार के साहित्यिक नक्शे पर भारत का नाम लाने का श्रेय यदि किसी को है, तो वह महाकवि कालिदास को ही है। यह परम सौभाग्य का विषय है कि यह कृतज्ञ भारतराष्ट्र अपने राष्ट्रकवि की अभ्यर्थना में अखिल भारतीय दृष्टि से यह श्लाघनीय समारोह प्रतिवर्ष मनाता आ रहा है।

कालिदास के धर्म और दर्शन की चर्चा इस प्रसंग में करना उचित प्रतीत होता है। भारतीय कवियों का यह मुकुटमणि कालिदास धर्म तथा दर्शन के मूल तत्त्वों का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में प्रसंगतः करता है और वे प्रसंग इतने अधिक हैं कि उनके आधार पर कालिदास के एतद्विषयक मन्तव्यों की अवगति भलीभाँति हो सकती है।

सामान्यतः धर्म तथा रिलिजन को समानार्थक मानने की प्रथा सी चल पड़ी है, परन्तु वस्तुतः धर्म 'रिलीजन' से भिन्न वस्तु है। रिलिजन का यथार्थ पर्याय 'मजहब' है, न कि धर्म। किसी देश-विशेष में किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से एक दूसरे को विशिष्ट समाज के रूप में बाँधने के लिए जो आचारप्रधान नियम बनाये जाते हैं वह होता है 'रिलिजन'। धर्म उससे नितान्त भिन्न है। इस समस्त विश्व को प्रतिष्ठा या स्थिति देनेवाले, धारण करने वाले जो ईश्वर-निर्मित सिद्धान्त हैं वे 'धर्म' के अन्तर्गत आते हैं। कलिदास ने परम-तत्त्व के लिए 'शिव' या 'स्थाणु' शब्द का बहुशः प्रयोग किया है, परन्तु इतने मात्र से वे संकुचित अर्थ में 'शैव' नहीं माने जा सकते। कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग मे (श्लोक ३-१५) ब्रह्मा की, रघुवंश के दशम सर्ग में (१६-३२ श्लोक) विष्णु की, कुमारसम्भव के षष्ठ सर्ग में शिव की स्तुतियाँ एक ही मौलिक तथ्य का उन्मीलन करती हैं। उनमें किसी देवविशेष पर आस्था या निष्ठा का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दृष्टि से कालिदास उतनी ही मात्रा में वैष्णव हैं, जितनी मात्रा में वे शैव हैं। यहाँ किसी संकुचित सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त होने की कल्पना के लिए कोई स्थान ही नही है। अद्वैत-तत्त्व का उपासक कालिदास शैव भी है और वैष्णव भी। उसकी दृष्टि में शिव तथा विष्णु में न किसी प्रकार का भेद है और न पार्थक्य।

भगवत्-तत्त्व का वह द्रष्टा

वह मूल तत्त्व सृष्टि से पूर्व एक ही रूपमें रहने वाला (केवलात्मा) है, परन्तु सृष्टि काल में सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों के क्रमशः आश्रयण से वही विष्णु, ब्रह्मा तथा महेश्वर की आख्या धारण कर भेद को प्राप्त करता है (कुमार० २।४)। उस परमात्मा में समस्त विरोधों का परिहार हो जाता है—इस तत्त्व को कालिदास ने अनेक बार अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित किया है। रघुवंश में वे कहते हैं कि हे भगवान् आप इतने बड़े हैं कि कोई भी आप को माप नहीं सकता, परन्तु आपने सब लोकों को माप डाला है। आपकी स्वतः कोई इच्छा नहीं है, परतु आप सबकी इच्छायें पूर्ण करते हैं। इस प्रकार भगवान् मितलोक होकर भी अमेय है, प्रार्थनावह होकर भी अनर्थी है, जिष्णु (जयनशील) होकर भी अजित है तथा व्यक्त जगत् का कारण होकर भी वह स्वयं अव्यक्त है—

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तम् अव्यक्तो व्यक्तिकारणम्॥

(रघु० १०।१८)

इसी प्रकार भगवान् सबके हृदयस्थ होकर भी अनासन्न है (दूर है); कामनाहीन होने पर भी नरनारायण के रूप में तपस्वी है, दयालु होने पर भी अनघस्पृष्ट है तथा पुराण पुरुष होने पर भी आप जरारहित है (वही १९ श्लोक)। भगवान् के यथार्थ स्वरूप का परिचय जगत् में किसे प्राप्त हो सकता है? क्योंकि वे अजन्मा होकर धर्म की स्थापना के निमित्त जन्म ग्रहण करते हैं। वे कर्म-रहित होकर भी शत्रुओं का नाश करते हैं। योगनिद्रा में सोते रहते भी वे जागते रहते हैं। ऐसे दुरूह तत्त्व के याथार्थ्य को जान ही कौन सकता है?

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव॥

(रघु० १०।२४)

विरुद्धधर्माश्रयत्व ही भगवत्ता की परम प्रत्यभिज्ञा है। जगद्योनित्व के साथ अयोनित्व का, जगदन्तकत्व के साथ निरन्तकत्व का, जगदादित्व के संग अनादित्व का तथा जगदीशत्व के साथ निरीशत्व का सहवास भगवत्ता की परम पहिचान है। (कुमारसंभव २।९)।

भगवत्ता की इतर पहिचान उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति की सत्ता है। भगवान् स्वयं अपने को अपने ही द्वारा जानता है; अपने को अपने ही आप उत्पन्न करता है; अपना काम पूरा कर लेने पर वह अपने में अपने ही आप लीन हो जाता है। यह है अद्वैतशालिनी स्वातन्त्र्यशक्ति की विलासमाधुरी। कालिदास के सुबोध शब्दों में—

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वम् आत्मन्येव प्रलीयसे ॥

(कुमार० २।१०)

कालिदास ईश्वरतत्त्व की मीमांसा के अवसर पर सांख्य तथा उपनिषद् के द्वारा विशेष प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। भगवान् को कालिदास जब पुरुष को अर्थ में प्रवृत करने वाली 'प्रकृति' और उस प्रकृति के द्रष्टा उदासीन 'पुरुष' भी मानते हैं, तब वे सांख्य शैली का आश्रयण करते हैं (कुमार० २।१३)। 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषम्' वाली विक्रमोर्वशीय की नान्दी में वे 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषद् के अर्थ में करते हैं। उनका कथन है कि उपनिषदों में आकाश तथा पृथ्वी को व्याप्तकर स्थित होनेवाला अद्वितीय पुरुष, 'ईश्वर' शब्द के द्वारा अभिधीयमान तथा प्राणायाम के द्वारा मुमुक्षु जनों से हृदय के भीतर मृग्यमाण—तीनों प्रकार से वह परमतत्त्व अपनी अभिव्यक्ति पाता है (विक्रमो०१।१)।

कालिदास पक्के अद्वैतवादी हैं—अद्वैततत्त्व के उपासक। तभी तो उस परम सत्ता के लिए हव्य तथा होता, भोज्य तथा भोक्ता, वेद्य तथा वेदिता, ध्याता तथा ध्येय शब्दों का एकसाथ प्रयोग करने से वे कभी नहीं चूकते। आगमों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धिप्राप्ति के मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु ये समस्त मार्ग तुम्हारे ही पास तक पहुँचते हैं, जिस प्रकार गंगा का जल समुद्र में। इस प्रकार भगवान् को ही समग्र सिद्धिमार्गों का पर्यवसान मानने वाला कवि अद्वैततत्त्व का पक्का अनुयायी है, इसमें दो मत नहीं हो सकते—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

(रघु० १०।२६)

कालिदास के इस तथ्य की प्रतिध्वनि अनेक काव्यों में गूँजती मिलती है—जैन कवि सिद्धसेन दिवाकर की वाणी में वह प्रस्फुटित होती है—

उदधाविव सर्वसिन्धवः
समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

(सिद्धसेन दिवाकर)

शैव तान्त्रिक परममहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के इस पद्य में वह अभिव्यक्ति पा रही है—

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति।
तत् तत् त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः[1]॥
(अभिनवगुप्त)

साधना का वह विचारक

कालिदास ने अध्यात्म के साधनपक्ष का बड़ा मनोरम विन्यास किया है। कालिदास भक्ति और योग को भगवत्-प्राप्ति का मुख्य साधन मानते हैं। (स स्थाणुः स्थिर-भक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः) योग की प्रक्रिया से, अभ्यास से संयत मन के द्वारा, योगीजन हृदय में स्थित ज्योतिर्मय भगवत्तत्त्व का दर्शन करते हैं और यह उनकी विमुक्ति-विशिष्टमुक्ति—क्लेशों की निवृत्ति तथा आनन्द की उपलब्धि का मुख्य साधन है। (रघु १०।२३) योग पर इतनी निष्ठा उसकी उपयुक्तता से प्रयुक्त तो है ही, साथ ही साथ इसका एक विशिष्ट हेतु है कालिदास के आराध्य शिवशंकर की योगी-रूप में स्थिति। कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में शंकर की समाधि का विशद वर्णन (३।४५-५०) कालिदास के व्यावहारिक योग के गम्भीर ज्ञान का सद्यः परिचायक है। शिव का पर्यङ्कबन्ध (वीरासन) में आसन मार बैठना, ऋजु तथा आयत पूर्वकाय की स्थिति, दोनों कन्धों को झुकाना, दोनों हाथों को उत्तान कर गोदी में रखना, वीरासन में बैठे हुए योगी का यह शाब्दिक विशद चित्र नेत्रों के सामने झूलने लगता है। अन्तिम प्रक्रिया का संकेत इस सुभग श्लोक में सुलभ है—

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति
हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तम्
आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥
(कुमार० ३।५०)

कालिदास ने इस स्थिति की उपमा निर्वातनिष्कम्प प्रदीप से दी है—'अन्तश्चराणां मरुतां निरोधात् निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्' (कुमार० ३।४८)

---

१. अंग्रेजी कवि लार्ड टेनिसन ने अपनी कविता में इसी भाव को प्रकट किया है—
Our little systems have their way.
They have their way and cease to be.
They are but broken lights of Thee.
And Thou, O Lord, art more than they.
—Tennyson.

गीता भी यही कहती है—'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' (६।१९)।

मोक्ष के निमित्त साधना की त्रिधा स्थिति कालिदास को अभीष्ट है—(क) वीतरागिता, अर्थात् रागद्वेष से एकान्ततः हीनता; (ख) भगवान् में चित्त का आवेश, अर्थात् भगवान् में चित्त का सर्वथा विलय (आवेशित चित) तथा (ग) कर्मों का भगवान् में समर्पण, अर्थात् कर्मों के फल को भगवान् को समर्पण करना जिससे वे कर्म बन्धन रूप में प्रतिष्ठित न हो सकें (त्वत्-समर्पित कर्म)—

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्-समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणाम् अभूयः सन्निवृत्तये ।।
(रघु० १०।२७)

भगवान् कामना-विरहित हैं। संसार में ऐसी कोई प्राप्तियोग्य (अवाप्तव्य) वस्तु नहीं है जो भगवान् को प्राप्त नहीं। ऐसी दशा में भगवान् के इस भूतल पर जन्म धारण करने का तथा नाना प्रकार के कर्मों के सम्पादन का हेतु क्या है? कालिदास की दृष्टि में वह प्रधान हेतु लोकानुग्रह ही है। जगत् के जीवों पर अनुग्रह करने के निमित्त ही भगवान् जन्म लेते हैं तथा कर्म करते हैं। ऐसी है भागवती कृपा--

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ।।
(रघु० १०।३१)

इस श्लोक में भगवद्गीता के उपदेश की स्पष्ट प्रतिध्वनि है—'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि' (गीता ३।२२)। कालिदास का 'लोकानुग्रह' गीता (३।२०) के 'लोकसंग्रह' का ही प्रतिरूप है। श्रीमद्भागवत की रासपञ्चाध्यायी का यह गूढार्थक पद्य कालिदास के ही मत का सुभग विन्यास करता है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।।
(भाग० १०।२९।१४)

कालिदास ने एक ही श्लोक में भक्ति के उपकरणों की ओर संकेत कर दिया है—

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ।।
(रघु० १०।२९)

भगवान के प्रति भक्ति के उपकरणों में यहाँ केवल स्मरण का ही शब्दतः निर्देश है और मनन, निदिध्यासन, दर्शन, चरणस्पर्श, वाणीश्रवण आदि समस्त वृत्तियाँ 'शेष' शब्द के द्वारा उल्लिखित हैं। कालिदास इस प्रकार भगवत्प्राप्ति के

साधनों में ज्ञान, योग तथा भक्ति—इस साधनत्रिवेणी में अवगाहन को जीवन का सर्वस्व मानते हैं।

दिव्य-सन्देश का वह वाहक

कालिदास भारतीय संस्कृति के सन्देश वाहक हैं। उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति अपनी निर्मल अभिव्यक्ति को पाकर अपने आपको धन्य मानती है। त्यागाश्रित भोग ही भारतीय संस्कृति का अनुपम सन्देश है। वैदिक संस्कृति श्रमण-संस्कृति के समान न तो केवल त्याग को जीवन का लक्ष्य मानती है और न भौतिक संस्कृति के सदृश केवल भोग को जीवन का आदर्श समझती है। वह त्याग और भोग इन दोनों के मञ्जुल सामरस्य को ही जीवन का सत्य मानती है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यही उपनिषद्वाक्य वैदिक संस्कृति का मेरुदण्ड है और कालिदास इसी संस्कृति के उद्बोधक प्रतिनिधि कवि हैं। जीवन में विशुद्ध भोग के पक्षपाती होते हुए भी वे त्याग को ही पर्यवसान मानते हैं। वे शब्दतः इस तथ्य के प्रतिपादन की अपेक्षा अपने उद्भावित पात्रों के रूप में इसकी गूढ अभिव्यक्ति करते हैं। 'अभिज्ञानशकुन्तल' का नायक दुष्यन्त, जो छिपे-छिपे चोर के समान शान्त आश्रम में प्रवेश करता है, कलुषित कामवासना का प्रतिनिधि है, तो डंके की चोट अपने आगमन की सूचना देने वाले, भौतिक चाकचिक्य से दूर रहने वाले दुष्ट वासस्-कपड़े वाले दुर्वासा आध्यात्मिकता के प्रतीक हैं। शकुन्तला स्वयं वैदिक-संस्कृति की प्रतिनिधि है। उसके सामने दोनों जन दो तरह से आते हैं—गुप्त रूप से छिपे-छिपे दुष्यन्त (भौतिकता) तथा डंके की चोट 'अयमयं भोः' की उच्चैः गर्जना करने वाले दुर्वासा (आध्यात्मिकता)। शकुन्तला के सामने विषम समस्या है कि किसे स्वीकार किया जाय? राजकीय चाकचिक्य से स्निग्ध दुष्यन्त को अथवा दुर्वासस् से मण्डित वल्कलधारी दुर्वासा को? शकुन्तला भौतिक चाकचिक्य से विमुग्ध होकर दुष्यन्त का वरण करती है और दुर्वासा का वारण करती है। सद्यःपतन ही उसका प्रत्यक्ष फल है। भौतिक-जीवन का आश्रयण उसे मुनिशाप के द्वारा पतन में डाल देता है, जिससे अन्ततोगत्वा उद्धार करता है मारीचाश्रम में तीव्र तपस्या का साधन, आध्यात्मिक जीवन का आश्रयण। तीव्र सन्तापों तथा संघर्षों से प्रताडित विश्व संस्कृति के उद्धार का एक ही उपाय है—दुर्वासा का वरण तथा दुष्यन्त का वारण। जब तक जगतीतल के मानव कालिदास के इस सन्देश पर कान नहीं देते, उसे अपने जीवन में नहीं उतारते, तब तक उनका वास्तव कल्याण नहीं हो सकता। विश्व के मानवों के लिये महाकवि कालिदास का यही सन्देश है। आशा ही नहीं, पूरा विश्वास है कि यह जयन्ती-समारोह कालिदासीय सन्देश के इस भव्य रूप को जनता के सामने रखने में समर्थ होगा। सन्देश के प्रसारण में ही समारोह की सफलता अन्तर्निहित है। आशा है कि उपस्थित जनमण्डली का ध्यान इस ओर अवश्य जावेगा।

एक सुझाव समारोह के अधिकारियों के सामने है। मेरा नम्र निवेदन है कि यह समारोह साहित्यिक विग्रह को धारण कर अपनी चरितार्थता दूर-दूर तक प्रसारित करता रहे। मेरा सुझाव है कि कालिदास की किसी एक समस्या के ऊपर ही विद्वानों के समीक्षण हों, लेखों का पाठ हो, विद्वानों में शास्त्रार्थ हो, और यह सब सामग्री सम्पादित होकर एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रतिवर्ष प्रकाशित होती रहे। इससे समारोह में अनुपस्थित जन भी ग्रन्थ के अनुशीलन से लाभ उठावेंगे तथा कालिदास के सिद्धान्तों का प्रचार भारत तथा भारत के बाहर भी होता रहेगा। समारोह करने का वास्तविक लाभ तभी हो सकेगा। आशा है अधिकारी जन इस सुझाव पर विचार करेंगे और यदि यह उपयोगी जान पड़े, तो इसे कार्य रूप में परिणत करने का अध्यवसाय करेंगे :

विचिन्तयन् जीवनमेव जीवनं
समर्थयन् पार्थिवमेव पार्थिवम्।
विभावयन् वैभवमेव वैभवं
सदाश्रये शङ्करमेव शङ्करम्॥

(ख)

कालिदास का अमर संदेश[1]

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा
हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या
न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

—श्रीकृष्ण कवि

महाकवि कालिदास हमारे राष्ट्रीय कवि थे। वे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रतीक थे। इस विशाल तथा विराट देश की संस्कृति कालिदास की वाणी में बोलती है तथा उनके नाटकों में अपना मनोहर भव्य रूप दिखा कर मानव मात्र का मनोरंजन करती है। अंग्रेजों के प्रथम समागम के समय आज से लगभग दो सौ वर्ष पहले यह भारतवर्ष संसार की दृष्टि में संस्कृति विहीन अन्धकारपूर्ण देश समझा जाता था। परन्तु कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल ने ही भारत के प्रति विश्व का आदर जगाने का श्लाघनीय कार्य किया। आज से ठीक १५५ वर्ष पहले सर विलियम जोन्स ने शाकुन्तल का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया तथा इसी अनुवाद का जर्मन भाषा में अनुवाद जार्ज फ़ौरेस्टर ने दो साल पीछे सन् १७९१ में किया। इसी अनुवाद को पढ़कर जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि गेटे ने अपना जो हृदयोद्‌गार प्रकट किया था, वह साहित्य के प्रेमियों से छिपा हुआ नहीं है। केवल संस्कृत के ज्ञाता पण्डित जन इस संस्कृत अनुवाद को पढ़कर उस विदेशी कवि के अभिप्राय को भलीभांति समझ सकते हैं :—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

इस अनुवाद ने हमारा बड़ा उपकार किया। पाश्चात्य जगत ने भलीभांति समझा कि भारतीयों की संस्कृति बड़ी ऊँची है तथा हृदय के कोमल भावों को प्रकट करने की निपुणता उसके कवियों में विशेष हैं। इस प्रकार कालिदास का ऋण हमारे ऊपर बहुत ही अधिक है।

हमारी राष्ट्रीय भावना में और विश्व कल्याण की भावना में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। भारतीय कवि राष्ट्र का मंगल चाहता है और उसके साथ ही

---

१. महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी के आदेशसे स्थापित अखिल भारतीय विक्रम परिषद् द्वारा संचालित प्रथम कालिदास जयन्ती समारोह (वाराणसी वि० सं० २०००) का भाषण।

साथ वह संसार की भी मंगलकामना किया करता है। कालिदास के काव्यों में इस सामञ्जस्य का मनोरम रूप दृष्टिगत होता है। इस महाकवि की वाणी में जिस प्रकार आदि कवि वालमीकि की रसमयी धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार गीता तथा उपनिषदों का अध्यात्म-ज्ञान भी मञ्जुल रूप में अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। भारतीय ऋषियों के द्वारा प्रचारित चिरन्तन तथ्यों को मनोभिराम शब्दों में भारतीय जनता के हृदय में उतारने का प्रयास मानव हृदय की शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावों का आलम्बन लेकर किया गया है। यही कारण है कि इसके भीतर ऐसी उद्दीप्त उदात्त भावना विद्यमान है जो भारतीयों को ही नहीं, प्रत्युत मानवमात्र को सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहेगी। इस भारतीय कवि की वाणी में इतना रस भरा हुआ है कि दो सहस्र वर्षों के दीर्घ-काल ने भी उसमें किसी प्रकार का फीकापन नहीं आने दिया। उसकी मधुरिमा आज भी उसी प्रकार भावुकों के हृदय को रसमय करती है जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्ति के प्रथम रूप में किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृति का जो भव्यरूप इन काव्यों में दिखाई देता है वह नितान्त सजीव है। मानव-कल्याण के लिए इन काव्यों में मधुर शब्दों में स्थान-स्थान पर उपदेश भी दिये गये हैं। आज का संसार परस्पर कलह तथा वैमनस्य से छिन्न-भिन्न हो रहा है। प्रबल समरानल के भीतर संसार की अनेक जातियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं। विश्व नितान्त उद्विग्न है। मानवता के लिये यह महान् संकट का समय है। विचार करने की बात है कि कालिदास क्या इस सम्बन्ध में भी कोई संदेश देते हैं।

कालिदास की दृष्टि में मानव जीवन में नैराश्यवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक बतलाकर निःसार तथा व्यर्थ मानते हैं, उनका कथन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं तथा जिसमें हम अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं उसे सारहीन क्यों मानें? कालिदास का कहना है कि देहधारियों के लिए मरण ही प्रकृति है, जीवन तो विकृतिमात्र है। यदि जन्तु श्वास लेता हुआ एकक्षण के लिए भी जीवित है तो यह उसके लिये परम लाभ है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

रघुवंश– ८।८७

इस जीवन को महान् लाभ मानना चाहिए तथा इसे सफल बनाने के लिए अर्थ, धर्म तथा काम का सामञ्जस्य करना चाहिये। इस त्रिवर्ग में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है।[1] परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखने के लिये धर्म का विरोध करते रहते हैं। धर्म को दबा कर अर्थ अपनी प्रबलता चाहता है और

१. त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि। —कुमारसंभव ५।३८

धर्म को ध्वस्त कर काम भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है। इस विश्व में आज धर्म-विरोधी अर्थ एवं काम का नग्न नृत्य हो रहा है। धर्म कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु भगवान् कृष्ण के शब्दों में 'धर्म से अविरुद्ध काम' भगवान की ही विभूति है। कालिदास ने अपने काव्यों में तथा नाटकों में 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ' -- इस गीता-वाक्य की सत्यता अनेक प्रकार से प्रमाणित की है।

मदन-दहन का रहस्य यही है। मदन चाहता है कि पार्वती के सुन्दर रूप का आश्रय लेकर समाधि-निष्ठ शंकर के हृदय पर चोट करूँ। प्रकृति में वसन्त का आगमन होता है। लता वृक्ष पर फूल-फूल कर अपना प्रेम जताने लगती है। एक ही कुसुमपात्र में भ्रमरी अपने सहचर के साथ मधुपान करती हुई मत्त हो जाती है। व्याधि के समान मदन संसार को त्रस्त करने लगता है। वह अपनी आकांक्षा बढ़ाता है। और शंकर पर आक्रमण कर बैठता है। जगत के कल्याण, आत्यन्तिक मंगल का नाम शंकर है। विश्व-कल्याण मदन की उपासना में नहीं है, प्रत्युत उसके धर्म-विरोधी रूप के दबाने में है। काम अपनी प्रभुता चाहता है। विश्व-कल्याण पर अपना मोहन-बाण छोड़ता है। शंकर अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र ज्ञाननेत्र है। वह प्रत्येक मनुष्य के भ्रूमध्य में विराजमान रहता है, परन्तु सुप्त होने से हमें उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता। शंकर का वह नेत्र जाग्रत है। इसी ज्ञान की ज्वाला में मदन का दहन होता है। धर्म से विरोध करने वाला काम भस्म की राशि बन जाता है। शंकर को वश में करने के लिए पार्वती जी तपस्या करती हैं। धर्म-सिद्धि का प्रधान साधन है -- तपस्या। बिना अपना शरीर तपाए तथा बिना हृदय-स्थित दुर्वासना जलाये धर्म की भावना जागरित नहीं होती। कालिदास ने काम का जलना दिखाकर यही चिरन्तन तथ्य प्रकट किया है। पार्वती ने घोर तपस्या करके अपना अभीष्ट प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि में काम तथा धर्म के परस्पर संघर्ष में हमें काम को दबाकर उसे धर्मानुकूल बनाना ही पड़ेगा। जगत् का कल्याण इसी भावना में सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाज का गहरा सम्बन्ध है। व्यक्ति की उन्नति वाञ्छनीय वस्तु है, परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति समाज की उन्नति पर अवलम्बित है। व्यक्तियों के समुदाय का ही नाम समाज है। कालिदास वैयक्तिक उन्नति के साथ-साथ सामाजिक उन्नति के पक्षपाती हैं। उनका समाज श्रुति-स्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है। वह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है। सत्य के लिये परिमित भाषण करता है। यश के लिये विजय की अभिलाषा रखता है, प्राणियों तथा राष्ट्रों को पद-दलित करने के लिये नहीं। गृहस्थी में निरत होता है सन्तान उत्पन्न करने के लिये, कामवासना की पूर्ति के लिये नहीं। कालिदास द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाज का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। वे शैशव में विद्या का अभ्यास करते हैं, यौवन में विषय के अभिलाषी हैं, वृद्धावस्था में

मुनिवृत्ति धारण करते हैं। सारे प्रपंच से मुँह मोड़कर निवृत्ति-मार्ग के अनुयायी बनते हैं तथा अन्त में योग द्वारा अपना शरीर छोड़कर परम पद में लीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाज की अपनी विशेषता है—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

—रघुवंश—१।७-८

उपनिषदों में तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। इनके अतिरिक्त 'तपः' की महिमा से भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। कालिदास ने इन स्कन्धों का विवेचन स्थान-स्थान पर बड़ी ही मनोरम भाषा में किया है। यज्ञ का महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञ के रहस्यों का ज्ञाता होता है। राजा दिलीप यह बात भली-भाँति जानते हैं कि वसिष्ठ जी के यथाविधि सम्पादित होम द्वारा जल की ऐसी वृष्टि होती है जो अकाल से सूखते शस्य को हरा-भरा कर देती है—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रह - विशोषिणाम्॥

रघु०—१।६२

नरराज तथा देवराज—दोनों का काम परस्पर सहयोग से मानवों की रक्षा करना है। नरराज पृथ्वी को दूहकर—उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त कर यज्ञ सम्पादन करता है और देवराज इसके बदले में सस्य उत्पन्न होने के लिये आकाश को दूहकर पुष्कल वृष्टि करता है। इस प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्तियों का विनिमय कर उभय-लोक का कल्याण करते हैं :—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवन - द्वयम्॥

रघु० १।२६

यज्ञपूत जल के द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थों की सिद्धि हमारे महाकवि को मान्य है। रघु सर्वस्व-दक्षिणयज्ञ के अनन्तर कौत्सकी याच्ञा पूरी करने के लिए जिस रथ पर बैठते हैं उसे वसिष्ठ जी ने मन्त्रपूत जल से अभिमन्त्रित कर दिया है और उसमें आकाश, नदी, पहाड़ आदि सब विकट तथा विषम मार्गों पर चलने की क्षमता है (रघु० ५।२७)। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि में सामाजिक कल्याण के साधनों में मन्त्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दान की गौरव-गाथा गाते हुए हमारे महाकवि कभी श्रान्त नहीं होते। समाज आदान-प्रदान की भित्ति पर अवलम्बित है। धनी-मानी व्यक्ति का संचित धन केवल उन्हीं की आवश्यकता अथवा व्यसन पूरा करने के लिये नहीं है, प्रत्युत

उसका सदुपयोग उन निर्धनों की उदर-ज्वाला शान्त करने में भी है जो समाज के विशेष अङ्ग हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में डंके की चोट कहा गया है कि दैवी वाग् मेघ-गर्जन के रूप में सदा पुकारती है—दाम्यत (अपनी इन्द्रियों को वश में रक्खो), दत्त (दान दो), तथा दयध्वम् (दया करो)। यदि हमलोग इस दैवी वाणी की पुकार सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं तो यह अपराध हमारा है। दान के बिना समाज छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं। कालिदास ने रघुवंश के पञ्चम सर्ग में दान का बड़ा ही उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वरतन्तु के शिष्य कौत्स गुरु-दक्षिणा के लिये तब रघु के पास आते हैं जब उन्होंने अपनी सारी संचित सम्पत्ति यज्ञ में खर्च कर डाली है। रघु अलकापुरी पर चढ़ाई करके यक्षराज कुबेर से धन पाने का उद्योग करते हैं। इतने में कोष में सोने की वृष्टि होती है। राजा का आग्रह है कि शिष्य सम्पूर्ण धन ले जाय और उधर शिष्य का आग्रह है कि वह अपने काम से अधिक एक कौड़ी भी न छूएगा। दाता और ग्रहीता का यह आग्रह आश्चर्यजनक वस्तु है। यह दृश्य इस भारत-मही के इतिहासों में भी दुर्लभ है, अन्य देशों की तो कथा ही क्या ?

तप भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है। इसकी आराधना से मनुष्य अपनी सारी कामनाओं की ही पूर्ति नहीं करता, प्रत्युत परोपकार के यथावत् सम्पादन की योग्यता भी अर्जन करना है। तप की महिमा से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। कालिदास ने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दों में अभिव्यक्त किया है। मदन-दहन के अनन्तर भग्न-मनोरथ पार्वती ने तप को ही अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। जगत् की समग्र आशाएँ छोड़कर वे इसकी सिद्धि में लग गईं। उनकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीर से उपार्जित मुनियों की तपस्या उसके सामने नितान्त फीकी एवं प्रभावहीन जान पड़ती थी। प्रकृति के नाना प्रकार के विषम कष्ट झेलकर वे अपनी कामना सिद्धि में सफल बनी। कालिदास ने पार्वती के तप का रहस्य विशेष रूप से प्रकट किया है :- -

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥

कुमारसम्भव ५।२

पार्वती की तपस्या का फल था—'तथाविधं प्रेम'। अलौकिक उत्कट् कोटि का प्रेम और 'तादृशः पतिः'। उसप्रकार का मृत्यु को जीतने वाला 'महादेव' रुप, पति। जगत् के समस्त पति मृत्यु के वश होते हैं, मृत्युञ्जयएक ही व्यक्ति है। महादेव ही मृत्यु को भी जीतकर अपनी स्वतंत्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आज तक कोई भी कन्या मृत्युञ्जय को पति रूप पाने में समर्थ नहीं हुई। और वह प्रेम भी कैसा ? कालिदास ने 'तथाविधं' शब्द के भीतर गंभीर अर्थ की अभिव्यञ्जना की है ? शंकर ने पार्वती को अपने मस्तक पर स्थान दिया है। आदर की भी एक सीमा होती है। पत्नी को इतना उच्च स्थान प्रदान करना

सत्कार का महान् उत्कर्ष है, आदर की पराकाष्ठा है। अन्य देवताओं में से किसी ने अपनी पत्नी को इतना गौरव नहीं प्रदान किया। भारतीय कन्याओं के लिये गौरी की यह साधना अनुकरणीय वस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओं के सामने एक ही महान् आदर्श है और वह है पार्वती का। भारतीय समाज में 'गौरी-पूजा' का रहस्य इसी महान् स्वार्थ-त्याग के भीतर छिपा हुआ है। तपस्या ने गौरी को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। तपस्या करने वाले ऋषियों के भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है। वे स्वयं शान्ति में रहते हैं, सूर्यकान्त मणि की भाँति वे छूने में बड़े कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेज के द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं। वे किसी की घर्षणा सह नहीं सकते। यही तपस्या का प्रभाव है :—

शमप्रधानेषु - तपोधनेषु गूढ़ँ हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ।।

अभिज्ञानशकुन्तल २।७

आजकल की समर-ज्वाला में दग्ध होने वाले संसार के लिये कालिदास का संदेश विशेष रूप से उपादेय है। विश्व-मानवों को चाहिए कि यह सुन्दर सन्देश सुनकर अपने जीवन में उसका बर्ताव करें। इस सन्देश को हम तीन तकारादि शब्दों में प्रकट कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन। विश्व की शान्ति भंग करने वाली वस्तु का नाम स्वार्थ-परायणता है। समस्त जातियाँ अपने बड़प्पन का स्वप्न देखती हुई अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि में निरत दिखाई पड़ती है। भयानक संघर्ष का यही निदान है। इसका निवारण त्याग और तपस्या की साधना के बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत् ने नगर को विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण करके पूर्वी जगत् भी नागरिक सभ्यता की उपासना में दत्तचित्त हो चला। परन्तु कालिदास की सम्मति में तपोवन की गोद में पली हुई ही सभ्यता मानव का सच्चा मंगल कर सकती हैं। गोचारण का फल रघु के जन्म के रूप में प्रकट हुआ। दिलीपने अपनी राजधानी का परित्याग कर वसिष्ठ के आश्रम में निवास किया तथा गुरु की गाय की विधिवत् परिचर्या की। उसी का फल हुआ इन्द्र जैसे वज्रधारी के मानमर्दन करने वाले वीर पुत्र का उदय। तपोवन में अलौकिक शान्ति तथा शक्ति का साम्राज्य छाया रहता है। प्रकृति निखिल विषमता दूर कर समता के अभ्यास में निरत रहती है। हिंस्र पशु भी इसी नैसर्गिक शान्ति के कारण अपनी प्रकृति भूल कर परस्पर मैत्री-भाव से निवास करते हैं। कालिदास की दृष्टि में प्रपञ्च के पचड़े में पड़ने वाला जीव दया का पात्र है। सुख में आसक्त जीव को तापस उसी दृष्टि से देखता है जिससे तैल-मर्दन करने वाले व्यक्ति को स्नान किया हुआ व्यक्ति, अशुचि को शुचि, सुप्त व्यक्ति को प्रबुद्ध, बद्ध-पुरुष को स्वच्छन्द गतिवाला पुरुष देखता है—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध-इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ।।

शाकुन्तल ५।११

जब तक यह संसार त्याग और तपस्या का आश्रय लेकर तपोवन की ओर न मुड़ेगा, तबतक इसकी अशान्ति कभी न बुझेगी, पारस्परिक कलह कभी न समाप्त होगा तथा वैमनस्य का नाश कभी न होगा।

कालिदास का यह सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना के अन्तिम श्लोक में एक ही पद्य के रूप में प्रकट किया जा सकता है :—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुति - महती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।। —शाकुन्तल ७।३५

राजा प्रजा के हित-साधन में लगें, शास्त्र के अध्ययन से महत्त्वशाली विद्वानों की वाणी सर्वत्र पूजित हो, शक्ति-सम्पन्न भगवान् शंकर समग्र जीवों का पुनर्जन्म दूर कर दें। इससे सुन्दर सन्देश और क्यों हो सकता है ? राजा का प्रधान कार्य प्रजा का अनुरंजन है। अराजक राज्य के दुर्गुणों से हम भली-भाँति परिचित हैं। राजा के बिना समाज उच्छिन्न हो जायेगा। अतः राजा का प्रधान कर्तव्य होना चाहिये समाज की रक्षा। राष्ट्र को उन्नति और अभ्युदय के सच्चे मार्ग पर ले जाने वाले उसके विद्वज्जन ही होते हैं। अतः उनकी सरस्वती का पूजन तथा समादर हमारा पवित्र कार्य है। राजा क्षात्र बल का प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्मतेज के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों के परस्पर सहयोग से ही देश का सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्राह्म तेज तथा क्षात्र बल का सहयोग पवन तथा अग्नि के समागम के समान नितान्त दुर्धर्ष तथा फलप्रद होता है—

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ।। —रघुवंश ८।४

समाज की सुव्यवस्था होने पर ही व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार समाज तथा व्यक्ति का परस्पर अभ्युदय भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है। सम्राट् विक्रम की सभा के रत्न महाकवि कालिदास का त्याग और तपस्या का यह दिव्य सन्देश जगती-तल पर प्रत्येक प्राणी के हृदय को सदय तथा सहानुभूतिमय बनावे, यही अन्त में हमारी भगवान् की प्रार्थना है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कालिदास भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रतीक हैं; इस विशाल देश के जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना फूंकनेवाले राष्ट्रकवि हैं। वे वैदिक संस्कृति के उद्बोधक महाकवि हैं जिसका आदर्श त्यागाश्रित भोग रहा है।

३ : १२

संस्कृत कोषविद्या का इतिहास

संस्कृत में कोषों का उदय तथा लक्षण

संस्कृत में कोशविद्या का उदय एक व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त हुआ। प्राचीन कोश 'निघण्टु' के नाम से विख्यात था। 'कोश' के समान 'निघण्टु' का भी उद्देश्य पूर्णतया व्यावहारिक है। 'निघण्टु' से अभिप्राय उन वैदिक शब्दसंग्रहों से है जिनमें नामपदों के साथ क्रियापदों का भी संकलन एकत्र किया गया है। 'कोष' में केवल नामों का संग्रह है, क्रियाओं का नहीं। नामकोष के अनन्तर परिशिष्ट रूप में अव्ययों के अर्थ का भी संग्रह इन कोषों में किया गया उपलब्ध होता है। 'निघण्टु' का उद्देश्य कठिन वैदिक मन्त्रों के अर्थ समझने में सहायता पहुँचाना है। 'कोष' का उद्देश्य कविजनों को काव्यकला के विस्तार करने में सहायता देना होता है। 'निघण्टु' तो केवल नीरस शब्द संग्रहमात्र है। 'कोश' की रचना अनुष्टुपों में तथा आर्याछन्दों में विशेषतया की गई है और काव्यकला से सम्बद्ध अनेक कलाओं के शब्दों को प्रस्तुत करने के कारण यह निश्चित है कि ये कोष कविजनों के परिश्रम को हलका करते थे।[1]

कोष दो प्रकार के हैं—(१) समानार्थक कोष, जिनमें शब्दों का संग्रह विषय के क्रम से किया गया है। तथा (२) अनेकार्थ या नानार्थ कोष जिनमें एक शब्द के अनेक अर्थों का चयन किया गया है। संस्कृत में लिंग निर्धारण भी एक विषम पहेली है जिसे इन कोषकारों ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ थोड़े में ही हल कर दिया है। कहीं-कहीं तो शब्दों के प्रथमान्त प्रयोग से ही उनके लिंग का निर्धारण किया गया है और कहीं-कहीं उनके साथ लिंगद्योतक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। ये शब्द 'पुं', 'नपुंसक', 'क्लीब', 'स्त्री' आदि हैं। कहीं-कहीं दो लिंगों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के साथ 'अस्त्रियाम्' पद से इस विशिष्टता का परिचय दिया गया है। इन कोषों का उद्देश्य आजकल के कोषों के समान निर्देश के निमित्त न होकर कण्ठस्थ करने के लिए है। इसलिए कोषों में शब्दों का चयन अकारादि क्रम से नहीं है। शब्दचयन के अनेक सिद्धान्त हैं। समानार्थ कोषों में विषयों के अनुसार शब्दों का संकलन है जैसे अमर ने स्वर्ग वर्ग के अन्तर्गत देवों की नामावली रखी है तथा वनौषधि वर्ग के अन्तर्गत जंगल में उत्पन्न होनेवाली

---

१. इस लेख में गुरुवर्य महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा जी की 'कल्पद्रु कोष' की भूमिका से विशेष सहायता ली गई है। यहाँ इसका विशेष आभार प्रकट करता हूँ।

तथा वैद्यक शास्त्र में प्रयुक्त ओषधियों की नामावली है और इस नामावली में शब्दों का चयन कोषकार की स्वतन्त्रता पर आश्रित है। अनेकार्थ कोषों में विशेषतः अन्तिम वर्णों के अनुसार शब्दों का संग्रह है—'कान्त', 'खान्त' तथा 'गान्त' शब्दों का चयन। कहीं आदिम वर्ण को भी महत्त्व दिया गया है और कहीं आदिम तथा अन्तिम दोनों वर्णों को दृष्टि में रखकर शब्दचयन है। इस प्रकार संस्कृत के कोषों में शब्दचयन करने में अनेक दृष्टियों से काम लिया गया है।

निघण्टु

आजकल उपलब्ध 'निघण्टु' एक ही है जिस पर यास्क ने अपने 'निरुक्त' का निर्माण किया, परन्तु अनेक निघण्टुओं की सत्ता के प्रमाण बहुशः उपलब्ध होते हैं। वर्तमान निघण्टु में पाँच अध्याय हैं। आदि के तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक-काण्ड' कहते हैं। इनमें पृथ्वी आदि बोधक समानार्थ शब्दों का संकलन है। चतुर्थ अध्याय (नैगम काण्ड) में ऐसे पदों का संचयन है जिनके प्रकृति-प्रत्यय का यथार्थ अवगमन नहीं होता और इस दृष्टि से जो अव्युत्पन्न तथा गूढ़ार्थक प्रतीत होते हैं। पंचम अध्याय (दैवत काण्ड) में भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप तथा स्थान का विस्तार से निरूपण है। इस 'निघण्टु' के रचयिता के विषय में अभी तक मतभेद बना हुआ है। कुछ विद्वान् तो यास्क को ही इस शब्द-चयन का भी श्रेय प्रदान करते हैं, परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति में निघण्टु यास्क से प्राचीन हैं तथा महाभारत के अनुसार प्रजापति कश्यप इस निघण्टु के रचयिता हैं।

यास्काचार्य ने इस निघण्टु की व्याख्या अपने निरुक्त ग्रन्थ में की है, परन्तु यह निरुक्त केवल व्याख्या-ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत बहुत ही उपयोगी भाषाशास्त्रीय तथा देवताविषयक सामग्री से मण्डित वेदार्थ की मीमांसा करने वाला महनीय ग्रन्थ है जिसमें वेदार्थ के विषय में प्राचीन धारणा, कल्पना तथा व्याख्या के प्रकारों का भी स्थान-स्थान पर प्रामाणिक उपन्यास है। उदाहरणार्थ 'वृत्र' तथा 'अश्विन्' के स्वरूप विवेचन के अवसर पर ऐतिहासिक तथा अन्य मतों का सुन्दर उल्लेख किया गया है (निरुक्त २।६।२ तथा निरुक्त १२।१ आदि)। निरुक्त में १२ अध्याय हैं और अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। इन अध्यायों में निघण्टु की व्याख्या, पदों की व्युत्पत्ति तथा वैदिक मन्त्रों के पूर्ण निर्देश भी हैं जहाँ ये पद उपलब्ध होते हैं। निरुक्त के आरम्भिक अध्यायों में शब्दों की व्युत्पत्तियों का विस्तृत वर्णन है जो आधुनिक भाषाशास्त्र में भी पूर्णतया मान्य तथा प्रामाणिक माने जाते हैं। निरुक्त का मत है कि समस्त शब्द धातुओं से उत्पन्न होते हैं (सर्वं धातुजमाह निरुक्ते) तथा वैदिक मन्त्रों की पूर्ण सार्थकता है। इसके विरोधी मतों का खण्डन यास्क ने बड़ी प्रौढ़ता से निष्पन्न कर अपने सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा की है।

यास्क के निरुक्त में निघण्टु के पदों की पूर्ण व्युत्पत्ति न देखकर देवराज यज्वा ने निघण्टु के ऊपर एक विस्तृत टीका लिखी। ये यज्ञेश्वर के पुत्र थे और दक्षिणापथ

में रंगेशपुरी के निवासी थे। इन्होंने भोजराज (१०१८ ई०–१०६० ई०) के व्याकरण[1] का तथा क्षीरस्वामी (१२ शतक का आरम्भ काल) की व्याख्या[2] का इस ग्रन्थ में उल्लेख किया है। फलतः इनका समय १२ शती तथा १३ शती का मध्य भाग मानना चाहिए। सायण का उल्लेख न होने से इन्हें सायण के भाष्यों की रचना से (१४ शती) पूर्ववर्ती मानना ही उचित होगा। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य के समय का अभी तक यथार्थ निर्णय नहीं हो सका है। ये अपने को जम्बूमार्गाश्रमवासी बतलाते हैं और बहुत सम्भव है इनका आविर्भाव देवराज तथा सायण के मध्यवर्ती युग में हुआ हो।

भास्कर राय—वैदिक कोष

भास्कर राय अपने समय के बड़े प्रसिद्ध तान्त्रिक थे। दक्षिण से काशी में अध्ययन करने के निमित्त आये। 'ललिता-सहस्रनाम भाष्य' से पता चलता है कि ये विश्वामित्र-गोत्रीय गम्भीर राय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम कोणाम्बा तथा गुरु का नरसिंह था। इन्होंने 'ललिता-सहस्र-नाम' के ऊपर अपने प्रख्यात तथा प्रौढ़ भाष्य की रचना १७६३ ई० में की थी। नागेश भट्ट की सप्तशती टीका का खण्डन इन्होंने अपनी 'गुप्तवती' नामक टीका में किया है। वैदिक कोष का रचना काल १७७५ ई० है। अतः भास्कर राय का समय १८ शती का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

इन्होंने वैदिक कोष की रचना कोषों के ढंग पर की है। वैदिक शब्द तो वे ही हैं जो निघण्टु में हैं। उन्हीं शब्दों का अर्थ अनुष्टुप छन्दों में यहाँ दिया गया है जो अमरकोष के ढंग पर रचित होने से छात्रोपयोगी है। नवीनता न होने पर भी उपादेयता बहुत अधिक है।

काल विभाग

संस्कृत भाषा में कोषों का प्रणयन विक्रम के आरम्भ से लेकर आजतक होता रहा है और इस प्रकार इसका इतिहास दो हजार वर्षों का इतिहास है। संस्कृत कोषों में अमरकोष की मान्यता, प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता सबसे अधिक है। अतः अमर को केन्द्र-बिन्दु मान कर हम कोष-विद्या के इतिहास को तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) अमर-पूर्व काल, (२) अमरकाल तथा (३) अमर-पश्चात् काल। अमर पूर्वकाल के कोषों का परिचय हमें अमर के टीकाकारों के उल्लेखों से तथा उद्धरणों से ही मिलता है। केवल एक कोष के अतिरिक्त अन्य की उपलब्धि भी समस्त रूप से नहीं हुई है।

---

१. भोजराजीयं व्याकरणम्, पृ० ३, जीवानन्द सं०।

२. कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित् (अमर १।९।३४) इत्यत्र क्षीरस्वामिनो व्याख्या, पृ० ११६ (१।१७)।

अमरपूर्व-कोषकार

इन अमर-पूर्ववर्ती कोषकारों का एक सामान्य परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) व्याडि—व्याडि का कोष अमरकोष के समान ही संकलित था अर्थात् उसमें समानार्थ शब्दों की ही प्रधानता थी तथा एक परिच्छेद में नामार्थ शब्दों का चयन था। 'अभिधान चिन्तामणि' की टीका में हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ से लम्बे लम्बे उद्धरण दिये हैं जिनसे प्रतीत होता है इसमें शब्दार्थ के साथ साथ विशेष ज्ञातव्य विषयों का भी संकलन था। व्याडि ने बौद्धधर्म-सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों का भी वर्णन यहाँ किया है जिससे स्पष्ट है कि बौद्ध न होने पर भी इन्हें बौद्ध धर्म से गाढ़ परिचय था। इन्होंने व्युत्पत्ति के द्वारा अर्थानुसन्धान की प्रक्रिया दिखलाई है—जैसे निघण्टु की व्याख्या (अर्थात् निघण्टयत्यस्मात् निघण्टुः परिकीर्तितः)। व्याडि के इस कोष का नाम पुरुषोत्तम की हारावली के अनुसार 'उत्पलिनी' था (अन्तिम श्लोक ३)।

(२) कात्य—ये वररुचि से भिन्न व्यक्ति हैं। वररुचि के 'लिंग विशेष विधि' नामक लिंगानुशासन ग्रन्थ का हर्षवर्धन आदि ग्रन्थकारों ने निर्देश किया है, परन्तु क्षीरस्वामी तथा हेमचन्द्र आदि कोषकार कोष के प्रसंग में कात्य का ही उल्लेख करते हैं। फलतः कात्य का ग्रन्थ पूरा कोष था ठीक अमरकोष के ही समान; परन्तु कहीं कहीं इसमें अर्थ का वर्णनात्मक परिचय भी उपलब्ध था। जैसे 'तितउ' शब्द का अर्थ है चालन जिससे सातू आदि चाला जाता है। अमर का निर्देश केवल अर्थपरक है—चालनी तितउः पुमान् (अमरकोष २।९।२६), परन्तु कात्य का वर्णन परक है—क्षुद्रच्छिद्रसमोपेतं चालनं तितउः पुमान्। इस कोष का नाम था नाममाला।

(३) भागुरि—इनके कोष का नाम था त्रिकाण्ड जो तीन काण्ड वाले अमरकोष से विभिन्न तथा स्वतन्त्र कोष था। भागुरि ने शब्दों के लिंगों के निर्देश की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने केवल समानार्थ शब्दों का ही संकलन किया है।

(४) रत्नकोष—इसके रचयिता का पता नहीं है। सर्वानन्द के अनुसार इसके परिच्छेदों का वर्गीकरण लिंग के आधार पर था। इसमें समानार्थ शब्दों का चयन था।

(५) माला या अमरमाला—इसके उद्धरण प्राचीन कोषों में दोनों नामों से आते हैं, परन्तु दोनों नामों से एक ही ग्रन्थ का तात्पर्य है, यह निश्चित है। सर्वानन्द ने अपनी अमरटीका में तीस से ऊपर उद्धरण अमरमाला से दिये हैं। इसके रचयिता का नाम सम्भवतः अमरदत्त था जो अमरसिंह से प्राचीन कोषकार माने जाते हैं। हलायुध ने नाममाला को अपने कोष के लिए प्रधान आधार तथा उपजीव्य ग्रन्थ माना है और नाममाला की गलतियों को भी अपने ग्रन्थ में रखने से वे पराङ्मुख नहीं हैं।

(६) वाचस्पति—इनके कोषग्रन्थ का नाम शब्दार्णव था जो समानार्थ शब्दों का एक विशाल कोष था तथा अनुष्टुप् छन्द में विरचित था। इसकी एक विशेषता यह थी कि एक शब्द के विभिन्न रूपों का तथा वर्तनी का यह उल्लेख करता है। हेमचन्द्र ने शब्दों का प्रपंच अपने कोषों में इसी ग्रन्थ की सहायता से किया है—प्रपञ्चस्तु वाचस्पति प्रभृतेरिह लक्ष्यताम्।

(७) धन्वन्तरि—इन्होंने वैद्यक निघण्टु की रचना की है[1] जो इस प्रकार के कोषों में प्राचीनतम माना जाता है। क्षीरस्वामी के अनुसार अमर ने अपने वनौषधि वर्ग की सामग्री इसी कोष से ली है जिसके पाठ को ठीक न समझने के कारण उन्होंने गलती भी की है। क्षीरस्वामी के कथनानुसार धन्वन्तरि ने 'बालपत्र' शब्द को खदिर का पर्यायवाची बतलाया है, परन्तु अमरसिंह ने 'बालपत्र' को बालपुत्र समझने की गलती की और इसीलिए उन्होंने खदिर का पर्यायवाची 'बालतनय' माना है जो क्षीरस्वामी की दृष्टि से एकदम अशुद्ध है[2]।

अमरसिंह

इन्हीं प्राचीन कोषों के आधार पर अमरसिंह ने 'नामलिंगानुशासन' नामक अपूर्व तथा सर्वतः पूर्ण कोश की रचना की है। इस कोष का नामकरण ही इसकी उत्तमता का द्योतक है। प्राचीन कोषों में दो प्रकार की शैली थी। कतिपय कोष केवल नामों का ही निर्देश करते थे (नाममात्र तन्त्र), परन्तु कतिपय कोष लिंगों के ही विवेचन को अपना मुख्य विषय मानते थे (लिंगमात्र तन्त्र)। अमरसिंह ने इन दोनों पद्धतियों का समन्वय कर अपने कोष को सर्वांग पूर्ण बनाया। लिंग-निर्देश के लिए इन्होंने कई शब्दों का प्रयोग भी स्पष्टता के लिए किया है। पुं, नपुंसक, स्त्री तथा अस्त्री आदि शब्द संस्कृत नामों के लिंगों के बताने में बड़ी सुन्दरता से प्रयुक्त किये गये हैं। अमरकोष तीन काण्डों में विभक्त है और इसीलिए यह 'त्रिकाण्ड' के नाम से भी विख्यात है। प्रत्येक काण्ड में अनेक 'वर्ग' हैं। प्रथम काण्ड में स्वर, व्योम, दिश्, धी, शब्दादि, नाट्य, पाताल तथा नरक—ये नव वर्ग हैं। द्वितीय काण्ड में पृथ्वी, पुर, शैल, वनौषधि, सिंहादि, नृ, ब्राह्मण, क्षत्र, विश् तथा शूद्र—ये दश वर्ग हैं। तृतीय काण्ड में विशेष्यनिघ्न, संकीर्ण, नानार्थ, अव्यय तथा लिंगादि-संग्रह ये पाँच वर्ग हैं। अमरकोष में सब मिलाकर १५३२ अनुष्टुप हैं। ग्रन्थ का छठा भाग (२२५ अनु०) नानार्थ के वर्णन में है, अन्य भाग समानार्थ शब्दों का अर्थ बतलाता है। समानार्थ खण्ड में एक विषय के वाचक नामों का एक संकलन है। नानार्थ भाग में अन्तिम वर्ण के अनुसार पदों का संकलन है। अव्ययों का वर्णन एक स्वतन्त्र वर्ग में हैं तथा ग्रन्थ के अन्त में लिंगों के साधक नियमों का एक साथ वर्णन किया गया है।

---

१. राजनिघण्टु के साथ आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज में प्रकाशित, पूना, १८९६।

२. बालपत्रो यवासः खदिरश्चेति द्वयर्थेषु धन्वन्तरिपाठमदृष्ट्वा बालपुत्रभ्रान्त्या ग्रन्थकृद् बालतनयमाह—बालतनयः खदिरो दन्तधावनः (अमर २।४।४९)।

क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द दोनों मान्य टीकाकारों के अनुसार अमरसिंह बौद्ध थे। लोकप्रसिद्धि है कि ये विक्रमादित्य के नवरत्नों में से अन्यतम थे, परन्तु विक्रमादित्य के काल की हमें यथार्थ परिचय नहीं है। इतना तो निश्चित है कि अमरकोष का चीनी भाषा में अनुवाद षष्ठ शती में हुआ था और इसलिए यह ग्रन्थ इस शती से पूर्वकालीन है। अमरकोष का सर्वप्राचीन उद्धरण जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' में मिलता है जहाँ 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' यह वाक्य (अमरकोष ३।३।१८६) उद्धृत मिलता है। न्यास की रचना अष्टमशती में हुई थी। कोष के विषय में अमरसिंह की यह रचना इतनी चुस्त, इतनी सुन्दर तथा इतनी उपयोगी है कि भारतवर्ष में तथा उसके बाहर भी इनकी लोकप्रियता आश्चर्य की बात नहीं है। इसकी विशाल टीका-सम्पत्ति भी इसकी लोकप्रियता का पर्याप्त द्योतक है। इसके ऊपर ४० के आसपास टीकायें लिखीं मिलती हैं जिनमें से कतिपय विशेष प्राचीन तथा स्वयं अतिशय प्रामाणिक मानी जाती हैं। इन टीकाकारों में अनेक ने अमरकोष के प्रत्येक नाम की पुष्ट व्युत्पत्ति दी है तथा अन्य कोषों से उद्धरण देकर अमर के अर्थ की प्रामाणिकता प्रदर्शित की है।

अमरकोष के व्याख्याकार

अमरकोष के प्रख्यात व्याख्याकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

(१) **क्षीरस्वामी**—अमर के यही सर्वप्राचीन टीकाकार हैं जिनके **'अमरकोषोद्घाटन'**[1] ने अमर के रहस्यों का भली भाँति उद्घाटन किया है। यह बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण तथा प्रामाणिक व्याख्या है जिसका उपयोग अर्वाचीन कोषकारों ने बड़ी आस्था के साथ किया है। क्षीरस्वामी ने राजशेखर (९२० ई०) तथा श्री भोज (१०१०—१०६० ई०) को यहाँ उद्धृत किया है तथा उनका मत सर्वप्रथम वर्धमान ने 'गणरत्नमहोदधि' (११४० ई०) में उद्धृत किया है। फलतः इनका समय ११ शती का उत्तरार्ध है।

(२) **सर्वानन्द**—समय तथा महत्त्व की दृष्टि से दूसरी व्याख्या बंगाल के निवासी आर्तिहर के पुत्र **वन्द्यघटीय सर्वानन्द** की है। इनकी टीका 'टीकासर्वस्व'[2] ११५९ ईस्वी में लिखी गई। यह टीका पाण्डित्यपूर्ण है तथा प्रामाणिकता में क्षीरस्वामी की टीका से किसी प्रकार न्यून नहीं है। बंगाल के कोषकारों ने इस टीका को अपना आधार बनाया है।

(३) **सुभूति (सुभूतिचन्द्र)**—ये बौद्ध थे। इनकी टीका जिसका नाम **कामधेनु** है तिब्बती भाषा में अनूदित है। इसका मूल संस्कृत भी उपलब्ध है, परन्तु प्रकाशित नहीं है। शरणदेव ने 'दुर्घटवृत्ति' (११७३ ई०) में इसे निर्दिष्ट किया है जिससे सुभूति का समय १२ शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है।

---

१. ओक तथा शर्म्मा के द्वारा सं०, पूना।

२. अनन्तशयन ग्रन्थमाला (संख्या ३८, ४३) में प्रकाशित

(४) रायमुकुट—रायमुकुटमणि की उपाधि से विभूषित बृहस्पति की पदचन्द्रिका टीका, जो प्राचीन सोलह टीकाओं के आधार पर १४३१ ईस्वी में लिखी गई, प्रामाणिकता तथा विद्वत्ता में अनुपम मानी जाती है। ग्रन्थकार बंगाल में राढ़ का निवासी था जिसने अपनी टीका में २७० ग्रन्थों के वचन तथा निर्देश दिये हैं। टीका के पाण्डित्य का इससे बढ़कर सूचक दूसरी बात नहीं हो सकती।

(५) भानुजी दीक्षित—प्रख्यात वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित के पुत्र भानुजी-दीक्षित 'उपनाम रामाश्रम' ने बघेलराजा कीर्तिसिंह के आदेश से १७ वीं शती में अमर के ऊपर एक नई टीका लिखी जो 'वाक्यसुधा' या 'रामाश्रयी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह व्युत्पत्ति प्रदर्शनी टीका बहुत ही विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण है और लेखक ने अपने तथ्यों की पुष्टि में मान्य कोषकारों के वचनों को उद्धृत किया है[1]।

(६) भरत मल्लिक—बंगाल के गौरांग मल्लिक के पुत्र भरत मल्लिक या भरतसेन ने भी अमरकोष के ऊपर टीका लिखी है जो बहुत ही विस्तृत तथा निर्देश ग्रन्थों से मण्डित टीका है। शब्दों के बिभिन्न रूपों को भी यहाँ दिखलाया गया है। यहाँ शब्दों की व्युत्पत्ति बोपदेव के व्याकरणानुसार दी गई हैं। बोपदेव के ग्रन्थ कविकल्पद्रुम (रचनाकाल १६३९ ईस्वी) की टीका में दुर्गादास ने भरत की अमरटीका को अनेक बार उद्धृत किया है। फलतः इनका समय १७ वीं शती से पहिले होना चाहिए।

अमरकोष के अन्य टीकाओं में इन टीकाओं की प्रसिद्धि है—(७) नारायण शर्मा की 'अमरकोष पंजिका' या पदार्थकौमुदी (रचनाकाल १६१९ ई०); (८) रमानाथ विद्यावाचस्पति की 'त्रिकाण्ड विवेक' टीका (रचनाकाल १६२३ ई०); (९) मथुरेश विद्यालंकार की 'सारसुन्दरी' (र० का० १६६६ ई०); (१०) अच्युतोपाध्याय की 'व्याख्याप्रदीप', (११) रघुनाथ चक्रवर्ती का 'त्रिकाण्डचिन्तामणि' (कलकत्ते से प्रकाशित); (१२) महेश्वर का 'अमर विवेक' (बम्बई से प्रकाशित)।

अमरपश्चात् काल

अमरसिंह के अनन्तर कोषकारों के शब्दचयन में बड़ी प्रौढ़ता तथा व्यापकता है। कतिपय कोषकारों ने केवल नानार्थ कोष की ही रचना स्वतन्त्र रूप से पृथक् की है जिससे ऐसे कोषों में बड़ी व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। वैद्यकशास्त्र के विषय में अनेक निघण्टुओं का निर्माण भी विषय की लोकप्रियता का द्योतक है। संस्कृत के समान ही पालि, प्राकृत तथा देशी शब्दकोषों की भी रचना इस युग में हुई। फलतः यह काल कोषों के इतिहास में नितान्त महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। मान्य कोषकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

---

१. निर्णयसागर से प्रकाशित।

(१) शाश्वत—अनेकार्थ-समुच्चयः ।[1]

इस कोष में केवल अनेकार्थक शब्दों का ही विस्तृत चयन है। इस चयन में किसी व्यवस्था के दर्शन नहीं होते। कहीं पर पद्य में, कहीं आधे पद्य में और कहीं चौथाई पद्य में शब्दों का अर्थ दिया गया है। इस विषय में अमरकोष की अपेक्षा विशेष प्रौढ़ता तथा पूर्णता दृष्टिगोचर होती है जो शाश्वत को अमर का परवर्ती लेखक सिद्ध कर रही है। इनके समय का निर्णय अनुमानतः ही करना पड़ता है। शाश्वत का कथन है कि इस ग्रन्थ का निर्माण कवि महाबल तथा वराह के परामर्श से किया गया था जिसमें वराह को कतिपय विद्वान् वराहमिहिर से अभिन्न मानते हैं। क्षीरस्वामी (११ शती) ने शाश्वत का उद्धरण तथा प्रमाण बहुत दिया है। वराहमिहिर के समकालीन होने से इनका समय षष्ठ शती में मानना अनुपयुक्त नहीं होगा।

(२) पुरुषोत्तम देव—त्रिकाण्ड शेष हारावली तथा वर्णदेशना।

पुरुषोत्तम देव ने राजा लक्ष्मणसेन (११७० ई०–१२०० ई०) के आदेश पर पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'भाषावृत्ति' नामक वृत्ति लिखी है; ऐसा कथन इसके टीकाकार सृष्टिधराचार्य का है, परन्तु इन कोषों का निर्माण लक्ष्मणसेन के युवराज काल में ही हो गया होगा, क्योंकि सर्वानन्द (११५९ ई०) ने इनके तीनों का बहुशः उल्लेख अपनी अमरव्याख्या में किया है। फलतः इनका समय १२ शती का उत्तरार्द्ध मानना उचित है। इसके आधारग्रन्थ हैं—वाचस्पति का शब्दार्णव; व्याडि की उत्पलिनी तथा विक्रमादित्य का 'संसारावर्त'। अमरसिंह के समान ये भी बौद्ध थे। अपने कोष में इन्होंने बुद्ध के नामों की ही एक विस्तृत सूची नहीं दी है, प्रत्युत उसके साथ उनके पुत्र राहुल का तथा प्रतिद्वन्दी देवदत्त के नाम का भी निर्देश किया है।

इनके तीन कोष मिलते हैं—(क) **त्रिकाण्डशेष**[2]—अमरकोष का पूरक ग्रन्थ है जिसमें व्यवहार में आने वाले, परन्तु अमर में अनुपलब्ध, शब्दों का विस्तृत चयन है। क्रम अमरकोष का ही है, परन्तु अनुष्टुप् से अतिरिक्त छन्दों का भी प्रयोग है। श्लोकों की संख्या लगभग आठ सौ है। (ख) **हारावली**—इसके अपेक्षा एक छोटा ग्रन्थ है जिसमें विशेषतः अप्रचलित शब्दो का ही संकलन है। (ग) **वर्णदेशना**—वर्तनी (स्पेलिंग) की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थकार का कहना है कि गौड़ लिपि (बंगाली लिपि) में अनेक वर्णों की लिखावट में स्वल्प भेद रहता है इसलिये शब्दों के रूपों में भ्रान्ति होने की सम्भावना रहती है। उसी के निराकरण के लिए इस ग्रन्थ का उपयोग है। पूरा ग्रन्थ गद्य में है और अभी तक अप्रकाशित ही है।

---

१. ओक द्वारा संपादित, पूना, १९१८।

२. व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

(३) हलायुध—अभिधान-रत्नमाला[1]।

हलायुध ने इस ग्रन्थ की रचना में अमर को ही अपना आदर्श माना है तथा अमरदत्त, वररुचि, भागुरि तथा वोपालित से नवीन सामग्री का संकलन किया है। अभिधान-रत्नमाला में पाँच काण्ड हैं जिसमें प्रथम चार—स्वर्ग, भूमि, पाताल तथा सामान्य—समानार्थक शब्दों का वर्णन करते हैं। अन्तिम काण्ड (अनेकार्थ काण्ड) में नानार्थ तथा अव्ययों का वर्णन है। रूपभेद के द्वारा लिंग का निर्देश किया गया है। नाना वृत्तों के लगभग नव सौ पद्यों में समाप्त यह कोष अमरकोष के आधे से कुछ अधिक है। हलायुध का समय दशम शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने अपना काव्यग्रन्थ '**कविरहस्य**' मान्यखेट के राजा कृष्णराज तृतीय (९५० ई०) के समय में तथा पिंगल की **मृतसंजीवनी वृत्ति** धारा के राजा मुंज (१० श० का उत्तरार्ध) के प्रतिष्ठार्थ बनाई थी। इन राजाओं के समकालीन होने से इनका समय दशमशती का उत्तरार्ध है।

(४) यादवप्रकाश—वैजयन्ती।[2]

वैजयन्ती कोश कोषों के इतिहास में एक अपूर्व महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके दो खण्ड हैं। समानार्थ खण्ड के पाँच भाग हैं—स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूमि, पाताल तथा सामान्य। नानार्थखण्ड के तीन भाग हैं जिनमें ग्रन्थकार ने शब्दों का चयन अक्षरक्रम से किया है। यह उतना व्यवस्थित नहीं है, परन्तु कोष के लिए वर्णक्रम से शब्द-संग्रह एक नई वस्तु है। अमरकोष की अपेक्षा वैजयन्ती के ये दोनों खण्ड अधिक पुष्ट तथा पूर्ण हैं। इसमें वैदिक शब्दों का भी संकलन है जो इसे अत्यन्त मूल्यवान् कोष बना रहा है। यादवप्रकाश रामानुजाचार्य (१०५५ ई०–११३७ ई०) के विद्यागुरु थे तथा काञ्ची के आसपास इनका जन्मस्थान था। ये अद्वैत वेदान्ती थे और प्रसिद्धि है कि रामानुज को जब उपनिषदों की इनकी अद्वैत परक व्याख्या से सन्तोष न हुआ, तब इनसे अलग हो गये तथा विशिष्टाद्वैत की ओर वे झुक गये। फलतः इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ शती का मध्यभाग मानना चाहिए।

(५) महेश्वर—विश्वप्रकाश[3]।

विश्वप्रकाश नानार्थ कोष है जिसमें शब्दों का चयन अन्तिम वर्ण के आधार पर किया गया है जैसे 'कद्विक' में अर्क, पिक आदि शब्दों की गणना है जिनमें ककार अन्त में दूसरा अक्षर पड़ता है। पूरे ग्रन्थ की व्यवस्था इसी प्रकार की है। रूप-भेद से ही लिंग का निर्देश किया गया है। अन्त में अव्ययों का भी संकलन है। ग्रन्थ के आरम्भ में महेश्वर ने अपना पूरा परिचय दिया है जिससे प्रतीत होता है

---

१. डा० आउफ्रेक्ट द्वारा सम्पादित, लण्डन, १८६१। 'हलायुधकोष' के नाम से हिन्दी समिति, लखनऊ से प्रकाशित १९५७।

२. डा० ओपर्ट द्वारा सम्पादित, मद्रास, १८९३।

३. चौखम्भा सीरीज, काशी में प्रकाशित।

कि ये वैद्यकुल में उत्पन्न हुए थे तथा इनके पूर्वज हरिचन्द्र ने चरक संहिता के ऊपर टीका लिखी थी। ग्रन्थ की रचना ११११ ईस्वी में हुई थी[1] और अपने ही समय में इसकी पर्याप्त प्रसिद्धि हो चली थी। सर्वानन्द (११५९ ई०) ने बंगाल में तथा हेमचन्द्र (१०८८–११७० ई०) ने गुजरात में इनके मत का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया। मल्लिनाथ ने इसका विशेष उपयोग अपने व्याख्याओं में किया है। महेश्वर ने स्वयं अपने ग्रन्थ का एक परिशिष्ट लिखा है, जिसका नाम 'शब्दभेद-प्रकाश' है जिसके चार निर्देशों (भागों) में शब्द के भेदों पर विचार किया गया है।

(६) मेदिनीकर—नानार्थकोश।[2]

यह कोष 'विश्वप्रकाश' के आधार पर मुख्यतः बनाया गया है। अन्तर इतना ही है कि अन्तिम वर्ण के अनुसार शब्दों के चयन में आदि अक्षर को दृष्टि में रखकर क्रम बाँधा गया है। इनके पिता का नाम था प्राणकर, जिन्होंने पाँच सौ गाथाओं का एक संग्रह प्रस्तुत किया था। पद्मनाभ भट्ट ने अपने 'भूरिप्रयोग' में मेदिनीकर को उद्धृत किया है (समय १३७५ ई०) तथा मल्लिनाथ (१३५० ई०) ने भी माघकाव्य की टीका (२।६५) में मेदिनि कोष से उद्धरण दिया है। मंखकोष की टीका में भी इनका निर्देश आया है। फलतः इनका समय १२ शती से प्राचीन होना चाहिए जब इस टीका की रचना की गई।

(७) मंख—अनेकार्थ कोष[3]।

विश्वप्रकाश के समान ही अन्तिम व्यंजनों के क्रम पर निबद्ध यह कोष १००७ पद्यों में बिना किसी परिच्छेद के ही समाप्त हुआ है। इसके ऊपर एक टीका भी है जो मंख की रचना है या उसके किसी शिष्य की। काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८ ई०–११४९ ई०) के राज्यकाल में उत्पन्न तथा 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य के रचयिता मंख या मंखक इस कोषकार से भिन्न नहीं है। यह कोष काश्मीर के कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का चयन प्रस्तुत करता है और इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, परन्तु काश्मीर के बाहर इसका प्रचार कम ही हो सका।

(८) हेमचन्द्र—अभिधान चिन्तामणि आदि।

प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र (१०८८–११७५ ई०) ने चार कोषों की रचना कर इस शास्त्र को आगे बढ़ाया जिनके नाम हैं—अभिधान-चिन्तामणि—समानार्थ शब्दों का कोष; अनेकार्थ संग्रह—नानार्थ शब्दों का कोष; निघण्टु कोष—वैद्यक कोष तथा देशी-नाममाला—प्राकृत शब्दों का कोष।

---

१ रामानलव्योमरूपैः शककालेऽभिलक्षिते।
कोषं विश्वप्रकाशाख्यं निरमाच्छ्रीमहेश्वरः॥ (अन्तिम श्लोक)।

२. बनारस संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित।

३. जखरिया द्वारा सम्पादित।

अभिधानचिन्तामणि[1] में ६ काण्ड हैं--देवाधिदेव, देव, मर्त्य, भूमि, नरक और सामान्य इनमें प्रथम काण्ड जैन देवी-देवताओं के नामों का संग्रह है। दूसरे में ब्राह्मण तथा बौद्ध देवता और तत्सम्बद्ध परिकरों का नाम है। अन्य काण्डों में तत्तत् विषय सम्बन्धी शब्दों का अर्थ-चिन्तन है। यह कोष नाना वृत्तों में निबद्ध १५४२ पद्यों में समाप्त हुआ है। इसके ऊपर हेमचन्द्र ने स्वयं एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है जिसमें प्राचीन कोषकारों के मत का उपन्यास है जैसे भागुरि, हलायुध, शाश्वत, यादव आदि। ग्रन्थकार का ही 'शेष-संग्रह' नामक एक परिशिष्ट भी प्रकाशित है।

अनेकार्थ संग्रह[2] में लगभग १८२६ श्लोक हैं जो छः काण्डों में विभक्त हैं। शब्दों का संग्रह दो प्रकार से है अन्तिम अक्षरों के द्वारा तथा आदिम अक्षरों के द्वारा अतः शब्दों की जानकारी बड़ी आसानी से हो सकती है। हेमचन्द्र ने लिंगों के ज्ञान के लिए 'लिंगानुशासन' अलग लिखा है और इसलिए यहाँ उसका निर्देश नहीं है। इसकी एक टीका भी है **अनेकार्थ-कैरवाकर-कौमुदी** जिसके वास्तव रचयिता ग्रन्थकार के शिष्य महेन्द्र सूरि हैं, परन्तु जो हेमचन्द्र के ही नाम से प्रख्यात हैं।

(९) केशवस्वामी—नानार्थार्णव-संक्षेप।[3]

नानार्थ शब्दों का सबसे बड़ा कोष है जिसमें ५८०० के लगभग श्लोक हैं। यह अक्षरों की गणना के आधार पर छः काण्डों में विभक्त है तथा प्रत्येक काण्ड लिंग के अनुसार ५ भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में शब्दों का संग्रह अक्षरक्रम से हुआ है। ये सब विशिष्टतायें जयन्ती कोष में भी पाई जाती हैं। वैदिक शब्दों का संकलन भी दोनों में समान रूप से किया गया है। इसकी एक बड़ी विशिष्टता यह है कि लगभग तीस आचार्यों, कवियों तथा वैदिक ग्रन्थकारों के मत मूल ग्रन्थ के भीतर ही श्लोकों में निबद्ध हैं। कुलोत्तुंग चोल नरेश के पुत्र राजा राजराज इनके आश्रयदाता थे। इस नाम के दो राजाओं का पता है जिनमें से एक ने १२ वें शतक में तथा दूसरे ने १३वें शतक में राज्य किया। मल्लिनाथ ने रघुवंश की टीका में तथा उसके पूर्ववर्ती अरुणाचल नाथ ने कुमारसम्भव की टीका में इन्हें उद्धृत किया है। फलतः इनका समय १२ या १३ शती होना चाहिए।

(१०) केशव—कल्पद्रु कोष।[4]

---

१. ग्रन्थकार की टीका के साथ प्र० यशोविजय जैन ग्रन्थमाला में भावनगर; वीर सं० २४४१।

२. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से मूल मात्र प्रकाशित।

३. अनन्तशयन ग्रन्थमाला में मुद्रित, १९१३।

४. म० म० रामावतार शर्मा की प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण प्रस्तावना के साथ बड़ौदा से दो भागों में प्रकाशित १९२८, १९३२।

कल्पद्रु कोष आज तक के ज्ञात समानार्थ कोषों में सबसे बड़ा तथा विशाल है। इसमें लगभग चार हजार श्लोक हैं। इसके तीन स्कन्ध हैं—भूमि, भुवः तथा स्वर्ग और प्रत्येक स्कन्ध में अनेक प्रकाण्ड (या खण्ड) हैं। इसमें समानार्थक शब्दों का सबसे अधिक संख्या में संकलन है जैसे पृथ्वी के लिए ६४ शब्द तथा अग्नि के लिए ११४ शब्द आदि। शब्दों के संग्रह में अनेक नवीनतायें हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इस ग्रन्थ की रचना का काल दिया ४७६१ कलि सं० जो १६६० ईसवी में पड़ता है। अतः इनका समय १७ शती का उत्तरार्ध है।

(११) शाहजी महाराज—'शब्दरत्न समन्वय कोष'।

इस उपयोगी कोष के रचयिता तंजोर के महाराष्ट्र नरेश शाहजी हैं। ये छत्रपति महाराज शिवाजी के अनुज वेंका-जी (एकोजी) के ज्येष्ठ पुत्र थे। तंजोर के इतिहास में शाहजी महाराज (१६८४ ई०—१७१२ ई०) का समय विद्याविलास, सुखसमृद्धि तथा सुव्यवस्थित शासन के लिए चिरप्रसिद्ध हैं। ये स्वयं सरस्वती के सेवक थे तथा पंडितों के आश्रयदाता थे। इनकी सभा में छियालिस पंडित रहते थे और ये उन्हें संस्कृत के नाना विषयों में ग्रन्थ लिखने के लिए सदा प्रेरित करते थे। इनके पिता एकोजी ने तो केवल तंजोर राज्य की स्थापना की, परन्तु इन्होंने अपनी सुव्यवस्था से तंजोर में मराठा शासन की प्रतिष्ठा की। इनके बनाये हुए चार ग्रन्थ मिलते हैं जिनके नाम है—शब्दार्थ संग्रह, चन्द्रशेखर विलास (नाटक), अष्टपति (संगीत ग्रन्थ, जो श्रीनिवास के द्वारा शाहजी के प्रशंसा में लिखित शाहराजाष्टपति से भिन्न नहीं है) तथा शब्दरत्न-समन्वय (कोष)।[1]

यह कोष नानार्थ कोष है जिसमें शब्दचयन की एक नवीन प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। सामान्य दृष्टि से अन्तिम वर्णों के अनुसार शब्दों का संग्रह है परन्तु प्रत्येक वर्ग के भीतर अक्षरक्रम से शब्दों का विन्यास किया गया है। उदाहरणार्थ 'क' तृतीय वर्ग में उन शब्दों का संग्रह है जिनमें 'क' तीसरा वर्ण है जैसे जनक, जल्पाक, जम्बुक, कुहक, कुशिक, कूपक आदि। इस वर्ग के भीतर भी अकारादि क्रम के अनुसार शब्द रक्खे गये। यह विशेषता संस्कृत के बहुत कम कोषों में पाई जाती है। इन्होंने क्षकार को अलग अक्षर मानकर, उससे आरम्भ होने वाले शब्दों को अन्त में दिया है। इसमें लगभग साढ़े तीन हजार श्लोक हैं। शब्दों का चयन बहुत ही व्यापक, विशद तथा प्रामाणिक है। एक शब्द के विभिन्न वर्तनी का भी उल्लेख यहाँ किया गया है। इस कोष की रचना स्व० शाहजी ने ही की है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि इसका दूसरा नाम राजकोष भी है। ऐसे सुन्दर कोष की रचना करने के लिए महाराष्ट्र नरेश सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। शाह जी के पूज्य पितृव्य शिवाजी महाराज ने भी व्यवहार में आने वाले फारसी शब्दों का संस्कृत अनुवाद अपने एक बड़े विज्ञ सभापंडित के द्वारा कराया था जिसका नाम

---

१. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, संख्या ४५९; सं० १९३२ ई०।

'राजव्यवहार' कोष है। शाह जी ने भी इसी परम्परा का अनुसरण कर इस विशद कोष की रचना की है।

(१२) अजयपाल—नानार्थसंग्रह।

अजयपाल बौद्ध धर्मावलम्बी थे। इनके समय का निर्देश अवान्तर कोषों के उद्धरण से किया जा सकता है। इनका निर्देश सर्वानन्द (११५६ ई०) ने अपनी अमरटीका में किया है। इससे लगभग बीस वर्ष पूर्व लिखे गये "गणरत्नमहोदधि' (११४० ई०) में इनका सर्वप्राचीन निर्देश मिलता है जिससे स्पष्ट है कि इनका समय बारहवीं शती के मध्य के पूर्व है। इनका 'नानार्थ संग्रह' नामक कोष शाश्वत कोष के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है। इस कोष में लगभग १७३० शब्द हैं। इसमें अव्ययों को अलग न देकर प्रति अध्याय में दिया है।

यह मुख्य कोषकारों का सामान्य परिचय है। इसके अतिरिक्त अनेक कोष अभी तक हस्तलिखित रूप में हैं तथा अनेक कोषों का परिचय केवल उद्धरणों में ही मिलता है। सर्वानन्द तथा उनसे प्राचीन कोष में उद्धृत ये कोषकार १२ वीं शती से प्राचीन हैं—अजपाल ('नानार्थ संग्रह' के कर्ता)' तारपाल, दुर्ग, धनंजय ('नाममाला' के कर्ता), धरणीदास ('अनेकार्थसार' के कर्ता, धरणी कोष या केवल 'धरणी' नाम से भी ख्यात), रन्तिदेव, रभस (या रभसपाल), विश्वरूप, बोपालित, शुभांग (या शुभाङ्क)। अवान्तर कोषकारों की भी सूची थोड़ी नहीं है। पिछले युग में विशिष्ट विषयों को लेकर कोषों की रचना हुई जैसे अक्षर कोष, अन्वय कोष, वर्णभेद सूचक कोष (जैसे महेश्वर का 'शब्दभेद प्रकाश' तथा हलायुध की 'वर्णदेशना' आदि), उणादि कोष आदि। विषय की महत्ता की दृष्टि से वैद्यक तथा ओषधिविषयक कोषों का अपना एक स्वतन्त्र स्थान है। ऐसे कोषों को 'निघण्टु' कहते हैं जिनमें मुख्य ये हैं—(क) धन्वन्तरि निघण्टु—जो नौ खण्डों में विभक्त है तथा क्षीरस्वामी के सम्मति में अमरकोष से भी प्राचीनतर है। अवान्तर निघण्टुओं की रचना इसी के आधार पर हुई है। (ख) माधवकर का 'पर्यायरत्नमाला' या केवल 'रत्नमाला' (समय नवम शती); (ग) पर्यायमुक्तावली (घ) हेमचन्द्र का 'निघण्टु शेष' (जो ६ काण्डों में विभक्त ३९६ श्लोकों का एक परिशिष्ट ग्रन्थ है और जिसमें वृक्ष, गुल्म, लता, शाक, तृण तथा धान्य नामक काण्डों में शब्दों का विभाजन किया गया है; (च) मदनपाल विरचित मदनपाल निघण्टु—इस लोकप्रिय निघण्टु के रचयिता दिल्ली के उत्तर में काष्ठा नामक नगरी में राज्य करते थे। ये पण्डितों के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त स्वयं भी वैद्यक शास्त्र के बड़े विद्वान् थे और इसीलिए ये अभिनव भोज और पण्डित-पारिजात की उपाधि से विभूषित थे। मदन विनोद इस निघण्टु का दूसरा नाम है जिसकी रचना १३७४ ई० में की गई थी। इसमें दो हजार दो सौ पचास श्लोक हैं जो चौदह वर्गों में विभक्त हैं। विषय की व्यापकता के कारण यह कोष वैद्यक में

नितान्त प्रसिद्ध है। औषधियों के नाम तथा गुणों के वर्णन में मराठी भाषा में भी अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं जिससे अनुमान किया जाता है कि इसका रचयिता कोई महाराष्ट्री वैद्य था। (छ) वैद्यवर केशव का बनाया हुआ सिद्धमन्त्र नामक एक छोटा ग्रन्थ है जिसके ऊपर ग्रन्थकर्ता के पुत्र प्रख्यात गोपदेव (१२७०-१३०९ ई०) ने टीका लिखी है। (ज) कैयदेव निघण्टु—इसका असली नाम पथ्यापथ्य विबोधक है। कैयदेव ने इसमें अपना परिचय भी दिया है। ग्रन्थ तो बहुत प्राचीन नहीं है परन्तु विषय की दृष्टि से यह अन्य निघण्टुओं की अपेक्षा बहुत ही समृद्ध तथा पूर्ण है। यहाँ वस्तुओं के गुणदोष का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। मधु के भेद के साथ-साथ उन मक्खियों का भी परिचय दिया गया है जिनके कारण मधु के रूप रंग तथा स्वाद में भिन्नता आती है। (झ) परन्तु निघण्टुओं में सबसे बड़ा निघण्टु है—राजनिघण्टु[1]। जिसके रचयिता काश्मीर निवासी नरहरि नामक वैद्य हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में उपजीव्य ग्रन्थों के नामों में मदन पारिजात का भी उल्लेख है जिससे नरहरि का काल १३७४ ई० पीछे सिद्ध होता है। इस निघण्टु का दूसरा नाम अभिधान-चूड़ामणि भी है। विषय की दृष्टि से यह कोष भी बहुत ही पूर्ण तथा प्रामाणिक माना जाता है।

गत शताब्दी में अंग्रेज के सम्पर्क में आने पर तथा उनके कोषों को देखकर यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि संस्कृत कोष का प्रणयन इसी अर्वाचीन पद्धति पर किया जाय। इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग शब्दकल्पद्रुम नामक प्रख्यात कोष में किया गया है जिसे राजा राधाकान्तदेव ने अनेक पण्डितों की सहायता से अनेक खण्डों में १८२२ तथा १८५८ के बीच प्रकाशित किया। इसमें शब्दों का संग्रह वर्णक्रम से है तथा पुराण, धर्मशास्त्र आदि प्रमाण ग्रन्थों से इतनी आवश्यक सामग्री संकलित है कि इसे संस्कृत का विश्वकोष कहना चाहिये। परन्तु इसमें वैदिक शब्दों का अधिकांश में अभाव है, इसी के ढंग पर दो कोष और बनाये गये—शब्दार्थ-चिन्तामणि (४ भाग; १८६४-१८८५ ई०) सुखानन्दनाथ द्वारा तथा वाचस्पत्य (२० भाग; कलकत्ता, १८७३-१८८४ ई०) तारानाथ तर्कवाचस्पति द्वारा। वाचस्पत्य में वैदिक शब्दों का समावेश है, परन्तु उनकी व्युत्पत्ति अधिकतर कल्पना प्रसूत है। इसी समय में राथ तथा बोर्थलिंक नामक जर्मन विद्वानों द्वारा महान् संस्कृत कोष (संस्कृत वरर्टेरबुख, सेन्ट पीटर्सबर्ग, रूस; १८५२-१८७५) का प्रणयन हुआ जिसमें वैदिक शब्दों का भी पूर्ण समावेश है तथा जिसकी रचना भाषा-वैज्ञानिक रीति पर दी गई है। यह कोष भी पुराना पड़ गया। सैकड़ों वैदिक ग्रन्थों का प्रकाशन इधर अस्सी वर्षों में हो गया है इसलिए इस कार्य की पूर्ति के लिए पूना से एक बृहत्तम संस्कृत कोष आधुनिक प्रणाली के अनुसार प्रस्तुत हो रहा है।

---

१. धन्वन्तरि निघण्टु के साथ प्रकाशित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, १८९६ ई०।

महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा—वाङ्मयार्णव

संस्कृत के विशाल अभिनवकोश का नाम है—वाङ्मयार्णव तथा इसके रचयिता हैं स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर पाण्डेय रामवतार शर्म्मा। शर्म्मा जी (१८७७ ई०–१९२९ ई०) ने इस कोश का प्रारम्भ १९११ ई० में किया और जीवनपर्यन्त इसका विरचन, विश्लेषण तथा परिष्करण करते रहे। कोशविद्या के वे पारंगामी पण्डित थे। निःसन्देह यह वाङ्मयार्णव संस्कृत के प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा अल्पज्ञात, प्रयुक्त तथा अप्रयुक्त शब्दरत्नों का रत्नाकर है जिसके भीतर धीरतापूर्वक गोता लगाने वाले व्यक्ति को निःसन्देह अनमोल शब्द-रत्न हाथ लग सकते हैं जिनका दर्शन भी अन्यत्र दुर्लभ है। कोश का प्रकाशन वाराणसी के प्रख्यात प्रकाशन संस्थान ज्ञानमंडल के द्वारा हुआ है (संवत् २०२३ विक्रमी)।

ग्रंथकार की जीवन-लीला की समाप्ति के ३८ वर्षों के सुदीर्घ व्यवधान के अनन्तर अभी १९६७ ई० में प्रकाशित यह ग्रंथ संस्कृत-साहित्य के इतिहास में उन्हें अमरत्व प्रदान करेगा—यह कोई भी विज्ञ आलोचक बिना किसी संकोच के कह सकता है। यह कोष अमर कोश की श्लोकमयी शैली में निबद्ध पौने सात हजार अनुष्टुपों में समाप्त हुआ है (ठीक संख्या ६७९६ छः हजार सात सौ छानबे)। ग्रंथ के आरम्भ में १६ पद्यों का उपक्रम है तथा अन्त में छः श्लोकों का परिसमापन है। मैं इस कोश को अमरसिंह के 'नाम-लिङ्गानुशासन' की परम्परा का सर्वश्रेष्ठ सार्वभौम ग्रन्थरत्न मानता हूँ। अमर सिंह ने अपने विश्रुत कोश में नाम तथा लिंगों का अनुशासन किया है। संस्कृत के कोष दो प्रकार होते हैं (१) समानार्थक तथा (२) नानार्थक। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत उन शब्दों का संकलन है जो एक ही अर्थ की द्योतना करते हैं, द्वितीय प्रकार के भीतर अनेक अर्थों के संकेतक शब्दों का चयन किया जाता है। पंडित रामावतार शर्म्मा ने इस कोष में द्वितीय रीति का आलम्बन किया है। वैज्ञानिक वर्णक्रम से शब्द-चयन की सिद्धि के कारण इस कोष के ऊपर पाश्चात्य कोषपद्धति की पूरी छाप है। १२०० ई० में केशव स्वामी ने 'नानार्थार्णव संक्षेप' नामक प्रख्यात कोष के संकलन में वर्ण क्रम का ही आश्रय लिया था, परन्तु वह केवल शब्द के आरम्भ ही तक सीमित था, शब्दों के भीतर वर्णक्रम का आदर नहीं किया गया है। परन्तु इस 'वाङ्मयार्णव' में शब्दों का चयन नितान्त वैज्ञानिक रीति से समग्रतया वर्णक्रम-पद्धति पर किया गया है। और यह महती विशेषता इसका वैलक्षण्य सद्यः घोषित कर रही है। शब्द प्रथमान्त में अपने विशिष्ट लिंग में प्रयुक्त हैं तथा अर्थ की द्योतना के लिए सप्तमी का प्रयोग है जैसे संस्कृत के अन्य कोशों में किया जाता है। लिंग की विशिष्ट सूचना के लिए पुं ना, स्त्री, अस्त्री नपुं, तथा क्लीο संकेतों का प्रयोग प्रचुरता से यहाँ किया गया है। शर्म्माजी की प्रतिभा के समान उनकी मेधाशक्ति भी अलौकिक थी। फलतः अनेक कोष उनकी जिह्वा पर नाचा करते थे। यही कारण है कि इस कोष में अर्थों की समग्रता, सम्पूर्णता तथा विस्तृति

पर कोषकार का विशेष आग्रह लक्षित होता है। द्वितीय वैशिष्ट्य है—वैदिक शब्दों का लौकिक शब्दों के साथ समुचित सन्निवेश। निघण्टु तथा निरुक्त वैदिक शब्दों के ही कोश हैं। अमर तथा विश्व लौकिक शब्दों के चयनकर्ता हैं। अवश्यमेव यादवप्रकाश (१२ शती) की 'वैजयन्ती' इसका अपवाद है, क्योंकि उसमें वैदिक शब्दों का भी चयन है। परन्तु इसमें भी वैदिक शब्द अपेक्षाकृत न्यून हैं। इस न्यूनता की पूर्ति उभयविध शब्दों के संकलन से इस अभिनव कोश ने कर दी हैं। ग्रन्थकार इसे 'कोश' न कहकर 'विश्वविद्या' (इनसाइक्लोपीडिआ; विश्वकोष) कहते हैं। उनकी कामना थी कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति के संग में उसके प्रयोगस्थलों का पर्याप्त निर्देश किया जाय तथा आवश्यक होने पर ऐतिहासिक तथा भौगोलिक सामग्री भी प्रस्तुत की जाय। पण्डित रामावतारजी की मेधाशक्ति विलक्षण थी। एक बार पठित अथवा श्रुत श्लोक उनके हृत्पटल पर सर्वदा के लिए अंकित हो जाते थे—इतनी दृढ़ता से कि वे भूले भी नहीं भुलाये जा सकते थे। कविप्रयोगों के वे स्वयं कोश थे। श्रीमद्भागवत को छोड़ कर 'कशिपु' (=सेज) शब्द का प्रयोग लौकिक संस्कृत में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता—उनका यह कथन आज भी यथार्थ है। 'कशिपु' शब्द वैदिक है और शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त भी है, परन्तु भागवत का यह पद्यांश

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः
बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्?

इसका लौकिक संस्कृत में एकमात्र दृष्टान्त माना जा सकता है। संस्कृत साहित्य के लिए यह अपूरणीय क्षति है कि वे इस कोष को अभीष्ट रूप में प्रस्तुत तथा समाप्त नहीं कर सके। सुनते है कि उनकी कुछ भाषाशास्त्री टिप्पणियाँ अवश्य उपलब्ध हुई हैं जो कारणवश इस संस्करण में नहीं दी जा सकीं। कोश की इस विशिष्टता का वर्णन स्वयमेव ग्रन्थकार ने उपक्रम के सप्तम अष्टम तथा नवम श्लोकों में इस प्रकार किया गया है—

वर्णानुक्रमविन्यस्तैर्लोकवेदोभयोद्धृतैः ।
पद्यबद्धैः सपर्यायैर्नानार्थैर्घटितो महान् ॥ ७ ॥
विशेषशास्त्रायुर्वेदप्रभृतीनां पदैर्युतः ।
सोपयुक्तोदाहृतिभिष्टिप्पणैः समलंकृतः ॥ ८ ॥
सचित्रः प्रचुरावाच्यवैज्ञानिकपदोच्चयः ।
परिशिष्टैश्च बहुभिः कोष एष परिष्कृतः ॥ ९ ॥

यदि इन समस्त गुणों से सम्पन्न होकर यह कोश परिष्कृत होता, तो निःसन्देह यह संस्कृत भाषा का सर्वश्रेष्ठ विश्वकोश होता। परन्तु काल के दुर्विलास से यह हो न सका। तथापि केवल एक ही मानव की प्रतिभा तथा परिश्रम का प्रदर्शक यह ग्रन्थरत्न अपने वैलक्षण्य तथा सम्पूर्ति के लिए सदा स्मरणीय तथा उल्लेखनीय रहेगा।

शर्माजी ने मान्य कोष ग्रन्थों में वैजयन्ती, मङ्ख, अनेकार्थकैरवाकर-कौमुदी, नानार्थार्णव-संक्षेप, अभिधान-चिन्तामणि, राजनिघण्टु, कल्पद्रु कोश तथा शर्मण्य-संग्रहों का नाम्ना उल्लेख किया है (उपक्रम श्लोक १२-१६)। ये सब प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं और अपने विषय में प्रमाणभूत हैं। 'वैजयन्ती' श्री रामानुजाचार्य के विद्यागुरु यादवप्रकाश की रचना है (समय १२ शती)। मङ्ख का 'अनेकार्थ-कोष' काश्मीरी कवियों के प्रयोगों का महान् आकर है (१२ श०) 'अनेकार्थ-कैरवाकर-कौमुदी' हेमचन्द्र के 'अनेकार्थ संग्रह' की महेन्द्रसूरि रचित टीका है जो वास्तव में ग्रन्थकार के नाम से न होकर उनके गुरु हेमचन्द्र के ही नाम्ना प्रख्यात है। 'अभिधान चिन्तामणि' (समानार्थ शब्दों का बृहत् कोश) हेमचन्द्र का ही गरिमामय ग्रन्थ है। 'राजनिघण्टु' आयुर्वेदशास्त्र का प्रमुख निघण्टु है। 'नानार्थार्णव संक्षेप' केशव स्वामी की तथा 'कल्पद्रु कोष' केशव की लब्धवर्ण कृतियाँ हैं। 'शर्मण्यसंग्रह' जर्मन विद्वान् राथ तथा बोथलिंक के प्रख्यात कोषों का संकेतक है। रत्नाकर, मल्ल; सोमदेव तथा भारवि के कृतियों के निरीक्षण को भी वे आवश्यक मानते हैं। (श्लोक १६)। इनमें हरविजय के कर्ता रत्नाकर, कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव तथा किरातार्जुनीय के लेखक भारवि तो अपनी रचनाओं के लिए प्रख्यात ही हैं। परन्तु 'मल्ल' नाम से किसका संकेत है ? भूमिका के लेखक 'वात्स्यायन नागमल्ल' की ओर संकेत मानते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में यह संकेत-कल्पना यथार्थ नहीं हैं। शर्माजी का संकेत इस नाम की ओर प्रतीत नहीं होता। इस लेखक के ग्रन्थ 'कामसूत्र' में विरल प्रयोग वाले शब्दों की सत्ता होने पर भी यह अनुमान ठीक नहीं है। इस ग्रन्थ का **'मूलकारिका'** ऐसा विलक्षण शब्द है जिसके यथार्थ के विषय में सब कोष मौन हैं। परन्तु टीका जयमंगला के अनुसार इस दुरूह शब्द का अर्थ है 'वशीकरण करनेवाली स्त्री' (**वशीकरणेन मूलेन या कर्म करोति सा; कामसूत्र पृ० २०१, काशी संस्करण**)। शर्म्माजी के दृष्टिपथ से यह विलक्षण शब्द ओझल नहीं हो सकता था, यदि 'कामसूत्र' का विश्लेषण किया गया रहता। मेरी दृष्टि में मल्ल से अभिप्राय भट्टमल्ल से है जिनका प्रख्यात ग्रन्थ आख्यातचन्द्रिका कोषकारों के लिए एक संग्रहणीय रत्न है।

पण्डित रामावतार जी ने शब्द विशेष के ऊपर होने वाले वैमत्य को भी अपने कोश में भली-भाँति दिखलाया है। प्राचीन कोषकारों ने किसी शब्द को लेकर जो मीमांसा की है उससे वे भली-भाँति परिचय रखते हैं और तत्तत् स्थान पर निर्देश भी करते हैं। 'लाजा' शब्द को ही लीजिए। हिन्दी में इसका अर्थ है आग में भूजा गया धान अर्थात् धान का लावा। इस शब्द के विषय में कोषकारों के विभिन्न मत हैं। 'लाजाः पुंभूम्नि चाक्षताः' (अमर) से प्रतीत है कि अमर की दृष्टि में यह पुलिङ्ग है तथा बहुवचन में प्रयुक्त होता है। सर्वानन्द की अमर टीका में उद्धृत विक्रमादित्य के संसारावर्त कोष के अनुसार यह शब्द स्त्रीलिङ्ग भी है तथा एकवचनान्त भी—

लाजाः पुंसि बहुत्वे वा स्त्रियां लाजापि चाक्षतम्।
(अमर २।९।४६ की टीका)

अन्य कोष में यह क्लीव लिंग भी भिन्नार्थ में है। इन समस्त विमतियों का परिष्कार देखिये इस कोश में—

लाजं क्लीबमुशीरेऽथ स्त्रियां पुंभूम्नि चाक्षते।
भृष्टधान्येऽपि च स्त्रीत्वे किं वा पुंभूम्नि कस्यचित्॥

यह श्लोक 'लाज' शब्द के तीनों लिंगों में प्रयोग तथा विभिन्न अर्थों को स्पष्ट द्योतित करता है। 'धाना' शब्द की विलक्षणता अमर के इस वचन से सद्यः प्रतीत नहीं होती कि यह बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है—'धाना भृष्टयवे स्त्रियः' (२।९।४७) परन्तु शर्म्मा जी ने अनेक अर्थों के साथ इस वैलक्षण्य को स्पष्ट कर दिया है—भूम्नि भृष्टयवेऽप्येवं स्थूले तच्चूर्णकेऽपि च (पृ० २०७; श्लो० २८०५)। कोष के साथ प्रकाशित अनुक्रमणी से प्रतीत होता है कि इसमें बीस हजार शब्द उपन्यस्त हैं। यदि चार शब्दों के द्वारा अर्थ की द्योतना मान लें, तो पूरे कोश में पाँच सहस्र मौलिक शब्द हैं जो वर्णानुक्रम की वैज्ञानिक पद्धति से यहाँ विन्यस्त हैं। यह नानार्थक कोश है अर्थात् अनेकार्थ वाले शब्दों का ही यहाँ संकलन है। फलतः एकार्थक शब्दों को बुद्धिपूर्वक नहीं रखा गया है। शब्दविशेष के नाना अर्थों का ही यहाँ विवरण नहीं है, प्रत्युत उसके लिङ्ग-वचन का वैलक्षण्य भी उद्घाटित किया गया है। यह उद्घाटन प्राचीन कोषों के आधार पर हैं, परन्तु इसमें शर्म्माजीके विशाल अध्ययन तथा विशद अनुशीलन का भी परिणत फल पदे-पदे उपलब्ध होता है। पण्डित रामावतार जी को भाषाशास्त्रीय टिप्पणों के संकलन का अवसर नहीं मिला; नहीं तो यह कोष वास्तव में अद्वितीय ही होता। उनके अन्तेवासी होने की दृष्टि से लेखक पण्डित जी के भाषाशास्त्रीय वैदुष्य तथा अलौकिक प्रतिभा से पूर्णतः परिचय रखता है। फलतः केवल दो शब्दों के विषय में उनके गम्भीरार्थक टिप्पणों का आदर्श प्रस्तुत कर रहा है जिन्हें वे अवश्य लिखे रहते।

धेनु—यह शब्द सद्यः प्रसूता गौ के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु इसके अन्य विलक्षण प्रयोग संस्कृत भाषा में उपलब्ध होते हैं। किसी भी पशु के स्त्री-व्यक्ति के प्रदर्शनार्थ भी उस शब्द के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। इसका मूल अर्थ है पयस्विनी गौः, तदनन्तर गोमात्र में इसका प्रयोग विस्तृत हो गया। इसके अनन्तर स्त्रीमात्र का वाचक बन गया। यथा अश्वधेनु=अश्वा (घोड़ी), गजधेनु-हस्तिनी (हथिनी) आदि। खड्ग धेनु, गोधेनु तथा वडवा धेनु आदि शब्दों में धेनु शब्द स्त्रीत्व का ही बोधक है। आंग्ल भाषा में भी इसी प्रकार elephant, rhinoceros आदि शब्दो के साथ प्रयुक्त cow शब्द स्त्रीलिंग का बोधक होता है। कभी-कभी यह शब्द अकेले ही घोड़ी तथा हथिनी का बोधक होता है। मनु-स्मृति का प्रयोग है- यथा धेनुः किशोरेण। यहाँ किशोर (घोड़े का बच्चा, अश्वशिशु)

के संयोग से धेनु शब्द अश्वधेनु का वाचक है स्वयं अकेले ही। **'धेनुका स्त्री करेण्वां तु'** इस केशव-वचन से धेनुका अर्थ करेणू (हस्तिनी) भी है। सामान्य स्त्रीवाची होने से धेनु का प्रयोग किसी पदार्थ के लघु रूप को द्योतित करने के लिए भी संस्कृत में उपलब्ध है। 'चाकू' के लिए प्रयुक्त पर्यायों में अमर-द्वारा निर्दिष्ट **असिधेनुका** विशेष ध्यातव्य है। (**स्यात् शस्त्री चासिपुत्री च छुरिका चासिधेनुका**—अमर २।८।९२)। यहाँ **'धेनुः'** का ही अल्पार्थद्योतक 'धेनुका' शब्द है। **धेनुरेव धेनुका। स्वार्थे कप्रत्ययः।** फलतः 'असिधेनुका' का यथार्थ है—छोटी तलवार = छूरी। यहाँ धेनु या धेनुका शब्द अल्पार्थद्योतन में प्रयुक्त है। दान के अवसर पर गाय का दान न देकर घृत, तिल आदि का गोसदृश आकार बना कर देने का विधान पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में मिलता है। घृतधेनु, तिलधेनु, जलधेनु आदि शब्द ऐसे ही अवसर पर प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार वामा, वामिः वामी—ये तीनों स्त्रीत्व द्योतक शब्द हैं। फलतः **'यथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थम्'** (रघुवंश ५।३२) में कालिदास द्वारा प्रयुक्त उष्ट्रवासी का अर्थ है उष्ट्रस्त्री अर्थात् ऊँटिनी, साँढिनी। प्राचीन काल में शीघ्र गति के लिए सन्देश साँढिनी सवारों के द्वारा भेजे जाते थे। अधिक बलशाली होने से माल ढोने के लिए ऊँटिनी का ही उपयोग किया जाता था। 'वामी' का अर्थ यदि कोशों द्वारा निर्दिष्ट 'घोड़ी' अर्थ ही केवल माना जाय, तो उष्ट्र के साथ उसका मेल नहीं बैठता। फलतः यह शब्द भी धेनु के समान ही स्त्रीमात्र का द्योतक सिद्ध होता है।

पारसीक तैल—इस वाङ्मयार्णव में (पृष्ठ ४४९) यह **शिलाज** शब्द के अर्थ-रूप में दिया गया है। 'पारसीक तैल' तथा 'तुरुष्क तैल' आजकल के किरासन के तेल के लिए संस्कृत भाषा में प्रयुक्त मिलते हैं। 'मंजुश्री-मूलकल्प' (द्वितीय शती) में बुद्ध-मूर्ति के सामने हजार बत्ती वाले दीप जलाने के लिए तुरुष्क तैल के उपयोग की बात कही गयी है। विक्रमांकदेवचरित में विल्हण ने इस शब्द का प्रयोग किया है। इराक सदा से अपने तैल के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन काल से लेकर आज तक इसकी प्रसिद्धि-परम्परा अक्षुण्ण है। फलतः संस्कृत में यह शब्द अपनी उदयभूमि के नाम से प्रख्यात है। आज का अंग्रेजी Kerosene या Kerosine ग्रीक के Korox शब्द से उत्पन्न है जिसका अर्थ है मोम (Wax)। पृथ्वी के भीतर जो मटीली चट्टानें मिलती हैं, उन्हीं के टूटने से यह उत्पन्न होता है। पेट्रोलियम को साफ कर इसे तैयार करते हैं। फलतः संस्कृत भाषा में शिला से उत्पन्न पदार्थ का बोधक 'शिलाज' शब्द इसके यथार्थरूप का पूर्ण परिचायक है—

शिलाजं त्वयसि क्लीवं शिलाजतुनि च स्मृतम्।
स्यात् शिलाकुसुमे पारसीक तैले तथा मतम्॥

वाङ्मयार्णव, पृ० ४४८–४९

पालि कोष

बौद्ध ग्रन्थों के विषय में भी बहुत से विशिष्ट कोष हैं। इस विषय में वे वैदिक निघण्टुओं से अधिक समानता रखते हैं। वे श्लोक-बद्ध नहीं लिखे गये हैं और उनका साक्षात् सम्बन्ध इन्हीं विशेष ग्रन्थों के साथ ही है। ऐसे कोषों में सबसे प्रसिद्ध कोश है **महाव्युत्पत्ति** जो २८४ प्रकरणों में विभक्त तथा लगभग ९००० (नव हजार) शब्दों वाला एक विराट ग्रन्थ है। यह बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के पारिभाषिक शब्दों का ही अर्थ नहीं देता, प्रत्युत पशुओं, वनस्पतियों तथा रोगों आदि का भी उल्लेख करता है। पर्यायवाची शब्दों के अतिरिक्त धातु रूपों का भी उल्लेख करता है। इन दृष्टियों से यह एक विलक्षण कोश है।[1] मोग्गलान की **'अभिधान प्पदीपिका'** पाली कोशों में अत्यन्त लोकप्रिय है। यह बारह शती में लिखा गया था। यह अमर कोश के द्वारा विशेष प्रभावित तथा उसी शैली में निबद्ध व्यावहारिक कोश है। कहीं-कहीं तो अमर के संस्कृत श्लोक पाली में अनूदित कर दिये गये हैं।[2]

प्राकृत कोश

प्राकृत कोशों में सबसे प्राचीन कोश है—धनपाल रचित कोश जिसका नाम है—

(१) **पाियउ-लच्छिनाममाला**—यह कोश ग्रन्थकार ने ९७२ ई० में अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के उपयोग के लिए लिखा था। इसमें केवल २७९ गाथायें हैं। परिच्छेदों में यह विभक्त नहीं है परन्तु इसके चार विभाग किए जा सकते हैं। यह ग्रंथ अपने समय में बहुत ही प्रसिद्ध था और इसका हेमचन्द्र ने अपने देशीनाममाला में बहुश: उपयोग किया है।

(२) **देशीनाममाला**—हेमचन्द्र का यह प्राकृतकोश अपने ढंग का एक बहुत ही सुन्दर तथा रोचक ग्रंथ है। प्राकृत में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—तत्सम (संस्कृत के समान शब्द) तद्भव (संस्कृत से उत्पन्न शब्द), तथा देशी शब्द (प्रान्तीय शब्द) जो पूर्व दोनों प्रकार से भिन्न होते हैं। परन्तु इस कोश में ऐसे शब्द भी आये हैं जो देशीय न होकर तद्भव की कोटि में रखे जा सकते हैं। इसमें आठ अध्याय या वर्ग हैं—जिनमें शब्दों का संग्रह आदि अक्षर के आधार पर किया गया है। पर्यायवाची शब्द के अनन्तर नानार्थ शब्द रखे गये हैं जो उसी अक्षर से आरम्भ होते हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इसके ऊपर टीका[3] लिखी है। ग्रन्थ का नाम 'देशीनाम-माला' होने से यह आशा करना स्वाभाविक प्रतीत होता

---

१. डा० मीनाफ के द्वारा सम्पादित, सेन्टपीटर्स वर्ग की बुद्ध ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

२. गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद से प्रकाशित।

३. बाम्बे संस्कृत सीरीज, पूना तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता से प्रकाशित।

है कि हेमचन्द्र ने केवल संस्कृतजन्य न होने वाले देशी शब्दों का ही यहाँ संग्रह किया है, परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। उन्होंने तद्भव शब्दों का भी यहाँ चयन किया है। इसलिए यह ग्रन्थ प्राकृत शब्दों की भी जानकारी के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होता है। इस कोष के अनुशीलन से उस युग (१२ शती) के लोक-प्रचलित रीति-रिवाजों का भी भली-भाँति ज्ञान होता है। ऐसे कुछ विशिष्ट शब्द इस प्रकार है—

अणंदवड (१।७२)—पति से प्रथम यौवनहरण होने पर स्त्री का रुधिर से छिटा वस्त्र। बान्धवों को आनन्दित करने के कारण यह 'आनन्दपट' कहलाता है। कई जातियों में ऐसे वस्त्र में मिठाई रख कर बिरादरी में बाँटने का रिवाज है।

खिक्खिरी (२।७३)—सूचना देने की घड़ी जिसे नीच जाति वाले धारण करते हैं जिससे लोग उन्हें स्पर्श नहीं करें। फाहियान ने ऐसा ही वर्णन किया है और राजपूताने की कई जातियाँ आज भी अपने सिर पर कौआ या मुर्गे का पंख इसी उद्देश्य से लगाती हैं।

णवलया (४।२१)—एक रस्म जिसमें स्त्री से उसके पति का नाम पूछते हैं और न कहने पर वह पलाशलता से पीटी जाती है (नांव + लया=लेने की क्रिया)।

णीरंगी (४।४१)—सिर ढँकने का वस्त्र, घुंघट। इसका संस्कृतीकरण 'नीरङ्गिका' के रूप में प्रयुक्त भी है। 'आभाणकशतक' में 'नीरंगिका' शब्द प्रयुक्त घूँघट के अर्थ में—'अन्धे श्वसुर के लिए नीरंगिका कैसी ?'

दुद्धोलणी (५।४६)—जो गाय एक बार दुही जाकर फिर भी दुही जा सके।

पोअलअ (६।८१)—आश्विन मास का कोई उत्सव जिसमें पति स्त्री के हाथ लेकर अपूप (पूआ) खाता है।

बहुहाडिणी (७।५०)—एक स्त्री के रहते हुए जो दूसरी स्त्री लाई जाय।

धम्मअ (५।६३)—दुर्गा के सामने पुरुष को मार कर उसके अँग के लोहू से जंगल में धर्मार्थ बलि करने वाले चोर। यह उस समय के ठग प्रतीत होते हैं।

लय (७।१६)—नये विवाहित स्त्री पुरुषों के जोड़े का आपस में नाम लेने का उत्सव।

हिंचिअ (अथवा हिंचिअ ८।६८)—एक टाँग उठाकर एक ही से चलने का बच्चों का खेल। इन विलक्षण शब्दों से उस काल के अनेक रीति रस्म का पता भली-भाँति चलता है। इस विषय में हेमचन्द्र की शब्द-संग्राहिका शक्ति विशेष अनुसन्धान-योग्य है।[1]

इधर जैन विद्वानों ने प्राकृत शब्दों का संचयन दो बड़े ग्रन्थों में किया है—(१) अभिधान-राजेन्द्र-कोश तथा (२) प्राकृत शब्द-महार्णव। अभिधान-

१. ऐसे शब्दों के लिए द्रष्टव्य नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३ सं० १९७९ पृष्ठ ८८-९२।

राजेन्द्र-शब्द कोश न होकर जैन धर्म का विश्वकोश है जिसमें जैनधर्म, दर्शन तथा साहित्य के विषयों के ऊपर प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण के साथ बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है। यह सात खण्डों में दस हजार पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है।[1] **प्राकृत शब्द महार्णव**[2] भी कई खण्डों में विभक्त है तथा लगभग डेढ़ हजार पृष्ठ हैं। यह अकरादि क्रम से निबद्ध है। यह नवीन शैली का कोश है जिसमें प्रयोग-स्थलों का भी निर्देश बड़ी सुन्दरता से किया गया है। ये दोनों कोश अपने रचयिताओं के अश्रान्त परिश्रम, दीर्घ अध्ययन तथा गाढ़ विद्वत्ता के द्योतक हैं।

मुगल काल में संस्कृत का फारसी में अनुवाद अथवा फारसी का संस्कृत में अनुवाद करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस विषय में अनेक कोष तैयार किये गये जिनमें दो-तीन प्रसिद्ध हैं। बिहारी कृष्णदास मिश्र ने अकबर के आदेश से 'पारसीक प्रकाश' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। राजा टोडरमल ने फारसी को राजभाषा बना दी थी जिसमें कागजात लिखे जाते थे। संस्कृत के पण्डितजनों को फारसी में व्यावहारिक दक्षता प्राप्त करने के महनीय उद्देश्य से प्रेरित होकर ग्रन्थकार ने इसकी रचना की। इसके दो भाग हैं—कोश तथा व्याकरण। कोश-प्रकरण में २६६ अनुष्टुप् हैं जिसमें क्रमशः स्वर्ग, दिक्, काल, नाट्य, पाताल, वारि, ब्रह्म, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा विशेषनिघ्न नामक एकादश प्रकरण हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में दिल्ली के बादशाह अकबर की प्रशस्त स्तुति है। ग्रन्थकार बड़ी नम्रता से कहता है कि पारसीक शास्त्र का बिना अध्ययन किये ही उसने इसकी रचना की है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। बिहारी कृष्णदास मिश्र पारसी-व्याकरण तथा कोश दोनों के प्रौढ़ पण्डित हैं। फारसी शब्दों के ही संस्कृत पर्याय दिये गये हैं। यथा—

> माहस्तु मासमात्रे स्याद् ऋतुमात्रे फसल् भवेत्।
> शीतकाले जमिस्तानो वहारः सुरभौ भवेत्॥ १६॥

यह कोश[3] आज भी उपयोगी तथा उपादेय है। रचनाकाल १६ वीं शती का मध्यकाल—अकबर का शासनकाल। वेदांग राय का **पारसी-प्रकाश** १५४७ ई० की रचना है जिसमें फारसी तथा अरबी के शब्दों का संस्कृत अर्थ दिया है। ब्रजभूषण का **पारसी-विनोद** इसी युग की रचना है। महाराज छत्रपति शिवाजी की दृष्टि इस ओर आकृष्ट हुई थी और इसके लिए उन्होंने **राजव्यवहार कोष** का संकलन अपने दरबार के पण्डितों द्वारा कराया था। मराठी में शासन-सम्बन्धी बहुत से शब्द फारसी भाषा से लिये गये हैं। इन शब्दों की पूरी जानकारी के लिए

---

१. रतलाम, मालवा से कई जिल्दों में प्रकाशित (१९१३-१९२५)।

२. कलकत्ता से कई खण्डों में तथा काशी से भी प्रकाशित।

३. संस्कृत सरस्वती भवन ग्रन्थमाला संख्या ६५; प्र० संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६५।

शिवाजी ने यह कोष बनवाया जिसमें उनके अर्थ मराठी तथा संस्कृत में दिये गये हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र का लोक-प्रकाश में भी बहुत से फारसी शब्द आए हैं यह ग्रन्थ कोष तथा अर्थशास्त्र के बीच का है जिसमें केवल शब्दों के अर्थ ही नहीं हैं प्रत्युत दैनिक जीवन के उपयोगी वस्तुओं का भी यहाँ वर्णन है। शाहजहाँ का भी उल्लेख होने से मालूम पड़ता है कि कुछ अंश इनमें सत्तरहवीं शती तक भी जोड़े गये हैं।

कोष विद्या के इस संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय से किसी भी आलोचक को प्रत्यक्ष हुए बिना न रहेगा कि संस्कृत तथा प्राकृत के पण्डितों ने अपने शब्द-भण्डार को विशुद्ध बनाए रखने तथा सुप्रचलित करने के लिए जो प्रयास किए हैं वे सर्वदा स्तुत्य है। कोष का इतना प्राचीन परिचय चीनी भाषा को छोड़कर और अन्य भाषा में नहीं है।

नवीन कोश

अंग्रेजी भाषा के सम्पर्क में आने पर बंगाल के पण्डितों ने विषयों के निर्देशों से सम्पन्न विशिष्ट कोषों का संकलन संस्कृत में किया। १९वीं शती से संस्कृत कोष का प्रणयन इसी अर्वाचीन पद्धति पर किया गया। इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग शब्दकल्पद्रुम नामक प्रख्यात-कोष में किया गया है जिसे राजा राधाकान्तदेव ने अनेक पण्डितों की सहायता से अनेक खण्डों में १८२२ ई० तथा १८५८ई० के बीच प्रकाशित किया। इसमें शब्दों का संग्रह वर्णक्रम से है तथा पुराण, धर्मशास्त्र आदि प्रमाण-ग्रन्थों से इतनी आवश्यक सामग्री संकलित है कि इसे संस्कृत का विश्वकोष कहना चाहिए। परन्तु इसमें वैदिक शब्दों का अधिकांश में अभाव है। इसी के ढंग पर दो कोष और बनाये गये—शब्दार्थ चिन्तामणि (४ भाग; १८६४-१८८५ ई०) सुखानन्द-नाथ द्वारा। तथा वाचस्पत्य (२० भाग; कलकत्ता, १८७३-१८८४ ई०) तारानाथ तर्कवाचस्पति द्वारा। वाचस्पत्य में वैदिक शब्दों का समावेश हैं, परन्तु उनकी व्युत्पत्ति अधिकतर कल्पना-प्रसूत है। इसी समय में राथ तथा बोथलिंक नामक जर्मन विद्वानों द्वारा महान् संस्कृत कोष (संस्कृत वरटेंरबुख, सेन्ट पीटर्सबर्ग, रूस; १८५२—१८७५ ई०) का प्रणयन हुआ जिसमें वैदिक शब्दों का भी पूर्ण समावेश है तथा जिसकी रचना भाषा वैज्ञानिक रीति पर दी गई है।

जर्मन विद्वानों ने अनेक पण्डितों के साहाय्य से शब्दों के प्रयोग-स्थलों का ही निर्देश नहीं किया है, प्रत्युत शब्दों के अर्थविकास अंकित करने का भी श्लाघ्य प्रयास किया है। उस समय तक प्रकाशित तथा अप्रकाशित समस्त संस्कृत ग्रंथों का विधिवत् अनुशीलन कर इस विशाल कोश की रचना की गई है। है तो यह अनेक विद्वानों का सामूहिक प्रयास, तथापि डा० राथ ने वैदिक शब्दों का तथा डा० बोथलिक ने वैदिकेतर शब्दों का विवरण शुद्ध भाषाशास्त्रीय पद्धति पर देने का महनीय कार्य किया। डा० बोथलिंक ने इसका एक संक्षिप्त संस्करण जर्मन में

प्रकाशित किया जिसमें अनेक नवीन शब्दों का संग्रह है। डा० मोनियर विलियम्स ने अपना संस्कृत-अंग्रेजी कोष भी बड़े परिश्रम तथा अनुशीलन के बाद प्रस्तुत किया। यह कोष आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी (इंगलैण्ड) के द्वारा प्रकाशित है। शब्दों के चयन में तथा अर्थनिर्देश में बड़ा परिश्रम किया गया है। प्रयोगस्थलों का निर्देश न होना, खटकता है। यह कोष भी पूर्वोक्त जर्मन संस्कृत कोष के आधार पर विरचित है अथवा उसके द्वारा बहुश: प्रभावित है—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। भारतवर्ष में पण्डितवर्य वामन शिवराम आप्टे द्वारा निर्मित संस्कृत कोष बहुत ही उपादेय है छात्रों तथा पण्डितों दोनों के लिए। हाल में ही उसका नवीन संस्करण तीन खण्डों में पूना से प्रकाशित हुआ है। शब्दों के प्रयोगस्थलों का उद्धरण तथा उनके नानार्थों का विवरण देना इसका श्लाघनीय वैशिष्ट्य है। इसके खण्ड-त्रयात्मक नवीन संस्करण में नवीन शब्दों का संकलन है।

संस्कृत का आधुनिक विशालतम कोष

अब तक उल्लिखित ग्रन्थों की अपेक्षा संस्कृत भाषा का विशालतम कोष पूना से प्रकाशित हो रहा है। इस कोष का अंग्रेजी में नाम है—An Encyclopaedic Dictionary of Sanskrit on Historical Principles। हिन्दी में इसका अर्थ है "ऐतिहासिक तथ्यों पर आश्रित संस्कृत भाषा का विश्वकोषीय अभिधान" अभीतक इसके लगभग तीन ही खण्ड लम्बे-लम्बे १६५० पृष्ठों में प्रकाशित हुए हैं। इस कोश के प्रकाशन का भी अपना इतिहास है। यह प्रकाशन पूना के डेकन कालेज अन्वेषण संस्थान तथा पूना विश्वविद्यालय के सम्मिलित प्रयास का फल है। इस कोष की कल्पना तथा संरचना का श्रेय देना चाहिये डा० एस० एम० कात्रे को जिन्होने १९४८ ई० में इस कोष के बनाने का प्रथम प्रयास किया। उन्हीं की देख-रेख में शब्दों के चयन का तथा अर्थ-निर्देश का कार्य आरम्भ हुआ। वे ही इसके प्रथम संपादक बने। इस कोष में शब्द-चयन के स्रोत बहुत ही अधिक हैं। ऊपर निर्दिष्ट आप्टे का परिवर्धित तीन खण्ड वाले कोष के आधार-स्रोत संस्कृत के २२५ ही ग्रन्थ। मोनियर विलियम्स के कोश में (जिसका प्रकाशन १८७२ ई० में हुआ था) ५१५ संस्कृत ग्रन्थों से शब्दों का चयन किया गया है। पूना वाले कोश में मूल ग्रन्थों की संख्या १,५०० से कम नहीं है। इन्हीं ग्रन्थों से शब्दों का चयन बड़े विस्तार, परिश्रम तथा निष्ठा के साथ किया गया। १९६८ ई० में पता चला कि यह मूल योजना व्यावहारिक नहीं है। फलत: इस योजना के संक्षिप्त करने का कार्य १९६८ से १९७१ ई० तक चलता रहा। इस कोश के प्रथम खण्ड का प्रकाशन १९७६ से ७८ ई० में जाकर सम्पन्न हुआ। इस कोष का क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। उद्देश्य यह है कि संस्कृत के ग्रन्थों में प्रयुक्त समस्त शब्दों का संकलन एकत्र किया जाय। इसलिये समग्र वेद, पुराण, लौकिक-संस्कृत-साहित्य, (काव्य, नाटक, ललित-

कला आदि) तथा विशिष्ठ शास्त्रों के ग्रन्थ से (जैसे—आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण, संगीत, वैज्ञानिक ग्रन्थ आदि) शब्दों का चयन किया गया है। ऐसा कोई शब्द इसमें नहीं है जिसका प्रयोग संस्कृत में न हुआ हो। फलतः ५० से अधिक शास्त्रों के पूरे पारिभाषिक शब्दों का संकलन इसकी महती विशेषता है। अबतक प्रकाशित खण्डों के परीक्षण से ही ग्रन्थ की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। अबतक 'अ' लेकर 'अध्रौव्य' तक ही अंश सोलह सौ पृष्ठों में सम्पन्न है, पूरा अकारादि शब्दों का भी सन्निवेश नहीं हो पाया है। शब्दों की संख्या अस्सी हजार के लगभग पहुँच गई है। पूरा लक्ष्य बीस लाख शब्दों के चयन का निर्धारित किया गया है। संस्कृत भाषा के द्वारा वर्णित कोई भी विषय यहाँ असन्निविष्ट नहीं है। इस कोष के देखने से बड़े विचित्र शब्द, प्रयोग तथा अर्थ का संकलन किसी भी गवेषक को आश्चर्य में डालने के लिए पर्याप्त है। प्रत्येक मौलिक शब्द का निवर्चन—प्राचीन भारतीय पद्धति तथा नवीन भाषा शास्त्रीय विधि - दोनों को एक साथ मिलाकर निश्चित किया गया है अनेकार्थक शब्दों के अर्थों का विश्लेषण बड़ी पैनी भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विद्वत्ता के साथ किया गया है जिसमें दिखलाया गया है कि अनेकार्थों में कौन मौलिक अर्थ हैं और कौन अर्थ धीरे-धीरे विकसित तथा पल्लवित होते गये हैं। विकास के क्रम का भी निर्देश है। इस कार्य में सैकड़ों भाषा वैज्ञानिकों का अदम्य उत्साह, गम्भीर गवेषणा तथा मौलिक सूझ का उपयोग करने वाला यह संस्कृत शब्दाभिधान वास्तव में अनेक विश्वकोषों का सम्मिलित रूप है। अग्र शब्द (पृ० ४४७) के १८ अर्थ दिये गये हैं जिनका विकाश क्रम से संकलन है। उद्धरणों के संग में इन विविध विलक्षण अर्थों की संगति दिखलाई गई है। अग्र से निष्पन्न हजारों समास-युक्त शब्दों का संकलन उदाहरणों के साथ (जिसमें ग्रन्थ, प्रकरण तथा पृष्ठ आदि का पूरा संकेत दिया गया है) यहाँ दिया गया है।

सहस्रों अप्रचलित व्यवहारबहिष्कृत शब्दों का चयन आश्चर्य में डालने वाला है। समस्त प्रामाणिक कोषों की भी सहायता अर्थ-निर्णय में ली गई है, विशेषतः ग्रन्थ के टीकाकारों का साहाय्य अनुपम तथा नितान्त श्लाघनीय है। देवसेनाचार्य के 'अलंकारचिन्तामणि' (२२।१८) के 'अककै मोहो नष्टः' में प्रयुक्त 'अकक' शब्द के दो अर्थों का ज्ञान हमें ग्रन्थ के प्राचीन टीकाकार की सहायता से ही होता है। इसका शब्द है—(१) अकति=कुटिलं चरतीति अकः (कुटिलमार्ग से चलने वाला) कः च (ब्रह्मा)। फलतः इस शब्द का तात्पर्य है—वह ब्रह्मा, जिसकी क्रिया-कलापों का ज्ञान नितान्त अज्ञेय है। (२) कको लौल्यम् (कक् लौल्ये धातु से निष्पन्न) न यस्य असौ अककः मुनिः (=लौल्य दोष से निर्मुक्त मुनि)। कक् लौल्ये धातु से ही तो 'काकः' शब्द भी निष्पन्न होता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण १।१०।१३३ का यह श्लोक 'अग्रदानी' का अर्थ निश्चित करता है कि शूद्रों से

अथवा मरे हुए व्यक्ति के निमित्त दान लेने वाला व्यक्ति ही 'अग्रदानी' कहलाता है—

लोभी विप्रश्च शूद्राणामग्रे दानं गृहीतवान्
ग्रहणे मृतदानामग्रदानी बभूव सः ॥

अगोष्पद शब्द का अर्थ 'ऋक्तन्त्रा' के प्रमाण पर 'अनुचित' है—अगोष्पदमयं ब्राह्मण: पानागारं सेवते ।

अगोष्ठश्व जैसे विलक्षण शब्द का अर्थ है—वह व्यक्ति जो केवल शब्दों के द्वारा अपनी शूरता नहीं दिखलाता, बल्कि कार्यत: सिद्ध करता है ।

आशंका यही है कि इसके पूरा होने में तथा समग्र प्रकाशन में अनेक दशक वर्षों के बीत जायेंगे, तब कहीं यह महाकोश अपनी परिणति पर आवेगा ।

३ : १३

विविध चारु-चर्चा

(क)

पाणिनि के समय में लेखन-कला

महर्षि पाणिनि के समय में आर्य लोग लेखन कला से अभिज्ञ थे या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है जिस पर पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने बहुत विवेचन किया है। कुछ लोगों की सम्मति है कि उस समय यह कला नहीं थी, परन्तु कुछ पण्डितों ने विशेष खोज करके प्रमाण एकत्र किये हैं कि उस समय लेखन-कला विद्यमान थी। प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित मैक्समूलर ने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि मुझे पाणिनि की अष्टाध्यायी में ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जिससे उस समय में लेखन-कला के प्रचलित होने का अनुमान किया जा सके। परन्तु प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् गोल्डस्टुकर ने 'पाणिनि और संस्कृत साहित्य में उनका स्थान' नामक ग्रन्थ में यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि पाणिनि के समय में आर्य-संतान लेखन-कला से अभिज्ञ ही नहीं थे, वरन भिन्न-भिन्न विषयों पर ग्रन्थ भी लिखे जाते थे। वैदिक काल से ही आर्यों में लिखने की प्रणाली प्रचलित थी। यदि ऐसा न होता, तो ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखने की कल्पना कभी न हो सकती। संहिताओं में अंकशास्त्र की विशेष उन्नति, छन्दः-शास्त्र के जटिल नियम, व्याकरण-शास्त्र का उद्भव, ब्राह्मण जैसे बृहत् ग्रन्थों की सत्ता—ये सब वैदिक-कालीन[1] लेखन-प्रणाली के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

महर्षि पाणिनि के समय में भी यह कला अवश्य विद्यमान थी। इस विषय में अष्टाध्यायी से प्रमाण खोजकर नीचे दिये जाते हैं:—

(१) दिवा विभा——लिपिलिवि ......अरुःषु (३-२-२१) सूत्र में पाणिनि ने 'लिपि' तथा तत्समानार्थक 'लिबि' शब्दों का प्रयोग किया है। 'लिपिकरः' का अर्थ लिखने वाला होता है।

(२) 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' (४।१।४९) सूत्र के द्वारा पाणिनि ने 'यवनानी' शब्द की सिद्धि बतलाई है। यवनानी के विषय में कात्यायन ने लिखा है—'यवनाल्लिप्याम्'। यवनानी शब्द का अर्थ होता है यवनों की लिपि। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसका यही अर्थ स्वीकृत किया है। अतः सिद्ध होता है कि पाणिनि यवनों की लिपि से अवश्य परिचित रहे होंगे।

---

१. विशेष जानने के लिये रा० ब० गौरीशंकर हीराचन्द्र जी ओझा लिखित 'प्राचीन लिपिमाला' (द्वितीय संस्करण) का आरम्भिक परिच्छेद देखिए।

(३) पाणिनि ने 'लोप' शब्द का प्रयोग किया है तथा उन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—'अदर्शनं लोपः' (१।१।६०), अर्थात् जो न दिखाई पड़े उसे लोप कहते हैं। लोप हो जाने पर वह वर्ण दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु इसके पहले वह दृष्टिगोचर था। लिखे हुए वर्ण ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतः अक्षर लिखे जाते थे और लोप हो जाने पर वे वर्ण काट कर हटा दिये जाते थे जिससे वे दिखाई नहीं पड़ते थे। 'लोप' की इस परिभाषा से भी तत्कालीन लेखन-कला सिद्ध होती है।

(४) पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'स्वरित' नामक चिह्नों का प्रयोग किया है; 'स्वरितेनाधिकारः' (१।३।११) इस सूत्र का अर्थ है कि जिनके साथ स्वरित चिह्न लगा हुआ है उन्हीं का अधिकार होता है। व्याकरण को संक्षिप्त बनाने के लिए यह एक आवश्यक युक्ति है। जिन पदों की आवश्यकता कतिपय सूत्रों में होती है उनको प्रत्येक सूत्र के साथ जुड़े रखने से सूत्र बड़े हो जाते हैं। इस विस्तार को दूर करने के लिए पाणिनि ने कुछ अधिकार-सूत्रों की रचना की है। जिन पदों की आवश्यकता कुछ सूत्रों के साथ है उनको एक विशेष सूत्र में रख दिया है जिससे उनका सम्बन्ध उन अभिलषित सूत्रों में हो जाता है। ये अधिकार-सूत्र स्वरित-युक्त होते थे। अब स्वरित शब्द की विवेचना होनी चाहिये कि यह है क्या ? काशिका में लिखा है- -'स्वरितो नाम स्वरविशेषो वर्णधर्मो न स्वरधर्मः।' ऊँचे स्वर तथा धीमे स्वर के बीच वाले स्वर को स्वरित कहते हैं। (समाहारः स्वरितः)। काशिकाकार की सम्मति है कि स्वरित चिह्न है, स्वर-धर्म नहीं है, क्योंकि कैयट ने लिखा है कि सूत्रों का उच्चारण एक ही स्वर से होता है (एक-श्रुत्या सूत्राणां पाठात्); यह नहीं होता कि किसी सूत्र में स्वरित स्वर हो और किसी में उदात्त या अनुदात्त। इस पर महाभाष्यकार ने शंका उठाई है कि उन सूत्रों की संख्या का पता कैसे लगेगा जिनमें उस पद की अनुवृत्ति होगी। फिर इस शंका का समाधान कात्यायन के इन वचनों को लिख कर किया है—

'यावतिथोऽलनुबन्धाः तावतो योगानिति वचनात् सिद्धम्।'

अर्थात् जितने सूत्रों में पद का अधिकार होगा उस संख्या का सूचक-वर्ण उस अधिकार-सूत्र पर लिखा रहेगा। कैयट ने उदाहरण देकर इस नियम को समझाया है यथा 'द्वित्रिपूर्वान्निष्कात्' (५।१।३०। सूत्र का अधिकार केवल दो ही सूत्रों में होता है, अतः इस सूत्र पर 'इ' का अनुबन्ध लगाया गया होगा। 'इ' वर्णमाला का दूसरा अक्षर होने से २ संख्या का द्योतक है। अतः इसका अनुबन्ध सूचित करता है कि अधिकार केवल दो सूत्रों में है। परन्तु जहाँ सूत्रों की संख्या वर्णमाला के अक्षरों (अल्) से अधिक है वहाँ अधिकार-सूत्र में स्वरित-चिह्न का प्रयोग न करके 'प्राक्' शब्द का प्रयोग हुआ है। (भूयसि प्राग्वचनम्—कात्यायन) जैसे प्राग्रीश्वर निपाताः (१।४।५६) अधिकार सूत्र है। इसका अर्थ है कि रीश्वर शब्द जिस

सूत्र में आवे उसके पहले तक इसका अधिकार चलता है। इस सूत्र के कुछ बाद 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (३।४।१३) सूत्र है जिसमें 'ईश्वर' के होते हुए भी 'रीश्वर' शब्द के न रहने से पूर्वोक्त सूत्र का अधिकार नहीं जाता, परन्तु 'अधिरीश्वरे' (१।४।५६) सूत्र में 'रीश्वर' शब्द के होने से इसके पहले सूत्र तक अधिकार जाता है। यदि पाणिनि के समय में लिखे हुए सूत्र विद्यमान न होते तो क्या यह संभव था कि ऐसा जटिल नियम बनाया जाता ? क्या मुखस्थ किये गये सूत्रों से यह पता लग सकता है कि 'रीश्वर' शब्द किसमें है और 'ईश्वर' किसमें। सच तो यह है कि पाणिनि ने स्वलिखित अष्टाध्यायी अपने सामने रखी थी, फिर उन सब सूत्रों के मिलान करने पर पूर्वोक्त अधिकार सूत्र की रचना की थी।

(५) 'कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणि' आदि (६।३।११५) सूत्र से पाणिनि ने 'पञ्चकर्णी' और 'अष्टकर्णी' शब्दों की सिद्धि की है। इस सूत्र में 'लक्षण' शब्द आया है। इसका अर्थ है 'चिह्न'। अपनी-अपनी गायों की पहचान के लिये ग्वाले लोग गायों के कान पर ५ या ८ के चिह्न बना दिया करते थे। ऐसी ही गायों को पञ्चकर्णी या अष्टकर्णी कहते थे। इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि जानवरों के कानों पर स्रुव या स्वस्तिक के चिह्न भी बनाये जाते थे। द्यूत के खेल में पाशों पर १, २, ३, ४ के चिह्न बनाये जाते थे जिससे जय या पराजय की सूचना मिलती थी। 'अक्षशलाकासंख्या-परिणा' (२।१।१०) सूत्र से पाणिनि ने एकपरि, द्विपरि आदि पदों की सिद्धि बतलाई है। 'एकपरि' पद का अर्थ कौमुदी के तत्त्वबोधिनी टीकाकार ने इस प्रकार किया है—'एकेन विपरीतं वृत्तम्' अर्थात् यथापूर्वं जये वृत्तं तथा न वृत्तम् अर्थात् पहले जय में जैसा हुआ था वैसा नहीं हुआ, क्योंकि एक (अंकवाले) पाशे के कारण पराजय हो गया। इससे सूचित होता है कि पाणिनि-काल में भी द्यूत[1]-क्रीड़ा की प्रणाली वैदिक काल

१. द्यूत वैदिक आर्यों की बड़ी मनोरंजक सामग्री थी। समय-समय पर वे इस खेल से आनन्द उठाया करते थे। परन्तु धीरे-धीरे सर्वसाधारण इधर अधिक अनुरक्त होने लगे। कृषि छोड़ द्यूत के व्यसन में रात-दिन फँसने लगे। वैदिक ग्रन्थों में इससे बचने के लिए शिक्षा दी गई है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०८ वें सूक्त में खेल में सर्वस्व हारे हुये जुआरी की शोचनीय दुरवस्था का विशद वर्णन पाया जाता है। उसी सूक्त में जुआरी कह रहा है—

अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्।

अर्थात् एक चिह्न वाले कलि पाशे के कारण मैंने अपनी पतिव्रता नारी को छोड़ दिया है। ४ अंक का चिह्न जिस अक्षर पर था उसे 'कृत' कहते थे और वह जय का सूचक था। परन्तु १ अंक वाला कलि कहलाता था जिसके पड़ने पर हार होती थी। २ अंक वाले पाशे को द्वापर तथा ३ अंक वाले को त्रेता कहा करते थे।

के समान ही थी। पशुओं के कानों पर तथा जुयें के पाशों पर अंकों का लिखा जाना सप्रमाण सिद्ध कर रहा है कि पाणिनि के समय में लेखन-कला से आर्यजन अभिज्ञ थे।

(६) ऊपर जो प्रमाण दिये गये हैं वे केवल लिपिशब्द तथा अंकों के द्वारा लेखन-शैली की सत्ता के विषय में दिये गये हैं। इतना ही नहीं, पाणिनि ने स्वयं 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (४-३-८७) सूत्र में 'ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग किया है। ग्रन्थ का अर्थ है— लिखित पुस्तक। यह नाम इस कारण पड़ा कि प्राचीन काल में लिखित पत्रों को बीच में छेद कर डोरी से बाँध (गूँथ) दिया करते थे। 'ग्रन्थ' का अर्थ 'रचना' भी हो सकता है। परन्तु महाभारत के निम्नलिखित वाक्यों से निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि ग्रन्थ शब्द लिखित पुस्तक के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है :—

भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा॥

अर्थात् जो ग्रन्थ का अर्थ नहीं जानता, वह पुस्तक का केवल बोझ ढोता है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थ शब्द लिखित पद्य युक्त पुस्तक के अर्थ में प्रयुक्त है, अथवा रचना जैसी मानसिक चीज का भार किस प्रकार हो सकता है?

पाणिनि ने बहुत से विषयों पर लिखे गये ग्रन्थों का नाम भी दिया है यथा, 'शिशुक्रन्द यमसमद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छ (४।३।८८) शिशूनां क्रन्दनमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः। इस सूत्र में तीन ग्रन्थों के नाम की ओर स्पष्ट संकेत हैं— **शिशुक्रन्दीय, यमसभीय** तथा **इन्द्रजननीय**। इनमें से अन्तिम दोनों ग्रन्थों के वर्ण्य विषयों के बारे में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, परन्तु 'शिशुक्रन्दीय' के वर्ण्य विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान् इसको शिशु कृष्ण का रोदन विषयक ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु यह उचित नहीं। वृत्तिकार 'शिशूनां क्रन्दः' द्वारा शिशु शब्द से किसी विशिष्ट शिशु को लक्ष्य न मानकर शिशु सामान्य मानते हैं। पुरुषोत्तम ने अपनी 'भाषावृत्ति' में इसे आयुर्वेदिक ग्रन्थ बतलाया है और इसका यही ठीक अर्थ है। शिशुक्रन्दीय वह वैद्यक ग्रन्थ हैं जिसमें शिशुओं के क्रन्दन (रोने, चिल्लाने) की चिकित्सा का निर्देश होता है। सुश्रुत आदि वैद्यक ग्रन्थों में बालचिकित्सा से अवसर पर इसका उल्लेख मिलता है।

इन प्रबल प्रमाणों के रहते हुए कौन कह सकता है कि पाणिनि के समय में लेखन-कला नहीं थी? मैक्समूलर की उपर्युक्त सम्मति कि पाणिनीय अष्टाध्यायी में लेखन-सूचक एक शब्द भी नहीं पाया जाता, पूर्वोक्त प्रमाणों के द्वारा बिलकुल निराधार सिद्ध होती है।

(ख)

प्राकृत कविता में प्रगतिशीलता

आजकल आलोचकों की यह नितान्त भ्रान्त धारण है कि प्रगतिवादी कविता का जन्म इस युग में हुआ है और वह भी पश्चिमी जगत् में। परन्तु यह धारण निर्मूल तथा प्रमाण-रहित है। भारतवर्ष में ऐसा युग कभी नहीं था जब कवियों की दृष्टि समाज के आवरण को हटा कर उसके अन्तस्तल तक नहीं पहुँचती थी, जब उनका हृदय जनसाधारण के दुःख सुख में, ह्रास और उन्नति में, सम्पत्ति और विपत्ति में अपनी सहानुभूति प्रकट नहीं करता था। संस्कृत के कवियों पर भी यह लाञ्छन कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता, प्राकृत भाषा के कवियों की बात ही न्यारी है। संस्कृत के कवि माननीय राजाओं की छत्रछाया में अपना काव्य लिखते थे अवश्य, परन्तु उसकी दृष्टि संकुचित होकर मानव जीवन के सौख्य तथा वैभव की ओर ही आकृष्ट नहीं होती थी। उनका हृदय विशाल था, दृष्टि व्यापक थी, सहानुभूति पूर्ण थी। इसलिये वे जनता के सुख-दुःख, राग-द्वेष के परिवर्तन में नितान्त कृतकार्य थे और अपने काव्य में उनकी झलक दिखाने में जागरूक थे। प्राकृत भाषा का कवि जो जनता के साथ इतना घुल मिलकर रहता है, जनवाणी का इतना आदर करता है कि उसका काव्य विशेष रूप से प्रगतिशील होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसका स्पष्ट प्रमाण है गाथा सप्तशती की कविता।

गाथासप्तशती

गाथा सप्तशती प्राकृत भाषा के गीति-साहित्य की एक अनमोल निधि है। श्रृंगार रस की सम्पत्ति, नूतन भावों की अभिव्यक्ति, गूढ अर्थ की अभिव्यञ्जना, तथा सुकुमार शब्दों के विन्यास के कारण इस काव्यरत्न की उज्ज्वल गाथायें सैकड़ों वर्षों से आलोंचकों के अन्तरंग को आकृष्ट किये हुए हैं। ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, रसगंगाधर आदि मान्य आकर ग्रन्थों में रस तथा ध्वनि के भव्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किये जाने का गौरव इन्हें प्राप्त है। यह उस युग की रचना है जब कवियों ने संस्कृत भाषा के व्यामोह को छोड़ कर लोकभाषा के सौन्दर्य पर रीझ उसी में अपने भावों को प्रकट करने का श्लाघनीय उद्योग किया। कवियों में लोक-जीवन की सच्ची अनुभूति थी। उन्होंने जन-जीवन को अपनी पैनी आंखों से देखा था, अपने सहानुभूतिपूर्ण हृदय से साधारण जनता के सुख-दुःख को, राग-द्वेष को, उन्नति-अवनति को परखा था। इन गाथाओं के प्राकृत-कवि सच्चे अर्थ में कवि थे—कोमल कल्पना के अधिकारी थे, उच्च उत्प्रेक्षा के उन्नायक थे। और इसीलिए इन गाथाओं की भूयसी प्रशंसा है संस्कृत के आलोचना-जगत् में। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में इसके सुभाषितों की रत्नों से तुलना की है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥

महाराज हाल

गाहा (गाथा) प्राकृतभाषा का लोकप्रिय छन्द है और सात सौ प्राकृत गाथाओं के एकत्र संकलन के कारण यह ग्रन्थ 'गाहा सत्तसइ' या 'गाथा सप्तशती' के नाम से विख्यात है। इसके संग्रहकर्ता कवियों के आश्रयदाता तथा स्वयं काव्यकला के उपासक एक महनीय नरेश थे जिनका नाम 'हाल' या 'शालिवाहन' था। कथासरित्-सागर, कामसूत्र तथा गाथासप्तशती की एक विशिष्ट हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका से पता चलता है कि हाल कुन्तल जनपद के अधीश्वर तथा प्रतिष्ठानपुर (पैठण) के अधीश थे। यह राज्य दक्षिण भारत में विद्यमान था। इसकी प्रधान रानी का नाम मलयवती था जो संस्कृत भाषा का प्रवीण विदुषी थी और जिसके विशेष अनुरोध से ही राजा ने संस्कृत भाषा का अनुशीलन किया था। राजा को सुगमता से संस्कृत सिखाने के लिए इनके सभा के अन्यतम विद्वान् वैयाकरण शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण नामक नवीन व्याकरण की रचना की। इन्हीं के सभा-कवि गुणाढ्य कवि ने पैशाची भाषा में 'बृहत् कथा' नामक विशाल ग्रन्थरत्न का निर्माण किया जो अपने मूल रूप में विद्यमान न रहने पर भी कथा-सरित्-सागर, बृहत्कथा-मञ्जरी जैसे संस्कृत अनुवादों में उपलब्ध होकर कथा-साहित्य का एक विराट् विश्वकोश है। इनके प्रधान कवि का नाम था 'श्री पालित' जिनका अभिनन्द कवि ने अपने रामचरित महाचरित महाकाव्य में उल्लेख किया है—

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो ललितः ।

आज कवि-वृषभ श्री पालित की कमनीय रचनायें कालकवलित हैं। गाथासप्तशती में उद्धृत दो चार गाथायें ही इनकी अवशिष्ट रचनायें हैं। ग्रन्थ के संकलन काल के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। कतिपय विद्वान् इसे पञ्चम शतक की रचना मानते हैं, परन्तु बहुमत से इसका समय प्रथम शतक ही माना जाता है। हाल कवियों के आश्रयदाता ही न थे, प्रत्युत स्वयं काव्यकला के उपासक तथा शारदा-मन्दिर के पुजारी थे। उनकी रचनायें भी इस ग्रन्थ में संकलित उपलब्ध होती हैं। शकारि विक्रमादित्य के समान महाराज हाल की सभा भी कविरत्नों से विभूषित थीं जिनमें से अनेकों की रचनायें यहाँ संकलित की गई हैं। ऐसे महनीय कवियों के नाम ये हैं— बोडिस, चुल्लोह, मकरन्दसेन, अमरराज, कुमारिल, श्रीराज, भीमस्वामी, मलयशेखर, माऊराज वाहव, विषमराज, मल्लसेन, उद्धव, प्रवरसेन, मणिराज, दुर्गस्वामी, भोजक, वसन्तसेन आदि आदि। इन कवियों के न तो जीवनवृत्त का हमें परिचय है और न इनके समय का। पता नहीं कि इसमें से कितने हाल के समकालीन थे और कितने उनसे पूर्ववर्ती, परन्तु इनकी काव्यकला की प्रसिद्धि के विषय में किसी भी आलोचक को सन्देह नहीं हो सकता।

उस युग में प्राकृत का बोलबाला था। वही कविजनों की जिह्वा पर बैठकर लोकरञ्जन के लिए अपना कौशल दिखलाती थी। सहृदय आश्रयदाता का भव्य आश्रय पाकर वह चमक उठी थी। 'कविवत्सल' महाराज हाल प्राकृत कवियों के कल्पतरु थे जिनका आश्रय पाकर सैकड़ों कवियों ने प्राकृत गाथाओं के भीतर अपना कोमल हृदय भर दिया था। महाराज के कथनानुसार एक करोड़ सुन्दर सूक्तियों में से ये सात सौ सूक्तियाँ इस रत्नकोश में संगृहीत की गई हैं। (गाथा सप्तशती १।३) हाल-युगीय साहित्य मन्दिर के शिखर पर एक ही मन्त्र लिखा था—अमिअं पाउअकव्वं-अमृतं प्राकृतकाव्यम्। प्राकृत काव्य का ज्ञान ही सहृदयता की सच्ची परख थी उस युग में, तभी तो ऐसे काव्य के अनभिज्ञ व्यक्तियों को विदग्धगोष्ठी में काम की तत्त्वचिन्ता करते समय अपना मुँह छिपाना पड़ता था—

अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं अ जे ण जाणंति।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कह ण लज्जन्ति॥ (१।२)

वैशिष्ट्य

गाथासप्तशती में न हमें दरबारी कविता का नमूना मिलता है, न दरबारी वस्तुओं का चित्रण। राजकीय वैभव, भोग-विलास, नागरिक-जीवन से सम्बद्ध जितनी बात हमें संस्कृत कविता में मिलती हैं, उन सब का एकदम अभाव है इस प्राकृत काव्य ग्रन्थ में। सामान्य लोक-जीवन का चित्रण ही इसकी महती विशेषता है। इसका वातावरण एकदम घरेलू है। कहीं ग्रामतरुण की प्रेमलीला की झाँकी है, तो कहीं गाँव की अशिक्षित सरल-स्वभावा सुन्दरी के रागात्मक भावों का सुचारु चित्रण। एक ग्रामीण सुन्दरी परदेश जाने के लिए मचलने वाले प्रियतम से बड़ी सरलता से पूछ रही है कि अभी तो कंघी तथा तेल का सेवन करने पर भी मेरी वेणी के टेढ़े बाल सीधे नहीं हुए है और अभी तुम परदेश का प्रस्ताव चला रहे हो; यह कहाँ का न्याय है ?

अव्वो दुक्कर आरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स।
अज्ज वि न होन्ति सरला वेणीअ तरंगिणो चिउरा॥
(३।७३)

उस नायिका की खीझ पर आलोचक मुग्ध है जो बारम्बार फूँक देने पर भी आग को जगाने में समर्थ नहीं होती तथा उस विदग्ध सखी की चतुरता पर वह उल्लसित है जो अग्नि को उसके मुखमारुत के पान करने का अभिलाषी बतलाकर कामुक के रूप में चित्रित करती है:—

रन्धणकम्म-णिउणिए मा जूरसु रत्तपाडल सुअन्धम्।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलई॥
(१।१४)

उस सुन्दरी का स्वभाव कितना भोला तथा सूधा है जो अपने पति के परदेश जाने के दिनों को दिवाल पर लकीर खींच कर गिन रही है। पति को घर

छोड़े अभी दोपहर भी नहीं हुआ है कि वह दीवाल के ऊपर 'आज वह गया', 'आज वह गया' इस प्रकार रेखा खींचकर पूरे दीवार को रेखाओं से चित्रित कर दिया है। सचमुच यह सूद्वेषन की पराकाष्ठा है:—

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पढम ब्बिअ दिअहद्धे घड्डो रेहाहि चित्तलिओ॥
(३।८)

ध्यान देने की बात है कि स्त्रियाँ ग्रामीण अवश्य हैं, परन्तु उनका भाव ग्रामीण नहीं है। उनमें स्वाभाविकता है, सरलता है परन्तु ग्राम्यता नहीं। हृदय में उदारता है, संकीर्णता नहीं। प्रेम के पहचानने की विदग्धता है; पति के हृदय को परखने की नागर-सुलभ क्षमता है। वे भोली हैं, परन्तु भोंड़ी नहीं।

कोई हालिकवधू गोदावरी के किनारे अपने प्रियतम को खड़ा हुआ देखकर प्रेम परीक्षा के लिए विषम मार्ग से नदी में उतरने लगती है (२।७), तो दूसरी सुन्दरी ग्रामदाह में सर्वस्व नष्ट हो जाने पर भी हृदय में ठंढक का अनुभव करती है क्योंकि उसके प्रियतम ने उसके हाथ से घड़ा ले लिया—

सव्वस्सम्मि वि दद्धे तहविहु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ।
जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थिं कुडो गहिओ॥
(३।२९)

गाथासप्तशती में वर्णन चित्रात्मक हैं अर्थात् उन्हें देखकर रमणीय चित्र नेत्रों के सामने झूलने लगते हैं। उस प्रापापालिका (प्याऊ पर पानी पिलाने वाली) की विदग्धता का कितना रमणीय चित्र हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाता है जो जल की धारा को पतली करती जाती है जब ऊपर आँख उठाकर राही पानी पीता जा रहा है तथा उसे डट कर निरखने के लिए अपने हाथ की उँगलियों को अलग करता जाता है:—

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ॥
(२।६१)

स्वाभाविकता इन प्राकृत गाथाओं में कूट-कूट कर भरी है। यहाँ हृदयपक्ष का प्राधान्य है। इसीलिए अलंकार-ग्रंथों में रसों के उदाहरण देने के समय इनका विन्यास किया गया है। कृत्रिमता का यहाँ लेश भी नहीं है। स्वाभाविकता का अखण्ड साम्राज्य सहृदयों के सामने लहराता है। मानस भावों के उत्थान पतन का चित्र इतना रुचिर तथा सुन्दर है कि इस काव्य को हम मनोवैज्ञानिक अनुशीलन का भव्य उदाहरण मान सकते हैं। नपे-तुले थोड़े स्थलों में अधिक से अधिक भावों का निवेश पद पद पर हमें आह्लादित कर रहा है। भावाभिव्यञ्जक गाथाओं की उपमा 'मिनिएचर पेंटिंग' से दी जा सकती है।

गाथाओं का भौगोलिक प्रदेश गोदावरी तथा विंध्य का प्रदेश है क्योंकि उनमें अनेकत्र गोदावरी (२।८६, २।९३) तथा विन्ध्यपर्वत (२।१७) तथा वहाँ के निवासी पुलिन्दों का (२।१६) विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

गाथा सप्तशती में कलापक्ष के प्रदर्शन की ओर भी कवियों की दृष्टि रमती है। कहीं पर प्राकृत भाषा की कृपा से एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग उपलब्ध होता है, तो कहीं पर उत्प्रेक्षा की ऊँची उड़ान दीख पड़ती है। परन्तु प्रकृत रस का विरोध कहीं नहीं होता। कृष्ण को लक्ष्य कर लिखी गई एक गाथा में 'गोरअ' शब्द का प्रयोग 'गोरज', 'गौरव' तथा 'गौरता' इन तीन अर्थों में किया गया है (१।८९)। उत्प्रेक्षा की बहार इस गाथा में बहुत ही सुन्दर है:—

थोअं पि ण णीसरइ मज्झण्णे उअ सरीरतललुक्का।
आअव भएण छाही वि पहिअ ता किं ण वीसमसि॥

भाव है कि हे पथिक ! दोपहर के इस चिलचिलाती धूप में छाया भी शरीर के नीचे लुक छिपकर रहती है। धूप के डर से वह थोड़ा भी बाहर नहीं निकलती। तो तुम विश्राम क्यों नहीं करते ? इस गाथा को पढ़ते ही श्रोताओं को बिहारी के 'जेठ दुपहरी धूप की छाँहो चाहत छाँह' की याद आये बिना न रहेगी। इस गाथा में हेतूत्प्रेक्षा का विन्यास बड़ा ही रुचिर हुआ है।

सतसई

साहित्य जगत् में 'सतसई' की परम्परा आरम्भ करने का श्रेय इसी 'गाथा-सप्तशती' को है। इसी से उत्साहित होकर गोवर्धनाचार्य ने ११ वें शतक में बंगाल के अन्तिम हिन्दू नरेश लक्ष्मणसेन के दरबार में रहकर 'आर्यासप्तशती' की रचना की और इस प्रभाव को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—

वाणी प्राकृत-समुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्द-कन्येव गगनतलम्॥
(आर्या सप्तशती—५२)

महाकवि बिहारी ने 'गाथासप्तशती' तथा 'आर्यासप्तशती' के आदर्श पर ही अपनी सतसई की रचना की। भावों की समानता तथा सुषमा के देखने पर इस विषय में सन्देह नहीं रह जाता। बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा—

बाम बाहु फरकत मिलै जो हरि जीवन मूरि।
तो तोहि सौं भेटिहौं; राखि दाहिनी दूरि॥

गाथासप्तशती की इस गाथा (२।३७) के भावों से आश्चर्यजनक साम्य रखता है—

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पियोज्ज ता सुइरम्।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम्॥

नायक के आगमन पर नेत्र का व्यापार सर्वप्रथम होता है। अतएव वामनेत्र के स्फुरण पर प्रिय के आने पर उस नेत्र का आदर करना बाहु के आदर की अपेक्षा अधिक रुचिर तथा सयुक्तिक प्रतीत होता है।

(ग)

बाल-रामायण की रम्यता

ब्रह्मावर्त के इतिहास में मध्ययुग अपनी प्रशासनीय गरिमा एवं साहित्यिक महिमा के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। उस समय कान्यकुब्ज में शासन करनेवाले रघुवंशियों में महेन्द्रपाल अपनी शरणागत-वत्सलता, विद्वत्प्रियता एवं प्रशासन-कुशलता के लिये विशेषरूपेण विश्रुत थे। उन्हीं के उपाध्याय एवं गुरु महाकवि राजशेखर अपनी प्रौढ़ प्रतिभा एवं अलोक-सामान्य-रचनाचातुरी के लिये तत्कालीन कविजनों के शिरोमणि माने जाते थे। परन्तु उस समय भी ऐसे ईर्ष्यालु विद्वानों की कमी नहीं थी जो इनकी लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने वाली कविता तथा राजदरबार को सुरक्षित करनेवाली यशोराशि से क्षुब्ध होकर इनकी कटु आलोचना किया करते थे। इनको लक्ष्य कर राजशेखर ने बाल-रामायण की प्रस्तावना में अपनी काव्यकला के परम्परागत नैसर्गिक रूप को अभिव्यक्त करने के निमित्त अपनी ही लेखनी से जो लिखा है, वह सर्वथा स्वाभाविक है, ध्यान देने योग्य है। इस दृष्टि से राजशेखर ने अपने आपको भवभूति का जो अवतार माना है, वह आलोचकों के मनन का विषय बना हुआ है। तत्कालीन कटु आलोचना से क्षुब्ध होकर महाकवि भवभूति ने काल को 'निरवधि' एवं पृथ्वी को 'विपुला' बतलाकर अपने आलोचकों को जिस प्रकार चुनौती दी थी, महाकवि राजशेखर ने भी उसी प्रकार दोषदर्शन करने वाले विद्वानों को अपनी रचना में 'भणितिगुण' की खोज निकालने का आग्रह किया है—'प्रष्टव्योऽसौ पटीयान इह भणितिगुणो विद्यते वा न वेत्ति। यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिः।' इससे स्पष्ट है कि राजशेखर अपनी रचना में 'भणिति' (सूक्ति) के सौन्दर्य तथा साहित्य के स्वयं प्रशंसक थे। उस सभा के ही शंकरवर्मा ने राजशेखर को सुधावर्षिणी सूक्तियों का जनक तथा उद्भावक माना है।

तथ्य यह है कि राजशेखर 'शब्दकवि' हैं। इनके पदों की रमणीय शय्या रसिकजनों का मन अपनी कोमलता एवं स्निग्धता के कारण बरबस आकृष्ट कर लेती है। वेद के ज्ञाता के लिये 'श्रुत्यर्थवीथीगुरुः' शब्द का प्रयोग बड़ा ही शोभन तथा श्रवण-सुखद है। प्रातःकालीन सूर्य की कोमल किरणों की प्रशंसा में कवि कह रहा है कि उनके पड़ने से वृक्ष के नवीन पल्लव मूँगे के समान खिल उठते हैं, त्रिलोकी रूपी राजमहल के प्राङ्गण की वे हस्तदीपिकायें हैं तथा दिवसरूपी

गजराज के कानों के लिये लाल वर्ण के चामर के सदृश वे प्रतीत हो रहे हैं। यह प्राभातिक किरणों की श्लाघा शब्दसौष्ठव से तथा भावगाम्भीर्य से नितान्त स्निग्ध है—

उषः - प्रवालद्रुमबालपल्लवास्त्रिलोकहर्म्याङ्गणहस्त - दीपिकाः।
दिनद्विपेन्द्रारुणकर्ण-चामरा मरीचयोऽर्कस्य लुठन्ति कोमलाः॥

महल की ऊँची अटारी पर खड़ी होने वाली किसी चन्द्रवदनी के मुख-मण्डल को देखकर कवि के मुख से हठात् यह सूक्ति निकल पड़ती हैं—

उपप्राकाराग्रे प्रहिणु नयने तर्कय मनाक्।
अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः॥

महल के ऊपर अपनी दृष्टि डालकर देखो तो सही। विचार तो करो। बिना आकाश के ही निष्कलंक चन्द्रमा कहाँ से निकल आया है। चन्द्रमा तो है, परन्तु उसमें हरिण का कलंक नहीं है।

ऐसे सुन्दर कल्पनाओं के विन्यास में राजशेखर की चातुरी सद्यः प्रस्फुटित होती है।

'बालरामायण' संस्कृत-साहित्य में अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता। इसके अध्ययन से राजशेखर को वेद तथा पुराण दोनों के विषय में अद्भुत परिचय प्राप्त होता है। यह परिमाण में ही महान् नाटक नहीं है, प्रत्युत गुणों की दृष्टि में भी यह नितान्त महनीय रचना है। कवि के काव्य-रचना-पाटव का दर्शन प्रत्येक पद्य में दृष्टिगोचर होता है। इस नाटक का विशाल रूप आलोचकों की कटु आलोचना का विषय बना हुआ है। यह नाटक इतना विशाल है कि इसके एक-एक अंक में समग्र नाटिका का समावेश हो सकता है। राजशेखर की प्रतिभा-वर्णन-परक महाकाव्य के प्रणयन में नितान्त समर्थ है। फलतः अंग्रेजी शब्द में उन्हें 'एपिक जीनीयस' कह सकते हैं।

तथ्य यह है कि 'अभिनेयत्व' का गुण किसी नाटक के लिये आवश्यक वैशिष्ट्य नहीं है। सहृदय पाठक अनभिनीत नाटक से भी उतना ही आनन्द उसके पठन मात्र से उठा सकता है। साधारण दर्शक के ही हृदय में रसोद्बोध के निमित्त प्रयोग की आवश्यकता बनी रहती है। इसीलिये भारतीय आलोचकों तथा कवियों के नाटक में प्रयोगधर्मिता-अभिनेयता को कभी महत्त्व नहीं दिया है। यदि दर्शक में रागात्मिका वासना विद्यमान है, तो वह अभिनय देखने की किसी प्रकार अपेक्षा नहीं रखता। नाटक की महनीयता कवि की प्रतिभा का विलास है, नट के अभिनव-कौशल का चमत्कार-प्रदर्शन नहीं है। साधारण नाटक ही रस की अभिव्यक्ति के लिये अभिनय की सहायता चाहता है; महान् नाटक न नट की अपेक्षा रखता है, न अभिनय की। वह स्वतः महान् एवं महनीय होता है। उसके चमत्कार को हृदयंगम करने के लिये रंगमंच पर अभिनय की तनिक भी अपेक्षा नहीं रहती। उसका आनन्द तो घर के किसी कोने में बैठकर पढ़ने

से ही उठाया जा सकता है। अभिनय तो अन्धे की लकड़ी के समान है जो सामान्य-लोक के ही रसास्वाद के निमित्त जागरूक रहता है।

भारतीय आलोचकों की मत-मीमांसा पश्चिमी आलोचकों को भी मान्य है। पश्चिमी आलोचना रूपक के लिये अभिनय की एकान्त आवश्यकता मानती है—यह कथन प्रायोवाद है। अरस्तू[1] का कहना है कि महाकाव्य के समान त्रासदी अभिनय के बिना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करती है; केवल पठन-मात्र से भी वह अपने प्रभाव का उन्मीलन करती है। अंग्रेजी आलोचक लैम्ब[2] का भी यही मत है कि नाटक को मूर्धन्य एवं श्रेष्ठ रचना जितनी सुन्दरता से लिखी जाती है, क्वचित् ही उतनी सुन्दरता से अभिनीत की जा सकती है। साधारण नाटक ही नटों के हाथ में पड़कर विशेष चमत्कार उत्पन्न करते हैं। अंग्रेजी के नाटककार टामस हार्डी की भी यही मान्यता है—यही सच्ची अनुभूति है। अपने विपुलकाय नाटक 'डाईनास्ट' की भूमिका में वे स्वीकार करते हैं कि नाटक कमरे में बैठकर शान्त मन से पढ़ने की कथनीय वस्तु है। रंगमंच के ऊपर अभिनीत होना नाटक के लिये आवश्यक गुण नहीं होता। अभिनेय रूपकों का प्रभाव क्षणिक तथा अस्थायी होता है, परन्तु पठनीय नाटकों का प्रभाव स्थायी तथा चिरकालीन होता है—इन नाटकों के लिये 'एपिक ड्रामा' की संज्ञा देना उचित है। इन दृष्टियों को ध्यान में रखकर 'बालरामायण' की विपुलकायता किसी प्रकार का दूषण नहीं है, भूषण ही है।

'बालरामायण' व्याख्या के बिना लोकप्रियता से वंचित ही रहा है। हर्ष का विषय है कि इसका सुन्दर तथा प्रामाणिक अनुवाद हमारे शिष्य डा० गंगासागर राय ने प्रस्तुत कर बड़ा ही उपादेय तथा श्लाघनीय कार्य किया है। अनुवाद बड़े ही परिश्रम तथा सहृदयता से प्रस्तुत किया है। इसके लिये ये संस्कृत-संसार के धन्यवाद के पात्र हैं। तथास्तु।



1. Tragedy like epic poetry produces its true effect even without action; it reveals its power by mere reading. —Poetics.
2. A master piece is rarely as well represented as it is written; mediocrity always fares better with the action.—Charles Lamb

(घ)

क्या 'धर्मपत्नी' 'पत्नी' से अर्थतः भिन्न है ?

मिथ्या सादृश्य के कारण शब्दों की अर्थ-विवेचना में महान् अनर्थ उपस्थित होता है जिसे भाषा के प्रबुद्ध व्यक्ति ही भलीभांति समझ सकते हैं, साधारणजनों की बुद्धि से यह तथ्य अगम्य ही रहता है। पुत्र तथा धर्मपुत्र में अर्थ के धर्मशास्त्रीय दृष्टि से महान् अन्तर है। इन्हीं शब्दों से सादृश्य के कारण ही 'पत्नी' तथा 'धर्म-पत्नी' के अर्थ में भी अन्तर तथा विभिन्नता की कल्पना साधारण जन को कौन कहे, हिन्दी के मान्य विशिष्ट विद्वान् भी करते हुए देखे जाते हैं। इसी अर्थ-विवेचन की समस्या के समाधान के लिए इन दोनों शब्दों के अर्थ का विवेचन अनेक शास्त्रों की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

व्याकरण की दृष्टि में

'पति' शब्द 'पा' रक्षणे (पालन करना) धातु से निष्पन्न होता है—पातीति पतिः अर्थात् पालन करने वाला। शब्द चतुष्टयी में पति शब्द 'क्रियाशब्द' होने के कारण तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है, क्योंकि उसके लिङ्ग का निर्णय पालन करने वाले व्यक्ति के लिङ्ग पर ही आधारित रहता है। पुलिङ्ग पति तो प्रसिद्ध ही है। स्त्रीलिङ्ग 'पति' के उदाहरण में 'काशिका' में यह निर्देश दिया गया है—'ग्रामस्य पतिरियं ब्राह्मणी' (यह ब्राह्मणी गाँव की पति) पालन करने वाली है। इस वाक्य में पति स्त्रीलिङ्ग है। पति के नपुंसक लिङ्ग के उदाहरण में 'सिद्धान्त-कौमुदी' की प्रख्यात व्याख्या 'तत्त्वबोधिनी' में तैत्तरीय-संहिता से यह उदाहरण दिया गया है—

'अन्नं साम्राज्यानाम् अधिपति, तन्माऽवतु'

यहाँ साम्राज्यों के रक्षक 'अन्न' शब्द को नपुंसकलिङ्ग होने के कारण 'अधिपति' शब्द नपुंसक ही है।

अब 'पत्नी' शब्द के अर्थ पर विचार करें। 'पति' की भार्या पत्नी कहलाती है। परन्तु एक विशेष अर्थ में यह अर्थ सिद्ध होता है। एतत्-विषयक पाणिनि का सूत्र है—पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (अष्टाध्यायी ४।१।३३) अर्थात् यज्ञ के साथ संयोग-सम्बन्ध अभीष्ट होने के अवसर पर ही 'पति' शब्द के स्त्री-बोधन करने पर ङीप् प्रत्यय के साथ नकार का आगम हो जाता है। काशिका के अनुसार यह यज्ञ-संयोग दो प्रकार से हो सकता है—तत्-साधकत्वात् तत्फलग्रहीतृत्त्वाद् वा यजमानस्य पत्नी'। इस वाक्य का अर्थ है—यज्ञ में साधनभूत होने के कारण पत्नी का यज्ञ के साथ सम्बन्ध रहता है। भार्या से विरहित त्रैवर्णिक व्यक्ति को यज्ञ का अधिकार नहीं है। पति अपनी भार्या से रहित होकर यज्ञ करने का अधिकारी नहीं होता। यज्ञ के फल के ग्रहण में भार्या का भी अधिकार जो है।

यज्ञ का प्रधान फल स्वर्ग है, उसमें पति के साथ ही साथ पत्नी का भी अधिकार होता है। फलतः इस प्रकार उभय प्रकार से यज्ञ से सम्बद्ध होने के हेतु पति की पाणिगृहीती भार्या के लिए पत्नी शब्द की सिद्धि सम्पन्न होती है। इसी तथ्य का प्रतिपादन भट्टोजिदीक्षित ने पूर्वोक्त-सूत्र की वृत्ति में इस प्रकार किया है—वसिष्ठस्य पत्नी।

तत्-कर्तृकयज्ञस्य फलभोक्त्री इत्यर्थं दम्पत्योः सहाधिकारात् ॥

सारांश यह है कि दम्पति का यज्ञ में साथ ही साथ अधिकार होता है। फलतः पति के द्वारा सम्पादित यज्ञ के फल को भोगने का अधिकार पति के समान ही भार्या को भी प्राप्त होता है। इसीलिए इस विशिष्ट भार्या के लिए पत्नी शब्द का व्यवहार न्याय्य माना जाता है।

पदमंजरी (काशिका की व्याख्या) में ऊपर उद्धृत वाक्य के 'तत्साधकत्वात्' पद की विभिन्न ही व्याख्या की गई है। किसी देवता के उद्देश्य से अपने द्रव्य का त्याग ही यज्ञ कहलाता है। जिस द्रव्य या धन का दान दिया जाता है, उसमें पति के समान उसकी भार्या का भी अधिकार रहता है क्योंकि स्मृति का वचन है—

कुटुम्बिनौ धनस्येशाते। जायापत्योर्न विभागो विद्यते।

जाया और पति दोनों ही अर्जित धन के स्वामी होते हैं। इन दोनों में किसी प्रकार का विभाग नहीं होता। इसलिए यज्ञ में जो द्रव्य दान के रूप में दिया जाता है, उसमें भार्या की अनुमति की अपेक्षा रहती ही है। फलतः यज्ञ के सम्पादन में भार्या की अनुमति साधन रूप है जिसकी उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती।

सारांश यह है कि यज्ञ के सम्पादन में पति की सहायिका होने के कारण, दीयमान धन की स्वामिनी होने के नाते तथा यज्ञ से उत्पन्न स्वर्ग-रूपी फल के भोगने की अधिकारिणी होने वाली भार्या को "पत्नी" शब्द द्वारा व्यवहृत किया जाता है। पत्नी शब्द की निष्पत्ति में यज्ञ से संयुक्त होने की जो यह भावना अन्तर्निहित है, वही भावना 'धर्मपत्नी' शब्द के आदि में धर्म शब्द को जोड़कर साधारण जन के लिए अभिव्यक्त कर दी गई है। व्याकरण की दृष्टि में दोनों शब्दों के अर्थ में किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं है। दोनों शब्द समानार्थक ही है।

धर्मशास्त्र की दृष्टि में

अब 'धर्म-पत्नी' शब्द के अर्थ पर विचार करें। याज्ञवल्क्य-स्मृति में मुख्य तथा गौण पुत्रों के विश्लेषण के अवसर पर 'औरस' पुत्र की मुख्यता मानी गयी है—

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः (२।१२८)

धर्मपत्नी से उत्पन्न होने वाला पुत्र 'औरस' कहलाता है और सब पुत्रों में वही मुख्य माना जाता है। श्लोकस्थ 'धर्मपत्नीजः' शब्द की व्याख्या प्रख्यात 'मिताक्षरा' टीका में इस प्रकार की गई है—उरसो जातः औरसः पुत्रः। स च धर्मपत्नीजः सवर्णा धर्म-विवाहोढा धर्मपत्नी। तस्यां जातः औरसः पुत्रो मुख्यः।

औरस पुत्र ही मुख्य पुत्र होता है। वह धर्मपत्नी से उत्पन्न होता है। पति के समान वर्ण में उत्पन्न होने वाली तथा धर्मविवाहविधि से विवाहित भार्या ही 'धर्मपत्नी' कहलाती है। मिताक्षरा की पूर्वोक्त व्याख्या में 'धर्म-पत्नी' के स्वरूप के प्रतिपादक दो विशेषण दिए गए हैं और दोनों ही महत्वपूर्ण हैं :—

(१) सवर्णा—पति के ही समान वर्ण में उत्पन्न। इसका आशय बड़ा गम्भीर है। त्रिवर्णों को अपने वर्णवाली कन्या के अतिरिक्त नीचे वर्णवाली कन्या से विवाह करने का शास्त्रीय अधिकार है। जैसे ब्राह्मण ब्राह्मणवंशी कन्या से तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या से भी विवाह करने का अधिकारी है। ब्राह्मण की ब्राह्मण-वर्णवाली भार्या ही 'धर्मपत्नी' कहलाने की अधिकारिणी होती है, दूसरी नहीं।

(२) दूसरा विशेषण है—धर्मविवाहोढ़ा (अर्थात धर्मविवाह के द्वारा विवाहित) मनु प्रतिपादित अनेक विवाहों में कतिपय ही धर्म-विवाह होते हैं, अन्य नहीं। आर्ष, प्राजापत्य प्रथम कोटि में आते हैं और असुर, राक्षस विवाह द्वितीय कोटि में आते हैं। तात्पर्य यह है कि 'धर्म पत्नी' वही भार्या होती है जो पति के समान-वर्ण-वाली हो तथा शास्त्र-निर्दिष्ट धर्म-विवाह के द्वारा परिणीत हो; अन्य भार्या को 'धर्मपत्नी' कहलाने का अधिकार नहीं होता।

मनुस्मृति (९।१६६) में 'औरस' का लक्षण जो दिया गया है उससे उस की प्रसविनी माता को धर्मपत्नी होना ही चाहिए। मनु का यह पद्य इस प्रकार है—

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्राथमिकल्पिकम्॥

इस पद्य का आशय वही है जो मिताक्षरा में दिए गए व्याख्यापरक वचनों का है।

सारांश है कि जो भार्या पति के ही समान वर्ण में उत्पन्न हो तथा धर्मशास्त्र में वर्णित धार्मिक विवाह के द्वारा विवाहित हो और जिसका पुत्र पुत्रों में मुख्यता प्राप्त करने वाला अपने पिता के रिक्थ का अधिकारी हो, वही 'धर्मपत्नी' कहलाने की योग्यता रखती है।

कवियों की दृष्टि में

(क) आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण से प्रारम्भ कर परवर्ती काव्यों में अनेकत्र पत्नी और धर्मपत्नी दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है।

धर्मपत्नी शब्द का प्रयोग आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में अनेक स्थानों पर सीता के लिए किया है। सीता-हरण के समय सीता स्वयं अपने लिए इसका प्रयोग करती है—ह्रियेयं धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः।

(अरण्य ४९।८९)

हिन्दी साहित्य

खण्ड ४

ख्यातिं गमयति सुजनः
सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम् ।
पुष्णाति कमलमम्भो
लक्ष्म्या तु रविर्नियोजति ॥

व्याख्यातुमेव केचित्
कुशलाः शास्त्रं प्रयोक्तुमलमन्ये ।
उपनामयति करोऽन्नं
रसांस्तु जिह्वैव जानाति ॥

४ : १

कलाकार की प्रेरणा

मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतु-मूलक होती है। बिना किसी बलवान् निमित्त के वह किसी भी प्रवृत्ति के लिये उद्योगशील नहीं होता। काव्यकला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रतीक है। बुद्धि के किसी विकसित उच्चतर स्तर पर पहुँच कर ही मनुष्य अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये शब्दार्थ-युगल का मधुर माध्यम पकड़ता है। वह अपनी प्रातिभचक्षु के द्वारा पदार्थ की मधुर झांकी पाता है, वह जगत के पदार्थ तथा अन्तर्जगत् के भाव में रस का अक्षय उत्स पाकर अपने जीवन को आनन्दमय बनाता है। इतने से ही वह कृतकार्य नहीं होता, प्रत्युत उसी आनन्द का प्रकाशन अपनी कला के द्वारा सम्पन्न कर दर्शक तथा पाठक को आनन्दमय बनाने का भी प्रयत्न करता है। यही अभिव्यंजना उसकी अनुभूति का चरम अवसान है।

हमारे मनीषियों की प्रत्यक्ष दृष्टि बतलाती है कि आनन्द के अनुभव के लिये ही विश्वस्रष्टा ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है, किसी प्रकार ऊन नहीं है—रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः (अथर्ववेद १०।८।४४)। रस-तृप्त विश्वकर्ता की सृष्टि भी एक अखण्ड रस की धारा से चारो ओर व्याप्त है। इसके मधुर सरोवर शत-सहस्र संख्या में चारो ओर भरे हुए हैं। उनसे रस का आस्वादन करने हेतु हमारे प्राण सदा व्याकुल रहते हैं। रस–प्राप्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। आनन्द की अनुभूति के लिये ही प्राणी बेचैन हैं, प्राण आकुल है। इस रस का अनुभव पाकर मनुष्य शब्दमय या रेखामय या स्वरमय या चित्रमय माध्यम द्वारा अपनी उपलब्ध तृप्ति को बाहर प्रकटित करता रहता है। वह स्वार्थी नहीं है, वह क्षुद्र स्वार्थ का केन्द्रीभूत निकेतन नहीं है कि वह समग्र-रस चुपचाप अपने ही आप पान कर जाना चाहता हो। वह अपने 'स्व' को इतना विस्तृत तथा व्यापक बना देता है कि उसके लिए कोई 'पर' रहता ही नहीं। इसी व्यक्तित्व के प्रसार को, अपने 'स्व' को 'पर' के साथ तादात्म्य को, साहित्य की भाषा में 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी गई है। रस की उपलब्धि के अनन्तर रस के उन्मीलन का प्रधान साधन कला है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि कला या साहित्य के मूल में कौन सी प्रेरणा कार्य करती है। कौन वस्तु व्यक्ति को कला के उन्मीलन तथा काव्य के सर्जन के लिए अग्रसर करती है? सन्ध्याकाल में रक्ताभ वारिदमाला से आवृत तथा मंजुल स्वरों की ध्वनि करनेवाली हरे लाल रंग के उड़ते हुए पक्षियों के समूह

से गुंजारित आकाश-मंडल की छवि को तूलिका से चित्रित करने के लिए चित्रकार क्यों व्याकुल होता है? अथवा ऊँची अट्टालिका पर चढ़ झरोखे से झांकने वाली शरदिन्दु-विनिन्दक आनन से अन्धकार का तिरस्कार करने वाली सुन्दरी की भव्यकान्ति को कविता के द्वारा आलोकित करने के लिए कवि क्यों लालायित रहता है? कमनीय वीणा की तन्त्री को झंकारित कर कलावन्त स्वरमाधुरी से श्रोताओं को मुग्ध करने का अश्रान्त परिश्रम क्यों करता है? इसका एकमात्र उत्तर है स्वान्तः सुखाय, अपने मन के सुख के लिए, अपने हृदय के आनन्द के निमित्त ही। आनन्द से मुग्ध कलाकार आनन्द की अभिव्यक्ति का माध्यम ठहरा, वह अपनी कला के विविध साधनों के द्वारा उसका उन्मेष करता है। इस उत्तर की विस्तृत मीमांसा अपेक्षित है।

आत्मशक्ति

उपनिषद् बतलाता है कि आरंभ में ब्रह्म अकेला था। एक होने से वह रमण नहीं करता था। रमण की इच्छा होते ही एक ने बहु के रूप में उत्पन्न होना चाहा। रमण की अभिलाषा ही एक को बहु बनने को प्रधान प्रेरिका हुई। 'एकाकी नैव रमते'। सो अकामयत एकोऽहं बहु स्याम्। इस 'बहु स्याम्' की अभिलाषा से ही सृष्टि का उद्गम हुआ। 'एषणा' की तृप्ति के लिए ही जगत् का समस्त प्रपंच जागरूक रहता है। एषणा है कामना या अभिलाषा। एषणा तीन प्रकार की मानी गई है पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकेषणा। पुत्र, स्त्री की इच्छा, धन की इच्छा तथा यश की इच्छा। अथवा अन्य शब्दों में काम, अर्थ तथा धर्म ही इस संसार में समग्र प्रवृत्तियों के प्रधान निदान माने गये हैं। हमारे समस्त कार्य-व्यवहार इन्हीं कारणों से उत्पन्न होते हैं! मानव जीवन की अशेष प्रवृत्ति का मूल यहीं है। परन्तु इन तीन पुरुषार्थों के अतिरिक्त 'मोक्ष' नामक चतुर्थ पुरुषार्थ भी है जो प्राणीमात्र के उद्बोधन तथा प्रवृत्ति का साधन है। दुःखी जीवन की लहरिका से प्रताडित मानव सदा अपने दुःखमोचन के लिए प्रयत्नशील होता है। वह सर्वत्र अपने को बन्धन में पाता है, चारो ओर परतन्त्रता की जंजीर उसके देह को जकड़े हुए खड़ी रहती है, वह स्वतन्त्र होना चाहता है। 'सर्वं परवशं दुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम्' की उक्ति सर्वथा सत्य है। परवश होना दुःख है। आत्मवश होना सुख है। प्रकृति से अपने को विविक्त जान कर पुरुष-ख्याति लाभ करता है और मुक्त बनता है। यह मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और इसी की सिद्धि के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र एवं यावत् काव्य, सन्तत प्रवृत्त होते हैं।

हमने गोस्वामी तुलसीदास के ही प्रसिद्ध शब्द 'स्वान्तः सुखाय' को समस्त कला की मूल प्रेरक शक्ति माना है। इसे कुछ विस्तार के साथ समझने की आवश्यकता है। इस विश्व में समस्त प्रेरणाओं तथा स्फीत स्फुरणाओं का

भव्य आधार है यही आत्मा। आत्मा ही प्रेरक शक्ति का प्रतीक है। आत्मा की शक्ति ही सर्वत्र विकसित होकर नाना रूप-रूपान्तरों से हमारे सामने प्रकटित हो रही है। आत्मा ही विश्व की समग्र वस्तुओं में श्रेष्ठ है—प्रियतम है। कामना-वेलि आत्म द्रुमका ही आश्रय लेकर अपनी भव्य महिमा सर्वत्र विस्तारित करती है। जीवन के शेष कार्यकलापों के बीच इसी की शक्ति का काम करती दीख पड़ती है। विश्व का निरीक्षण किसी जगह से आरम्भ कीजिए, अन्ततोगत्वा आत्मा के ऊपर ही पर्यवसान होगा। प्रिय वस्तुओं की गणना में आत्मा ही श्रेष्ठ ठहरता है। आत्मा विशाल विश्ववृत्त का केन्द्र-स्थानीय है। विश्व की परिधि के किसी बिन्दु से गणना आरम्भ कीजिए केन्द्र को स्पर्श करते ही जाना पड़ता है। प्रियतम होने के हेतु ही पुत्रवत्सला ममतामयी माता की भाँति श्रुति मानवों को उपदेश देती है—आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः। आत्मा का साक्षात्कार करो। अये दुःखपीडित प्राणी, यदि तुझे क्लेश की असहनीय वेदना से अपनी रक्षा करनी है, आवागमन के पचड़े से अपने को बचाना अभीष्ट है, तो इस श्रेष्ठ आत्मा का श्रवण करो, मन्थन करो तथा निदिध्यासन करो। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तना का यही परिगलित फल है—आत्मानं विजानीहि और यूनान के मान्य महापुरुष का यही आदर्श वाक्य है—नौ दाइसेल्फ। आत्मा की यही साक्षादनुभूति कलात्मक चिन्तना तथा रसात्मक रचना का मूल स्रोत है।

मेघदूत का रहस्य

महाकवि कालिदास के मेघदूत काव्य का आध्यात्मिक रहस्य इस विषय को कितनी मनोज्ञता से झलका रहा है। आनन्दमय लोक में यह जीव कितने सुख के साथ अपना जीवन बिताता है। नित्य वृन्दावन में रसिकशिरोमणि भगवान् के साथ लीलारस में लीन यह जीव तन्मयता का अनुभव करता हुआ आत्मविभोर रहता है। अनन्त रास के मधुर रस का आस्वादन कर वह अपने को कृतार्थ समझता है। परन्तु विषम कर्म की विषमय परिणति ऐसी होती है कि वह उस आनन्द धाम से बहिष्कृत किया जाता है। भगवान् विष्णु के तृतीय क्रम से वह च्युत हो जाता है। 'भूरिशृंगाः अयासः' गायें जिस लोक में विचरण करती हैं उस गोलोक से वह अपने को भूलोक में पाता है। स्वर्ग से यही च्युति है। क्या हम सब प्राणी उस अमरावती के शापग्रस्त यक्ष नहीं हैं जिसे स्वामी के अभिशाप के कारण ललित अलका का परित्याग करना पड़ा है। कालिदास का यक्ष स्वर्ग-धाम से च्युत मानवमात्र का प्रतीक है। वह कर्तव्य के साथ प्रेम का, विश्वमंगल के साथ आत्मकल्याण का, परोपकार के साथ स्वार्थ का, सामंजस्य न रखने के कारण ही तो इतना आपद्ग्रस्त होकर जंगलों की धूलि छानता फिरता है। ईसाई मत के अनुसार ज्ञान के फल चखने के कारण स्वर्गलोक से 'आदम' अपनी प्रियतमा 'हौवा' के साथ निष्कासित किये गये थे। इस निष्कासन का भी यही रहस्य है। यह तो हुआ मानव जीवन का पतन पक्ष।

उत्थान पक्ष में ही मानवता की चरितार्थता है। यदि जीव शिव से वियुक्त होकर सन्तत वियोगाग्नि के भीषण दाह में दग्ध होता रहे, तो यह उसकी शक्तिशालिता के लिए नितान्त अनुचित है। वियोग की चरितार्थता संयोग की उपलब्धि में ही है। वियोग मानव के आध्यात्मिक विकास में, मानवता से ऊपर उठकर शिवत्व की उपलब्धि में, एक सामान्य अवधि है। इसी को चरमफल मानने वाला प्राणी कभी अपनी उन्नति का फल नहीं पा सकता और उच्चतम ध्येय तक पहुँच ही नहीं सकता है। पतन और उत्थान, ह्रास और वृद्धि, वियोग तथा संयोग दोनों ही आध्यात्मिक विकास के चरम उत्कर्ष के लिए नितान्त आवश्यक हैं। वियोग की वेदना हमारे हृदय को आमूल दग्ध कर रही है, आनन्द धाम की स्मृति आज भी जीव को आनन्द की झलक दिखला कर उसे संयोग के लिए उत्साह दे रही है। अमरत्व की प्राप्ति हमारा अन्तिम ध्येय है। मृत्यु से होकर हमें अमरत्व को पाना है। प्रपंच के द्वारा निष्प्रपंच की प्राप्ति करनी है। यह तभी सम्भव है जब हम अपने आत्मा की अनुभूति कर अपने आपको जानें।

विश्व में जितने रचनात्मक तथा रसात्मक कार्य-कलाप हैं वे इस आत्मशक्ति के ही विभिन्न तथा विचित्र स्फुरण हैं। आत्मा ही आनन्द की उपलब्धि के हेतु इन वस्तुओं का निर्माण करता है। आत्मा की ही आनन्द-रूपता से विश्व में आनन्दरूपता है। क्या चित्रकारी, क्या स्थापत्यकला, क्या कविता, क्या संगीत—सब इसी आनन्दमय रूप की अनुभूति के भिन्न भिन्न साधन तथा उपाय हैं। अतः भारतीय आलोचकों की दृष्टि में कला की रचना आत्मशक्ति की स्फुरणा है। काव्य के निर्माण में भी यही प्रेरक शक्ति है। आत्मा का स्वरूपोन्मेष काव्य का प्राण है। आनन्द का उन्मीलन ही काव्य का उद्देश्य तथा सुखपूर्वक चतुर्वर्ग की प्राप्ति ही काव्य का उच्च प्रयोजन है।

काव्यप्रेरणा और नवीन मनोविज्ञान

उपरिनिर्दिष्ट भारतीय मत के औचित्य समझने के लिए उसका पाश्चात्य मनोविज्ञान के द्वारा उद्भासित सिद्धान्तों के साथ तुलना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन मनोविज्ञान के अनुसार प्राणियों को भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रवृत्त कराने वाली तेरह प्रकार की मानसिक शक्तियाँ हैं जो सहजात होने के कारण 'मूल प्रवृत्तियाँ' (इनस्टिङ्क्ट) कही जाती हैं। ये विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की उत्तेजना से होती हैं और स्वयं विशेष क्रियाओं में प्रकाशित होती है[1]। नवीन मनोविज्ञान (साइको एनेलिसस) के जन्मदाता फ्रायड के अनुसार मनुष्य की समस्त अभिलाषाओं तथा चेष्टाओं का आधार एक ही शक्ति है जिसे वे 'लिबिडो' या मूल शक्ति के नाम से पुकारते हैं। इस मूल शक्ति के रूप निर्देश

---

१. मैकडूगल नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने 'आउट लाइन आफ साइकोलोजी तथा 'इनरजी आफ मैन' नामक ग्रन्थों में इसी मत की व्याख्या की है।

करने में ही फ्रायड् महाशय की मौलिकता है। उनके शिष्य एडलर तथा युंग ने भी इस मूल शक्ति को अंगीकार किया है। परन्तु उनकी इसकी रूपमीमांसा उनसे नितांत पृथक् तथा विलक्षण है।

१. फ्रायड—कामवासना

फ्राइड के अनुसार यह मूल शक्ति काममयी है। मनुष्य जो कुछ कार्य करता है जो कुछ भी चेष्टा करता है उसकी प्रेरिका होती है यह कामवासना, जो अपनी तृप्ति के लिए अनेक मार्गों को खोज निकालती है। जब इसकी तृप्ति साधारण मार्ग से नहीं होती, तब यह अपनी अभिव्यक्ति के लिए असाधारण मार्ग ढूढ़ लेती है। इस असाधारण मार्ग के अन्तर्गत इस इच्छा के अवरोध[1], मार्गान्तरीकरण[2], रूपान्तरकरण[3], अथवा शोध[4] की गणना की जाती है। इन्हीं के द्वारा सभ्यता का विकास होता है। फ्रायड के अनुसार जगत् के मौलिक प्रवृत्ति में यही कामवासना सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान रहती है। इस कामेच्छा के तीन रूप विश्लेषण से सिद्ध होते हैं—

(१) संभोगेच्छा जो विषम लिंग धारियों के दैहिक मिलन से सम्भव है तथा जिसका लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति है।

(२) मानसिक संयोग जो एक दूसरे के प्रति आकर्षण, प्रेमभाव तथा स्निग्ध बातचीत की इच्छा में अभिव्यक्त होता है,

(३) बालबच्चों के प्रति प्रेम तथा रक्षा का भाव। सन्तानोत्पत्ति गार्हस्थ्य जीवन का पर्यवसान है। यह साधारण अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। कामवासना साधारण रीति से अभिव्यक्त होकर अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है। मनोविज्ञान के मर्मज्ञों का परीक्षित सत्य है कि जब कामवासना के प्रकाशन का दमन किया जाता है, तब मानव जीवन में मार्मिक तथा प्रभावशाली घटनाओं की उत्पत्ति होती है। लोक-व्यवहार की घटनाओं में हम कामवासना की ही चरितार्थता का अनुभव करते हैं। कामवासना के निरोध में तथा उदात्तीकरण में ही कला की अभिव्यक्ति होती है। कामशक्ति के अधः प्रसरण से उत्पन्न होता है व्यावहारिक जीवन तथा कामशक्ति के ऊर्ध्व प्रसरण, परिशोधन या उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) से उदय लेता है साहित्यिक जीवन।

अतः फ्राइड के अनुसार कला का प्रेरणात्मिका शक्ति कामवासना ही है। उदात्त मार्ग में जब वह प्रकाशित होती है, भोग विलास में दैनन्दिन प्रवाह को

---

१. इनहिबिशन

२. रीडाइरेक्सन

३. ट्रैंस्फार्मेशन

४. सब्लिमेशन

रोककर जब उसका प्रवर्तन किसी उदात्त भावना की अभिव्यंजना के निमित्त किया जाता है, तब कला या काव्य का उद्गम होता है। प्रगतिशीलवादी आधुनिक आलोचकंमन्यों की यह धारणा कितनी भ्रान्त है कि कामवासना की अटूट तृप्ति ही काव्यकला की जननी है। यदि यही पक्ष मान्य होता, तो नैतिक जीवन से विरुद्ध आचरण करने वाले व्यभिचार-परायण व्यक्ति ही सबसे श्रेष्ठ कवि होता। परन्तु उनके प्रमाणभूत फ्रायड की ही उनके विरोध में घोषणा है कि कामवासना के परिशोधन तथा उदात्तीकरण से ही काव्यकला का जन्म होता है। महाकवियों तथा महनीय कलाकारों के जीवन ही उसके उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फ्रायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्य को स्वप्न का सगा भाई मानते हैं। काव्यलोक स्वप्नलोक की ही एक प्रतीकात्मक झाँकी है। उनकी मान्यता के अनुसार स्वप्न अन्तःसंज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की अन्तर्व्यञ्जना है। काव्य की भी दशा ठीक ऐसी ही है। इस दैनन्दिन जगत् में मनुष्यों की समग्र इच्छायें बाह्य रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ करतीं। किन्हीं इच्छाओं के ऊपर सामाजिक नियमों का इतना कड़ा प्रतिबन्ध लगा रहता है कि वे बाह्य जगत की अभिव्यक्ति में आकर कभी कृतार्थ नहीं होतीं। निरुद्ध होकर वे केवल अन्तः संज्ञा के भीतर दब जाती हैं और स्वप्न को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती हैं। काव्य के सम्बन्ध में भी स्वप्न की यह विशिष्टता सर्वथा जागरूक रहती है। विशालता, भव्यता, उदात्तता आदि की चढ़ी बढ़ी भावनायें अतृप्त बनकर उत्पादक प्रसंग की कमी के कारण अन्तश्चेतना में अज्ञातरूप से दबी पड़ी रहती हैं। काव्य ऐसी अतृप्त इच्छाओं की बाह्याभिव्यक्ति का एक कलात्मक मार्ग है जो केवल कवि के ही हृदय को हलका नहीं बनाता, प्रत्युत श्रोताओं के चित्त को भी प्रफुल्लित तथा आह्लादित करता है।

काव्य के विषय में फ्रायड का यही मान्य सिद्धान्त है, परन्तु विचार करने पर इस सिद्धान्त में अनेक त्रुटियाँ लक्षित होती हैं। काव्य को स्वप्न का प्रतिनिधि मान बैठना सरासर अन्याय है। यदि दोनों में कोई समता है तो वह इतना ही है कि जैसे स्वप्न हमारी बाह्य इन्द्रियों के सामने नहीं रहता; वैसे काव्य वस्तु भी नहीं रहती। परन्तु दोनों के स्वरूप में महान अन्तर है। कल्पना के द्वारा जिन काव्य-वस्तुओं की प्रतीति होती है उनका रूप स्वप्न की वस्तुओं की प्रतीति के समान नहीं रहता। स्वप्न में अनुभूत वस्तुयें प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक होती हैं, परन्तु कल्पनाप्रसूत वस्तु का यह विस्पष्ट रूप नहीं होता। एक और भी बड़ी त्रुटि इस मत में है करुण-रस के प्रसंग में। काव्य में करुण रस के उत्पादक प्रसंगों की कमी नहीं रहती; परन्तु क्या शोक की वासना की तृप्ति इस प्रकार कोई भी व्यक्ति चाहेगा। उसे आनन्द पाना नितान्त दूभर होगा। अतः इन

मनोवैज्ञानिकों का काव्य-विषयक मत कथमपि ग्राह्य तथा उपादेय नहीं हो सकता ।[1]

कामेच्छा का प्राबल्य हमारे शास्त्रों में भी सर्वत्र स्वीकार किया गया है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' (१०।१२६।४) ऋग्वेद के विख्यात नासदीय सूक्त में सृष्टि के आरम्भ में काम के उदय की कथा मिलती है। वासनारूप काम सूक्ष्म रूप से सृष्टि के मूल में सर्वत्र व्यापक दृष्टिगोचर होता है परन्तु उसी को एकमात्र मूल शक्ति मान लेना मानव जीवन के विकास की प्रेरिका अन्य शक्तियों की सत्ता का तिरस्कार करना है। अतः प्राबल्य मानकर भी मनोवैज्ञानिक उसका सर्वव्यापक रूप नहीं मानते। यह सिद्धान्त कला के आंशिक उदय की ही व्याख्या कर सकता है, समग्र रूप का नहीं।

२. ऐडलर—प्रभुत्व शक्ति

ऐडलर की सम्मति में मूल शक्ति प्रभुत्व-शक्ति है। दूसरे के ऊपर हावी होना प्रभुत्व दिखलाना; दबाव डालना, अपने व्यक्तित्व के उत्कर्ष से दूसरों को तिरस्कृत कर स्वयं महत्त्वशाली बनना आदि इसी मौलिक शक्ति के नाना अभिधान हैं। प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई व्यापक दोष होता है जो उसके मूल्य तथा महत्त्व को समाज में हीन बनाये रहता है। इस हीनता की ग्रन्थि से उसका मन इतना उलझा रहता है कि वह सन्तत उसे दबाकर या उसके ऊपर आवरण डालकर उस दोष के ठीक विरुद्ध गुण के सम्पादन में व्यस्त हो जाता है। सांसारिक प्रवृत्तियों का यही मूल स्रोत है। इसका सबसे सुन्दर प्राचीन दृष्टान्त है यूनानी वक्ता डिमास्थीनीज का। वह एथेन्स के उत्कर्ष काल में पैदा हुआ था। बालकपन में वह तुतलाकर बोलता था, परन्तु इस दोष के परिहारार्थ उसने इतना श्रम तथा उद्योग किया कि वह प्राचीन काल में श्रेष्ठ व्याख्यानदाताओं में सबसे श्रेष्ठ माना जाता था। ऐडलर प्रभुत्व-शक्ति के सामने अन्य किसी भी वृत्ति को प्रभावशाली नहीं मानते। इसीलिए उनका मनोविज्ञान 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' के नाम से प्रसिद्ध है।

कुछ अंश तक यह मीमांसा ठीक है। अपनी त्रुटि को दूर करने के अभिप्राय से अनेक व्यक्तियों ने अलौकिक कार्य करने में अपनी शक्ति तथा महिमा का परिचय दिया है। अपनी पत्नी के द्वारा तिरस्कृत तथा अनादृत होकर तुलसीदास ने अपने चरित्र की त्रुटि की मार्जना के निमित्त ही इतना अलौकिक कार्य कर दिखलाया है। वे इसी सिद्धान्त के दृष्टान्त रूप में उल्लिखित किये जा सकते हैं। परन्तु इसकी एकांगिता ही इसका सर्व प्रधान दोष है। हीनता की ग्रन्थि के निराकरण के लिए हमारी सारी प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं। संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति विद्यमान हैं जिनमें हीनता की विरोधिनी उदात्तता की ग्रन्थि विद्यमान है। ऐसे लोगों की प्रवृत्ति का मूल कहाँ खोजा जायगा ?

---

१. द्रष्टव्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —रसमीमांसा, (पृष्ठ २९३–२९४।)

३. युंग—आत्मसाक्षात्कार की वृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में असन्तोष के कारण प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग ने अपने लिए एक नया ही मार्ग खोज निकाला है। उन्होंने मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्यों को दो भागों में विभक्त किया है—बहिर्मुख और अन्तर्मुख। बहिर्मुख (एक्स्ट्रावर्टेड) वृत्ति वाले मानवों की दृष्टि सदैव संसार के भोग विलास की ओर लगी रहती है। जगत् में प्रतिष्ठा तथा यश पाना, अपने साथियों की दृष्टि में महत्वशाली बनना ऐसे प्राणियों का मुख्य उद्देश्य रहता है। अन्तर्मुख (इन्ट्रावर्टेड) प्राणी सदैव अपनी दृष्टि बाहरी विषयों से हटाकर भीतर की ओर ले जाता है और अपनी मानसिक शान्ति की खोज में रहता है। युंग का कहना है इन व्यक्तियों के चेतन मन तथा अचेतन मन में वास्तव विरोध रहता है। इनका चेतन मन उतना ही अप्रसन्न तथा दुःखी होता है। अन्तर्मुख व्यक्ति का चेतन मन तो उदास, अलस तथा दुःखी दीख पड़ता है, परन्तु उसका अचेतन मन एकान्त शान्त, प्रसन्न तथा आनन्दित रहता है। इस तथ्य का युंग ने नाम दिया है—**मानसिक समीकरण**। मानसिक क्रियाओं का, चाहे वे मनुष्य की प्रगति या प्रत्याचरण दिखलाती हों, अन्तिम लक्ष्य मानव जीवन को पूर्णता के लक्ष्य की ओर ले जाना है।

मानस विकास

हेडफील्ड नामक मनोवैज्ञानिक के मन्तव्यानुसार मानसिक विकास का लक्ष्य पूर्ण आत्मसाक्षात्कार करना है। पूर्ण आत्मसाक्षात्कार की मनोवैज्ञानिक[1] व्याख्या है— प्रत्येक चाह और अभिलाषा का पूर्ण तथा स्वातन्त्र्यरूपेण अभिव्यक्ति तथा विकास। जब तक हमारे मन के अन्तर्गत किसी कोने में किसी भी समय की, बालपन की या प्रौढकाल की, इच्छा अविकसित रूप से रह जाती है, चेतन मन के ऊपर आकर अपनी समग्र अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर लेती, तब तक हमारा मानसिक विकास अधूरा ही रहता है। आत्मा के पूर्ण साक्षात्कार करने की बात कल्पना जगत् की ही चीज होती है। आदर्श जीवन में वैयक्तिक सुख सम्बन्धी इच्छाओं और परमार्थ भाव का पूरा सामंजस्य रहता है। वह केवल ज्ञान का ही उपासक बनकर अपनी भावशक्ति को सुखा नहीं डालता और न

---

1. Self-realisation that is to say, the complete and full expression of all the instincts and impulses within us cannot be achieved so long as there are elements in our soul that are repressed and denied expression. In a fully realised self there is no conflict of purpose, no complexes, no repression, but the harmonious expression of all the vital forces towards a common purpose and end.

—Hadfield : Psychology and Morals p. 77

भाव की अत्यधिक सेवा से ज्ञान का पन्थ अवरुद्ध करता है, प्रत्युत ज्ञान तथा भाव, विचार तथा इच्छा उभय शक्तियों का इस प्रकार पूर्ण विकास करता है जिससे वे समष्टि के विरोधी न बन जांय। पूर्णता की प्राप्ति के लिये व्यक्ति के अचेतन मन के भाव का ज्ञान तथा उनका प्रकाश करना ही आवश्यक नहीं होता, वरन् समष्टि के अचेतन मन को जानना और उसके अनुसार आचरण करना भी आवश्यक होता है। आत्मसाक्षात्कार करने के लिए तथा अपने जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए हेडफील्ड ने उपदेश दिया है १. अपनी आत्मा को जानो, २. अपनी आत्मा को स्वीकार करो। ३. अपनी आत्मा में रहो। अतः आत्मा का ज्ञान तथा उस आत्मज्ञान को अपने जीवन तथा आचरण में लाना व्यक्ति के मानस विकास का लक्ष्य है।

युंग के सिद्धान्त के अनुसार आत्मसाक्षात्कार की वृत्ति ही कला तथा काव्य की प्रेरिका शक्ति है। कला व्यक्ति के मानसिक विकास का अन्यतम प्रकार है। अतः उसमें व्यक्ति के मानस विकास की पूर्णता तभी हो सकती है जब वह अपना साक्षात्कार सम्पन्न करता है। पूर्व प्रतिपादित भारतीय मत से यही मत मिलता है, परन्तु इस सिद्धान्त में भी अनेक बातें विचारणीय है। मेरी दृष्टि में आधुनिक मनोविज्ञान भी कला की प्रेरणाशक्ति की खोज करता हुआ उसी सिद्धान्त तथा मत को मानने के लिये बाध्य हो रहा है जिसे हमारे आलोचकों ने बहुत पहले से ही निर्णीत और निश्चित कर दिया है।



४ : २

काव्य का प्रयोजन

आज तक यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि काव्य का वास्तविक प्रयोजन क्या होता है। 'कला कला के लिए' का नारा लगाने वाले विद्वान् काव्य को जीवन से दूर की वस्तु मानते हैं। दूसरी ओर इसकी विरोधी विचारधारा के पोषक काव्यवेत्ता कविता को जीवन के लिए अर्थात् जीवन की वास्तविक व्याख्या के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रस्तुत लेख में दूसरी विचारधारा का पोषण करते हुए बताया गया है कि दोनों धाराओं में एक तत्त्व समान रूप से मिलता है—वह है कवि की रसानुभूति। रस से कविता का उद्रेक होता है। लेखक के विचार से काव्य इस जीवन से अलग की कोई वस्तु नहीं और इसीलिए काव्य का प्रयोजन जीवन से, उसके आरोहों अवरोहों से, सदा जुड़ा होता है।

काव्य के उद्देश्य की समीक्षा के प्रसंगों में पाश्चात्य जगत् का एक मान्य सिद्धान्त है 'आर्ट फार आर्ट सेक' अर्थात् 'कला-कला के लिए' जिसका अनुमोदन पश्चिमी जगत् के आलोचक तथा भारत के भी नवीन समीक्षक इधर करने लगे हैं। हम यदि कला के स्थान पर काव्य को रखें तथा प्रधान दृष्टि से काव्य का प्रयोजक रस मानें, तो इस सूत्र का अर्थ होगा कि रस ही रस का तात्पर्य है। रसात्मक वाक्य का पर्यवसान रस में ही होता है, उससे किसी बाह्य उद्देश्य की सिद्धि कथमपि नहीं होती। यदि इस सूत्र का यही तात्पर्य माना जाय तो कोई भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। रसोद्बोध के अवसर पर श्रोता तथा द्रष्टा के हृदय में राजस तथा तामस वृत्तियों का सर्वथा तिरस्कार होकर सात्त्विक भाव का प्राबल्य सम्पन्न हो जाता है। जब तक दुःखजनक रजोगुण तथा मोहजनक तमोगुण की प्रधानता बनी रहती है, आनन्दजनक सत्त्वगुण का उदय ही नहीं होता। रस की अनुभूति मुख्यता आनन्द की ही अनुभूति है। रसका अनुभवकर्ता उस सामाजिक अवसर पर अपनी स्वार्थमूलक वृत्ति की ही चरितार्थता नहीं मानता, प्रत्युत साधारणीकरण व्यापार के द्वारा सामाजिक अपने वैयक्तिक सम्बन्ध का परिहार कर समाज के साधारण व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करने लगता है। फलतः वह द्वैत भावना से ऊपर उठ कर अद्वैत भावना में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपनी वैयक्तिक आनन्दानुभूति को साधारण सामाजिक की आनन्दानुभूति में विसर्जित कर देता है। रस ही शिव है, सत्य है तथा सुन्दर है। रस दशा सर्वदा आनन्दकारिणी, मंगलदायिनी तथा कल्याण-जननी है। उस दशा की परिणति के उत्पादक समग्र रसोपकरण तथा रससामग्री सत्य, शिव तथा मंगल की अभि-

व्यक्ति के कारण नितान्त उपादेय तथा श्लाघ्य होती है। रसोद्बोधक कोई भी वस्तु अमंगलकारिणी नहीं हो सकती। रस के उन्मेष में कारणभूत काव्य के समग्र उपकरण इसी निमित्त से ग्राह्य तथा अनुग्राह्य होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सूत्र कथमपि आपत्तिजनक नहीं प्रतीत होता। परन्तु इस सिद्धान्त के उदय का इतिहास बतलाता है कि इसके उद्भावकों की दृष्टि में इस सूत्र का आशय कुछ दूसरा ही था।

अभिव्यञ्जनावाद

गत शताब्दी के मध्यकाल में इस सिद्धान्त का उद्गम फ्रांस के साहित्याकाश में हुआ। और यह उदय हुआ प्रतिक्रिया के रूप में। यूरोप में प्लेटो से आरम्भ कर गेटे तथा मेथ्यूअर्नाल्ड तक कला तथा नैतिकता का अभेद्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। इन मान्य प्राचीन आलोचकों की दृष्टि कला को नैतिकता के क्षेत्र से कभी बहिष्कृत नहीं देखना चाहती। नैतिकता की दृढ़ आधारशिला पर ही कला का विशाल किला खड़ा रहता है तथा नैतिकता के आधार के तिरस्कार के साथ ही यह किला ताश के किले के समान जमीन पर गिर कर टूक टूक हो जाता है। प्राचीनों के इस परस्पर सम्बन्ध के दृढ़ आग्रह से ऊब कर उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय आलोचकों ने, विशेषतः फ्रांस के नैसर्गिकवाद तथा यथार्थवाद के प्रचारक जोला, फ्लाउवर आदि लेखकों ने इस सिद्धान्त को अग्रसर किया कि कला का उद्देश्य कला ही है। अभिव्यंजनावादी आलोचकों का कथन है—अभिव्यंजना ही कला का विशुद्ध रूप है। कलाकार अपने विशिष्ट माध्यम के द्वारा अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति कर देता है। इतने में ही उसके कर्तव्य की इति-श्री हो जाती है। उसके कार्य का पर्यवसान होता है अनुभूतियों की अभिव्यंजना में। समाज तथा व्यक्ति के ऊपर उस अभिव्यंजना के प्रकट या गुप्त प्रभाव की मात्रा को न तो वह ढूँढ़ता है और न उसे ढूँढ़ निकालने की जरूरत होती है। कलाकार उस कोकिल के समान है, जो बसन्त की मस्ती में झूमती हुई डालियों पर बैठकर आनन्द से चहक उठता है। उसका चहकना किस के हृदय के भार को कम करने में समर्थ होगा अथवा किस विरही के चित्त में वियोग की आग भड़काने में चमक उठेगा? इसके विचार करने का न तो उसे समय है और न आवश्यकता। कलाकार का भी यही विशुद्ध स्वरूप है। वह वाह्य जगत् की स्वीय अनुभूतियों की अभिव्यंजना करके ही अपना काम समाप्त कर देता है। कला का बस इतना ही कार्य है, इतना ही उद्देश्य है। अतः इन आलोचकों की दृष्टि में कला का उद्देश्य अन्य कुछ न होकर स्वतः कला ही होती है। कला में सत्य की परिणति रहती है, परन्तु इस मत के प्रधान अंगरेजी आलोचक वाल्टर पेटर की सम्मति में अपनी अनुभूति की यथार्थ रूप से अभिव्यक्ति में ही सत्य का निवास है। कलाकार का यही कर्तव्य है और इतना ही कर्तव्य है— अभिव्य

जना की यथार्थता। अभिव्यंग्य वस्तु के सत्यासत्य के विषय में विचार करना उसके क्षेत्र से बाहर की बात है।

इस विषय की विवाद व्याख्या करना अपेक्षित है। एक मौलिक प्रश्न प्रथमतः विचारणीय है कि काव्य का उपादान या वस्तु कवि को तथा पाठक को स्पर्श करता है या नहीं? वर्ण्य वस्तु का लगाव न कवि से ही सिद्ध हो और न पाठक से ही, तो यह हठात् मानना ही पड़ेगा कि कविता का उद्देश्य स्वयं कविता ही है, परन्तु यदि इस सम्बन्ध का दूरतः संकेत भी उपलब्ध हो, तो काव्य के उद्देश्य पर हमें नवीन दृष्टि से विचार करना ही पड़ेगा। पूर्वोक्त प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि वस्तु कवि को भी स्पर्श करती है तथा पाठक को भी।

काव्य वस्तु

राजशेखर का स्पष्ट कथन है—

"स यत्स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्"।

कवि जिस स्वभाव का होता है तन्निर्मित काव्य भी उसके ही अनुरूप होता है। यदि काव्य की देहली पर कामवासना के कमनीय कुसुमों के द्वारा कन्दर्प देव ही की अर्चना दीख पड़ती है अथवा पुरुषत्वनाशक जघन्य लोल वासना का ही नग्न नृत्य दृष्टिगोचर होता है, तो मानना पड़ेगा कि कवि के चित्त में भी ये ही गर्हणीय वासनायें भरी पड़ी हैं। कोयला की खान से कोयला ही निकलता है और सोने की खान से सोना।

काव्य के वस्तु का धर्म पाठक को समधिक भाव से स्पर्श करता है। पाठक के हृदय में रसोन्मेष ही भारतीय आलोचकों के द्वारा निर्मित तथ्य है। रस भाव के ऊपर ही आश्रित होकर काव्य में उन्मीलित होता है। भरत मुनि का स्पष्ट आदेश है—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः —नाट्यशास्त्र

कोई भी रस भाव से वर्जित नहीं हो सकता अथवा कोई भी भाव रस से विहीन नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य यही है कि कितना भी रसोन्मेष से विलसित काव्य हो उसमें भाव का स्पर्श होगा ही अथवा भाव-प्रधान काव्य में रस का सम्पर्क अत्यल्प मात्रा में भी होता रहा है। पंडितराज जगन्नाथ के कथनानुसार—

'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।'

रति प्रभृति भाव द्वारा अवच्छिन्न या विशिष्ट हुए बिना चित् सत्ता कभी रसरूप में प्रकाशित नहीं होती। रस में भावावच्छिन्नता या भाव-वैशिष्ट्य की सत्ता होना नितान्त आवश्यक होती ही है। रस का विशुद्ध रूप कितना भी अलौकिक, लोकातीत क्यों न हो, उसे भाव का अवलम्बन करना ही पड़ेगा और यह भाव आश्रित रहता है वस्तु पर। संसार नाना पदार्थों की संघटना तथा परस्पर सम्पर्क से जायमान ललित लीलाओं का अथवा गर्हणीय क्रीड़ाओं का एक विलक्षण

सामूहिक अभिधान है। इन्हीं वस्तुओं को अवलम्बित कर कवि भावों की सृष्टि करता है। ऐसी दशा में हम जोर देकर कह सकते हैं कि काव्य वस्तु पाठक को केवल स्पर्श ही नहीं करती, प्रत्युत विलक्षण रूप से उनके मनस्तल को आलोड़ित करती है।

काव्य में वर्णित वस्तु पाठक के हृदय को नैराश्य के प्रचण्ड झंझावात में कभी उद्विग्न कर देती है और कभी आशा की स्निग्ध चन्द्रिका के उदय से उसे शीतल तथा सजीव बना देती है। कभी उसका हृदय धनिकों तथा समर्थों के उत्पीड़न के शिकार बने निर्धन तथा आर्त पुरुषों के करुण अश्रान्त चीत्कार से उद्दीप्त हो उठता है, तो कभी ममतामयी-माता के वात्सल्य गंगा जल से धुलकर उज्ज्वल तथा शान्त बन जाता है। काव्य की वस्तु पाठकों को बिना आलोड़ित या प्रभावित किए बिना क्षण भर भी स्थिति लाभ नहीं कर सकती। हम रस की गम्भीर अनुभूति वाले मस्त-मौला मर्मज्ञों की बात नहीं करते। उनकी रस दशा स्वतन्त्र होती है तथा चिरस्थायी होती है, परन्तु साधारण पाठकों की रस दशा क्षणिक होती है। रस के अनुभूति काल में सत्त्व गुण तम तथा रज को दबाकर अपना स्वातन्त्र्य बनाये रहता है तथा आनन्द की चरम अनुभूति होती है। रस दशा के पर्यवसान में केवल आनन्द की स्मृति शेष रह जाती है और बच जाती है केवल भावों कीं अनुभूति। इस भावानुभूति की तीव्रता तथा शोभनता के निमित्त वस्तु की शोभनता नितान्त आवश्यक होती है। सत्वस्तु का इसीलिए उत्कृष्ट प्रभाव पड़ता है पाठकों के ऊपर। काव्य वस्तु की अशोभनता कथमपि वांछनीय नहीं होती। वस्तु की सदरूपता, उपादेयता तथा ग्राह्यता के ऊपर इसीलिए कवि को सर्वदा ध्यान देना आवश्यक होता है।

साहित्य और समाज

साहित्य समाज का दर्पण है और समाज साहित्य की कृति है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विश्व-साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि शोभन साहित्य सुन्दर समाज की रचना में कृतकार्य होता है तथा औदार्यपूर्ण समाज सत्साहित्य की प्रेरणा का विमल परिणाम होता है। कवि सामाजिक प्राणी है—वह अपनी सत्ता, स्थिति तथा समृद्धि समाज का श्लाध्य अंग बन कर ही पा सकता है। कवि समाज की एक कमनीय कृति है। कवि अपने समाज का प्रतिनिधि होता है। इसी प्रकार वह समाज का स्रष्टा भी होता है। कवि अपने हाथ में हिंसा तथा विद्रोह, विनाश तथा वैर को प्रेरित करने वाले साहित्य को लेकर समाज को सभ्यता के अधःपतन की ओर ले जाने में समर्थ होता है। दूसरी ओर कवि त्याग तथा औदार्य, शौर्य तथा औदात्य के प्रेरक साहित्य के द्वारा समाज को अधिक त्यागशील तथा उदार बना कर उसे उदीप्त तथा तेजस्वी बनाता है। आदर्श कवि कविता में ऐसे वस्तु का निर्वाचन करता है जो समाज में प्रेम तथा

त्याग का महनीय आदर्श प्रस्तुत करता है, श्रेय तथा प्रेय का मंजुल सामरस्य प्रस्तुत करता है, आदर तथा श्रद्धा की समधिक वृद्धि करता है। कवि का प्रधान कार्य है आत्म चैतन्य का प्रबुद्ध करना। सुप्त आत्म—चैतन्य की भावना समाज को जड़, अलस तथा निरुद्यम बनाकर उसे अवनति के गर्त में ढकेल देती है। साहित्य आत्म—चैतन्य को प्रबुद्ध कर उसे बलवान् बनाता है, ओजस्विता से मण्डित करता है तथा सामर्थ्य शक्ति का उन्मीलन करता है। समाज को सुगठित करने में कवि की महत्त्वशालिनी लेखिनी अपना जौहर दिखाने में कभी चूक नहीं करती। उसके अदम्य प्रभाव के प्रवाह को समाज रोक नहीं सकता। कवि अपने विचार के आलोक से आवृत्त होकर स्वतः स्वच्छन्द वृत्ति से ऐसी गीत के गायन में प्रवृत्त होता है जिससे समस्त विश्व आशा तथा भय के द्वारा सहानुभूति की ओर अग्रसर हो जाता है जिसका अब तक उसे तनिक भी ध्यान नहीं था। इस दृष्टि से वह एकान्त में चहकने वाले तथा विश्व में शान्ति तथा सुख का सन्देश सुनाने वाले कोकिल के नितान्त सदृश है। महाकवि शैली ने स्वानुभूति की इस प्रख्यात पद्य में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्ति की है।

"लाइक ए पोयट डिवाइन इन दि लाइट आव थाट,
सिंगिंग हिम्स अनबिडेन टिल दि वर्ल्ड इज राट,
टु सिम्पैथी होप्स एन्ड फियर्स इज हीडेड नाट।"

जगती कवि वाणी के प्रभाव के प्रसार की लीलाभूमि है। समाज कवि वाणी के द्वारा उन्मीलित प्रेम तथा आशा, दया तथा औदार्य के प्ररोह का उर्वर क्षेत्र है। ऐसी दशा में कवि को अपनी वस्तु के लिए सदा सतर्क रहना चाहिए। निकृष्ट उपादान से उत्कृष्ट भाव की सृष्टि एकदम असम्भव है। क्या समाज के लिए हेय तथा अग्राह्य उपकरण से उच्च काव्य की कथमपि सृष्टि हो सकती है? काव्य का लक्ष्य अध्यात्म के सदृश ही श्रेय की सृष्टि है और वह तभी साध्य है जब समाज के शोभन उपकरणों का योग कवि अपने काव्य में करता है। ऐसी दृष्टि से काव्य का अन्तिम लक्ष्य काव्य नहीं हो सकता।

काव्य के पक्ष

ध्यान देने की बात है कि काव्य के दो ही पक्ष होते हैं—सुन्दर तथा कुरूप। कवि की दृष्टि सदा सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तु के रूप रंगों में हो अथवा मनुष्य के मन, वाणी तथा कर्म में हो। कवि की अन्तर्दृष्टि सौन्दर्य को निरखती है और उसकी वाणी उसी की अभिव्यक्ति सुन्दर शब्दों के द्वारा करती है। भला-बुरा, मंगल-अमङ्गल, पाप-पुण्य आदि शब्द नीति-शास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र से सम्बद्ध शब्द हैं। ये काव्य क्षेत्र से बाहर रहते हैं। विशुद्ध काव्य के क्षेत्र में न कोई वस्तु भली होती है न बुरी, न उपयोगी होती है न अनुपयोगी। कवि केवल दो ही बातों पर ध्यान देता है कि वह सुन्दर है या कुरूप। मंगल

वस्तु या सुन्दर वस्तु में कथमपि अन्तर नहीं होता। धार्मिक जिस वस्तु को अपनी दृष्टि से मंगलमय मानता है उसे ही कवि अपनी दृष्टि से सुन्दर समझता है। दृष्टिभेद होने पर भी वस्तु का रूपगत भेद नहीं होता। कवि के इस दृष्टिविशेष पर ध्यान देने से अनेक समस्याओं का स्वतः समाधान हो जाता है कि काव्य सत् होता या असत्? कवि प्रचारक होता है या उपदेशक? काव्य की नीति से ऐकमत्य है या वैमत्य? जो सुन्दर है वही शिव है, वही सत्य है। कवि के इस वैशिष्टच पर लक्ष्य रखने से काव्य सौन्दर्य से युक्त होते ही मंगलमय होता है। सौन्दर्य मांगल्य का प्रतीक है। सौन्दर्य सत्य का प्रतिनिधि है। काव्य में जितने प्रकार के सौन्दर्य का एकत्र संविधानक प्रस्तुत किया जाता है वह उतना ही रमणीय तथा आवर्जनीय, प्रभावशाली तथा उत्कर्षाधायक बन जाता है। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के चित्रण में अन्तः सौन्दर्य के साथ रूप-माधुरी का सन्निवेश वाल्मीकि की प्रतिभा का सुन्दर विलास है। उदात्त नाम का बाहरी सौन्दर्य उसके अन्तःकरण के सौन्दर्य का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। प्राकृतिक सौन्दर्य के साहाय्य पाने पर इस सौन्दर्य की गरिमा और भी अधिक विमुग्धकारिणी बन जाती है। सौन्दर्य का चित्रण करने वाले कवि का काव्य कथमपि अमंगल आदर्श प्रस्तुत नहीं करता। अतः मुख्यता लक्ष्य न होने पर भी सत्कवि की वाणी समाज का परम मंगल, शाश्वत कल्याण उत्पन्न किये बिना नहीं रहती।

काव्य को मूलतः 'जीवन की आलोचना' माननेवाले आर्नाल्ड महोदय का भी यही तात्पर्य है। हमने ऊपर कहा है कि काव्य तथा जीवन में घनिष्ठ तथा श्लाघ्य सम्पर्क स्थापित रहता है। कवि अपने सामने प्रस्तुत जीवन के नाना अंशों पर अपनी पैनी दृष्टि डाल कर अपने काव्य में चित्रित करता है। कवि होता है आदर्शवाद का पक्षपाती। काव्य में यथार्थवाद की ओर इधर विशेष पक्षपात दृष्टिगोचर हो रहा है, परन्तु कवि वस्तु के हेय पक्ष का ग्रहण न कर उसके ग्राह्य पक्ष का ही अनुरागी होता है। पाठक काव्य-निबद्ध वस्तु के अनुशीलन से अपनी दशा का सूक्ष्म निरीक्षण तथा तुलना करता है तथा अपने जीवन को उदात्त तथा मंगलमय बनाने के लिए अश्रान्त परिश्रम करता है। इस प्रकार काव्य जीवन का मूलतः आलोचन ही होता है।

नैतिकता उदात्त कविता की जीवनी शक्ति है। नैतिक भावना से विद्रोह करने वाली कविता वस्तुतः जीवन से विद्रोह करने वाली कविता है। नैतिक भावना का अवहेलनामय काव्य जीवन के प्रति अवहेलनात्मक काव्य है।

कविता

कविता जीवन की मनोरंजिनी व्याख्या है। कवि पदार्थों के सौन्दर्य पक्ष तथा अध्यात्मपक्ष को ग्रहण कर अपने काव्य में निबद्ध करता है। पदार्थों का हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा हम किस प्रकार उस प्रभाव को व्यक्त करते हैं? इसका स्पष्टीकरण काव्य के द्वारा होता है। काव्य के प्रभाव को व्यापक,

दूरगामी तथा विशाल बनाने के आशय से कवि को वस्तु निर्वाचन की ओर सावधानी रखनी चाहिए। तुच्छ तथा क्षुद्र विषय पर प्रतिभा के सहारे कविता करने वाले कवियों की रचनायें क्षणिक मनोरंजन से अधिक मूल्य नहीं रखती। शाश्वत प्रभाव उसी काव्य का पड़ता है जिसका विषय अधिक से अधिक प्राणियों के अन्तस्तल को स्पर्श करता है तथा शाश्वत मानववृत्ति का चित्रण करता है। इस प्रसंग में प्रगतिवादी आलोचकों का अपना एक पक्ष है। उनकी दृष्टि में काव्य या कला का मुख्य उद्देश्य यही है कि वह सम्पन्न पुरुषों के द्वारा निर्धनों तथा निरीहों के ऊपर किये अत्याचारों का स्फूर्तिमय विवरण प्रस्तुत करता है। उनका तो यहाँ तक बढ़ कर कहना है कि जो काव्य इस प्रकार कार्य में योगदान नहीं देता वह काव्य ही नहीं है। इस सम्प्रदाय के एक आलोचक की तो यहाँ तक सम्मति है कि वर्तमान काल में लिखित कोई भी ग्रन्थ शोभन नहीं हो सकता, यदि वह मार्क्सीय अथवा प्रायः मार्क्सीय दृष्टि से नहीं लिख गया हो। दूसरे आलोचक का कहना है कि कला श्रेणी-संग्राम या वर्गयुद्ध का एक विशिष्ट यन्त्र है जो दरिद्र श्रमिक संघ के द्वारा उनके अन्यतम अस्त्र के हिसाब से अनुशीलित होना चाहिए। इन उक्तियों को पढ़ कर यह प्रतीत होता है कि कला या कला के उद्देश्य की हत्या इससे अधिक नहीं हो सकती। जो कला कुलांगना के समान उद्दीप्त भावभंगी से सम्पन्न होकर राजसिंहासन की शोभा को विकसित करती थी वही अब दरिद्रता के पंक से मलिन-वेश ललना के कार्य सम्पादन के निमित्त उपयोग में लगाई जा रही है। 'कला-कला के लिए' इस सिद्धान्त तक गनीमत थी, परन्तु अब 'कला प्रचार के लिए' यह सिद्धान्त तो कला के कोमल उद्देश्य पर भीषण तुषारपात है तथा उसके पवित्र लक्ष्य की निर्मम हत्या है।

काव्य का भारतीय उद्‌देश्य

भारतीय आलोचकों ने काव्य का उद्देश्य उभय प्रकार का बतलाया है। भरत मुनि का कथन है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि-विवर्धनम्।
लोकोपदेश-जननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

इस पद्य का गम्भीर अर्थ बतलाते हुए अभिनव गुप्त का मार्मिक विवरण है कि नाट्य स्वतः हितकारक नहीं होता, प्रत्युत वह हित प्रतिभा का जनक होता है। क्या नाटक गुरु के समान उपदेश देता है? या नाट्य नीतिशास्त्र के समान साक्षात् रूप से उपदेश प्रदान करता है? अभिनव का स्पष्ट उत्तर है—नहीं, किन्तु बुद्धि को बढ़ाता है; वैसी प्रतिभा का ही विवरण करता है। इसका स्पष्ट आशय यही प्रतीत होता है कि नाट्य श्रोताओं की बुद्धि बढ़ाता है—उनकी प्रतिभा को ही उन्नत कर देता है जिससे वे अपना हितचिन्तन स्वयं करने लगते हैं।

भामह की दृष्टि में साधु काव्य का निषेवण कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) उत्पन्न करता है। विश्वनाथ कविराज काव्य को चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सुगम

साधन स्वीकार करते हैं। काव्य के द्वारा मानव जीवन के चारों लक्ष्य, चतुर्विध पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की उपलब्धि अनायास रीति से होती है। मम्मट के द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्यों का विश्लेषण करने से काव्य का द्विविध प्रयोजन प्रतीत होता है—मुख्य तथा गौण। इनमें मुख्य प्रयोजन है—सद्यः पर-निर्वृत्ति, काव्य पाठ के समनन्तर सद्यः उत्पन्न होने वाला सातिशय आनन्द। यही उद्देश्य 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' माना गया है। काव्य पाठ से तुरन्त होने वाला अलौकिक आह्लाद ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है। गौण प्रयोजन अनेक हैं जिनमें यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, विघ्ननाश तथा कान्तासम्मित उपदेश-दान है। काव्य नीतिशास्त्र के समान रूखा-सूखा उपदेश देने में ही अपनी कृतकार्यता नहीं मानता। सरसता के साथ उपदेश देना ही काव्य का प्रयोजन है, परन्तु यह भी अमुख्य प्रयोजन है। श्रोता तथा पाठक के हृदय में अलौकिक आनन्दमय रस का उन्मीलन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। आरम्भ में कहा गया है कि इस रसोन्मेष के सिद्धान्त से काव्य की मांगलिकता तथा कल्याणपरायणता पर तनिक भी आँच नहीं आती। मम्मट का यह प्रतिपादन काव्य के द्विविध प्रयोजन की ओर संकेत करता है।



४ : ३

कवि और काव्य

हमारे आद्य आलोचक भरतमुनि ने नाटच की उत्पत्ति के अवसर पर नाटच के स्वरूप की समीक्षा करते हुए इस प्रश्न का विशद उत्तर प्रस्तुत किया है। नाटच सार्ववर्णिक पंचम वेद है जिसके अंगों की रचना त्रैवर्णिक वेदों के विशिष्ट अंशों से ही की गई है। नाटच का पाठच ऋग्वेद से संग्रहीत किया गया है, गीति सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से तथा रस अथर्ववेद से। नाटच को सार्ववर्णिक कहने का यही तात्पर्य है कि इसका क्षेत्र नितान्त विस्तृत तथा व्यापक है, क्योंकि यह सब वर्णों के लिए उपयोगी और उपादेय है। वेदत्रयी के समान इसका श्रवण स्त्री तथा शूद्र जाति के लिए निषिद्ध नहीं है। इस व्यापक तथा विस्तृत क्षेत्र सम्पन्न होने के कारण ही भरत मुनि ने नाटच को 'सर्व शास्त्रार्थ सम्पन्न', 'सर्व शिल्प प्रवर्तक', 'नाना भावोपसम्पन्न', 'नाना-वस्थानान्तरात्मक', 'लोकवृत्तानुकरण', 'सप्तद्वीपानुकरण' बतलाया है।

नाटच की वस्तु के विषय में भरत का मान्य मत है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत् कर्म नाटचेऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

(नाटच शास्त्र १।११७)

ऐसा कोई ज्ञान—उपादेय आत्मज्ञान आदि नहीं है, न कोई शिल्प (माला, चित्र, पुस्तक आदि की रचना) है, न ऐसी कोई विद्या (दण्ड नीति आदि) ही है, न यह कला (गीत, वाद्य, नृत्य आदि) है, न ऐसा कोई योग (योजना) है, और न कोई व्यापार (युद्ध, नियुद्ध आदि) ही है जो इस नाटच में नहीं दिखलाई पड़ता।

भामह का भी काव्य-वस्तु के विषय में इसी प्रकार का सिद्धान्त है—

न स शब्दो न तद् वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया।
जायते यन्न काव्याङ्गम् अहो भारो महान् कवेः॥

(काव्यालंकार ५।३)

विश्व में न ऐसा कोई शब्द है, न कोई अर्थ, न कोई शिल्प है, न कोई क्रिया जो काव्य का उपादेय अङ्ग बन कर उसकी सहायता नहीं करता। कवि का उत्तरदायित्व सचमुच महान् है, विपुल है।

अग्निपुराण काव्यस्रष्टा को जगत्स्रष्टा प्रजापति से तुलना कर उसके उदात्ततम स्थान तथा महनीय उत्तरदायित्व की ओर संकेत कर रहा है।

कवि प्रजापति का ही प्रतीक है।

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

अपार काव्य संसार के बीच में कवि ही एक प्रजापति है। उसे जैसा रुचता है वैसा ही वह इस विश्व की रचना करता है।

भारतीय आलोचकों की दृष्टि बड़ी उदार तथा प्रशस्त है। वे काव्य नाट्य में किसी भी वस्तु या शिल्प का वर्जन करना नहीं चाहते। विश्व के प्रजापति के समान ही हमारे काव्य के स्रष्टा कवि का सम्माननीय पद है। नीलकण्ठ दीक्षित ने बड़े ही मार्के की बात कही है कि श्रुति परब्रह्म की स्तुति के अवसर पर उन्हें न तो तार्किक बतलाती है और न दार्शनिक। वह 'कवि' शब्द का ही प्रयोग उस सर्वशक्तिमान के लिए करती है। यह काव्य कला का समस्त कलाओं तथा दर्शनों के ऊपर विजयघोष है। जगत् में कवि उस अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म का जीवित प्रतिनिधि है। नाट्य वेद के समान आदरणीय, श्रद्धास्पद तथा उपादेय है। ऐसी उदार दृष्टि वाले भारतीय आलोचकों के विचार संकीर्ण तथा अनुदार कथमपि नहीं हो सकते। वे काव्य में किसी भी वस्तु का वर्जन करना पसन्द नहीं करते। जिस आलोचक वर्ग की धारणा है कि भारतीय साहित्य में केवल शोभन, रोचक तथा मनोज्ञ पदार्थों की ही वर्णना है, वे नितान्त भ्रान्ति में पड़े हुए हैं। भारतीय साहित्य सुख-पक्ष तथा दुःख-पक्ष दोनों को उचित रूप में अंकित करने में कृतसंकल्प है।

नाट्य का रूप

लोकचरित का अनुकरण ही नाट्य है। लोक के व्यक्तियों का चरित्र न तो एक समान होता है और न उनकी अवस्था ही एकाकार होती है। हम किसी व्यक्ति को सांसारिक सौख्य की चरम सीमा पर विराजमान पाते हैं, तो किसी दूसरे को दुःख के तमोमय गर्त में अपना भाग्य कोसता हुआ पाते हैं। सुख तथा दुःख, बुद्धि तथा ह्रास, हर्ष तथा विषाद, प्रसाद तथा औदासीन्य इन नाना प्रकार की मानसिक वृत्तियों की विशाल परम्परा की ही संज्ञा 'लोक' है। इन्हीं नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से संयुक्त, लोकवृत्त का अनुकरण ही नाट्य है। तात्पर्य है कि हमारा साहित्यिक किसी विशिष्ट वस्तु को ही अपनी रचना का विषय नहीं बनाता, प्रत्युत वह मुक्तहस्त से प्रत्येक विषय का, चाहे वह क्षुद्र से भी क्षुद्रतम हो अथवा महान् से भी महत्तम हो, समान भाव से स्वागत करने के लिए सदा तैयार रहता है। उसकी दृष्टि में कोई भी वस्तु न तो गर्हणीय है और न हेय। समस्त वस्तु होती है उपादेय तथा उपयोगी। आलोचकों का शास्त्रीय विवेचन तथा कवियों का व्यावहारिक प्रदर्शन इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। आनन्दवर्धन का कथन बड़ा ही युक्तिपूर्ण है—

'वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य चाङ्गत्वं प्रतिपद्यते न तदस्ति वस्तु किञ्चित् यन्न चित्त-वृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कवि-विषयतैव तस्य न स्यात् ।'

जगत् की समस्त वस्तुएँ अवश्य ही किसी न किसी रस का अंग बनती हैं। जगत् में उस वस्तु का सर्वथा अभाव है जो कवि के चित्त में वृत्ति-विशेष को उत्पन्न नहीं करती, क्योंकि यदि वह वृत्तिविशेष उत्पन्न नहीं करती, तो वह कवि के लिए विषय ही नहीं बन सकती। आशय है कि पदार्थ की पदार्थता यही है कि साक्षात्कार होने पर वह कवि के हृदय में कोई विशिष्ट चित्तवृत्ति उपजावे। नहीं तो उसका होना और न होना एक समान ही है। इस युक्ति से देखने पर संसार की प्रत्येक वस्तु कवि की वर्णना का विषय बनती है और किसी न किसी रस का अंग बनती है। रसोपयोगी समग्र उपकरणों का संग्रह कवि के लिए आवश्यक होता है।

धनञ्जय की दृष्टि में काव्य-विषय की इयत्ता नहीं हैं। कवि की भावना से भावित होने पर प्रत्येक वस्तु, चाहे वह क्षुद्र हो, रम्य हो; उदार हो, जुगुप्सित हो रसत्व को प्राप्त कर लेती है। वस्तु के विषय में ही यह तथ्य जागरूक नहीं होता, प्रत्युत अवस्तु काल्पनिक वस्तु भी काव्य का विषय बनकर रमणीयता तथा मनोज्ञता प्राप्त कर लेती है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम् उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद् वाऽप्यवस्तु कविभावक-भावनीयं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥

(दशरूपक ४। ८५)

संसार की प्रत्येक वस्तु काव्य का विषय है। प्रत्येक पदार्थ रस का अंग है। उसके स्वरूप पर बिना दृष्टिपात किये ही कवि अपनी भावना-शक्ति से उनमें ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देता है कि वे विशुद्ध आनन्द प्रदान करने लगते हैं। वस्तु की बात तो पृथक् रहे, अवस्तु—कल्पना-प्रसूत अप्रसिद्ध अज्ञात-वस्तु भी वही चमत्कार उत्पन्न कर देती है। चाहिए जादूगर की वह छड़ी। जादूगर जिस वस्तु के ऊपर अपनी मोहिनी छड़ी फेर देता है वही चीज उछलने-कूदने लगती है, चमत्कार पैदा कर देती है। कवि की भावना शक्ति की भी यही अलोक-सामान्य महिमा है। काव्य के क्षेत्र के भीतर आते ही पदार्थ में जीवनी शक्ति आ जाती है, आनन्द उत्पादन करने में विचित्र क्षमता उन्हें प्राप्त हो जाती है। कवि के लिए विषय की अवधि नहीं है। इसीलिए भामह आश्चर्यभरे शब्दों में कवि-कर्म की महिमा उद्घोषित करते हैं—अहो भारो महान् कवेः।

धनञ्जय ने कहा है कि वस्तु की बात दूर रहे, जो अवस्तु भी है—कल्पना-जगत् में ही जिसका अस्तित्व विद्यमान रहता है—वह भी कवि की प्रतिभा के बल पर काव्य का विषय बन जाता है और आनन्द उत्पन्न कर सकता है।

अवस्तु से आनन्द

नैषध-चरित में श्रीहर्ष की इस सुन्दर उक्ति की परीक्षा कीजिए—

अस्य क्षोणिपतेः परार्ध्यपरया लक्षीकृता संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिर—प्रख्याः—किलाकीर्तयः ।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरान्
मूकानां प्रकरेण कूर्म—रमणीदुग्धोदधे रोधसि ।।

(नैषधीय चरित १२।१०६)

इस राजा की अकीर्ति परार्ध्य से ऊपर वाली संख्या से गिनी गई है तथा प्रज्ञाचक्षु (अन्धों) के द्वारा दृश्यमान अन्धकार के समान श्यामवर्ण की है। कछुए की स्त्री के दूध वाले समुद्र के किनारे बैठ कर बाँझ के पेट से पैदा होने वाले गूँगों का समुदाय अष्टम स्वर में इन अकीर्तियों का गान करता है ! इस पद्य में अवस्तु अर्थात् कल्पित वस्तुओं की दीर्घ परम्परा का परस्पर सम्बन्ध उत्पन्न कर कवि श्रोताओं के हृदय को आनन्द रस में लीन कर रहा है। परार्ध्य से ऊपर की संख्या, प्रज्ञाचक्षु के द्वारा दर्शन, अष्टम स्वर, वन्ध्या का पुत्र, मूक का गायन, कूर्मरमणी का दुग्ध—समस्त वस्तुएँ कवि की कमनीय कल्पना से प्रसूत हैं; वास्तव जगत् में इनकी सत्ता विद्यमान न होने पर भी कवि की भावना से भावित होते ही उनमें अलौकिक आनन्द उत्पन्न करने की योग्यता विद्यमान हो गई है। 'योग्यता' की कमी के कारण यह पद्य 'वाक्य' नहीं हो सकता, तथापि यह काव्य है और सुन्दर काव्य है। अतः विश्वनाथ कविराज का यह आग्रह कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है' अनेक आलोचकों की दृष्टि में निराधार, निःसार तथा प्रमाणविहीन लक्षण है, कोरी हठधर्मिता ही है।

काव्यवस्तु के विषय में भारतीय आलोचकों की ही यह विचार धारा नहीं है, प्रत्युत पाश्चात्य कवि और आलोचक भी अपने अनुभव तथा तर्क से इसी मत का पोषण करते हैं। महाकवि शेक्सपीयर की प्रसिद्ध सूक्ति है—

'कवि की सुन्दर चक्षु उन्मादना से पूरित बन,
कटाक्ष से देखती है स्वर्ग से भूतल और भूतल से स्वर्ग,
और जब कल्पना स्फुरित होती है,
तब अज्ञात वस्तुराशि के रूप को कवि की लेखनी गढ़ती है उनकी मूर्ति,
शून्य तुच्छ वस्तु को देती है वासस्थान और नाम'।

महाकवि शेली ने अपने काव्य-विषयक प्रबन्ध में स्पष्टतः लिखा है—

कविता सब वस्तुओं को सौन्दर्य से मण्डित बना देती है। जो स्वयं सुन्दर होता है, उसके सौंदर्य को बढ़ा देती है और जो वस्तु अत्यन्त कुत्सित होती है, उसके साथ सौन्दर्य का योग कर देती है।

तत्ववेत्ता शोपेनहावर का कथन है कि इस संसार में ऐसे पदार्थ का अभाव है जो स्वयं विशिष्ट भाव से सुन्दर हों; परन्तु प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य की उपलब्धि की योग्यता विद्यमान है, यदि हम लोग उपयुक्त प्रतिभा के अधिकारी हों।

रवीन्द्र के विचार

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने इस विषय का बड़ा ही मार्मिक विवेचन अपने एक पत्र में किया है। उनका कथन है कि साहित्य में हम समग्र मनुष्य को पाने की आशा रखते हैं, परन्तु सब समय समग्र को पाया नहीं जाता—उसका एक प्रतिनिधि ही पाया जा सकता है, जिसे समस्त मनुष्य के रूप में स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति न हो। प्रेम, स्नेह, दया, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या—ये सब हमारी मानसिक वृत्तियाँ हैं। ये यदि अवस्था के अनुसार मानव प्रकृति के ऊपर एकच्छत्र आधिपत्य प्राप्त करें, तो इससे हमारी अवज्ञा या घृणा का उद्रेक नहीं होता। क्योंकि इन सबके ललाट पर राजचिन्ह हैं—इनके मुख पर एक प्रकार की दीप्ति प्रकट होती है।

काव्य में वही वस्तु उपादेय मानी जा सकती है, जो मनुष्य की समग्र मानवता को प्रकट करने की क्षमता रखे। जो गुण केवल एक-देशीय होता है, जो मानवता की सच्ची अभिव्यक्ति करने वाला नहीं होता, वह व्यापक होने पर भी काव्य में उपादेय नहीं माना जा सकता। 'औदरिकता' (पेटूपन) को ही लीजिए। यह व्यापक गुण है, कथमपि असत्य नहीं है; परन्तु फिर भी काव्य में इसे हम राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। समग्र मनुष्य का प्रतिनिधि मानने में हमें अत्यन्त आपत्ति है। रवीन्द्र के स्मरणीय शब्दों में 'कोई वास्तविकता का प्रेमी पेटूपन को ही अपने उपन्यास का विषय बनाते और कैफियत देते समय कहे कि पेटूपन पृथ्वी का एक चिरन्तन सत्य है। इसलिए साहित्य में वह क्यों नहीं स्थान पायेगा? तो इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि 'साहित्य में हम सत्य को नहीं चाहते, मनुष्य को चाहते हैं ...... चाहे अपने दुःख के द्वारा हो, चाहे दूसरों के, प्रकृति का वर्णन करके ही हो या मनुष्य के चरित्र का चित्रण करके, जैसे भी हो मनुष्य को प्रकाशित करना ही होगा; बाकी सारी बातें उपलक्ष्य हैं। ...... केवल प्रकृति का सौन्दर्य ही कवि का वर्ण्य विषय नहीं है। प्रकृति की भीषणता और निष्ठुरता भी वर्णनीय है। किन्तु वह भी हमारे हृदय की वस्तु है, प्रकृति की वस्तु नहीं। अतएव ऐसा कोई वर्णन साहित्य में स्थान नहीं पा सकता जो सुन्दर न हो, शान्तिमय न हो, भीषण न हो, महत् न हो, जिसमें मानवधर्म न हो अथवा जो अभ्यास या अन्य कारण से मनुष्य के साथ निकट सम्पर्क में बद्ध न हो।'

काव्य में दो पक्ष

इस समीक्षा से स्पष्ट है कि कविता केवल कमनीय उद्यान के बीच में तड़ाग में विकसित कमल की सुषमा के वर्णन में ही चरितार्थ नहीं होती, प्रत्युत उस श्याम रंग पंक को भी वह नहीं भूलती जिससे पंकज का जन्म होता है। वह समग्र मानव को अपनी कमनीय आभा से आलोकित कर प्रकट करने का उद्योग

करनी है। कवि जानता है कि मानवता देवत्व से भी बढ़ कर अधिक स्पृहणीय गुण है देवत्व में जीवन केवल एक सुभग पक्ष—सौख्यपक्ष—की ही उपलब्धि होती है, परन्तु मानवता में सौख्यपक्ष तथा दुःखपक्ष उभयपक्षों का सुभग चित्रण किया जाता है। मानव जीवन की सफलता का रहस्य है कर्मजीवन के बीच संघर्ष तथा तज्जन्य विजय। हमारे साहित्य में इसीलिये कवियों ने जीवन के उभयपक्षों की अभिव्यक्ति की है, उपभोगपक्ष तथा प्रयत्नपक्ष। जो कवि केवल प्रेम के माधुर्य की लीला गाने में ही व्यस्त रहता है, वह होता है उपयोग पक्ष का कवि, परन्तु काव्य में इतना ही श्लाघनीय नहीं है। उसकी रचना में प्रयत्न-पक्ष की लीला भी फूटनी चाहिए। कवि वृद्धि तथा ह्रास, हर्ष तथा विषाद, उल्लास तथा अवसाद, उन्नति तथा अवनति—इन दोनों के बीच उत्पन्न संघर्ष के चित्रण में भी अपनी कला का विलास दिखलाता है। "लोक में फैली हुई दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्‌भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामञ्जस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामञ्जस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य हैं।" और इसी लोक-धर्म का उद्‌घाटन कवि अपनी कविता में शब्दों के माध्यम द्वारा सम्पन्न करता है। इसीलिए कवि के लिए काव्य में सब पदार्थ उपादेय होते हैं। वह किसी भी पदार्थ का तिरस्कार नहीं कर सकता। कवि के लिए यह नियम सदा जागरूक रहता है।

काव्यगत वस्तु विभाव के रूप में परिणत होकर ही रस के उन्मीलन में कृतकार्य होती है। रसोन्मेष में सफल होना ही काव्य वस्तु का वस्तुत्व है। इसके निमित्त कतिपय नियमों का पालन कवि के लिए नितान्त आवश्यक होता है।

इतिवृत्त दो प्रकार का होता है। एक प्रकार तो वह है कि जो उस देश के इतिहास या पुराण में प्रसिद्ध है, और दूसरा प्रकार वह है जिसे कवि की उर्वर कल्पना शक्ति स्वतः अपने बल पर उत्पन्न करती है। पहला प्रकार है ऐतिहासिक तथा पौराणिक वृत्त, ख्यात वृत्त। दूसरे प्रकार का नाम है काल्पनिक वृत्त या उत्पाद्य वृत्त। कवि अपने काव्य की वस्तु रचना के निमित्त उभय प्रकार के कथानकों से सामग्री एकत्र करता है तथा उन्हें संश्लिष्ट बनाकर कविता का निर्माण करता है।

औचित्य-बोध

कवि स्वतन्त्र होता है। अपनी प्रतिभा के बल पर निर्माण करने में स्वच्छन्द होता है, परन्तु इस विषय में सकी स्वच्छन्दता के नियमन करने की भी जरूरत रहती है, नहीं तो वह इतना विकृत वस्तु प्रस्तुत कर सकता है, जिसे पाठक पहचान नहीं सकते। कवि के स्वाच्छन्द्य के नियमन का प्रधान साधन है—औचित्य बोध। उचित वस्तु ही काव्य में निबद्ध की जा सकती है, अनुचित नहीं, क्योंकि

औचित्य का रसोन्मीलन के साथ बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। "औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" (क्षेमेन्द्र)। इससे सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है। बिना औचित्य के काव्य में रस का उत्स नहीं फूटता—रस का समुचित संचार नहीं होता।

इसीलिए कथा में औचित्य के ऊपर भरत, लोल्लट, यशोवर्मा तथा आनन्दवर्धन का समभावेन आग्रह है। लोल्लट का तो इस विषय में स्पष्ट अभिप्राय है कि रसवत् वस्तु का ही उपन्यास काव्यों में उचित होता है, रसहीन वस्तु का नहीं। काव्य में सरित, समुद्र, प्रभात तथा चन्द्रोदय आदि वस्तुओं का वर्णन उसी हद तक उचित माना जाता है जहाँ तक वे रस के विकास में सहायक होते हैं, अन्यथा वे कवि की व्युत्पत्ति का ही सिक्का श्रोताओं के ऊपर जमाने में समर्थ होते हैं। आनन्दवर्धन का विवेचन तो विशेष विस्तृत तथा हृदयग्राही है। इतिवृत्त में भावौचित्य की सत्ता विशेष आवश्यक होती है। भावौचित्य प्रकृत्यौचित्य पर आश्रित रहता है। साहित्य में प्रकृति मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—उत्तम, मध्यम तथा अधम अथवा दिव्य, मानुष तथा दिव्यादिव्य। इन तीनों प्रकृतियों का कार्य स्वभाव तथा प्रकर्ष भिन्न भिन्न रहता है। औचित्यतत्व का आग्रह है कि कवि प्रत्येक प्रकृति का निरूपण ठीक उसके स्वभाव के अनुरूप करे। दिव्य प्रकृति के लिए जो वर्णन स्वाभाविक तथा अनुरूप हों उनका निर्देश मानुष प्रकृति के लिए कथमपि नहीं करना चाहिए। वह कवि अपनी कविमर्यादा का उल्लंघन करता है जो किसी भूपति के ऐश्वर्य का उत्कर्ष दिखलाते समय उसे सात समुद्रों के लंघन करने की घटना का निवेश करता है—

केवल मानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमाना सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति। तत्र अनौचित्यमेव हेतुः—ध्वन्यालोक ३।१० (वृत्ति)।

राजा कितना भी महिमाशाली क्यों न हो, कितना भी उत्कर्ष सम्पन्न क्यों न हो, मनुष्य होने के नाते उसके बलवर्णन की एक निर्धारित सीमा है। उसके लिए सात समुद्रों को लाँघने का व्यापार सुन्दर होने पर भी अनुचित होता है। ऐसा वर्णन करनेवाला कवि कविता के साथ मजाक करता है। अनुचित वृत्त का निवेश काव्यकला के महनीय आदर्श के साथ खेलवाड़ करना ही है।

अभिनवगुप्त ने इस स्थल की व्याख्या करते समय अपना सिद्धान्त बड़े संक्षेप में दिया है—

यत्र विनेयानां प्रतीति-खण्डना न जायते, तदत्र वर्णनीयम्॥

वस्तु उसी रूप में वर्णन करनी चाहिए जिससे दर्शक तथा पाठकों के चित्त में प्रतीति खण्डित न हो। बाह्य वस्तु का काव्य में सत्य रूप से उपन्यास होने पर ही सामाजिक को उससे साक्षात् रसबोध होता है। यदि असत्य रूप से उनका

विन्यास किया जाता है तो अभीष्ट फल का उदय कथमपि नहीं हो सकता। चतुर्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त काव्य जागरूक रहता है, परन्तु किसी मानव राजा के सप्तार्णवलंघन की झूठी कथा सुन कर सामाजिक समग्र वर्णन से ही अपना विश्वास उठा लेता है? इसीलिए आनन्दवर्धन ने औचित्य को काव्यशास्त्र का उपनिषद्-रहस्य-बतलाया है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥
(ध्वन्यालोक पृ० १४५)

जिस प्रकार उपनिषत् विद्या के अनुशीलन से ब्रह्म की सद्यः स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार औचित्य के अनुशीलन से ब्रह्मास्वाद-सहोदर रस का साक्षात् उन्मीलन होता आया है। अन्त में आनन्दवर्धन ने जोर देकर कहा है कि कवि को विशेष रूप से विभावादिकों के अनौचित्य के परिहार करने में यत्नवान् होना चाहिए। बिना इस औचित्य की रक्षा के रसोन्मेष नितान्त दुःसाध्य व्यापार है। कवि इतिहास-सम्बंधिनी कथाओं में, अत्यन्त रसवती होनेपर भी उन्हीं को ग्रहण करे, जो विभावादि-औचित्य से मण्डित हों। वृत्त कथा की अपेक्षा उत्पाद्य कथा के विषय में उसे और भी अधिक सावधान होने की जरूरत होती है।

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत् प्रतिभासते॥
(ध्वन्यालोक पृ० १४७)

उत्पाद्य वस्तुवाली कथा का निवेश इस प्रकार से होना चाहिये कि समस्त वस्तु रससम्पन्न सामाजिक को प्रतिभासित होने लगे। और इसका प्रधान उपाय विभवादि के औचित्य का सम्यक् अनुस्मरण है। पाश्चात्य आलोचकों का इस विषय में भिन्न मत नहीं हैं। भारतीय आलोचकों के समान औचित्य का सिद्धान्त पश्चिमी लेखकों के यहाँ भी माननीय काव्यतत्त्व है। औचित्य कला का नितान्त स्पृहणीय सिद्धान्त है।

अरस्तू का इस विषय के कथन इस मत के स्पष्ट पोषक हैं। उनकी उक्ति है—'काव्य में कवि के लिये उचित है कि वह असंभव घटनीय वस्तु की अपेक्षा सुसंभव अघटनीय वस्तु का निर्वाचन करें। उनका अन्यत्र कथन है—घटना के भीतर ऐसी कोई वस्तु न होनी चाहिये जो युक्ति या प्रतीत के अगोचर हो। इससे स्पष्ट है कि उनका आग्रह औचित्य-संपन्न घटना के ऊपर ही है। इस प्रकार औचित्यपूर्ण वस्तु-विन्यास के द्वारा समग्र मानव की अभिव्यक्ति ही कला की चरम अवस्था है।

४ : ४

'मानस' की महत्ता

रामायण भारतवर्ष का सिद्ध ग्रन्थ है। यह भारतीय सभ्यताका चूड़ान्त निदर्शन है—भारतीय संस्कृतिका अनुपम आगार है। केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हमलोग भारतीय सभ्यता की रूप-रेखा खींच सकते हैं, भारतीय आदर्शको भलीभाँति समझ सकते हैं। है भी यह भगवदवतार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का पवित्र चरित्र। हमारे जितने भी आदर्श हैं उनका इस ग्रन्थ में हम उदात्त विशुद्ध रूप पाते हैं। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पत्नी, आदर्श राजा, आदर्श प्रजा—इत्यादि जितने भी भारतीय समाजके आदर्श हो सकते हैं उनका जीता-जागता स्वरूप हमें रामायण में मिलता है। इसी कारण यह भारतीयों की अमूल्य निधि है -अनमोल खजाना है। यवद्वीप, सुवर्णद्वीप आदि नये उपनिवेशों में भारतीय सभ्यता की स्थापना की महनीय इच्छा से प्रेरित होकर भारतीय औपनिवेशिकों ने रामायण का ही सहारा लिया था। वे इस देश के बाहर जहाँ कहीं गये, वहाँ वे अपने साथ रामायण की पोथी लेते गये और वहाँ इसका प्रचुर प्रचार किया। वहाँ की भाषा में इसका अनुवाद किया। रामायण के आधार पर वहाँ नाटक बने, महाकाव्य निर्मित हुए, गद्यग्रन्थों की रचना हुई। जावा और बालीद्वीप की प्राचीन 'कवि' भाषा में आज भी रामायण के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार भारत में रामकी लीलाएँ देखकर भारतीय जनता अपने आदर्श के जीवन्त रूप को देखकर आनन्दमग्न होती है, उसी प्रकार जावा और बाली में आज भी लोग रामलीला को देखकर आनन्द से विभोर हो उठते हैं। इस प्रकार रामायण के प्रसार का इतिहास भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के विकास का इतिहास है।

संस्कृत में अनेक रामायणों की रचना हुई है। 'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्' में अतिशयोक्ति नहीं है, यह तो अधिकांश में वस्तुस्थिति के आधारपर है। आज से तीन सौ वर्ष पहले जिन रामायणों की उपलब्धि होती थी वे भी आज नहीं मिलते। शाहजहाँ के समय में श्रीकवीन्द्राचार्य के ग्रन्थालय में जिन पचासों रामायणों की सत्ता थी आज उनके नाम भी तो कहीं नहीं मिलते। इसी प्रकार भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं तथा किन्हीं-किन्हीं उपभाषाओं में भी रामायण की रचना हुई है। इस प्रकार राम का पावन चरित्र भारत के कोने-कोने में व्याप्त हुआ और उनकी ललित लीलाओं ने इस भारतभूमि को और भी पुण्यतम बना दिया। इन रामायणों में हम तुलसीदासरचित रामचरितमानस की

विशेषतापर दृष्टि डालेंगे और साथ-ही-साथ वाल्मीकिरामायण तथा अध्यात्म-रामायण की विशेषतापर भी तारतम्य के प्रदर्शन के विचार से किञ्चित् ध्यान देंगे।

वाल्मीकिरामायण

वाल्मीकिरामायण महर्षि वाल्मीकिजी की पुण्यमयी रचना है, जिसमें लगभग २४ हजार श्लोक हैं। वाल्मीकि ने श्री रामचन्द्र का चरित्र आदर्श पुरुष के रूपमें अङ्कित किया है। मर्यादा की रक्षा करनेवाला महान् पुरुष जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का आचरण करेगा, इसका सच्चा स्वाभाविक वर्णन वाल्मीकीय रामायण में विद्यमान है। यह कर्मप्रधानात्मक महाकाव्य है ऐसा महाकाव्य है जिसमें प्रत्येक पात्रके कार्यों को विस्तृतरूपसे, याथातथ्य प्रकारसे, दिखलाया गया है। इस कारण इस रामायण में वर्णित पात्रोंका ठीक-ठीक रूप, जैसा चाहिये वैसा हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। श्रीरामचन्द्रजी के प्रातः स्मरणीय और श्लाघनीय चरित्र की उदात्तता का जैसा नैसर्गिक चित्र वाल्मीकिजीने खींचा है वैसा किसी भी रामायण में नहीं मिल सकता। अन्य पात्रों के चरित्र की भी यही दशा है। वाल्मीकिरामायण के अध्ययन करनेपर ही हम उनके महत्त्व को भलीभाँति समझ सकते हैं। उदाहरण के लिए सुन्दरकाण्ड में वर्णित हनुमान्-जी के चरित्र को लीजिये। मेरा तो कहना है कि सुन्दरकाण्डका बिना अध्ययन किये हम हनुमान् जी के अदम्य उत्साह, अलौकिक बल, असाधारण धैर्य और प्रखर बुद्धिवैभव को समझ ही नहीं सकते। समुद्र को पार करना कितना विकट कार्य था, यह वाल्मीकि जी ही ने दर्शाया है। जब हनुमान् जी ने महेन्द्र पर्वत को आकाश में उड़ने के पूर्व अपने चरणों से दबाया, तब मतवाले हाथीके कपोलों के तरह उससे जल की धारा अकस्मात् फूट निकली। जीवोंने भयसञ्चार के कारण इतना हल्ला मचाया, जान पड़ता था कि पृथिवी, दिशाएँ, वन और उपवन सब प्रचण्ड नादसे व्याप्त हो गये हों, विद्याधरों को जान पड़ा कि यह पहाड़ फट रहा है, इसलिये उन्होंने सोनेके बरतनों में रक्खे हुए स्वादु भोजनों को छोड़ दिया और अपनी स्त्रियों के साथ डरके मारे आकाशमें चले गये। हनुमान्-जी के इस विकराल रूप और प्रभावकी व्यञ्जना अन्यत्र कहाँ मिलेगी। लङ्का विशाल दुर्गम दुर्गों की रचना के कारण सर्वथा अगम्य थी, फिर भी इस लङ्का में प्रवेशकर और तर्क वितर्क कर सीताजी की टोह लगाने में मारुति ने जिस चातुर्य और व्युत्पन्न बुद्धिका परिचय दिया है वह क्या कहीं अन्यत्र उपलब्ध हो सकता है? तुलसीदासजी ने तो मानस में हनुमानजी को लंका में प्रवेश कराकर विभीषण जी से भेंट करा दी है और उन्हीं के द्वारा हनुमानजी को सीता के निवास का पता बतला दिया है—

पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥

पर वाल्मीकि ने हनुमानजी को अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर सीता का पता लगाते दिखलाया है। अशोकवाटिका में रामचरित का कीर्तन कर अपना परिचय

देने में स्वाभाविकता, पकड़े जाने पर रावण की सभा में अपने कार्य की सूचना देने में निर्भीकता, शत्रुओं से घिरे रहने पर भी निश्चिन्तता धारण करने में नैसर्गिक धीरता, रावण से बातचीत करने में वाक्चतुरता, लौटने पर वानरों के सामने सीताजी की कुछ गोपनीय बातों को छिपाने में राजनीतिज्ञता—आदि जिन गुणों का वर्णन वाल्मीकि ने नितान्त स्वाभाविक ढंग से किया है वैसा वर्णन अन्यत्र कहीं है ही नहीं, यह हम बिना किसी सन्देह के कह सकते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक पात्र के चरित्र के विषय में समझना चाहिये। रावण सीताजी से अपना प्रेम जतला रहा है, उस समय जनक नन्दिनी ने केवल एक बात कहकर जिस प्रकार उसका अनादर किया है और अपने पवित्र पातिव्रत धर्म पालन करने की सूचना दी है वह नितान्त उदात्त और महत्वपूर्ण है।

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥

(सुन्दरकाण्ड २६। १०)

'इस निन्दनीय निशाचर रावण को मैं बायें चरण से भी नहीं छू सकती, भला उससे मैं किस प्रकार प्रेम कर सकती हूँ।'

जानकीजी का सहस्रों निशाचरियों की क्रूर भर्त्सना सुनते हुए भी यह वचन कहना कितना महत्त्वपूर्ण है; इसे पाठक सहज ही में समझ सकते हैं। वियोग-विधुरा सीता के वर्णन करने में वाल्मीकि ने उपमाओं की लड़ी रच दी है। उसके देखने से वाल्मीकि की प्रतिभा के साथ-साथ सीताजी की पवित्रता का पता हमें चलता है—

संसक्तां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः॥ ३०॥
तां स्मृतीमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव॥ ३१॥
सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव।
अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव॥ ३२॥
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव॥ ३६॥

(सुन्दर काण्ड सर्ग १५)

चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर अनेक आध्यात्मिक बातों का भी सन्निवेश किया गया है। समुद्र पार करते समय हनुमान्‌जी ने प्राणों का अवरोध कर लिया था और उस पार पहुँचने पर उन्होंने तनिक भी निःश्वास नहीं लिया—

अनिःश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति।

—इत्यादि सूचनाएँ वाल्मीकि के गहरे ज्ञान की बोधिकाएँ हैं। इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण रामचरित्र की विशालता, उदात्तता तथा महत्ता को पर्याप्त मात्रा में बतलाने वाला अलौकिक काव्य माधुरी से सम्पन्न महाकाव्य है जिसका

अध्ययन प्रत्येक भारतीय को अपने प्राचीन गौरव और संस्कृति को समझने के लिये करना नितान्त आवश्यक है।

अध्यात्मरामायण

इसके नाम से ही इसके वर्णन की सूचना मिलती है। इसमें श्रीरामचन्द्र का चरित्र अध्यात्मज्ञान के आधार पर वर्णित किया गया है। इसमें राम जी अयोध्या के अधीशरूप में वर्णित नहीं किये गये हैं और न जानकी जी केवल उदात्तचरित्र जनक की नन्दिनीमात्र हैं, उनके इस रूप की ओर रचयिता का कुछ भी ध्यान नहीं है। उनका समग्र ध्यान राम-सीता के आध्यात्मिक रूप के प्रदर्शन में लगाया गया है। राम पुरुष हैं, सीता प्रकृति हैं; राम परमब्रह्म हैं और सीता उनकी अनिर्वचनीया माया हैं। इन्हीं की लीला का विकास यह सम्पूर्ण विश्व है। ब्रह्म और माया ने ही देवताओं के द्वारा पृथ्वी के महान् भार को उतारने की प्रार्थना किये जाने पर इस संसार में आकर अपनी लीला का विस्तार दिखलाया है। पूरा रामचरित इसी ब्रह्म-माया की अनोखी विचित्र चरितावली का मनुष्य समाज के उपकार के लिये किया गया पावन चरित्र है; इसकी सूचना ग्रन्थारम्भ के मंगल श्लोक से स्पष्टत: हो जाती है—

> यः पृथिवीभरवारणाय दिविजैः संप्रार्थितश्चिन्मयः
> सञ्जातः पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः।
> निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद् - ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
> कीर्तिं पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे॥

आगे चलकर उत्तरकाण्ड के सुप्रसिद्ध 'रामगीता' में तो अद्वैतवेदान्त की प्रख्यात पद्धति से 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों के परिशोधन और ज्ञान का वर्णन बड़ी विशुद्धता और विशदता के साथ किया गया है। इस प्रकार अध्यात्मरामायण ने ज्ञान को मूलभित्ति मानकर रामचन्द्र के चरित्र का वर्णन किया है। इस रामायण की यही अपनी खास विशेषता है।

रामचरितमानस

इन दोनों देववाणी में लिखे गये रामायणों की विशेषता पर ध्यान देने से मानस की महत्ता सहज ही में जानी जा सकती है। तुलसीदास ने मानस में राम के चरित्र का वर्णन करने के लिये भक्तिपक्ष का आश्रय लिया है। भक्ति की मूलभित्तिपर रामचरित को खड़ा किया है। श्रीरामचन्द्र के विषय में तुलसीदास की कौन सी भावना थी, इसे उन्होंने अपने ग्रन्थ में अनेक स्थानों में स्पष्टरूप से प्रदर्शित किया है। श्रीराम जी स्वयं भगवान् के रूप हैं और श्रीजानकी जी साक्षात् शक्तिरूपा हैं। राम से ही क्यों, राम के रोम-रोम से करोड़ों विष्णु, ब्रह्मा और शिव की उत्पत्ति होती रहती है; उसी प्रकार श्रीसीता जी के शरीर से करोड़ों उमा,

रमा और ब्रह्माणी का आविर्भाव हुआ करता है। ये दोनों साक्षात् भगवान् और भगवती के आकार हैं; दो शरीर होने पर भी उनमें नैसर्गिक एकता बनी हुई है। सीताराम की परिदृश्यमान अनेकता में भी अन्तरङ्ग एकता का वर्णन तुलसीदास जी ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

जिस प्रकार वाणी और अर्थ में एकता बनी हुई है और जल-वीचि (लहरी) में एकता बनी हुई है, यद्यपि ये दोनों देखने में भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रही हैं, उसी प्रकार सीता और राम में भी बाह्य भिन्नता को बाधित करती हुई अभिन्नता विद्यमान है। सीता-राम का अभेद दिखलाते समय गोसाईं जी ने इस तरह दो उदाहरणों को रक्खा है। इनके रखने में गोसाईं जी ने अपने हृदय की बात व्यक्त कर दी है। पहली बार गिरा-अर्थ का दृष्टान्त है, जो महाकवि कालिदास के—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

—पद्य में दिये गये दृष्टान्त से मेल खाता है। वाणी और अर्थ की अभिन्नता को समझना सर्वसाधारण का काम नहीं है, प्रत्युत शब्दशास्त्र के तत्त्व को समझने वाले विद्वानों का काम है। अतएव सर्वसाधारण की प्रतीति के लिये उन्होंने सर्वत्र दृश्यमान और सहज में बोधगम्य जल तरङ्ग की अभिन्नता का उदाहरण पेश किया है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल पर आते समय भी गोसाईं जी ने शब्दयोजना की विशेषता के कारण एक चमत्कार पैदा कर दिया है। पहली बार स्त्रीलिङ्गद्योतक उपमान पहले रक्खा गया है और दूसरी बार पीछे। शक्ति के उपासकों के लिये शक्ति की प्रधानता है, शक्तिमान् की गौणता। पर शक्तिमान् (भगवान्) के उपासक के लिये शक्तिमान् की प्रधानता है, शक्ति की गौणता। इस प्रकार दो प्रकार के उदाहरणों को रखते समय गोसाईं जी ने इन्हें सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य ही नहीं बनाया है, प्रत्युत शक्तिरूपिणी सीता और शक्तिमान् स्वरूपी राम के द्विविध उपासकों को पृथक् रूप से पर्याप्त मात्रा में सन्तुष्ट कर दिया है। इस तरह युगल सरकार की मनोरम जोड़ी की वास्तविक एकता को गोसाईं जी ने स्पष्टरूप से प्रदर्शित किया है।

यही कारण है कि रामचरित्र का वर्णन करते समय तुलसीदासजी ने उनके वास्तविक रूप को कहीं भी नहीं भुलाया है, बल्कि पाठकों को बारम्बार याद दिलाया है कि केवल नर-लीला करने के विचार से ही सरकार ऐसा चरित कर रहे हैं। अन्यथा वे तो साक्षात् परमात्मा ठहरे, उनको किसी प्रकार का क्षोभ नहीं, किसी पर क्रोध नहीं; सुवर्णमृग पर भी किसी प्रकार का लोभ नहीं, इत्यादि।

मायामृग के पीछे मनुष्य लीला करने के लिये जो दौड़े चले जा रहे हैं वे वही व्यक्ति हैं जिनके विषय में श्रुति नेति नेति कहकर पुकार रही है और शिवजी भी जिनको ध्यान में भी नहीं पाते—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछें सो धावा॥

ऐसे प्रसङ्गों की बहुलता को देखकर कुछ आलोचक गोसाईंजी पर तरह तरह का आक्षेप किया करते हैं। उनसे मेरा यही कहना है कि उन लोगों ने तुलसीदास के दृष्टिकोण को भली-भाँति परखा ही नहीं; यदि वे श्रीरामविषयक उनकी भावना का ऊहापोह किये रहते, तो इस प्रकार की अनर्गल आलोचना करने का दुःसाहस नहीं करते। व्यापक दृष्टि से देखने पर मानस में कोई भी प्रसङ्ग आक्षेप करने के लायक नहीं है।

गोसाईंजी ने उत्तरकाण्ड में ज्ञान और भक्ति के विषय में अपने विचारों को स्पष्टरूप से बड़ी खूबी के साथ दिखलाया है। उस प्रसंग के अवलोकन करने से भक्ति की प्रधानता स्पष्ट ही प्रतीत होती है। ज्ञान-दीपक के देखने से ज्ञान की दुरूहता का पता भली-भाँति लग जाता है। ज्ञान के जिस दीपक के जलाने के लिये इतने परिश्रम और प्रयास करने पड़ते हैं वह थोड़ी ही विघ्नबाधाओं के सामने बुझ जाता है। और उधर भक्ति? भक्ति तो साक्षात् चिन्तामणि की तरह सुन्दर है। उसका परम प्रकाश दिन-रात बना रहता है और न तो उसके लिये 'दिया' चाहिये, न घृत और न बाती। लोभ का वायु उसको बुझा भी नहीं सकता। प्रबल अविद्या का अन्धकार उसके आगे झट से मिट जाता है। कामादि खल उसके निकट नहीं फटकते, मानसिक रोग भी उसे व्याप्त नहीं करते, जिसके पास यह भक्ति-चिन्तामणि विद्यमान रहता है। अतः भक्ति और ज्ञान में आकाश और जमीन का अन्तर है—महान् भेद है। इसी कारण गोसाईंजी ने अपना सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों में प्रदर्शित किया है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

उपसंहार

संक्षेप में तीनों प्रसिद्ध रामायणों में यह भिन्नता है कि इनमें से प्रत्येक में राम का चरित्र एक विशेष ढंग से वर्णन किया गया है। वाल्मीकि रामायण में कर्म को आधार मानकर राम की लीलाएँ वर्णित की गयी हैं; अध्यात्मरामायण में ज्ञान को आश्रय देकर; रामचरितमानस में भक्तिपक्ष को लेकर। इस प्रकार इन तीनों रामायणों के द्वारा एक-एक की पूर्ति होती है, पुनरुक्ति नहीं। यही कारण है कि देववाणी में लिखे गये आदिकवि श्रीवाल्मीकि के द्वारा निर्मित रामायण के

रहते हुए भी विवेकी पण्डितजन भाषा में भी लिखे गये मानस का अध्ययन प्रेम से करते हैं और उसमें सानन्द अवगाहन कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं। तुलसी दास की यही बड़ी विशेषता है कि जिसके कारण उनका नाम संस्कृत के महाकवियों के साथ सादर लिया जाता है और इस कलिकाल में वे आदिकवि वाल्मीकि के अवतार ही माने जाते हैं। जबतक हम भारतीयों में अपने प्राचीन गौरव के प्रति प्रेम है और जबतक हमलोग मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र में पूज्यबुद्धि धारण कर उनकी लीलाओं के सुनने में हर्ष और सन्तोष प्रकट करते हैं जबतक वाल्मीकि की कृति के समान ही तुलसीदासजी के इस अनूपम ग्रन्थरत्न रामचरितमानस का भी आदर सदा होता रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह को स्थान नहीं है।

४ : ५

जयदेव और तुलसीदास—भावसाम्य

अँगरेजी में कहावत है—"पोयट्स आर बार्न, नाट मेड" कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता। समग्र प्रतिभाशाली कवियों का इतिहास इस सिद्धांत की यथेष्ट पुष्टि करता है। कविता प्रतिभा की सुदृढ़ भित्ति पर ही अच्छी तरह खड़ी हो सकती है। जिस कवि में इस प्रतिभा का —नवोन्मेषिणी प्रज्ञा का—अभाव है, जो कवि अपनी स्वभाविक कल्पना के पंखों पर उड़कर स्वर्गीय भाव-सुधा को मर्त्यलोक में लाना नहीं जानता, क्या उसकी कविता-कामिनी के हाव-भाव सहृदयों के रसीले हृदय को कभी खींच सकते हैं? उसके मधुर शब्दविन्यास कभी कर्णपुटों में सुधा की वर्षा कर सकते हैं? उसके मनोरम भाव क्या कभी रसिकजनों के चित्त में चुभ सकते हैं ? क्या उसके ललित अलंकारों की छटा कभी इन प्यासे नयनों को तृप्त कर सकती है? कदापि नहीं। रस से सरसाती, चित्त में घाव करने वाली कविता के लिये प्रतिभा की परमावश्यकता है। संस्कृत साहित्य के आलंकारिक-शिरोमणि मम्मटाचार्य ने भी कविता के त्रिविध साधन बतलाते समय 'प्रतिभा' को ही सबसे पहला स्थान दिया है। इस प्रतिभा का विकास कवि के हृदय में जन्म से ही होता है—पूर्वकालीन संस्कार के बल से इस प्रतिभा की निर्मल धारा कवि के हृदय में प्रबल वेग से बहने लगती है। वाल्मीकि की जिह्वा से अकस्मात् ही कविता का प्रवाह निकलने लगा था। अंधे होमर को किसी विश्वविद्यलय की डिग्री नहीं मिली थी। उसकी क्रमबद्ध शिक्षा के विषय में भी ग्रीक इतिहास मौनव्रत अवलंबन किए हुए है। वह अपनी प्रतिभा के अनुपम विमान पर चढ़कर ही सैंकड़ों वर्ष पूर्व घटित होनेवाले ट्रोजन संग्राम की छोटी से छोटी घटनाओं को देखता था और अपने अमर महाकाव्य 'ईलियड' में वर्णन करता था। महाकवि शेक्सपियर की वह अनुपम नाटच-कला तथा अनमोल कविता उसकी प्रतिभा के बल से ही प्रसूत हुई थी। अतएव यदि आलोचकगण सच्चे कवि को खरादा गया न समझकर जन्म से ही चमकने वाला, अँधेरे को उजेला बनाने-वाला हीरा समझें तो वह सिद्धान्त सत्यता से बहुत दूर न होगा।

काव्य सामग्री

उक्त सिद्धांन्त की सत्यता को मानते हुए भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं की कविगत प्रतिभा के अंकुर को उपजाने के लिए, उसे हरा भरा बनाकर पल्लवित करने केलिए अनेक साधन-रूपी खाद की आवशकता होती है। इन सामग्री के बिना हृदय में छिपी हुई शक्ति का—सर्वतोगामिनी प्रतिभा का—सम्यक् विकास वास्तव

में जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं होता। यह सामग्री उसके उद्बोधन में, उसे जनता के नेत्रों के सामने प्रगट होने में अनेक सहायता प्रदान करती है इस सामग्री को हम 'निपुणता' तथा 'अभ्यास' के नाम से पुकारना यथोचित समझते हैं। संसार के विभिन्न कार्यों का अवलोकन कर उसका समुचित अनुभव प्राप्त करना तथा प्रकृति देवी के मनोरम मंदिर को देख उसके वास्तविक रहस्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना 'निपुणता' के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। देश और काल का असीम प्रभाव कवि के हृदय पर बिना हुए रह ही नहीं सकता। सांसारिक अनुभव से कवि की प्रतिभा और भी प्रौढ़ बनती है। जिस काल में कवि का जन्म हुआ है, उस समय की विशिष्ट विचार-लहरी का छींटा उसकी कविता पर पड़े बिना नहीं रह सकता। उस समय की भावनाओं की तरंग उसके काव्य में जरूर दिखाई देगी। उसी भाँति देश का प्रभाव भी कविता के मनोहर वेश में बहुत कुछ वैचित्र्य पैदा कर सकता है। इन साधनों के समान ही प्राचीन कविता का अध्ययन तथा मनन भी कवि को सुचारु-रूप में गढ़ने वाले पदार्थों में उन्नत स्थान रखता है। नवीन कविता करने का अभ्यास तथा प्राचीन काव्य का अलोचनात्मक अध्ययन काव्य-साधनों में एक विशिष्ठ साधन है। प्रत्येक देश के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव अपनाने में तनिक भी नहीं हिचकते, क्योंकि वे तो उनके अध्ययन के प्रधान अंग हैं। इन साधनों की सहायता से कवि की ईश्वरदत्त प्रतिभा का उद्बोधन हो सकता है तथा कतिपय अंशों में नवीन प्रतिभा का परिष्कार भी हो सकता है। अनेक ऐसे कविवर हो गए हैं जिनमें स्वाभाविक प्रतिभा की न्यूनता की पूर्ति बहिर्जगत् के अनुभव से यथेष्ट की गई है। ऐसे बहुत से कवि मिलेंगे जिन्होंने इन्हीं साधनों के सहारे अत्युत्तम कविता की है। अतएव वास्तविक कवि वही है जिनमें प्रतिभा के बीज जन्म से ही निहित हों। तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त साधनों के द्वारा कवि बनाया भी जा सकता है—उसे देश तथा कालरूपी साँचे में ढाला भी जा सकता है।

भावसादृश्य

यही कारण है कि कवियों में भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं तो दो भिन्न-देशीय कवियों के एक ही विषय पर मजमून बलात् लड़ जाते हैं। इस प्रतिभा के बल पर जब एक ही विषय पर कविता लिखी जा रही हो, तब विचारों का लड़ जाना कोई असम्भव व्यापार नहीं। परन्तु कहीं-कहीं कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के अनूठे भावों को—अनुपम सूझ को—जानबूझ कर अपनाता है। जो भाव अनोखे होते हैं, जिनमें अलौकिकता की अधिक मात्रा रहती है, वे अध्ययनशाली कवि के स्वच्छ हृदय पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते। ऐसे भाव उसके हृदय पर अपनी छाप बैठा देते हैं, वे कवि की निज की कमाई सम्पत्ति हो जाते हैं। अतएव जहाँ समुचित अवसर मिलता है, वहाँ कवि उन

भावों को प्रकट किए बिना आगे नहीं बढ़ सकता। उन भावों के परकीय होने का विचार उसके हृदय से सदा के लिये पृथक् हो जाता है। कविता लिखते समय वे भाव स्वतः ही, बिना किसी ज्ञात परिश्रम के, उसके नेत्रों के सामने फिरने लगते हैं। कवि उन्हीं स्वर्गीय सूक्ष्म भावों का सुन्दर चित्र अपने शब्दों से सर्व-साधारण के सामने खींचता है। यह भावों का अपनाना 'अर्थापहरण' नामक दोष से सर्वथा मुक्त है। यदि कवि किसी दूसरे कवि के भाव को लेकर उसकी रमणीयता की रक्षा न कर सके, उसके अनूठेपन को बनाए न रखे, तो वह वास्तव में 'कविर्वान्तं समश्नुते' का लक्ष्य बनाया जा सकता है। परन्तु यदि वह उन भाव-चित्रों के गाढ़े रंग में कुछ भी कमी नहीं होने देता, यदि कवि के शब्दों में उतर कर वे भाव अपनी सरसता तथा अलौकिकता को नहीं खो बैठते, तो वह कवि वास्तव में सच्चे कवि का उच्च पद पाने का प्रधान अधिकारी है।

वही कवि सच्चा कवि है जो प्राचीन भावों पर भी अपनी अनुपम छाप डाल दे, अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल से उनमें नई रंगत पैदा कर दे और उनमें कुछ दूसरा ही अनोखापन ला दे। आलोचकगण इसका ही 'मौलिकता' के नाम से सादर स्वागत करते हैं। कौन ऐसा भाव है जिसे प्राचीन कवियों ने नहीं अपनाया है? तथापि उन्हीं भावों को अपने साँचे में ढाल, अपनी प्रतिभा की विमल छाप लगा, उनमें नई चमक पैदा करना ही तो मौलिकता है। संस्कृत साहित्य के प्रधान आलोचक आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दी है। वही रूखे सूखे पेड़ हैं, वही पत्रों से रहित शाखाएँ हैं; वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं, सब कुछ पुराना है, परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति में नवीन परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। वृक्षों में नूतन, रक्तवर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रों को तृप्त करते हैं, शाखाएँ हरी भरी सी दिखाई देती हैं, मंजरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर बलात् खींच लेता है। यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया? सरस वसन्त ने ही तो। उसी भाँति कवि भी पुराने भावों में नवीनता उपस्थित कर उन्हें चुटीले बना देता है। कहीं शब्द बदलता है तो कहीं नवीन अर्थ का पुट दे देता है। बस, भावचित्र में अनोखापन आ जाता है। अब भाव दूसरे से उधार ली हुई सम्पत्ति नहीं रह जाता, बल्कि अपना कमाया हुआ निज का धन हो जाता है :—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥

कविकुल-शेखर राजशेखर ने आनन्दवर्धनाचार्य की ही उदार सम्मति को अपने शब्दों में दुहराया है :—

शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत् किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥

समग्र संस्कृत साहित्य हिन्दी कवियों के लिये पैतृक सम्पत्ति है। उन्हें उसका पूर्ण रूप से अपनी कविता में उपयोग करने का अधिकार है। यही कारण है कि अनेक हिन्दी कवियों पर प्राचीन संस्कृत कवियों की छाया स्पष्टतः झलकती है परन्तु हिन्दी के महाकवियों ने भावों को लेकर भी उन्हें अत्यन्त रमणीय बना डाला है, जिससे वे भाव मौलिक से जान पड़ते हैं। कविता-कामिनी-कान्त तुलसीदास ने भी अनेक प्राचीन संस्कृत कवियों के भावों को अपना कर अपने 'रामचरित मानस' को सुशोभित किया है। रामायण की भूमिका में महात्मा तुलसीदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ में वर्णित सिद्धान्त अनेक आगम निगम पुराण ग्रन्थों से लिए गए हैं।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्-
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वांतः-सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

तुलसीदास ने अनेक विमल दार्शनिक सिद्धान्त गीतादि धर्मग्रन्थों से, राम का अधिकांश आख्यान अध्यात्म रामायण से तथा अनेक कथोपकथन हनुमन्नाटक से लिए हैं, यह बात तो सर्वप्रसिद्ध ही है, परन्तु रामायणीय कथा-विषयक एक और अनुपम ग्रन्थ है जिसकी छाया रामायण के अधिकांश अनूठे भावों पर पड़ी है। यह ग्रन्थ जयदेव-प्रणीत 'प्रसन्नराघव' नामक संस्कृत नाटक है। अभी तक इस ग्रन्थ तथा रामचरित मानस के बिंब-प्रतिबिम्ब भावों का वर्णन हिन्दी संसार के सामने विस्तृत रूप से कभी नहीं किया गया था। यह पहला ही अवसर है (जहाँ तक मुझे मालूम है) कि इन दो कवियों के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावों का वर्णन रामायण-प्रेमियों के सामने उपस्थित किया जाता है।

प्रसन्नराघव का रचना-काल

'प्रसन्नराघव' नाटक में, जैसा कि इसका सार्थक नाम प्रकट कर रहा है, रामचन्द्र के जीवन-वृत्तान्त का अभिनयात्मक वर्णन है। नाटक में जितने आवश्यक गुण होने चाहिएँ, उनमें से अनेक गुणों की न्यूनता यद्यपि इस नाटक के पढ़नेवालों को खटकेगी, तथापि कविता की दृष्टि से, प्रसन्न-कारिणी सूक्तियों की दृष्टि से, यह नाटक अधिक मूल्य रखता है। इस नाटक के कर्ता का नाम 'जयदेव' है। यह कविवर अमर गीति-काव्य गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव से सर्वथा भिन्न व्यक्ति है। गीतगोविन्द के रचयिता के पिता का नाम भोजदेव तथा पूज्य माता का रमादेवी था; परन्तु प्रसन्नराघव के कर्ता के पितृदेव का नाम महादेव तथा माता का सुमित्रादेवी था। इनका गोत्र कौण्डिन्य था।

जयदेव कवि की दो रचनायें प्रख्यात हैं—(१) प्रसन्नराघव (नाटक) और (२) चन्द्रालोक (अलंकार ग्रन्थ)। इनकी अन्तरंग परीक्षा करने पर कवि

के समय का निरूपण भली भाँति किया जा सकता है। विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्य दर्पण' (४।३) में प्रसन्नराघव का यह पद्य ध्वनि-काव्य से उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुला-मिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

पठान इतिहास में प्रसिद्ध अलाउद्दीन खिलजी का संकेत विश्वनाथ कविराज ने इस पद्य में किया है। फलतः इनका समय इस मुसलमान बादशाह के बाद ही है।

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

चन्द्रालोक में जयदेव ने काव्यलक्षण के प्रसंग में इस कमनीय पद्य के द्वारा 'अनलंकृती शब्दार्थौ काव्यम्' कहने वाले किसी आलोचक को आड़े हाथों लिया है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्यादनुष्णमनलं कृती॥
(चन्द्रालोक १।८)

और ये आलोचक कोई दूसरे न होकर काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट ही हैं जिन्होंने अपने काव्यलक्षण-तददोषी शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती क्वापि—में इस लक्षण को लक्षित किया है। फलतः जयदेव मम्मट (१२०० ई०) तथा विश्वनाथ (१३५० ई०) के मध्य कालखण्ड में विद्यमान थे—लगभग १२२१ ई०–१३०० ई०। इस प्रकार १६३१ सं० (=१५७४ ई०) में रचित रामचरितमानस से प्रसन्नराघव निश्चयेन लगभग दो सौ साल पहिले लिखा गया था। भावसमानता से यही सिद्धान्त निकलता है कि तुलसीदास ने ही जयदेव के अनूठे भावों को अपनाकर अपने 'मानस' को सुन्दर बनाया है।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव

जयदेव ने नाटक की 'बालकाण्ड' वाली प्रस्तावना में रामचन्द्र के आदर्श चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वास्तव में मर्यादापुरुषोत्तम राम का चरित्र समग्र विश्व के लिये अनुकरण की सामग्री है। आदर्श पितृभक्ति, पुत्र-स्नेह, भ्रातृ-प्रेम तथा पत्नी प्रेम का अनुपम सम्मेलन जैसा यहाँ दिखलाई देता है, वैसा संसार के किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन में नहीं मिलता। अतएव जयदेव की रामविषयक प्रशंसा वास्तव में सत्य है। वे कहते हैं कि ज्योंही कोई मनुष्य अपने अन्तर्गत भावों को प्रकट करना चाहता है, त्योंही भगवती सरस्वती उसकी जिह्वा पर आ बैठती हैं—अपने पतिदेव की क्रीड़ा-भूमि को भी छोड़कर करोड़ों कोसों से दौड़ती हुई आकर उसकी जीभ पर विराजमान हो जाती है। इस सुदूर मार्ग को पार करने का परिश्रम किसी तरह भी कम नहीं होता। इसके लिये केवल एक ही सुगम उपाय है। और वह है रामचंद्र के गुणगरिमापूर्ण चरित्र का

कीर्तन। रामचंद्र के गुणानुवाद-रूपी सुधामयी वापी में यदि वह गोता न मारें, तो उनका परिश्रम किसी भाँति दूर नहीं हो सकता। धन्य है राम के गुणों का कीर्तन जो भारती को भी सुख देने में समर्थ है।

झटिति जगतीमागच्छन्त्या पितामहविष्टपान्
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।
अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते
रघुपतिगुणग्रामश्लाघा - सुधामय-दीर्घिकाम् ॥

(प्रसन्नराघव पृष्ठ ५)

तुलसीदास जी ने भी अपने आराध्य देव राम के गाथा-कीर्तन के विषय में अनेक प्रशंसाएं बालकाण्ड में की हैं। वे भी यही कहते हैं—

भगति हेतु विधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।
राम-चरित-सर बिनु अन्हवाये। सो स्त्रमु जाइ न कोटि उपाये॥

रसिक पाठक इन दोनों उक्तियों को साथ-साथ पढ़ें और देखे कि इनमें गहरा भाव-साम्य है या नहीं। श्लोक में रघुपति-चरित की श्लाघा का रूपक सुधामय दीर्घिका से दिया गया है, महात्मा जी ने उपमान तथा उपमेय की एकलिंगता के साहित्यिक नियम की रक्षा के अभिप्राय से, भाव को अपना कर भी, स्त्रीलिंग का सहारा छोड़, रामचरित का रूपक 'सर' से बाँधा है। भाव तो एक समान है ही, परंतु इस प्रकार अलंकार का निर्वाह भी ठीक ढंग पर किया गया है।

वाटिका भ्रमण

रामचरितमानस का वाटिका-भ्रमण भी हिन्दी-साहित्य में कविता की दृष्टि से अनूठी चीज है। साधारण शब्दों में मर्मस्पर्शी भावों का वर्णन करना तुलसीदास का ही श्लाघनीय व्यापार है। अधिकांश रामायणी इस वाटिका-भ्रमण को तुलसीदास के कल्पना-मय मस्तिष्क की उपज मानते हैं। परंतु यह बात ठीक नहीं है। प्रसन्नराघव में सीता का अपनी प्यारी सहेलियों के साथ गिरिजा का पूजन तथा उपवन में वसंत की बहार खूब चुने हुए शब्दों में वर्णित है। जिस मार्मिक ढंग से तुलसीदास ने इसका शाब्दिक चित्र खींचा है, वह तो उनका ही खास ढंग है, परंतु लेखक की सम्मति है कि वाटिका-वर्णन का विचार प्रसन्न-राघव से ही तुलसीदास को मिला। रामचंद्र सीता के नूपुर की मधुर ध्वनि सुनकर लक्ष्मण को उधर देखने से रोकते हैं, क्योंकि परस्त्री की शंका से ही रघुवंशियों का मन संकुचित हो जाता है।

"परस्त्रीति शंकापि संकोचाय रघूणाम्"

इसी भाव पर तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा का छींटा देकर यों कहा है:—

रघुवंसिन्हि कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरैं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥

नाटक में धनुष तोड़ने के लिये रावण और बाणासुर में अनेक वाक्‌प्रबन्ध दिखलाया गया है। अन्त में बाणासुर शिवधनुष को उठाने लगता है। अत्यन्त परिश्रम करता है; परन्तु वह जड़ पिनाक टस से मस नहीं होता। इस विषय पर जयदेव एक सुन्दर उदाहरण देते हैं कि सती स्त्रियों का मन कामी-जनों के बारम्बार प्रार्थना करने पर भी जरा भी अपने प्राकृतिक स्थान से नहीं टलता। यही दशा उस धनुष की थी।

बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीडयमानं
नेदं धनुश्चलति किञ्चिदपीन्दुमौलेः।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-
रभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम्॥
(पृ० २७)

तुलसीदास जी ने भी इस प्रसंग पर इसी अनुपम उपमा की सहायता ली है।

भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरै न टारा।
डिगै न सम्भु-सरासन कैसे। कामीबचन सती-मन जैसे॥

कहना व्यर्थ होगा कि यह उपमा जयदेव के ही नाटक से ली गई है।

परशुराम-प्रसंग

रामचरित मानस का राम-परशुराम-संवाद सजीवता में अपना सानी नहीं रखता। लक्ष्मणजी की व्यङ्ग्योक्ति वास्तव में मर्मस्पर्शिणी है। परशुराम को जैसी फबती लक्ष्मण ने सुनाई है, वैसी रामायण में और कहीं सुनने को नहीं मिलती। यह सम्वाद तुलसीदास के हास्यमय हृदय का पता देता है। यह महात्मा जी की निज की कल्पना से प्रसूत माना जाना चाहिए; तथापि इसके अधिकांश भाव प्रसन्नराघव से लिए गए हैं। हाँ, 'कुम्हण-बतिया' की उपमा आदि अनेक चमत्कारिणी उक्तियाँ खास तुलसीदास की ही हैं; तथापि कतिपय भावों पर जयदेव की छाया बहुत साफ दीख पड़ती है।

रामचन्द्र परशुराम का बड़प्पन दिखाते हुए आपस में समर-व्यापार को निंद्य ठहराते हैं। वे कहते हैं कि हे भगवन्, आप ठहरे ब्राह्मण और मैं ठहरा क्षत्रिय; मेरा बल अत्यन्त हीन है; परन्तु आप उत्कृष्टता के शिखर पर चढ़े हुए हैं। मेरा बल तो केवल धनुष है जिसमें केवल एक ही गुण (प्रत्यञ्चा) है; परन्तु आप का बल—यज्ञोपवीत—नव गुणों (सूतों) से सुशोभित है। युद्ध तो समबल के साथ करना समुचित होता है; परन्तु मुझमें और आप में तो आकाश-पाताल का अन्तर है; भला कहिए तो सही, मैं कभी आप से लड़ने के योग्य हूँ!

भो ब्रह्मन्! भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नः
सर्वे हीनबलाः वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि।
यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजा—
मस्माकं, भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥ (पृ० ८२)

अब जरा देखिए, तुलसी के इष्ट राम भी इन्हीं शब्दों में संग्रामबार्ता को बुरा ठहराते हैं :—

हमहिं तुमहिं, सरवर कस नाथा। कहहु त कहाँ चरण कँह माथा ॥
देव एकगुन धनुष हमारें। नवगुन परम पुनीत तुम्हारे ॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे ॥

देखिए, पुराने मजमून में कैसी जान डाल दी गई है। 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा' वास्तव में इस उद्धरण की जान है। यह तुलसी की खास कल्पना है; मूल में इस विषमालंकार की छटा, देखने को नहीं मिलती। हाँ, इतना अवश्य कहेंगे कि 'नवगुन परम पुनीत तुम्हारे में प्रसाद की उतनी मात्रा नहीं जितनी 'नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्' में है।

राम अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी राय है कि पुराना धनुष तो छूते ही टूट गया; इसमें हमारा दोष ही क्या ?

मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः।
भगवन्नात्मनैवेदमभ्यजत करोमि किम् ॥ (पृ० ८१)

रामचरित मानस में भी यही बात कही गई है :—

छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना ॥

पिनाक को पुराना बतलाकर तुलसीदास ने पद्य के विषय को अपना बना डाला है।

सुन्दर काण्ड

सुन्दर काण्ड में जितनी समता दृष्टिगोचर होती है, उतनी और कहीं नहीं दिखाई देती। पद-पद पर तुलसीदास ने जयदेव के भावों को अपनाया है। परन्तु ये भाव ऐसे समुचित अवसर पर और सुचारु रूप से बैठाए गए हैं कि इनमें परकीयता की गन्ध भी नहीं आती।

रावण के भय दिखाने पर सीता कह रही हैं कि हे रावण, ज्यादा बक झक मत कर। केवल दो ही चीजें ऐसी हैं जो मेरे कण्ठ को छू सकती हैं। पहली चीज तो है कमल के समान कान्तिवाला रघुनाथ का भुज और दूसरी है तेरी निर्दय तलवार ! क्या सुन्दर भाव है ?

विरम विरम रक्षः ! किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपति-भुजदण्डादुत्पलं श्यामकान्तेः
दशमुख ! भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात् ॥

(पृ० १२७)

तुलसीदास की सीता भी ऐसी ही आदर्श प्रतिप्राणा है। वह साफ शब्दों में राम के बिना मरना स्वीकार करती है :—

स्याम सरोज दाम सम सुन्दर। प्रभु-भुज करि-कर-सम दसकंधर।।
सोइ भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा।।

अब सीता रावण की भयंकर तलवार चन्द्रहास से ही अपना सिर काटने की प्रार्थना कर रही है। वह कह रही है कि चन्द्रहास! रामचन्द्र की विरहाग्नि से उत्पन्न हुए मेरे सन्ताप को मिटा दो। तुममें ताप मिटाने की शक्ति अच्छी मात्रा में विद्यमान है; क्योंकि तुम अपनी धार में शीतल जल ही धारण करते हो। इसी शीतल जल से मेरे हृदय में सुलगनेवाली आग बुझा दो, बस यही प्रार्थना है।

चन्द्रहास हर मे परितापं
रामचन्द्र :- विरहानलजातम्।
त्वं हि कान्तिजित - मौक्तिकचूर्णं
धारया वहसि शीतलमम्भः।।

(पृ० १२७)

रामायण की सीता भी ऐसी ही प्रार्थना सुनाती है :—

चंद्रहास हरु मम परितापं। रघुपति विरह संतापं।।
सीतल निसि तव असि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा।।

देखिए, पिछली चौपाई पद्य के पूर्वार्द्ध का अक्षरशः अनुवाद है।

नाटक में सीता त्रिजटा से अग्नि लाने के लिये कहती है; परन्तु त्रिजटा के अग्नि सुलभ न होने की बात कहने पर सीता अशोक से ही आग माँग रही है। वह कहती है—हे निर्दयी अशोक! मेरे लिये अग्नि की एक चिनगारी भी तो प्रकट करो। विरहियों के संताप के लिये तुम अपने नूतन पल्लवों के रूप में अग्नि की शिखावली धारण किए हो, जरा एक भी कणिका दो तो सही।

अलमकरुणं चेतः श्रीमन्नशोक वनस्पते!
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु।
ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्
नवकिसलयश्रेणीव्याजात् कृशानुशिखावलीम्।

(पृ० १२९)

रामायण में सीता जी की भी उक्ति इसी प्रकार है :—

सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका।
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहु निदाना।

सीता की विषम दशा देख पेड़ पर छिपे हुए हनुमान ने मुद्रिका गिरा दी। सीता ने समझा कि मेरी प्रार्थना पूरी हुई, अशोक ने अग्नि की कणिका मेरे लिये गिरा दी है। वह कह रही है—

"हला ! पश्य पश्य निपतितं तावदस्य शिखरादङ्गारखण्डकम्"

तुलसीदास जी ने भी यही बात लिखी है :—

कपि करि हृदय बिचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अङ्गार दीन्ह हरषि उठि कर गहेऊ।।

परन्तु वह तो थी राम की अंगूठी। झट हनुमान आगे बढ़ आए और सीता से अपने को राम का दूत बताया। सीता बहुत डरीं, परन्तु विश्वास होने पर नर और वानर के अयोग्य सम्मेलन की कथा पूछने लगी। जिस प्रकार नाटक की सीता "केन पुनर्नरवानराणामीदृशं सखित्वं निर्मितम् !" कह रही है, उसी भाँति रामायण की सीता भी 'नर बानरहि संग कहु कैसे' पूछती है।

सम्मेलन की समस्या हल हो जाने पर सीता-राम की दशा के विषय में प्रश्न करती है। तब हनुमान राम की विषम दशा का मार्मिक वर्णन करते हैं। वह कहते हैं कि हे सीता, तुम्हारे बिना राम को हिमांशु सूर्य की तरह तापकारी जान पड़ता है, नया मेघ दावानल सा प्रतीत होता है, नदियों के जल से संपृक्त वायु क्रुद्ध साँप के निःश्वास सा जँचता है. कुवलय वन कुंत के जंगल सा जान पड़ता है। तुम्हारे वियोग में राम के लिये यह संसार ही विपरीत हो गया, सुखदायक वस्तु से भी दुःख ही उत्पन्न हो रहा है :—

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनिःश्वासपवनः।
नवा मल्ली भल्ली, कुवलयवनं कुन्तगहनं
मम त्वद्विश्लेषात् सुमुखि ! विपरीतं जगदिदम्

(पृ० १३२-३३)

तुलसी ने भी यही बात हनुमान के मुख से कहलवाई है। देखिए तो कितनी घनिष्ठ समता है :—

राम-बियोग कहेउ तब सीता। मो कहुं सकल भये विपरीता।।
नव-तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससिभानू।।
कुबलय बिपिन कुन्तवन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा।।
जेहि तरु रहे करत तेइ पीरा। उरग-स्वास सम त्रिविध समीरा।।

हनुमान आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं कि राम जी चाहते हैं कि किसी को मैं अपने दुःख की कहानी, प्रेम कथा सुनाकर किसी तरह दुःख से मुक्त हो जाऊँ। परन्तु वह स्नेह-सार कौन जानता है ? मेरा मन ही इस प्रेम तत्त्व को जानता है, परन्तु वह तो मेरे पास नहीं। वह तो सदा तेरे समीप रहता है। प्रिये ! मैं क्या करूँ। यह प्रेम-कहानी कौन किसे कह सुनावे ? हृदय का यह सच्चा रहस्य; प्रेम की यह नई कसौटी, बिरह में मन की दशा कितने अच्छे शब्दों में व्यक्त की गई है :—

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्।
जानात्येकं शशधरमुखि ! प्रेमतत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतत् चिरमनुगतं तत्प्रिये किं करोमि।
(पृ० १३३)

रामायण में भी सरल शब्दों के द्वारा यही रहस्य व्यक्त किया गया है :—

कहेहु ते दुख घटि कछु होई। काहि कहौं यह जान न कोई।
तत्वप्रेम कर मन अरु तोरा। जानत प्रिया एज मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस इतनहि माँहीं।

और अनेक वर्णनों में भी प्रसन्नराघव की छाया रामायण में पाई जाती है। विभीषण-परित्याग तथा लक्ष्मण को शक्ति लगाने पर राम के विलाप आदि का वर्णन जयदेव के ही ढंग पर किया जाता है।

लंकाकाण्ड

लंका युद्ध समाप्त हो गया है। सब वीरगण विजय से मत्त हो रहे हैं। इतने में पूर्वाकाश के तिलक-चन्द्रमा का उदय होता है। सुग्रीव, राम, लक्ष्मण, हनुमान आदि के मुख से जयदेव ने चन्द्रोदय का बड़ा ही आनन्ददायक वर्णन कराया है। विभीषण चन्द्रमा को एक पराक्रमी सिंह के रूप में देखते हैं। चन्द्रमा रूपी सिंह ने अपने मयूखरूपी नखों से अन्धकार के मत्त हस्ती को चीर डाला है। हाथ के बिखरे हुए मुक्ता की तरह आकाश में तारे छिटके हैं। यह सिंह अब तक पूर्व दिशा रूपी गुफा के अन्दर सोया हुआ था। अब उठकर वह आकाश रूपी कानन में घूम रहा है। कैसा सांगोपांग रूपक है।

मयूख-नखर - त्रुटत्तिमिर - कुम्भि - कुम्भस्थलो-
च्छलत्तरलतारका - कपटकीर्णमुक्ताकणः।
पुरन्दर - हरिद्दरी - गुहागर्भ - सुप्तोत्थित-
स्तुषारकर - केसरी गगनकाननं गाहते॥
(पृ० १५९)

पूर्ण वर्णन के आधार पर ही तुलसीदास ने लंका के पहले सुमेरु पर्वत पर चन्द्रोदय का वर्णन किया है। देखिए इस वर्णन में पूर्व रूपक को ही अपनाया गया है :—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेजबल रासी।
मत्त नाग तन कुम्भ बिदारी। ससि केहरी गगन बनचारी॥
बिथुरे नभ तल मुक्ता तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

उपसंहार

जितने भाव प्रसन्नराघव तथा रामचरित मानस में अत्यन्त सदृश जान पड़ते हैं, उनका वर्णन ऊपर किया गया है। लेखक का अभिप्राय हिन्दी संसार के चन्द्रमा के ऊपर ग्रहण लगाने का नहीं (न यह ग्रहण कभी लग सकता है), न उसका यही अभिप्राय है कि तुलसीदास पर 'अर्थापहरण' दोष लगाया जाय; बल्कि यह दिखलाने का है कि कितनी सफाई से प्राचीन भाव अपनाए गए हैं—किस तरह तुलसीदास ने उन प्राचीन भावों में रमणीयता पैदा कर दी है। यह काम किसी साधारण कवि का नहीं है, परन्तु किसी प्रतिभाशाली कवि की ही लेखनी का प्रभाव है जो प्राचीन भावों में इतनी जान डाल सकती है। महात्मा तुलसीदास ने तो स्पष्टतः अपने भावों को नाना पुराणों का निचोड़ बतलाया है। लेखक का अभिप्राय तुलसीदास की असीम विद्वत्ता दिखलाना है। कुछ लोग समझते हैं कि ये केवल भाषा के ही कवि थे, अतः केवल हिन्दी भाषा का ही ज्ञान इन्हें था। परन्तु यह कथन ठीक नहीं। तुलसीदास का संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत भाषा का ज्ञान बहुत गहरा था। पुराण, गीता, नाटक तथा महाकाव्यों के ये अच्छे ज्ञाता थे। प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में रचित सुन्दर पद्यों से इनका विपुल संस्कृत ज्ञान स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इस लेख से भी इसी बात की यथेष्ट पुष्टि होती है। ये महात्मा लोग कविता करने के लिये उद्योग नहीं करते थे, बल्कि इनके भक्तिमय हृदय से आप से आप ही कविता का स्रोत निकल पड़ता था। असीम भगवद् भक्ति के कारण ही इनकी कविता इतनी तलस्पर्शिनी तथा मनोरंजिनी है।[१] ऐसे ही कवियों के लिये भर्तृहरि ने कहा है:—

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

---

१. आज से पैंसठ (६५) साल पहिले तुलसीदास के निधन के त्रिशतीवर्ष १९८० विक्रमी संवत में प्रकाशित लेख।

४ : ६

हिन्दी में वैष्णवपदावली का प्रथम रचयिता

यह तो सर्वविदित है कि वैष्णवधर्म के अभ्युदयकाल में वैष्णव कवियों ने राधामाधव के लीलाचिंतन के अवसर पर पदशैली में अपने काव्यों का प्रणयन किया। 'पद' का काव्यरूप में उद्गम मध्ययुगीय भाषा साहित्य की एक मान्य विशिष्टता है। निर्गुणपंथी सन्तों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये इस काव्यरूप का आश्रयण किया; यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। परन्तु इस काव्यरूप का उत्कृष्ट स्वरूप हमें वैष्णवकाव्यों में ही उपलब्ध होता है। राधाकृष्ण की उपासना के साथ संगीत का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। फलतः इन संगीतमय पदों के माध्यम से वैष्णवकवि अपने भावों को पूर्ण वैभव के साथ प्रकट करने में समर्थ हुए; यह कथन सर्वदा सत्य है। राधाकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन प्रबन्ध-काव्यरूप में सफलतापूर्वक नहीं हो सका; यह बात नहीं कि उधर प्रयास नहीं किए गए। प्रयास तो किए गए, परन्तु इन कवियों को इस कार्य में साफल्य प्राप्त नहीं हुआ। 'गीति' ही इन कमनीय कोमल केलिविलासों के समुचित विन्यास के निमित्त एक सुकुमार माध्यम है; इस ऐतिहासिक सत्य का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। हिन्दी के भीतर हम उसकी 'विभाषाओं' का भी अंतर्भाव मानते हैं। इसी धारणा पर हिन्दी में वैष्णवपदावली लिखनेवाले आद्य कवि का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक परिचय यहाँ संक्षेप में देने का उद्योग किया जा रहा है।

पदशैली : भाषाकाव्य

भाषाकाव्य में पदशैली का आविर्भाव जयदेव के गीतगोविन्द के आदर्श पर मानना सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है। उत्तर भारत की प्रधान भाषाओं—मैथिली, बंगला तथा ब्रजभाषा के कवियों ने इस शैली को अपना कर बड़े ही सुकुमार पदों की रचना की। मैथिली में विद्यापति ने, बंगला में चंडीदास ने तथा ब्रजभाषा में सूरदास ने श्री व्रजनंदन के केलिवर्णन के निमित्त इस शैली को स्वीकार किया और उसका बड़ी सफलता के साथ निर्वाह किया। साधारणतः माना जाता है कि ब्रजसाहित्य का आरम्भ सूरदास से होता है और ब्रज में पदकर्ता होने के हेतु हिन्दी के प्रथम पदकार वे ही हैं। सूरदास का जन्म १४९३ ई० में हुआ तथा अपने जीवन के चालीसवें वर्ष में १५३३ ई० में उन्होंने वल्लभाचार्य से वैष्णवधर्म में दीक्षा ग्रहण की तथा वे उन्हीं के उपदेश से ब्रजभाषा में श्रीकृष्णविषयक पदों की रचना में प्रवृत्त हुए। फलतः सूरदास द्वारा पदरचना का आरंभकाल १५३५ ई० के आसपास मानना कथमपि अनुपयुक्त न होगा। विद्यापति तथा चंडीदास दोनों

वैष्णवकवि सूरदास से प्राचीन हैं। सूर के ऊपर विद्यापति का भी प्रभाव लक्षित होता है। विद्यापति तथा चंडीदास, ये दोनों कवि समकालीन थे, क्योंकि दोनों के आविर्भाव का समय १५वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम पदकर्ता मानना कथमपि उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उनसे लगभग सत्तर अस्सी वर्ष पूर्व के एक कवि की ब्रजभाषा की कविता तथा पद भी उपलब्ध हुए हैं। इन कवि का नाम विष्णुदास हैं। इनका प्रथम परिचय तो बाबू श्यामसुन्दरदास ने १९०६-७ की हिन्दी ग्रन्थों की खोज रिपोर्ट में दिया था; परन्तु इनके ऐतिहासिक महत्त्व का परिचय अभी चला है।

पदशैली : विष्णुदास

नवीन खोज से पता चलता है कि ब्रजभाषा में काव्य का आरंभ सूरदास से लगभग एक शती पूर्व ही हो गया था। विष्णुदास की काव्यरचनाओं की सूचना हिन्दी पुस्तकों की खोज रिपोर्टों में प्रकाशित हुई है। परन्तु उनके काव्यों का ऐतिहासिक मूल्यांकन अभी होने लगा है। साहित्य की दृष्टि से इनके दो काव्य नितांत महत्त्वपूर्ण हैं—स्नेहलीला तथा रुक्मिणीमंगल। इनमें से स्नेहलीला गोपी तथा उद्धव के संवादरूप में है और सूरदास के भ्रमरगीत का मूलरूप माना जा सकता है। 'रुक्मिणीमंगल' मंगलकाव्य है जिसमें श्रीकृष्ण के साथ रुक्मिणी जी के विवाह का काव्यमय वर्णन है। इस रुक्मिणीमंगल में पदशैली के दर्शन हमें मिलते हैं। इनका समय १४२५ ई० माना गया है जो सूरदास से पूर्व लगभग अस्सी साल से कम नहीं है।[1] ब्रजभाषा में विष्णुदास ही प्रथम पदकार माने जा सकते हैं। 'रुक्मिणीमंगल' से इनका एक पद यहाँ उद्धृत किया जाता है।

मोहन महलन करत बिलास।
कनक मदिर में केलि करत हैं और कोउ नहिं पास।
रुकमिनि चरन सिरावै पी के पूजी मन की आस।
जो चाहों सो अबे पावों हरि पति देवकि सास॥
तुम बिन और न कोऊ मेरो धरनि पताल अकास।
निस दिन सुमिरन करत तिहारो सब पूरन परकास॥
घट - घट व्यापक अंतरजामी त्रिभुवनस्वामी सब सुखरास।
'विष्णुदास' रुकमन अपनाई जनम जनम की दास॥

ब्रजभाषा के प्रथम पदकर्ता विष्णुदास से मैथिली पदकर्ता विद्यापति तथा बंगला पदकर्ता चंडीदास दोनों प्राचीनतर हैं। यह तो प्रायः सर्वत्र विदित है। परंतु इन दोनों विश्रुत पदकर्ताओं से लगभग साठ सत्तर वर्ष पूर्व उत्पन्न होनेवाले एक मैथिली पदकर्ता की ओर आलोचकों का ध्यान यहाँ आकृष्ट किया जाता

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ १४९-५२, काशी १९६१।

है, क्योंकि मेरी दृष्टि में ये हिन्दी में वैष्णवपदावली के आदि रचयिता हैं। इनका नाम है—उमापति उपाध्याय या केवल उमापति। इन्होंने संस्कृत में 'पारिजात-हरण' नामक लघुकाय रूपक का प्रणयन किया है जिसमें मैथिली भाषा में ही गीत पर्याप्त मात्रा में दिए गए हैं। प्राचीन काल में भी संस्कृत नाटकों में गीतों की रचना प्राकृत भाषा में की जाती थी; प्राकृत थी लोकभाषा और लोकभाषा में निबद्ध गीतों का प्रभाव जनता पर विशेष रूप से पड़ता था; यह तो एक नैसर्गिक घटना है। प्रांतीय भाषाओं के उदय होने पर संस्कृत के नाटकों में तत्तत् प्रांतीय भाषाओं का उपयोग गीतों की रचना में किया जाने लगा। उमापति का 'पारिजातहरण' इस वैशिष्टय का समर्थक एक उज्जवल नाटक है। यहाँ उमापति के ऐतिहासिक वृत्त का और साहित्यिक चमत्कार का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

उमापति और उमापतिधर की भिन्नता

प्रथमत: ध्यान देने की बात है कि उमापति उस उमापतिधर नामक कवि से नितांत भिन्न हैं जिनका उल्लेख जयदेव ने लक्ष्मणसेन के समसामयिक कवि-पंडितों की गणना में किया है। 'वाच: पल्लवयत्युमापतिधर:'—जयदेव का यह कथन उमापतिधर की काव्यशैली का पर्याप्त द्योतक है। ये अपने 'वाक्पल्लवन' के लिये उस युग के कवियों में नितांत विश्रुत थे और इस विश्रुति का पुष्ट प्रमाण भी उपलब्ध होता है इनकी नि:संदिग्ध कविता की समीक्षा से। राजा विजयसेन की देवपाड़ा प्रशस्ति के निर्माण का श्रेय इन्हीं उमापतिधर को है, जिसका उल्लेख उस शिलालेख में स्पष्टत: किया गया है। यह प्रशस्ति उत्कृष्ट गौडी रीति में निबद्ध की गई है। दंडी के 'काव्यादर्श' के अनुसार 'वाक्पल्लवन' गौडी रीति की प्रमुख पहचान है। उस युग के वैष्णव वातावरण का प्रभाव इनके ऊपर कम नहीं था। 'सदुक्तिकर्णामृत' में उमापतिधर के नाम से अनेक कविताएँ उद्धृत की गई हैं जिनका विषय ही है श्रीकृष्ण की वृंदावन लीला। हरिक्रीड़ा के विषय में इनका एक पद्य यहाँ उद्धृत किया जाता है जिसमें श्रीकृष्ण की दृष्टियों की विजयकामना की गई है—

> भ्रूवल्लीचलनैः कयापि नयनोन्मेषैः कयापि स्मित-
> ज्योत्स्ना-विच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि।
> गर्वोद्भेदकृतावहेलविजयश्रीभाजि राधानने
> सातङ्कानुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः॥

इस पद्य का तात्पर्य है कि जब श्रीकृष्ण रास्ते में जा रहे थे, तब गोपियों ने उनका नाना भाव से स्वागत किया। किसी गोपी ने अपनी भौंहें चलाकर, किसी ने नेत्रों को फैलाकर, किसी ने अपनी मुसुकान की चाँदनी छिटका कर, किसी ने चुप रह कर उनकी अभ्यर्थना की। राधा इस दृश्य को दूर से देखकर विमना

बन गई। उसके मुखमंडल पर एक साथ गर्वजनित अवहेलना का भाव उदित हुआ तथा विजय की शोभा से वह दमकने लगा। ऐसे मुखमंडल पर कृष्ण ने जब अपनी दृष्टियाँ डालीं तब उनमें आतंक (भय) तथा अनुनय के भाव सद्यः स्फुरित हो रहे थे। कवि कृष्ण की इन दृष्टियों की विजयकामना करता है। यह पद्य विभिन्न मनोवृत्तियों के चित्रण के कारण नितरां रमणीय है। उमापतिधर के एक दूसरे पद्य में श्रीकृष्ण के एक गुप्त भाव की हम अभिव्यक्ति पाते हैं—

व्यालाः सन्ति तमलावल्लिषु वृतं, वृन्दावनं वानरैः
उन्नक्रं यमुनाम्बु घोरवदनव्याघ्रा गिरेः सन्धयः।
इत्थं गोपकुमारकेषु वदतः कृष्णस्य तृष्णोत्तर—
स्मेराभीरवधूनिषेधि नयनस्याकुंचनं पातु वः॥

— हरिक्रीड़ा, पद्य ४

श्रीकृष्ण अपने संगी साथियों से घिरे हुए खेल रहे हैं, परन्तु वह निराले में राधा से भेंट करने के इच्छुक हैं। इसलिये वह अपने मित्रों को किसी बहाने से खेल से पराङ्मुख करने के लिये कह रहे हैं—तमाल लताएँ साँपों से भरी हुई हैं; वृंदावन को बंदरों ने घेर रखा है; यमुना के जल में मगर भरे पड़े हैं और पर्वतों की संधियों में विकराल मुखवाले व्याघ्र वर्तमान हैं। ऐसी बातें गोपकुमारों से कहकर श्रीकृष्ण अपनी एक आँख सिकोड़कर मिलन की तृष्णा से अधीर होनेवाली स्मेरवदना राधा को निषेध कर रहे हैं। व्रजनंदन के नेत्र का यह आकुंचन तुम्हारी रक्षा करे।

वेणुनाद के विषय में भी इनका एक रोचक पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' में उद्धृत किया गया है जो 'पद्यावली' में भी इन्हीं के नाम पर दिया गया है। द्वारिका के मंदिर में श्रीरुक्मिणी देवी के द्वारा आलिंगित होने पर श्रीकृष्ण को यमुना के तीर पर वानीरकुंज में मिलित राधा की लीला के स्मरणमात्र से मूर्च्छा आ जाती है; इस तात्पर्य का वर्णन इस मधुर पद्य में किया गया है—

रत्नच्छायाच्छुरितजलधौ मन्दिरे द्वारिकाया
रुक्मिण्यापि प्रततपुलकोद्भेदमालिंगितस्य।
विश्वं पायान् मसृणयमुनातीरवानीरकुंजे-
ष्वाभीरस्त्रीनिभृतचरितध्यानमूर्च्छा मुरारेः॥

श्लोक का व्यंग्यार्थ यह है कि द्वारिका के पूर्ण वैभव तथा विलास से घिरे रहने पर भी तथा रुक्मिणी देवी के द्वारा विपुल रोमांच के उदय से संवलित आलिंगन पाने पर भी व्रजनन्दन के हृदय में राधा की वह वेतसलता के कुंज की केलि कथमपि विस्मृत नहीं होती। वे उसके ध्यानमात्र से मूर्च्छित हो जाते हैं। फलतः कवि की दृष्टि में राधा की केलि की रुक्मिणी के आलिंगन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है, स्नेह की स्वाभाविकता में तथा आनन्द के उल्लास में। स्पष्टतः

उमापतिधर राधा के लीलावाद के समर्थक रसिक जीव हैं, राधामाधव के यथार्थ उपासक कवि हैं।

इन उद्धरणों से उमापतिधर की वैष्णव काव्यसुषमा का किंचित् आभास हमें मिल जाता है। परन्तु जो पदकर्ता उमापति हमारी चर्चा के विषय हैं वे उमापतिधर से देशत: तथा कालत: इस प्रकार उभयत:, भिन्न और पृथक् हैं। उमापतिधर गौड देश के अधिपति राजा लक्ष्मणसेन की सभा के रत्न थे तथा १२वीं शती के उत्तरार्ध में वर्तमान थे। उमापति मिथिला देश के शासक राजा हरिहरदेव की सभा के रत्न थे तथा १४वीं शती के आरम्भ में (१३२० ई० के लगभग) विद्यमान थे। फलतः उमापति उमापतिधर से निश्चित रूप से डेढ़ सौ वर्ष पीछे उत्पन्न हुए। ऐसी विभिन्नता के वर्तमान रहते दोनों की अभिन्नता मानना एकदम अनुचित है। अब उमापति के व्यक्तित्व से परिचय पाना विषय की स्पष्टता के लिये आवश्यक है।[1]

उमापति : परिचय

इस प्रकार उमापतिधर से उमापति की भिन्नता केवल काव्यशैली पर ही आश्रित नहीं है, प्रत्युत आविर्भावकाल की भिन्नता पर भी अवलम्बित है। उमापतिधर ने सेनवंशी राजा विजयसेन की देवपाड़ा प्रशस्ति की रचना की है जिसमें विजयसेन के द्वारा मिथिला के राजा नान्यदेव (१०९८ ई०–११२५ ई०) के पराजय की घटना उल्लिखित है। इसी नान्यदेव की चौथी पीढ़ी में उमापति के आश्रयदाता ने जन्मग्रहण किया था। मिथिला में यह किंवदन्ती है कि उमापति ने नान्यदेव से चौथे राजा हरिदेव (या हरदेव) के शासनकाल में इस नाटक की रचना की थी। नाटक की अन्तरंग परीक्षा इस किंवदन्ती की पर्याप्त पोषिका है। इस नाटक की प्रस्तावना से पता चलता है कि उमापति उपाध्याय रचित इस 'पारिजातहरण' नाटक का अभिनय हिन्दूपति श्रीहरिहर देव के आदेश से उनके सामंतों के सामने किया गया था।[2] मिथिला के नरेश हरिहरदेव के लिये कवि

---

१. विशेष के लिये द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक का 'काव्यानुशीलन' नामक ग्रन्थ, पृष्ठ ११५-२७, पारिजातहरण—मैथिली नाटक शीर्षक निबन्ध। (प्रकाशक रमेश बुकडिपो, जयपुर सन् १९५५)।

२. सूत्रधारः—आदिष्टोऽस्मि यवनवनच्छेदन-करालकरवालेन विच्छेदगत-चतुर्वेद-पथप्रकाशकप्रतापेन भगवतः श्रीविष्णोर्दशमावतारेण हिन्दूपति श्रीहरिहरदेवेन यथा उमापत्युपाध्यायविरचितं नवपारिजात मंगलमभिनीय वीररसावेशं शमयन्तु भवन्तो भूपालमण्डलस्य।

—पारिजातहरण पृ० २, प्रकाशक मिथिलाप्रकाश परिषद्, दरभंगा, सन् १८९३। भारतजीवन यन्त्रालय, काशी में मुद्रित।

ने जिस विशेषणों का प्रयोग किया है उनसे दो तथ्यों का स्पष्ट संकेत मिलता है। उन्होंने मिथिला में उच्छिन्न होनेवाले वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा में योगदान दिया तथा यवनों के पराजय में अपनी वीरता का प्रदर्शन किया। इनमें से दूसरा संकेत ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। उमापति के समय में मुहम्मद तुगलक दिल्ली का शाहंशाह था। उसने बंगाल पर चढ़ाई कर उसे अपने अधिकार में किया। इतिहास में उसके बंगाल विजय की घटना बहुशः प्रशंसित है, परन्तु मिथिला में किसी संघर्ष के विषय में इतिहास मौन है। मिथिला की राजधानी 'द्वारबंग' (दरभंगा) के नाम से इसीलिये प्रसिद्ध है कि बंगाल में प्रवेश करने का द्वार यहीं से होकर है। यह अनुमान असंगत नहीं माना जा सकता कि मिथिला के संघर्ष में हरिहरदेव के हाथों पठान बादशाह को परास्त होना पड़ा था। उमापति के वर्णन में अतिशयोक्ति के पुट को हटा देने पर इस ऐतिहासिक घटना की एक फीकी झाँकी अवश्य मिलती है। अतएव हमारे कवि के आश्रयदाता हरिहरदेव तथा नान्यदेव से चतुर्थ मिथिलानरेश हरदेव या हरिदेव एक ही व्यक्ति हैं। हरिहर का राज्यकाल सन् १३०३ से सन् १३२३ तक माना जाता है। उमापति के आविर्भाव का यही काल है—चतुर्दश शती का पूर्वार्ध (१३०० ई० से लेकर १३५० ई०)।

पारिजातहरण : विषयवर्णन

उमापति उपाध्याय का यह लघुकाव्य मैथिली नाटक श्रीकृष्णचरित की एक विश्रुत घटना पर आधारित है। सत्यभामा के आग्रह करने पर श्रीकृष्ण ने इन्द्र को पराजित कर उनके नन्दनवन से पारिजात वृक्ष का हरण किया था। यह घटना हरिवंश तथा श्रीमद्भागवत में संक्षेप से वर्णित है, परन्तु विष्णुपुराण में यह रोचक विस्तार के साथ निर्दिष्ट की गई है। इस नाटक के पात्रों में वार्तालाप तो देववाणी में ही दिया गया है, परन्तु प्रकृति की सुषमा, सत्यभामा का सौन्दर्य तथा भाव, मानिनी सत्यभामा की श्रीकृष्ण के द्वारा मनुहार आदि विषयों का वर्णन नाना गेय-पदों में किया गया है विशुद्ध मैथिली में। साहित्य की दृष्टि से ये पद बड़े ही अभिराम, सरस तथा कोमल हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी में ही नहीं, प्रत्युत किसी भी उत्तर भारतीय भाषा में वैष्णव पदशैली का यह प्रथम अवतार है। इनमें से कतिपय पद आगे उद्धृत किए जाते हैं।

उमापति ने इन पदों के लिये उपयुक्त रागों का विधान भी निर्दिष्ट किया है। ऐसे रागों में मालवराग (पृ० ३, २०), वसन्तराग (पृ० ४ तथा २१), असावरी राग (पृ० ५, ७), राजविजयराग (पृ० १०, २२), केदारराग (पृ० १६, १७), ललितराग (पृ० २१) मुख्य हैं। इससे स्पष्ट है कि उमापति संगीत के भी जानकार थे तथा गेय पदों के लिये उपयुक्त रागों की छानबीन करने में समर्थ थे। ये मैथिली गीत माधुर्य से सर्वथा परिपूर्ण हैं। शब्दों की सुबोधता

तथा सरसता पर विशेष ध्यान दिया गया है। मैथिली में मिठास स्वभावतः प्रचुर मात्रा में होती है; इस नाटक के गेय पदों में वह मिठास कथमपि न्यून मात्रा में नहीं है। सबसे बड़ी विशिष्टता है छोटे छोटे प्रसन्न शब्दों का विन्यास। माधुर्य के साथ प्रसाद की अधिकता सोने में सुगन्ध का काम कर रही है। इन गीतियों में हृदय के कोमल भावों की अभिव्यञ्जना की ओर कवि का विशेष आग्रह है। इसलिए इन गीतियों में सहृदय को रससिक्त बनाने की क्षमता विद्यमान है। यह कम श्लाघा का विषय नहीं है कि हिन्दी की ये आद्य गीतिकायें उन सभी गुणों तथा चमत्कारों से समन्वित हैं जिन्हें हम वैष्णवगीतिकाओं के उत्कर्ष काल में प्रचुरतया उपलब्ध करते हैं। निष्कर्ष यह है कि भाषा की सरसता तथा अर्थों की सुकुमारता दोनों दृष्टियों से उमापति की ये गीतिकायें नितान्त श्लाघनीय हैं। वैष्णवपदावली के विकास की दृष्टि से तो इनका महत्व समधिक मननीय है।

उमापति : वैष्णवपदावली

वसंतवर्णन (वसंतरागे गीतम्)

अनगनित किंशुक चारु चंपक ब्रकुल बकुहुल फुल्लिआ
पुनु कतहु पाटलि पटलि नीप नेवारि माधवि मल्लिआ।
अति मंजु वंजुल पुंज पिंजल चारु चूअ बिराजहीं
निज मधुहि मातल पल्लवच्छबि लोहितच्छबि छाजहीं।
पुनि केलि कलकल कतहु आकुल कोकिलाकुल कूजहीं
जनि तीनि जग जिति मदन नृप मुनिबिजय राज सुराजहीं।
नव मधुर मधुर समुगुध मधुकर कोकिला रस भावहीं।
जनि मानिनी जन मानभंजन मदन गुण गुरु गावहीं।
वह मलय परिमल कमल उपवन कुसुम सौरभ सोहहीं।
ऋतुराज रैवत सकल दैवत मुनिहु मानस मोहहीं।
जदुनाथ साथ बिहार हरषित सहस षोडश नायिका
भन गुरु 'उमापति' सकल नृपपति होथु मंगल दायिका ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण के स्निग्ध रूप की छटा इस पद में देखिए—

सखि हे रभस रसु चलु फुलवाड़ी
तहाँ मिलत मोर मदनमुरारी।
कनक मुकुट मणि भल भासा
मेरु शिखर जनु दिनमणि बासा।
सुन्दर नयन बदन सानन्दा
उगल जुगल कुबलय लय चन्दा।

पीतबसन तनु भूषण मनी
जनि नव घन उग दामिनी।
बनमाला उर उपर उदारा
अंजनिगिरि जनु सुरसरिधारा ॥ २ ॥

इस पद में श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन अलंकृत रूप में किया गया है। कृष्ण के पीतवसन की सजल नील मेघों में कौंधनेवाली बिजली से तुलना कितनी अनुरूप है। कृष्ण जी के गले में लटकनेवाली आजानुलम्बिनी माला का ध्यान कर किस सहृदय का चित्त अंजनगिरि से बहनेवाली पवित्र सलिला सुरसरिता की उज्ज्वलधारा की उत्प्रेक्षा से सद्यः आनन्दनिमग्न नहीं हो जाता।

सत्यभामा की रूपशोभा का वर्णन कम चमत्कारी नहीं है—

(मालवरागे गीतम्)

सत्यभामा देवि देल परवेश
स्वामि सोहाग सोहाउनि वेश।
हरषित हृदय गरू अभिमान
कृष्ण पिआरी प्राण समान।
देखइत चान कला क सन्देह
बसुधा बसु जनि बिजुरी रेह।
मणिमय भूषण अंग अमूल
कनकलता जनु फूलल फूल।
सुमति 'उमापति' कवि परमान
पट महिषी देवि हिन्दूपति जान ॥ ३ ॥

सत्यभामा की विरह दशा का वर्णन उसकी सखी सुमुखी श्रीकृष्ण के सामने कर रही है—

(वियोग पद)

कि कहब माधव तनिक विशेशे
अपनहु तनु धनि पाव कलेशे।
अपनु क आनन आरसि हेरी
चातक भरम काप कत बेरी।
भरमहु निय कर उर पर आनी
परसै तरस सरसीरुह जानी।
चिकुर-निकर निय नयन निहारी
जलधर जाल जानि हिय हारी।

अपन बचन पिकरव अनुमाने
हरि हरि तेहु परितेजय पराने।
माधव आवहु करिय समधाने
सुपुरुष निठुर रहय न निदाने।
सुमति 'उमापति' भन परमाने
माहेश्वरि देइ हिन्दूपति जाने ॥ ४ ॥

सत्यभामा की विरहदशा गजब की है—अपने ही शरीर से भय ! आश्चर्य ! दर्पण में अपना ही मुँह देखकर सत्यभामा चन्द्रमा समझती है और डर से काँप उठती है। अपने ही केशपाश को देखकर नील घनघटा की भ्रान्ति से उसका दिल बैठ जाता है। अपने ही मधुर वचनों में कोकिला की काकली की भ्रान्ति हो जाती है। विरह में ऐसी भ्रान्ति—ऐसा पागलपन—अपनी ही देह से भय खाना—क्या अलौकिक नहीं हैं ?

सत्यभामा को जब सुध आती है, तब वह छलिया कृष्ण की विचित्र करतूतों पर आश्चर्य प्रकट करती है और अपने ठगे जाने पर शोक अभिव्यक्त करती है—मेघ की छाया के नीचे तो मैंने शयन किया—उसे शीतल सुखद समझकर; परन्तु अन्त में वह तीव्र घाम के रूप में बदल गया ! उन्होंने अपनी पुरानी रसमयी प्रीति को जो भुला दिया उसमें उनका दोष ही क्या ? काले साँप को कितना भी जतन कर पाला जाय क्या वह कभी पोस मानता है ? अब मैं आगे अपमान पाने की शंका से कभी अपने स्नेह को प्रकट नहीं करूँगी। पत्थर को दस हजार बार अमृत में भिजाया जाय, तो क्या वह कभी कोमल हो सकता है ? घनश्याम के प्रति यह उलाहना कितना सुन्दर और साहित्यिक है—

(उपालंभ पद)

हरि सो प्रेम आस कय लाओल
पाओल परिभव ठामे।
जलधर छाहरि तर हम सुतलहु
आतप भेल परिनामे।
सखि हे, मन जनु करिय मलाने
अपन करम फल हम उपभोगब
तोहें किय तेजह पराने। (ध्रुवम्)
पुरुष पिरिति रिति हुनि यँ बिसरव
तइओ न हुनकर दोसे
कतेक जतन धरि यँ परिपालिय
साप न मानय पोसे।

कबहु नेह पुनु नहि परगासब
केवल फल अपमाने ।
बेरि सहस दस अमिय भिजाबिअ
कोमल न होय पखाने ।
गुरु 'उमापति' हरि होएब परसन
मान होएब अवसाने ।
सकल नृपतिपति हिंदूपति जिउ
महारानि बिरमाने ।। ५ ।।

सांवरे कृष्ण सत्यभामा के महल में पहुँचते हैं और मानिनी को मनाने का सतत उद्योग करते हैं—

मानभंजन पद (मालवरागे गीतम्)

अण्ण पुरुब दिसि बहलि सगर निसि
गगन मलिन भेल चंदा ।
मुनि गेलि कुमुदिनि तइअओ तोहर
धनि मूनल मुख अरबिंदा ।
कमल बदन कुवलय दुहु लोचन
अधर मधुरि निरमाने ।
सगर सरीर कुसुम तुअ सिरजल
किए तुअ हृदय पखाने ।
असकति कर कंकण नहि पहिरसि
हृदय हार भेल भारे ।
गिरिसम गरुअ मान नहि मुंचसि
अपरुप तुअ बेवहारे ।
अवगुन परिहरि हरषि हेरु धनि
मान क अवधि बिहाने ।
हिमगिरि कुंमरि चरण हृदय धरि
सुमति 'उमापति' भाने ।। ६ ।।

श्रीकृष्ण की समझ में मानिनी सत्यभामा का व्यवहार बिलकुल बेढंगा जान पड़ता है । मोतियों का हार तो बोझ सा जान पड़ता है, इसीलिये उसने उसे उतार फेंका है, परंतु पहाड़ के समान भारी मान को वह नहीं छोड़ती और उसे अपने हृदय में छिपाए बैठी है । क्या उसके व्यवहार में अपरूपता नहीं है ? सत्यभामा का समग्र शरीर सुकुमार कुसुममय है ; मुख कोमल है ; दोनों आँखें कुवलय हैं ; अधर रसमय महुआ के फूल से विरचित प्रतीत होता है । परंतु आश्चर्य है कि ब्रह्मा ने उसके कोमलतम अंग हृदय को पत्थर से बना रखा है ।

इतनी मनावन करने पर सत्यभामा का मान क्षीण नहीं होता; तब श्रीकृष्ण को एक नई युक्ति सूझती है। वे झट अपना दोष मान लेते हैं और दंड देने के लिये सत्यभामा से आग्रह करने लगते हैं। दंड पाने में उनके मनोरथ की सिद्धि सद्यः हो जाती है। वे सुंदर व्यंग्य भरे वचनों में अपनी भावना प्रकट करते हैं—

मानिनि ! मानह जओं मोर दोसे
शास्ति करिय बरु न करिय रोसे।
भौंह कमान बिलोकन बाने
बेधह विधुमुखि ! कय समधाने।
पीन पयोधर गिरिवर साधी
बाहुफाँस धनि धरु मोहि बाँधी।
को परिणति भय परसनि होही
भूषण चरण कमल देइ मोही।
सुमति 'उमापति' भन परमाने
जगमाता देइ हिंदूपति जाने ॥ ७ ॥

हे मानिनि ! यदि मेरा ही दोष मानती हो, तो उसके लिए मुझे दंड दो; रोष न करो। हे विधुवदनी ! अपनी कमान रूपी, भौंहों से साधकर बाण के समान तीखे कटाक्ष छोड़ो और मुझे बिद्ध कर डालो। अपने पीन पयोधर रूपी पर्वतों में साधकर मुझे तुम भुजा रूपी पाश से जकड़कर बाँध लो। यह दंड सहने के लिये मैं सर्वथा उद्यत हूँ।

उमापति के इन पदों के ऊपर गीतगोविंद का प्रभाव यथेष्टरूपेण अभिव्यक्त है। अनेक पदों के भाव तथा अर्थ गीतगोविंद के किसी प्रख्यात पद की छाया लेकर विरचित हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है। इस पदशैली को वैष्णव भावों की अभिव्यंजना के निमित्त प्रचलित करना श्री जयदेव के ही सरस हृदय तथा अलौकिक प्रतिभा का संवलित परिणाम है। फलतः जयदेव का प्रभाव पिछले कवियों के ऊपर चाहे वे संस्कृत के हों अथवा भाषा के हों—पड़ना स्वाभाविक है ! उमापति के ऊपर यह प्रभाव मात्रा में न्यून नहीं है। ऊपर उद्धृत सप्तम पद के भावों की तुलना गीत-गोविंद के एक विश्रुत पद से भली भाँति की जा सकती है। श्रीकृष्णचंद्र मानिनी राधिका जी की मानग्रंथि खोलने का यत्न कर रहे हैं। इसी प्रसंग में उनका राधिका के प्रति यह ललित निवेदन है—

सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी
देहि खर - नखर - शर - घातम्।
घटय भुजबंधनं जनय रदखंडनं
येन वा भवति सुखजातम् ॥

आशय है कि हे सुदति राधिके, यदि तुम सचमुच ही मेरे ऊपर क्रुद्ध हो, तो मेरे शरीर पर तीखे नख रूपी बाणों से प्रहार करो। मुझे अपनी भुजाओं से बंधन में डाल दो तथा अपने दाँतों से मेरे अधर आदि अंगों का खंडन करो जिससे तुमको सुख उत्पन्न हो। अपराधी को उसके अपराधों के लिए बाणों से प्रहार, बंधन में डालना तथा अस्त्र से शरीर का खंडन आदि दंड दिए जाते हैं। मैं भी इन दंडों के लिये तैयार हूँ, परंतु इन दंडों का रूप शृंगारिक होने से रस का पोषक है, शोषक नहीं। उमापति के पूर्वोक्त पद में यही भाव सुबोध मैथिली शब्दों में अभिव्यक्त किए गए हैं।

इस नाटक का संस्कृतभाग तो नितांत साधारण है। कथनोपकथन के लिये, पात्रों में परस्पर वार्तालाप के निमित्त प्रयुक्त यह संस्कृत सामान्य कोटि की है। बीच-बीच में संस्कृत के सुंदर पद्य अवश्य पिरोए गए हैं। परंतु इसके सर्वाधिक मूल्यवान् अंश है मैथिली गीतें। अब तक महाकवि विद्यापति ही मैथिली के और साथ ही साथ हिन्दी के भी प्रथम पदकर्ता माने जाते थे; परंतु इस नाटक ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। यह नाटक विद्यापति (लगभग १४०० ई०) से करीब ७५ वर्ष पहले लिखा गया था। अतएव उमापति को मैथिली का तथा साथ ही साथ हिन्दी का प्रथम वैष्णवपदकर्ता मानना कथमपि असंगत नहीं है। बंगला के प्राचीन पदावली-संग्रहों में उमापति के एक दो पद अवश्य यत्र तत्र मिलते हैं, परंतु विद्यापति के कवित्वमय व्यक्तित्व के सामने उमापति का व्यक्तित्व कुछ फीका पड़ गया था और इसीलिये इनकी उतनी प्रसिद्धि न हो सकी।

---

४ : ७

भक्तिकालीन आचार्य

रसिक गोविन्द

[भक्तिकाल हिन्दी साहित्य संसारके लिए नितान्त मञ्जुल काव्यकला के विकास का अभ्युदय काल माना जाता है। इस काल के महनीय कवियों ने काव्यरचना में अनेक अलौकिक चमत्कार प्रदर्शित कर हिन्दी काव्य का सुवर्णकाल कहलाने की योग्यता प्रदान की है। इसी युग में भक्ति कवि होने के अतिरिक्त रसिक गोविन्द ने अलंकार शास्त्रीय विवेचन में अपनी अपूर्वता प्रदर्शित की है। इनके पाण्डित्यपूर्ण अलंकार ग्रन्थ 'रसिक गोविन्दानन्द घन[1]' की प्राप्ति के अवसर पर हमने इनकी रचनाओं तथा कवि प्रतिभा के विषय में एक छोटी स्वतन्त्र पुस्तिका ही १९३३ ईस्वी में आज से पचास वर्ष पूर्व प्रकाशित की थी। उसी पुस्तिका का सार-अंश यहाँ रसिकजनों, विशेषतः शोध रसिक विद्वानों के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। 'रसिक गोविन्द' के तथ्यपूर्ण परिचय तथा आलोचना का यह पहला ही अवसर था।]

'रसिकगोविन्द' के विषय में सबसे पहले ठाकुर शिव सिंह जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में (पृ० ६८ और पृ० ३७०) एक दो तथ्यों का संकेत किया है। उन्होंने 'गोविन्द जी कवि' के नाम से 'रंगभरी भरि भिजवत मोरी अंगिया' वाला पद उद्धृत किया है तथा उनको वे सम्वत् १७५० में उपस्थित बतलाते है। डा० ग्रियरसन अपनी विख्यात पुस्तक 'माडर्न वर्नाकूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' में नम्बर ६३८ पर 'रसिकगोविन्द' नामक किसी कवि का उल्लेख करते हैं तथा इनके पदों को 'रागकल्पद्रुम' में उद्धृत किये जाने का संकेत करते हैं। इसके अनन्तर १९०६—१९०८ ई० के हिन्दी ग्रन्थों की खोज रिपोर्ट में तथा इसके पश्चात् प्रकाशित १९१२-१९१४ ई० के खोज रिपोर्ट में गोविन्द कवि का विवरण दिया गया हैं। जो वस्तुतः एक ही अभिन्न कवि का परिचय है। इन्हीं रिपोर्टों के आधार पर मिश्रबन्धु विनोद में (नम्बर ११३९ पर) रसिक गोविन्द का परिचय संकेत रूप से दिया गया है। इन ग्रन्थों में रसिक गोविन्द का परिचय अपर्याप्त एवं अपूर्ण ही प्राप्त होता है। इन परिचयों में जो बातें कही गई हैं, वे अंशतः भ्रमात्मक भी हैं। हिन्दी जगत को 'रसिकगोविन्द' के

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति हमें काशी (मुहल्ला भैरवनाथ) के साहित्य-रसिक वैद्यराज पण्डित चुन्नीलालजी के पुस्तकालय से प्राप्त हुई थी। इसके लिए हम उनका विशेष आभार मानते हैं।

विषय में निर्णयात्मक रूप से पूरी अभिज्ञता प्राप्त नहीं हो सकी है। इसलिए हम यहां संक्षेप में उन तथ्यों का उल्लेख कर रहे हैं जो इनके ग्रन्थों के अनुशीलन से प्राप्त हो सकी है।

इस वर्णन में जितनी बातें कही गई हैं वे सब भी कुछ अंश में भ्रमात्मक ही हैं। इतने विचार से यही निकलता है कि रसिक गोविन्द के विषय में हिन्दी संसार को कुछ भी अभिज्ञता प्राप्त नहीं हुई है। इसलिये हम संक्षेप से उन बातों का नीचे उल्लेख करते हैं जो इनके ग्रन्थों से ज्ञात हो सकी हैं।

इनका नाम गोविन्द था परन्तु कविता में इन्होंने कहीं अपने को 'रसिक गोविन्द' लिखा है और कहीं 'अलि' या 'अलि' रसिक'। 'रसिक गोविन्दानन्द' के प्रारम्भ में रसिक गोविन्द अपने विषय में यों लिखते हैं:—

बैष्णव रसिक गोविन्द लेखक कवि कोक काव्य करैया।
सालिग्राम सुत जाति नटाणी बालमुकुन्द को भैया॥
जैंपुर जन्म जुगुल पद सेवी नित्य विहार गवैया।
श्री हरिव्यास प्रसाद पाय भो वृन्दाविपिन बसैया॥
पितु ह्वै प्रतिपाल्यौ प्रकट, प्रभु ह्वै दिय निजधाम।
गुरु ह्वै अभय कियो सदा, जय श्री सालिगराम॥
रामकृष्ण सुत ज्येष्ठ पितु मोती राम अभिराम।
दग्धक्षर दुखहर सुखद सकल गुनिन के धाम॥
वानी कंठ हिये जुगल, लछिमी ता घर वास।
मुख कविता कर पुस्तिका, कुन्दन तन मृदु हास॥

'लछिमन चन्द्रिका' के प्रारम्भ में भी इन्होंने अपने विषय में संक्षेप से यों कहा है—"जैंपुर जन्म, माता गुमाना, बेटा सालिग्राम जी नटाणी का। मोतीराम जी का भतीजा। भाई छोटा बालमुकुन्द जी का। 'रसिक गोविन्द' नामक ग्रन्थ में भी ये अपना परिचय यों देते हैं—

"मातु गुमाना गुविन्द के पिताजु सालिग्राम।
श्री सर्वेसर सरन गुरु, बास वृंदावन धाम॥

इन उद्धरणों से यह बात बिल्कुल साफ तौर से मालूम पड़ती है कि रसिक गोविन्द जी का जन्म राजपुताने के जयपुर में हुआ था। इनके पिता का नाम शालिग्राम तथा माता का नाम गुमाना था। जाति इनकी नटाणी थी। इनके एक बड़े भाई भी थे जिनका नाम बालमुकुन्द था तथा इनके मोतीराम नामक एक चाचा भी थे। इन्होंने अपने को हरिव्यास के प्रसाद से वृन्दावन में रहनें वाला कहा है अवश्य, परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि हरिव्यास जी इनके गुरु थे जैसा कि १६०६-१६०८ ई० वर्ष वाली रिपोर्ट में लिखा गया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में जो गुरुवंश वर्णन दिया है, उससे यह बात

बिल्कुल निःसन्दिग्ध हो जाती है। उस अंश को भी हम यहाँ दे देना उचित समझते हैं :—

जै जै जै श्री राधिका सर्वेश्वर श्री हंस।
सनकादिक नारद सदा, निम्बादित्य प्रशंस।।
श्री निवास विश्वपुरुषोत्तम विलासाचार्य
श्री स्वरूप माधौ बलभद्र पद्म अरु श्याम।
श्रीगोपाल कृपा देवाचारज श्रीसुन्दर भट्ट
पद्मनाभ श्रीउपेन्द्र रामचन्द्र अभिराम।
बावन श्रीकृष्ण पदमाकर श्रवणभूरि
माधव जु श्याम श्री गोपाल बलभद्र ताम।
गोपीनाथ केसो भट्ट मंगल कस्मीर केसो
श्री भट्ट श्री हरिव्यास देव श्री परसराम।
परसराम हरिवंश नारायण वृन्दावन सुखकरन।
श्री गोविन्द गोविन्द सरन जू श्री सर्वेश्वर सरन।।
भक्ति अरु ग्यान वैराग योगादि कौ
अगम मग सुगम सब को जतायौ।
श्रीमत भागवत भली विधि कथन करि
लोक को सोक संसय नसायौ।
मूढ़ मोसो अधम भूलि भव भ्रमत लखि,
मया करि जबर जमसे बचायौ।
यह जिय जानि ब्रजवास आस धरि,
दास गोविन्द रसिक सरण आयौ।

'लछिमन चन्द्रिका' के प्रारम्भ में भी कविवर रसिक गोविन्द ने इन्हीं बातों का संक्षेप स्पष्टरूप से दिया है :—"श्री परम उदार परमेश्वर सरवेश्वर सर्वोपरि विराजमान। तिनकी परम्परा यह। हंस बंस सनकादिक नारद निम्बादित्य सम्प्रदाय के सिरोमनि आचारज श्री हरिव्यास देवजू महाराज की गादी। श्री परसराम देव जी। श्री हरिबंश देव जी। श्री नारायण देव जी। श्री बृन्दावन देव जी। श्री गोविन्द देव जी। श्री गोविन्द सरन देव जी, श्री सर्वेस्वर सरण देव जी महाराज को शिष्य परम कृपापात्र वैष्णवरसिक गोविन्द कवि।"

दीक्षा-गुरु

पूर्वोक्त उद्धरणों से इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि यह निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव थे। उस सम्प्रदाय में हरिव्यास जी नाम के एक बड़े प्रभावशाली गुरु हुये। उन्होंने अपनी एक स्वतन्त्र गद्दी स्थापित की। उनकी

शिष्यपरम्परा में श्री सर्वेश्वर शरण देव जी नाम के एक बड़े भक्त महात्मा हुये। उन्हीं के शिष्य कवि रसिक गोविन्द थे।

१६१२–१६१४ ई०की खोज रिपोर्ट में इनके गुरु कोई स्वामी गोवर्धन देव बतलाये गये हैं। शायद यह बात नीचे उद्धृत कवित्त से निश्चित की गई हो :—

परम उदार दुख दंद के हरनहार,
सब गुनसार सदा राजत अभेव हैं।
पूरन प्रकास वेद विद्या के निवास,
दास श्री गोविन्द जासु जग जस को न छेव हैं।
रसिक अनन्यवर, नागर चतुर चारु,
चरन कमल भवसागर के खेव हैं।
जीवन हमारी कुन्ज महल अधिकारी,
ऐसे सुखकारी स्वामी गोवर्धन देव हैं।

इसका अन्तिम पद हमारी पुस्तक में इस प्रकार है :—

जीवन हमारी, कुन्ज भवन अधिकारी,
ऐसे सर्वेस्वर सरन सुखकारी गुरुदेव हैं।

यही पाठ 'रसिक गोविन्दानन्दघन' में तथा अन्य ग्रन्थों में दिये गये वर्णन से सुसङ्गत मालूम पड़ता है। ऊपर दी हुई गुरु परम्परा में भी स्वामी गोवर्धन देव का कहीं नाम नहीं आया। न जाने किस लेखक की कृपा से 'सर्वेश्वर शरण' का स्थान 'गोवर्धन देव' जी को मिल गया।

समय

रसिक गोविन्द ने अपने करीब करीब हर एक ग्रन्थ में उसके निर्माण का काल दिया है। रसिक गोविन्दानन्द में रचना काल यों दिया है—

वसु[८] सर[५] वसु[८] ससि[१] अंक रवि दिन पञ्चमी वसन्त
रच्यो गोविन्दानन्दघन, वृन्दावन रसवन्त॥

अर्थात् यह ग्रन्थ (सं० १८५८ = १८०२ ई०) बसन्तपञ्चमी रविवार के दिन वृन्दाबन में लिखा गया। यह ग्रन्थ कई ग्रन्थों के लिखने के बाद लिखा गया। 'रसिकगोबिन्द' का निर्माण काल सं० १८६० है। अतः इनका कविता काल विक्रम की १९ वीं शताब्दी के मध्य से प्रारंभ होकर अन्त तक चला जाता है।

ग्रन्थ

अभी तक हमको इनके नव ग्रन्थों का पता लगा है। बहुत सम्भव है कि इनके और भी ग्रन्थ हों। ऊपर दिये ग्रन्थों के रचना-काल से इनका दीर्घजीवी होना प्रमाणित है। यह लेखक भी अच्छे थे इसलिये इन्होंने अवश्य अन्य ग्रन्थों की भी रचना की होगी। ये ही ग्रन्थ जब लुप्तप्राय हो रहे हैं—हिन्दी संसार इनके

नाम तक से परिचित नहीं—तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वे अन्य ग्रन्थ अब विस्मृति के समुद्र में डूब गये हों। इनमें से हमने केवल पांच ग्रन्थ देखे हैं। इनका सविस्तर वर्णन देने के पहिले न देखे हुये ग्रन्थों के बारे में जो कुछ पता लगा है वह नीचे दिया जाता है :—

(१) अष्टदेशभाषा—इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न आठ भाषाओं के द्वारा राधाकृष्ण का शृङ्गारमय वर्णन किया गया है। रसिकगोविन्द अनेकभाषाओं के अभिज्ञ थे। यह ग्रन्थ इस अभिज्ञता का अच्छा निदर्शन है। कहा जाता है कि पंजाबी, खड़ी बोली, पूर्वी, रेखता आदि के अच्छे पद्य इसमें हैं। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा नहीं है। इसकी ग्रन्थसंख्या केवल ७५ है।

(२) पिंगलग्रन्थ—छन्दः शास्त्र का छोटा सा ग्रन्थ है।

(३) समय प्रबन्ध—इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न ऋतुओं में राधाकृष्ण की जीवनचर्या वर्णित है। यह भी ग्रन्थ छोटा ही है। ग्रन्थ-संख्या केवल ८ है।

(४) रसिकगोविन्द—यह अलंकार का ग्रन्थ है। इसी का अपरनाम रसिक गोविन्दचन्द्र चन्द्रिका है। चन्द्रालोक अथवा भाषाभूषण के ढंग पर इसमें अलङ्कारों का प्रतिपादन किया गया है। उससे उदाहरण के रूप में यहाँ यह दोहा दिया जाता है :—

विशेषोक्ति उपजे नहीं, कारन ते जब काज।
मानद मान मनावत्यौ, मानिनि मान न आज॥

रसिकगोविन्दानन्दघन में दिये हुये लक्षण-उदाहरण से ये लक्षण तथा उदाहरण सर्वथा भिन्न हैं। वहाँ लक्षण गद्य में दिया गया है और उदाहरण स्वनिर्मित या अन्यरचित पद्यों में दिये गये हैं। इस ग्रन्थ में लक्षण तथा उदाहरण एक ही दोहे में दिये गये हैं। यह ग्रन्थ कवि की वृद्धावस्था में लिखा गया है और बहुत संभव है कि यह इनका अन्तिम ग्रन्थ हो। इसका रचनाकाल उन्होंने यह दिया है—

नभ निधि वसु ससि अब्द रवि दिन पंचमी वसन्त।

जो संवत् १८९० तथा १८३३ ईस्वी सिद्ध होता है।

अब हम उन ग्रन्थों का वर्णन करते हैं जिनको हमलोगों ने स्वयं देखा और अनुशीलन किया है :—

(५) रामायण सूचनिका—इस ग्रन्थ में ३३ दोहाओं के द्वारा ककारादि क्रम से रामायण की कथा अत्यन्त संक्षेप से कही गई है। सूचनिका में रचनाकाल नहीं दिया गया है तथापि इतना कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ १८५८ संवत् के पहिले लिखा गया था, क्योंकि रसिकगोविन्दानन्दघन में इसके कई दोहे उदाहरण के तौर पर पाये जाते हैं। ग्रन्थ में कवि के ऊपर कई प्रकार के नियन्त्रण होने के कारण कविता उतनी अच्छी नहीं हुई जितनी अच्छी अन्यत्र है।

(६) **कलिजुगरासो**—इसमें १६ कवित्तों के द्वारा कलियुग के दुश्चरित्रों का चित्र सा खींचा गया है। प्रत्येक कवित्त के अन्त में यह पद आता है—"कीजिये सहाय जु कृपाल श्रीगुविन्दराय, कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है।" हमारी पुस्तक में रचनाकाल नहीं दिया हुआ है किन्तु रिपोर्ट में इस ग्रन्थ का रचनाकाल सम्वत् १८६५ दिया हुआ है। यह भी कहा गया है कि यह पुस्तक ग्रन्थकार के हाथ की लिखी हुई है[1]। किन्तु कविता की दृष्टि से यह ग्रन्थ गोविन्दानन्दघन से पहिले का सा मालुम पड़ता है। रिपोर्ट में भूल होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

(७) **युगलरसमाधुरी**—इस पुस्तक को श्रीनिम्बार्क पुस्तकालय, नानपारा, जिला बहराइच के पण्डित माधवदास ब्रह्मचारी ने बिना मूल्य वितरणार्थ सम्वत् १९७२ में प्रकाशित की थी। पुस्तक बहराइच के ही बालार्क प्रेस में छपी थी। पता नहीं कि इस समय यह पुस्तक मिलती है या नहीं। इस पुस्तक में १६ पृष्ठ हैं। आरम्भ में आनन्दधाम श्री वृन्दावन का बड़ा ही मनोहर वर्णन है। तदनन्तर श्री राधाकृष्ण जू की विविध ललित लीलाओं का बड़ी ही सजीव तथा सुन्दर भाषा में वर्णन किया गया है। कविता परम मनोहर है।[2]

(८) **लछिमन चन्द्रिका**—यह ग्रन्थ अभी तक बिलकुल ही अज्ञात है। न इसका नाम किसी रिपोर्ट में आया है और न मिश्रबन्धुविनोद में। रसिकगोविन्दानन्दघन में जितने लक्षण दिये हुये हैं उन्हीं का यह संग्रह है। गोविन्दानन्दघन उदाहरण के कारण बहुत बड़ा हो गया है, इसलिये उसमें आये सम्पूर्ण विषय को संक्षेप में जानने के लिये ग्रन्थकार ने यह सूचनिका स्वयं तैयार की है। इसके लिखे जाने का कारण तथा प्रसङ्ग कविवर ने ग्रन्थ के आदि में दे दिया है। वह यह है—

कान्यकुब्ज जगनाथ—सुत, लछिमन लछिमनरूप।
ताहित लछिमन चन्द्रिका, रची गुविन्द अनूप॥
काशी माँहि सुनाइ तेहि, पुनि वृन्दावन आय।
रामचन्द्र के ब्याह में, लिखि तेहि दई पठाय॥
रसिकगुविन्दानन्दघन रच्यो ग्रन्थ श्रीधाम।
ताकी लछिमन चन्द्रिका, सूचनिका अभिराम॥

इसमें इसका निर्माण काल नहीं दिया हुआ है किन्तु ग्रन्थ के अन्त में समाप्ति के अनन्तर यों लिखा हुआ है :—

लिखितं श्रीवृन्दावने। लेखकः स्वयं कविराजः। मिती ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदा भौमवार संवत् १८८६।

---

१. देखो Report of Hindi MSS. for 1906, 7, 8 No. 121 (a)
२. अन्तिम तीन ग्रन्थों को हमने 'रसिक गोविन्द और उनकी कविता' नामक पुस्तक के परिशिष्ट रूप में छपवाया था। प्रकाशक हिन्दी प्रचारिणी सभा, बलिया। सं० १९८३।

इससे यह पता लगता है कि यह ग्रन्थ रसिकगोविन्दानन्द के २८ वर्ष बाद लिखा गया। इससे यह भी सूचित होता है कि रसिक गोविन्दानन्दघन उनके जीवित काल ही में प्रचलित हो चुका था, यहाँ तक कि उसे अच्छी तरह हृदयङ्गम करने के लिये—उसका संक्षेप लिखने के लिये ग्रन्थकार से लोगों को प्रार्थना करनी पड़ी।

(६) रसिकगोविन्दानन्दघन - कविवर रसिक गोविन्द का यह सबसे बड़ा तथा प्रधान ग्रन्थ है। इसका निर्माण काल स्वयं ग्रन्थकार ने बसन्त पंचमी सम्वत् १८५८ दिया है। यह ग्रन्थ लम्बे साइज के पत्रों पर लिखा गया लगभग साढ़े चार सौ पत्रों में (अर्थात् लगभग नौ सौ पृष्ठों में) समाप्त हुआ है। इसमें साहित्य के लक्षणा व्यञ्जना के विचार को छोड़ अन्य सब विषयों का विशद रूप से प्राचीन कवियों के निर्मित तथा स्वरचित पद्यों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। लक्षण जितने हैं वे सब गद्य में हैं तथा इन्हीं के बनाये हुये हैं। यह ग्रन्थ चार प्रबन्धों में विभक्त है। प्रथम प्रबन्ध में सब अङ्गों के साथ रसों का वर्णन किया गया है। दूसरे में नायक-नायिका भेद दिखाया गया है। तीसरे प्रबन्ध में काव्य-दोष-विचार है और चौथे में गुण और अलंकारों का प्रतिपादन है। अब हम क्रम से एक एक प्रबन्ध लेते हैं और उनके स्वरूप का संक्षेप में परिचय देते हैं।

ग्रन्थ का विशेष परिचय

प्रथम प्रबन्ध का नाम रसनिरूपण है। ग्रन्थारम्भ इस कवित्त से होता है—

ललित सिंगार परिहास युत दूतीमुख
विरह निवेदन में करुणा को साज है।
रूठिबे में रौद्र सुरतोत्सव में वीर
कम्प भै विभत्स नखरद-छतको समाज है।
अद्भुत उलटि सिंगार, सान्ति प्यारी के
मनाये बिना पी को न सुहाय कछु काज है।
दंपति बिहार सदा वंदत गुविंद जाहि
सेवत सरस रस-राज महराज है।

इनके अनन्तर वृन्दावन की प्रशंसा में एक ऐसा रसमय छप्पय आता है जिसको यहाँ देने के लोभ को हम संवरण नहीं कर सकते।

सघन कुंज अलिगुंज पवन तहँ त्रिविध सुहाई।
रतन जटित अवनी अनूप जमुना बहि आई॥
छ रितु, कोक संगीत राग रागिनी रति रतिपति।
सब सुख साज समाज सहित सेवत अति नितप्रति॥
शृंगार प्रेमरस सरस पुनि काल कर्म गुन कछु न डर।
दंपति बिहार गोविन्द जै जै श्रीवृंदाविपिन बर॥

इसके बाद कवि ने अपने तथा गुरु के वंश का वर्णन किया है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। ग्रन्थ लिखने का प्रयोजन तथा नामकरण का अभिप्राय भी इसी स्थान पर उल्लिखित है। वह यह है—

बेटा बालमुकुन्द को, श्रीनारायण नाम।
रच्यो तासु हित ग्रन्थ यह, रसिक गुविंद अभिराम॥

× × ×

रसिकगोविन्दानन्दघन, सुरत प्रीति परतीति।
नाम गुविन्दानन्दघन, धरचौ मीत यहि रीति॥
यहै गुविन्दानन्द घन, नाम धरचौ यहि हेत।
कहत सुनत सीखत लिखत, सब विधि आनँद देत॥
रसिकगोविन्दादिकन कृत, यह आनन्द समूह।
याते नाम अनन्दघन, धरचौ रहित प्रत्यूह॥
शब्द समुद्र अगाधि मधि, नवनिधि रस छबि देत।
भरत गोविन्दानन्दघन, वरषत रसिकन हेत॥

इस विषय में लछिमन चन्द्रिका में एक बात और अधिक कही गई है। वह यह है—'रसिक गोविन्द को मित्र आनन्द घन चौबे ! याते ग्रन्थ को नाम रसिक गुविन्दानन्दघन धर्‌यो।''

इसके उपरान्त मूल ग्रन्थ आरम्भ होता है। आरम्भ का थोड़ा सा अंश बानगी के तौर पर यहाँ दिया जाता है—

''अथ रस निरूपणं—अन्य ज्ञान-रहित जो आनन्द सो रस। प्रश्न अन्य ज्ञान रहित आनन्द तो निद्राहू है? उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चैतन्य। भरत आचार्य सूत्र करता को मत-विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोगते रस की सिद्धि। अथ काव्यप्रकाश को मत-कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इनही को नाटच में काव्य में विभाव संचारी भाव संज्ञा है। इनके संजोग ते प्रगट हो जो स्थायी भाव, सो रस। अथ टीका कर्ता को मत तथा साहित्य दर्पण को मत-सत्त्व, विशुद्ध, अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्द, चित्, अन्य ज्ञान नहिं संग, ब्रह्मा-स्वादसहोदर रस।'' इसके अनन्तर अभिनव गुप्ताचार्य का मत कुछ विस्तार के साथ दिया हुआ है। यही ढंग लक्षण करने में इन्होंने सर्वत्र रखा है। इसके अनन्तर शृंगार-रस के हरएक अंग का बहुत ही अच्छा वर्णन किया गया है। अन्य रसों का भी वर्णन अच्छा है किन्तु उतने विस्तार के साथ नहीं। अधिकांश उदाहरण प्रसिद्ध प्राचीन कवियों के चुने हुये पद्य हैं।

दूसरा प्रबन्ध

द्वितीय प्रबन्ध में नायक नायिका भेद कहा गया है। साधारणतः नायिका भेद के ग्रन्थों में जो बातें रहती हैं वे सब इसमें आ गई हैं किन्तु वे सब सूक्ष्माति-

सूक्ष्म भेद जिन्हें देने में अन्य रसिक कवि लोग अपना कर्तव्य पालन समझते थे, यहाँ नहीं दिये गये हैं। यह प्रबन्ध नायक-भेद से शुरू होता है। इसके अनन्तर नायक के सहचरों का साधारण वर्णन दिया गया है। तदुपरान्त नायिकाभेद शुरू होता है। केवल प्रधान प्रधान भेद उदाहरणों के साथ दिखाये गये हैं। इसमें भाव हावादि उदाहरणों के संग वर्णित हैं। इनका यह प्रबन्ध भी अत्युत्तम हुआ है। प्राचीन परिपाटी से प्रचलित किसी विषय को छोड़ा भी नहीं और पीछे के छिछोरे शृङ्गारी कवियों की तरह मर्यादोल्लङ्घन भी नहीं किया। उदाहरण भी अन्यत्र की तरह चुने हुए दिये गये हैं।

तीसरा प्रबन्ध

इस प्रबन्ध में काव्य के दोष दिखाये गये हैं। हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थों में दोष विवेचन का स्थान बहुत ही कम रहा है। दोष के एक दो ग्रन्थों का नाम सुनने में आता है किन्तु वे सब अप्राप्य से हो गये हैं। यह प्रबन्ध बहुत करके काव्य-प्रकाश के सप्तमोल्लास के आधार पर बनाया गया है। एक बात इस प्रबन्ध में बड़े मार्के की यह है कि दूसरे कवियों के दोष निकालने का बड़ा भारी सुयोग यहां होने पर भी ग्रन्थकार ने अपनी बड़ी ऊँची सज्जनता दिखलाई है। पहिले तो प्राचीन कवियों के दोष ही कम दिखलाये हैं। जहाँ कहीं दिखाये भी हैं तो वे ही दोष दिखलाये हैं जो सभी को अखरने वाले हैं। कहीं-कहीं तो प्राचीन ग्रन्थों में दोष के उदाहरण में ही आये हुए पद्य दिये गये है। बहुत करके दोष-उदाहरण में अपने ही बनाये हुये छन्द दिये हैं और यह भी कह दिया है कि इसमें यह सुधार करने से यह निर्दोष हो जायगा। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

'अथ प्रसिद्धिहत – कविन के संकेत रहित पद जा विषै होइ सो प्रसिद्धिहत।

कवित्त— आनँद के कन्द, नँद नँदन सो मिलन काज,
सुन्दरी सलोनी चली संग सखियान की।
सुभग सिंगार काछे, अँग सुकुमार आछे,
कुटिल कटाछे भृकुटी की अँखियान की।
दृग अरविन्दवर, बदन अमंद इन्दु,
सरस हसवि "श्री गुविन्द" सुखदान की।
बलय गरज कटि किंकणी धुकार पद,
नुपूर का सोर पुनि घोर बिछियान की॥

गरज धुकार सोर घोर ये शब्द के समै प्रसिद्ध हैं। यहाँ शृंगार मैं रणित कुणित नदित धुनि ऐसो कहनो उचित।" यह पद्य रसिक गोविन्द का स्वनिर्मित है।

अथ कष्टार्थ—कवि के हृदय को अर्थ अक्षरनितें प्राप्त जहां नही होय सो कष्टार्थ।

गिरिधर—

नायक अपनी नायिका जनम पाइ देखी ॥
रूप-कुरूप लख्यौ नहीं सेज परस्पर लीन ॥
सेज परस्पर लीन इतौ पर नायक रूठौ।
प्यारी लियो मनाइ लिख्यौ मजकूर अनूठौ ॥
कह गिरिधर कविराय, हुते दोऊ सम लायक।
यह जानी नहिं परी कौन विधि रूठौ नायक ॥

अपार्थ—मतवारे को सौ उन्मत्त को सौ बालक को सौ बचन होय अरु अर्थ जाको समुझिये नहीं, सो अपार्थ।

केशव दोहा—

पिये लेत नर सिन्धु को, है अति सज्जर देह।
ऐरावत हरि भावतो, देख्यो गरजत मेह ॥

यह दोहा केशवदास की कविप्रिया में इसी दोष के उदाहरण में आया है।

इतने उदाहरणों से यह स्पष्ट मालूम पड़ जायगा कि यह प्रबन्ध भी बहुत ही उपादेय है, बल्कि यों कहना चाहिये सबसे अधिक उपादेय है। अन्य विषय के तो अन्य भी अच्छे-अच्छे ग्रन्थ हैं। किन्तु दोषों का इतना मार्मिक विवेचन और कहीं भी नहीं मिलता। अपने को सरस्वती का वरद पुत्र समझने वाले आजकल के कवि-गण यदि इस ग्रन्थ का कुछ भी मनन करें तो हिन्दी-साहित्य का कितना उपकार हो जाय।

चतुर्थ प्रबन्ध

इस प्रबन्ध में गुण, वृत्ति और अलङ्कारों का वर्णन है। गुण और वृत्ति के विवेचन में भी इन्होंने मम्मट भट्ट के काव्यप्रकाश का ही अनुसरण किया है। इन्होंने भी माधुर्य, ओज, प्रसाद ये ही तीन गुण माने हैं। अलंकार का भाग सबसे बड़ा है और अच्छा भी है। प्राचीन कवियों के उदाहरण भी इस प्रबन्ध में अधिक मात्रा में दिये हुये हैं। इनके अलंकार-विवेचन के सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने योग्य है। हिन्दी के आलंकारिकों ने चन्द्रालोक के ढंग को खूब अपनाया। वह ढंग यह है—दोहा आदि छोटे छन्द के पूर्वार्द्ध में लक्षण देना तथा उत्तरार्द्ध में उदाहरण देना। भाषा-भूषण और दूलह का कविकुलकंठाभरण इस ढंग के अच्छे नमूने हैं। रसिक गोविन्द ने इस ढंग का अनुसरण नहीं किया है। जो ढंग रसादिनिरूपण में इन्होंने रक्खा है वही ढंग अलंकारों के वर्णन में भी रक्खा है। वह यह है कि पहले गद्य में लक्षण, तदनन्तर अपने या दूसरों के पद्य में उदाहरण। ढंग भिन्न होने पर भी अलंकार के भेद इन्होंने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार ही माने हैं। कहीं-कहीं केशव की छाया भी स्पष्ट मालूम पड़ती है।

यद्यपि इनका अधिक जोर अर्थालंकारों ही की ओर था तथापि इन्होंने शब्दालंकारों को भी छोड़ा नहीं है। प्रधान-प्रधान सभी शब्दालंकारों का लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है।

यह हुआ इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय। इतने ही से अच्छी तरह समझ पड़ सकता है कि यह ग्रन्थ कितने महत्त्व का है। ग्रन्थ के महत्त्व से ग्रन्थकार की भी असाधारणता व्यञ्जित होती है। रसिक गोविन्द बड़े अच्छे विद्वान् आलंकारिक थे। इसके साथ ही साथ उनमें भावुकता और सहृदयता भी खूब थी। ऐसा कभी कभी देखा जाता है। बड़े विद्वान् उसी ही दर्जे के सहृदय कम होते हैं और यदि भावुक हो भी गये—कविता के रसास्वादन में पटु भी हो गये तो भी वे स्वयं उतनी अच्छी कविता नहीं कर सकते। इनमें यह तीनों बातें सोने में सुगन्ध और मार्दव की तरह बहुत अच्छी तरह आ जुटी थीं। इस बात के निदर्शन के लिये उदाहरणों के साथ इनकी विशेषताओं को हम नीचे दिखलाते हैं।

विद्वत्ता तथा आलङ्कारिकता

हिन्दी के लिये यह बड़े ही अभिमान की बात है कि और किसी आधुनिक भारतीय भाषाओं में इतने अलङ्कार ग्रन्थ नहीं लिखे गये। तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि इन ग्रन्थों के लिखने वालों में बहुत करके विद्वत्ता से कवित्व ही अधिक था। ये लोग शास्त्रीय विचारों में घुसना अधिक पसन्द नहीं करते थे। यही कारण है कि अधिकांश ग्रन्थ नायिका-भेद और अलङ्कार ही के पाये जाते हैं। ऐसे ग्रन्थकार इने गिने हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ में काव्य के प्रत्येक अङ्ग पर विचार किया है। केशवदास, भिखारीदास इत्यादि महानुभावों के ग्रन्थों को छोड़कर और ग्रन्थ ऐसे देखने में नहीं आते। रसिक गोविन्द को भी इन्हीं आचार्यों की श्रेणी में रखना चाहिये। इनके रसिकगोविन्दानन्दघन की भी उन्हीं विशिष्ट ग्रन्थों के साथ गणना की जानी चाहिये। इन्होंने संस्कृत अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों का बहुत अच्छा अनुशीलन किया था। रस का स्वरूप वर्णन जैसी मार्मिकता से अन्तः प्रविष्ट होकर इन्होंने किया है वैसा जहाँ तक हमको पता है और किसी ने नहीं किया। काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों का सारांश निकाल कर इन्होंने यहाँ रख दिया है।

ऊपर हम कह आये हैं कि हमारे हिन्दी आलङ्कारिकों की रुचि नायिका भेद की ओर अत्यन्त अधिक रही है। शृंगार रस के विभावों के वर्णन करने में आलम्बन के तौर पर नायक-नायिका का वर्णन होना अनुचित नहीं है और ऐसा ही संस्कृत के आचार्यों ने किया भी है। किन्तु केवल शृंगार की प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिये स्वकल्पना से नये-नये भेद गढ़ना इतना उचित नहीं जँचता। हमारे रसिक गोविन्द ने इस बात का ध्यान रख कर ही द्वितीय प्रबन्ध

लिखा है। इनके नायिका-वर्णन के आधार साहित्यदर्पण और रसमञ्जरी मालूम पड़ते हैं।

तृतीय प्रबन्ध में जो इन्होंने दोषों का वर्णन किया है वह (जैसे हम ऊपर कह आये हैं) काव्य-प्रकाश के आधार पर है। यह कहना इनका बहुत ही समुचित प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य में मम्मटाचार्य जैसा और कोई काव्यदोष निकालने वाला नहीं निकला। किसी ने इसी के सम्बन्ध में यह श्लोक में कहा है :—

काव्यप्रकाशो यवनः काव्याली च कुलाङ्गना।
अनेन प्रसभाकृष्टा कष्टामेषाऽश्नुते दशाम् ॥

गुण-अलङ्कार का निरूपण भी इनका अनेक प्राचीन ग्रन्थों का निष्कर्ष स्वरूप है। गुण-निरूपण में काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उसी प्रकार अलङ्कार-वर्णन में चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द की आभा साफ झलकती हुई दिखाई देती है। कितने स्थानों पर तो उन ग्रन्थों का अविकल अनुवाद ही किया है। किन्तु यह अनुवाद ऐसे अनूठे ढंग का हुआ है कि जिन्होंने संस्कृत ग्रन्थ नहीं देखा है, उन्हें उनमें अनुवाद का तनिक भी भान नहीं हो सकता।

इन्होंने केवल शास्त्रीय बातों में ही संस्कृत-ग्रन्थों का आधार नहीं लिया बल्कि उदाहरण से बहुत कुछ सहायता ली है। इन्होंने संस्कृत के बहुत अच्छे भाव वाले श्लोकों का सरस अनुवाद कर हिन्दी साहित्य भण्डार को बढ़ाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इसके निदर्शन के लिये हम एक दो उदाहरण देते हैं।

विश्वनाथ कविराजने अपने साहित्य दर्पण में माधुर्य गुण के उदाहरण में यह श्लोक दिया है:—

लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्।
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥

अब देखिये रसिक गोविन्द ने इसका अनुवाद कैसा सुन्दर किया है :—

करि कुन्ज लतानिकी गुंजित मंजु
अलीन के पुंज नचावतु है।
अँग-अँग अलिंगि, उतंग अनंग
गुविन्द की सौ सरसावतु है।
बिकसे वन कंजनि सौं मिलि कै,
रज रंजित ह्वै चलि आवतु है।
यह मन्द समीर चहूँ दिसि वृन्द,
सुगन्धनि के बरसावतु है।

एक और दूसरा उदाहरण देखिये। विश्वनाथ कविराज ने अपने 'प्रभावती परिणय' से निम्न लिखित पद्य को लेकर साहित्य दर्पण में मुग्धा के उदाहरण में दिया है:—

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्।
नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।
किञ्चिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम्।

रसिकगोविन्द इसका यों अनुवाद करते हैं:—

आलस सों मंद मंद धरा पै धरत पाय,
भीतर ते बाहिर न आवे चित्त चाय कै।
रोकति दृगानि छिन छिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसी की दीनी बानी बिसराय कै॥
बोलत बचन मृदु, मधुर बनाइ उर—
अन्तर के भाव की गभीरता जनाय कै।
बात सखी सुन्दर गोविन्द की कहात तिन्है
सुन्दरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै॥

बतलाने की आवश्यकता नहीं कि यह अनुवाद नितान्त चोखा, सरस तथा भावग्राही हुआ है।

सहृदयता

ऊपर के वर्णन से यह मालूम हो ही गया कि ये अलंकारशास्त्र के कैसे पण्डित थे। अब यहाँ हमें यह दिखलाना है कि यह सहृदय भी वैसे ही थे। इनके ग्रन्थ से किसी भी काव्य रसिक को साफ मालूम पड़ सकता है कि इनमें भावुकता कूट कूट कर भरी थी। जिस तरह संस्कृत के शास्त्रीय तथा काव्य-ग्रन्थों का इन्होंने अनुशीलन किया था उसी प्रकार हिन्दी के करीब करीब सब अच्छे ग्रन्थों का भली-भाँति पर्यालोचन किया था। इनके चुने हुए उदाहरणों से अच्छी तरह मालूम पड़ता है कि वह काव्यास्वादन में बड़े ही अन्तः प्रविष्ट थे। केवल उदाहरणों की दृष्टि से भी यदि इनका यह ग्रन्थ देखा जाय, तो भी संग्रह-ग्रन्थों में इसका स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। नायिका-भेद के अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो हिन्दी कविता के अच्छे संग्रह ग्रंथ कहे जा सकते हैं। नवीन कवि का 'सुधासर', सरदार कवि का 'शृंगार-संग्रह', द्विज कवि मन्नालाल का 'शृंगारसुधाकर' आदि ग्रंथ इसके अच्छे उदाहरण हैं। इन संग्रह-ग्रंथों से इनका रसिक गोविन्दानन्दघन किसी प्रकार कम नहीं है। नीचे हम अकारादि क्रम से उन कवियों का नाम देते हैं जिनकी कविता यहाँ उदाहरण के रूप में दी गई है:—

आधीक
आनन्दघन
आलम
ऊधोराम
कल्याण
कबीन्द्र
कान्ह
कालिदास
काशीराम
किशोर
कुलपति
कृष्ण
कृष्णलाल
केशव
गदाधर
गिरिधर
गंग
घनश्याम
चन्द
छत्रसिंह (राजा)
जगजीवन
जयनारायण
तत्त्ववेत्ता
तुलसीदास
मोतीराम
रघुराय
रसखान
रसिक सनेही
राम
राय प्रवीन
लाल
वृन्द
बेनी जू

देव
देवीदास
धुरन्धर
ध्रुवदास
नरोत्तम
नागरीदास
नाथ
निपट
निवाज
नन्ददास
नन्दनकवि
पुखी
पृथ्वीराज
प्रसिद्ध
प्रहलाद
ब्रह्म
भगवन्त
भवानीप्रसाद (राय)
भूधर
मतिराम
महाकवि
मुकुंद
श्रीपति
श्रीभट्टदेव जू
सदानन्द
सिरोमणि
सुन्दर
सूरति
सूरदास
सेनापति
सोभ

व्यास जू — सोमनाथ
शंभू — हरिदास (स्वामी)
हितहरिवंश जू

अब हम उन कवियों की एक कविता देते हैं जिनके विषय में अन्यत्र बहुत कम पता है।

राम

चन्दन कपूर और केसर अगर चूर
कुंकुंम गुलाब भेव मृगमद गारौंगी।
मौलसिरी मालती के माधवी के हार,
भाँति के ललित चीर चुनि चुनि धारौंगी॥
हरषि हिये कौं बाह फरकि जतावत है,
'रामजू' प्रतीत मोति अँगनि सवारौंगी।
अंक भरि प्यारे कौ निसंक आज भेंटत ही,
दे जुग उरोज मैं मनोज मीड़ मारौंगी॥

प्रहलाद

छूटि छुटि परे आज बेंदी मेरी भाल पै ते,
मुख पे तै मोतिन की लरी लरकति है।
चूरे हूँ की कील डग भरत निकसी जाति,
जब तब जूरे हूँ की गाँठि भरकति है॥
जानी न परति, परदेस पिय 'प्रहलाद'
निकसि उरोजन पै आँगी अरकति है।
तनी तरकति कर चूरी चरकति,
सिर सारी सरकति आँख बाईं फरकति है॥

मोतीराम

मूल मलयज को समूल जर जैवो अरु
गुण जर जइयो या सुगन्ध सहराई कौ।
कटि जइयो भूतल ते केतकी कमल कुल
हूजियो अकुल अलिकुल दुखदाई कौ॥
'मोतीराम' सुकवि मनोजमालती के हूजौ
पूजौ जिन बिरही जन हँसाई कौ।
राजबंस हंसनिको वंस निरवंस जैयो
जस मिटि जैयो कलानिधि कसाई कौ॥

सोभ

देखिये पियारे कान्ह सरद सुधारे सुधाधाम,
उजियारे चौकी चामीकर दरसैं।
चोमै चाँदी चमकै चन्दौरा गुही मोतिन की,
झलकति झालरैं जुन्हाई जोति परसैं॥
हीरसी हँसनि हीराहार की लसनि
सौघेसारि रहिसनि 'कवि सोभ' छबि सरसैं।
कोर कोर कलामुख चंद से सरस प्यारी
बादिला सरस रूप झलाझल बरसैं॥

और भी ऐसे कई कवि हैं जिनकी कविता यहाँ देने योग्य है परन्तु विस्तार-भय से उन्हें यहाँ हम नहीं देते हैं।

पुखी कवि

पुखी हिन्दी के एक बड़े अच्छे कवि हो गये हैं। उनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, केवल स्फुट कवित्त इधर उधर संग्रह ग्रन्थों में मिलते हैं। इनके कई छन्द इस ग्रन्थ में भी उदाहरण के तौर पर आये हुए हैं। उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते है।

सीता सुधि लै कै लंकपुरी प्रलै कै,
कलधौत को जरै कै, यो समन्त घहराति हैं।
उठति भभूकैं चलैं पवन की झूकैं,
'पुखी' डर कपि जू कै, सूकैं लहराति हैं॥
अंगनिकी लपटै गगन जाइ झपटैं,
दपटैं दिनेस को थहर थहराति हैं।
देवनि की जै की, दसकंठ के अजै की,
रघुवंश के विजै की ए पताका फहराति हैं॥
चोंथते चकोर चहुँ ओर मुख चंद जानि,
रहे डरि दसनि बसनि दुति संपा के।
लीलि जातै बरही विलोकि बैनी व्याल,
गुन गुही पै न होती जो कुसुम सर कंपा के॥
कहै कवि 'पुखी' ढिग भौंह न धनुष होती,
करि कैसे छांडते अधर विम्ब झंपा के।
दाख कैसो झौंरा झलकति जोति जोबन की,
चाट जाते भौंरा जो न होती रंग चंपा के॥

कवित्व

ऊपर हम दिखला चुके कि रसिक गोविन्द कैसे पण्डित और कैसे भावुक थे। अब हमें यहाँ यह दिखलाना है कि यह कवि भी ऊँचे दर्जे के थे। कवि कई प्रकार

के होते हैं। कोई तो ऐसे होते हैं जिनका शब्द ही पर बड़ा जोर होता है, नाना प्रकार के अनुप्रास, यमक आदि दिखलाने में उनका पटुत्व सर्वतोगामी होता है। दूसरे प्रकार के कवि वे होते हैं जो अर्थ पर विशेष ध्यान देते हैं। उनकी कविताओं में अलंकारों की संसृष्टि और संकर की छटा जगह जगह अपूर्व आनन्द दिया करती है। सबसे उत्तम कवि वे होते हैं जिनकी कविता में शब्द तथा अर्थ सहायक बन रस, रूप, व्यंग्य को अनुभवगोचर कराते हैं। ऐसे कवि बहुत बिरले होते हैं। हिन्दी कवियों में इनकी संख्या और भी कम है। गोस्वामी श्री तुलसीदास, सूरदास, बिहारी आदि इस श्रेणी के अग्रगण्य कवि कहे जा सकते हैं।

यदि हम कवियों की इन तीन श्रेणियों को ध्यान में रख कर रसिक गोविन्द का विचार करें तो इनका स्थान द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के बीच में कहीं आवेगा। इनका शब्दों पर अच्छा अधिकार था, फिर भी वे बेमतलब के यमक अनुप्रास के जुटाने में अपनी शक्ति का व्यय नहीं करते थे। अर्थ के वैचित्र्य पर इनका ध्यान अवश्य था, कहीं कहीं इनके रूपक बहुत अच्छी तरह जमे हैं। यह स्वभाव से ही भक्तिमय-रसमय—थे, इसलिये कहीं कहीं इनकी रस में तन्मयता अवश्य झलकती है, किन्तु बहुत करके वह ध्वनिरूप उत्तम व्यंग्य कहा जाने वाला रस नहीं है। यही कारण है कि हम इनको न तो कविवर बिहारी के साथ ही खड़ा करना चाहते हैं और न उनसे अत्यन्त दूर ही ले जाकर इन्हें पटकना चाहते हैं।

इन्होंने रसिक गोविन्दानन्दघन तथा लछिमनचन्द्रिका के अन्त में अपने ग्रन्थ के अधिकारी का वर्णन किया है—

कोक काव्य भाषा निपुन, कवि पंडित जो होइ।
जिज्ञासी हरिजन रसिक, अधिकारी है सोइ॥

यह एक प्रकार से कवि रसिक गोविन्द ही का निजी वर्णन है। कोकशास्त्र की जानकारी इन्होंने अपने सब ग्रन्थों में राधाकृष्ण के शृंगारमय वर्णन में दिखाई है। काव्य में यह निपुण कैसे थे, इसे हम ऊपर दिखा ही चुके हैं। अब रही भाषा की निपुणता। उसमें यह निःसन्देह बहुत बढ़े चढ़े थे। 'अष्टदेश-भाषा' नामक जो ग्रन्थ इन्होंने लिखा है उसमें तो इन्होंने अपने बहुत भाषाओं की जानकारी भलीभाँति दिखलाई ही है। 'रसिक गोविन्दानन्दघन' में भी यत्र तत्र इन्होंने अन्य भाषाओं के उदाहरण दिये हैं। हम उनमें से एक दो नीचे देते हैं:—

पंजाबी भाषा।

रोलियाँ मुक्ख लगावदाँ लाल
गुलाल अबीर उडावदाँ झोलियाँ।
खोलियाँ गालियाँ तालियाँ दें दाँ,
करैदाँ गलीबिच बोलियाँ ठोलियाँ।

घोलियाँ किस्ति न साउड़ी जिंदि,
उसी से लगी दिल प्रीति कलोलियाँ।
चोलियाँ रंग 'गुबिन्द' भिजावदाँ,
गावदाँ रंग रंगीलियाँ होलियाँ।

पूर्वी भाषा।

रंग भरि भरि भिजवइ मोर अँगिया
दुइ कर लिहिस कनकपिचकरवा।
हम सन ठनगन करत डरत नहिं
मुख सन लगवत अतर अगरवा।
अस कस बसियत सुनु ननदी हो
फगुन के दिन एहि गोकुल नगरवा।
मोहिं तन तकत बकत पुनि मुसुकत
'रसिक गुबिन्द' अभिराम लँगरवा।

इन भाषाओं के उदाहरणों में यह भी देख लेना चाहिये कि जोड़-तोड़ के शब्दों पर भी इसका कितना अधिकार था। जब इतना अधिकार इन भाषाओं पर था, तब ब्रजभाषा का कहना ही क्या। उस भाषा में तो यह सब तरह के शब्दचमत्कार दिखला सकते थे। अनुप्रासमयी कविता का एक-एक उदाहरण लीजिये।

घुँघुराली अलक सँवारी अनियारी भौंहैं
कजरारी आँखें कजरारी मतवारी मैं।
धारी सारी जरतारी सरस किनारी वारी
मालती गुही है बैनी कारी सटकारी मैं।
बारी बैस रूप उजियारी 'श्री गुविन्द' कहै
बारी सुरनारी नरनारी नागनारी मैं।
मिलन बिहारी सौं दुलारी सुकुमारी प्यारी
बैठी चित्रकारी की अटारी सुखकारी मैं

अब जरा कठोर अनुप्रास के झंकार का भी मजा लीजिये—

भेस भयंकर जम्भजिह्व छुरी धार कढ्यो
खभ ते 'गोविन्द' यों नृसिंह किलकारिकै।
दंत कटकटत विकट अट्टाहास दाढ़
दिट्ठी बिज्जु छटा देती दुष्ट गर्व गारिकैं॥
हक्क पक्क इन्द्र के, फनिन्द्र हू के सक्क पक्क
धराहूँ धसक्का दीह धक्क पक्क धारिकै।
जुद्ध करि क्रुद्ध ह्वै विरुद्धि दुरबुद्धि को
प्रसिद्ध नख उद्धत सों डारयो पेट फारिकै॥

अब यमक का एक उदाहरण बानगी के तौर पर यहाँ दिया जाता है।

संग सखि तेरे वा दरी बादरी में
कालिह कोइ पिकबैनी बैनी बनि कारीही।
मुखचन्द्र मानिनि को चन्द्रमा नीको ऐसे
कहत 'गोविंद' चन्द्रमानिते उजारीही॥
कोटि उरबसी बारौं और उर बसी कौन
तूही उरबसी सोइ उरधारीही।
बिन कजरारी कजरारी आँखें बेसरही बेसर
सँवारी ही सुबेसर सँवारी ही॥

अब जरा शब्द श्लेष का चमत्कार देखिये :—

बतियाँ मनमोहिनी मोंहै 'गुविन्द'
भली विधि नेह नवीन सनी।
अब नीकी सबै अँगनामैं अहैं,
उजियारी जगामग जोति घनी॥
वर अंबर में सुप्रकाशित हैं,
सुखमा कवि कौन पै जात भनी।
कमनी नवबाल बनी सजनी,
किधौं दीपिका माल रसाल बनी॥

इनका शब्द पर कैसा अधिकार था यह इतने ही उदाहरणों से अच्छी तरह मालुम हो सकता है। अब इनके अर्थ के चमत्कार निरखिये—

लसत असित सित लोहित ललित सुतौं
चोवा चारु अबिर गुलाल चोरि रखियाँ।
छुट कलिकुटिल कटाछन को पिचकारि
मन्द मन्द हँसनि मृदङ्ग चङ्ग लखियाँ॥
भाव भरी भौंहे मन मोहत 'गोविन्द' जू को
बरुनि पलक बनि सोहैं संग सखियाँ।
होरी रंग बोरी चित चोरी की खिलारिन ये
गोरी भोरी नवल किशोरी तेरी अँखियाँ॥

देखिये इस कवित्त में रूपक की कैसी अद्भुत छटा है :—

उठि प्रात अन्हात खिली अवली
अरविन्दन की दरसावति है।
तब ते छवि प्यारी के नैनन की
चित्त तैं न टरै अति भावति है॥

सुनि हंसनि की धुनि नूपुर की
धुनि कानन में मँडरावति।
ललि पूरन चन्द्र 'गोविन्द' कहैं,
सु उहै मुख की सुधि आवति है॥

इस सवैया में भी स्मरणालंकार कम चमत्कार-जनक नहीं है। अब जरा सन्देहालंकार की ओर देखिये :—

काजर की कोठरी में, कंचन की रेख किधौं,
सघन घटा दमकति दुति दामिनी।
कुहु की निशा में नव दीपक की माला किधौं,
दीपति रसाल 'श्रीगोविन्द' अभिरामिनी॥
सिंगार की साला में मुदित मन मोहिनी कें,
नीलकंज की कुटी मैं कमला है कामिनी।
कैधों कारी सारी मैं किसोरी गोरी भोरी आज,
आय भरी भ्राजै भाल भाँतिन सो भामिनी॥

केशव की तरह इन्होंने एक 'प्रेम' नामक अलंकार माना है, उसका भी एक उदाहरण लीजिये :—

साँवरे रंग रँगे सु रँगे, पुनि प्रेम पगे सो पगे ही पगे हैं।
रूप अनूप समुद्र अपार, मझार षगे सो षगे षगे ही हैं।
और कहा कहिये सजनी सुनरीक ठगे सो ठगे ही ठगे हैं।
या ब्रजचन्द 'गोविन्द' की सैन सों नैन लगे सो लगेही लगे हैं।

अब हम रस के कुछ उदारण देते हैं :—

शृङ्गार

मृगखंजन गंजन रंजन नैन सुअंजन की पुनि रेख दई।
मनको सब भाँति प्रसन्न करै, बचनामृत की रचना जु नई॥
कवि गोविन्द रूप कहाँ लौं कहै सुखमा अँग अंग अनूप ठई।
मृदुहासहिं उत्तर दै पिय कौ भुव बंक विलासनि सो चितई॥

हास्य

खेपरि के खपरानि दिया बलि संभु करी कइलास मे माई।
चंद अमंद किजे रसमी, रस मीस गुविन्द सौं बाति बनाई॥
नागिनी की फन की मनिदीप सिखा कै जगामग जोति जगाई।
मित्रके ऐसे चरित्र बिलोकि, उमाको हँसी न रुकी मुख आई॥

करुण

बृजचन्द गुविन्द गये जब तैं, विरहानल ताप तई सु तई।
मुँबरी अँगुरीन की उद्धव ज इन कंकन रीति लई सु लई॥

जलधार धरा पै परै अँखियाँ, निसि बासर नींद गई सु गई।
कुच कुंकुम भीजि रही सु रही, उर पीर अनेक भई सु भई।।

भाव

श्री अवधेस कुमार तिहारे तुरंगन की अवली विचरै हैं।
रेत उड़ै तिन के खुर की सु चढ़ै नभ पै पुनि भूपै परै हैं।।
ताते भई अति गंग मैं कीच, कवी जन गोविंद यौ उचरै हैं।
संकित भार न धार सकै सिव, सीस तैं धार धारा पै धरै हैं।।

भक्तिभाव

स्वर्ग समुद्र सैल भूतल रसातल,
पताल आदि हूँ क्यौं न जनम लस्यौ करैं
काहू जाति काहू पाँति काहू भाँति,
देखि सज्जन सराहैं भावैं दुरजन हस्यौं करैं।।
पूज्य अमरनि के पुरन्दरादि देवन के,
मुक (?) सिंहासन की सीढ़िन घस्यौ कयैं।
ऐसे बृजचन्द्र श्री गुविन्द के पदारविन्द,
जौ पै उर अन्तर निरन्तर बस्यौ करैं।।
स्वर्ग को जु चाहै, सो तो स्वर्ग ही सिधारे किन,
पावै किन मुक्ति जानै मुक्ति जु बिचारी है।
ध्यावतु है ब्रह्म सो तो ब्रह्म ही को ध्यावौ,
जावो शक्ति ही मिलौ, जानै शक्ति चित धारी है।।
हौ तो श्री गुविन्द जू के पद अरविंदन की,
दासी सुखरासी बार बार बलिहारी हैं।
मेरे सरबस सरवेस्वर सुजान सदा,
सघन निकुंज के बिहारी पिय प्यारी हैं।।

जुगलरसमाधुरी से कृष्णलीलाविषयक कतिपय पद्य यहाँ दिये जाते हैं जिससे इनकी कविता की रसमाधुरी का परिचय रसिकजनों को सद्यः प्राप्त हो जाय।

इन्दीवर कल्हार कोकनद पद्मनि ओभा।
मनुजमुना द्दगकरि अनेक निरखति वन शोभा।
तिनमधि झटत पराग प्रभा लखि दृष्टि न हारत।
निज घर की निधि रमा रीझि अनु वन पर वारति।।
सरस सुगन्ध पराग छके मधु मधुर गुंजारत।
मनु सुषमा लखि रीझि परस्पर सुजस उचारत।।
पुलिन पवित्र विचित्र चित्र चित्रित जहँ अवनी।

रचित कनक मनि खचित लसत अति कोमल कमनी ।।
तहँ राजत दोउ मीत प्रीति सौं नित सुखदानी ।
रसिकराज महाराज राधिका श्री महारानी ।।
प्रीतम सुन्दर श्यामा प्रिया छवि फबी गुराई ।
मनु सिंगार-रस संग सिंगार किय सुन्दरताई ।।
दोउ परस्पर प्रतिबिम्बित अद्‌भुत छबि छाजत ।
गौर-श्याम मिलि हरित होत उपमा सब लाजत ।।

× × ×

चटकीले पट नील-पीत फरहरत सुहाये ।
रस बरसन कों उनै मनहुँ धन दामिनि आये ।।
दोउ तन दर्पण अंग-अंग प्रतिबिंबित सरसै ।
दुगुन तिगुन चौगुन अनेक गुन भूषन बरसै ।।
अंग संग विहरत कुंज विहारीनि कुंज विहारी ।
दामिनि-घन रति-काम कनक-मनि छबि पर वारी ।।
श्याम धरा मधि किधौ दिव्य-दामिन-दुत सोहैं ।
रसिकराय रिझवार चतुर चातक मन मोहै ।।
नखसिख अतुलित छबि सु कौन पै जाय उचारी ।
जिहि लखि पिय बस भयौ कियौ बरबस बलिहारी ।।
पिय- पद-पुष्ट जु श्याम बरुन तल लख सित श्रेनी ।
मनुशोभा के सिंधु मध्य यह ललित त्रिवेनी ।।
अंकुस कुलिश कमतल जवावि मुनिजन से न्हावै ।।
नुपूर बाजत मनहुँ हंस कल शब्द सुनावै ।।

---

४ : ८

हिन्दी नाट्यदर्पण

'हिन्दी नाट्यदर्पण'[1] का यह संक्षिप्त समीक्षण प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के लेखक आचार्य विश्वेश्वर तथा सम्पादक डॉ० नगेन्द्र तथा उनके सहयोगी डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० सत्यदेव चौधरी हिन्दी-संसार के धन्यवाद के पात्र हैं। नये युग की हिन्दी आलोचना पश्चिमी आलोचना के द्वारा इतनी अभिभूत हो गई है कि वह संस्कृत के अपने बहुमूल्य रिक्थ को भूल चली है। पश्चिमी जगत् के साधारण आलोचकों के विचारों को भी हिन्दी समीक्षक विशेष महत्त्व देते हैं परन्तु संस्कृत के प्रथम कोटि के आलोचकों के भी मौलिक विचार उनकी उपेक्षा के पात्र बने हुए हैं। हिन्दी के तथाकथित आलोचक रस तथा ध्वनि का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और उसके अज्ञान को अपनी स्तुति मानते हैं। ऐसी स्थिति एक दशक के पूर्व तो बिल्कुल ही थी, परन्तु इधर यह मनोवृत्ति बदल ही रही है और यह कहना कथमपि अनुचित न होगा कि इस परिवर्तन का कारण आचार्य विश्वेश्वर जी के संस्कृत-ग्रन्थों के सुबोध प्रामाणिक अनुवाद तथा डॉ० नगेन्द्र की भारतीय आलोचना के प्रति गाढ़ अनुरक्ति और उसकी सुगम व्याख्या है। इन दोनों विद्वानों के संयुक्त अध्यवसाय का फल इधर प्रकाशित अनेक संस्कृत आलोचना विषयक ग्रन्थों के अनुवाद तथा अनुशीलन के रूप में हमें मिलता है। यह 'हिन्दी नाट्य-दर्पण' भी इस अध्यवसाय-शृंखला की एक कड़ी है और एक बहुत ही सुन्दर कड़ी है।

संस्कृत का नाट्य-विषयक शास्त्रीय साहित्य मात्रा में उतना कम नहीं है, परन्तु अलंकार-शास्त्र की व्याख्या की ओर मध्य युग में संस्कृत विद्वानों की प्रतिभा इतनी स्फुरित हुई कि नाट्य-विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन नितान्त उपेक्षित रह गया। आलोचकों की दृष्टि से यह तथ्य परोक्ष नहीं है कि भारतीय आलोचना ने अपना प्रथम प्रकाश नाट्य की समीक्षा से ही प्रकट किया। अलंकार की समीक्षा तो नाट्य-समीक्षा का एक क्षुद्र अंश थी, क्योंकि वह चतुर्विध अभिनय के अन्यतम प्रकार 'वाचिक अभिनय' से अपना सम्बन्ध रखती थी। नाट्य के

---

१. हिन्दी नाट्यदर्पण : व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि
प्रधान सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र
सम्पादक : डॉ० दशरथ ओझा तथा तथा डॉ० सत्यदेव चौधरी
प्रकाशक : हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

लक्ष्य तथा लक्षण उभयविध ग्रन्थों की प्राचीन काल में कमी न थी, अन्यथा भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र जैसे व्यापक ग्रन्थ की रचना सम्भव नहीं हो सकती। ग्रीस में ट्रैजिडी की प्रमुखता तथा भारतवर्ष में रूपक की प्रधानता का क्या हेतु है? इसका परिचय पोइटिकल तथा नाट्यशास्त्र के तौलनिक विवेचन से भली-भाँति मिलता है। ग्रीक-साहित्य में 'नेमिसिस' के व्यापक क्षेत्र की पूर्ण अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन होने के कारण ट्रेजिडी का श्रव्य-काव्य तथा सुखान्त-रूपक (कामेडी) की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व था; परन्तु संस्कृत-साहित्य में रसबोध की प्रक्रिया में, रसोन्मेष के निमित्त अनुकूल साधन प्रस्तुत करने के कारण रूपक का विशेष गौरव था। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'—यह प्रख्यात आभाणक इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। फलतः लौकिक संस्कृत में श्रव्य-काव्य की रचना की अपेक्षा दृश्य-काव्य का प्रणयन प्राचीन माना जाता है। जिस महर्षि पाणिनि को 'जाम्बवती विजय' की रचना के कारण लौकिक संस्कृत के प्रथम महाकाव्य के लिखने का गौरव प्रदान किया जाता है, उन्होंने ही अपने सूत्रों में शिलालि तथा कृशाश्व के रचे नटसूत्रों का उल्लेख किया है। ये नटसूत्र भरत के नाट्यशास्त्र से निःसन्देह प्राचीन हैं। भरतपूर्व युग तथा भरतोत्तर-युग के नाट्याचार्यों का निर्देश डॉ० दशरथ ओझा ने इसी ग्रन्थ में (पृष्ठ ८८-८६) किया है, जिससे इस विद्या की शास्त्रीय व्याख्याओं के प्राचुर्य का यत्किञ्चित् आभास आलोचकों को मिल सकता है, इसी नाट्य-परम्परा के अन्तर्भुक्त है 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रंथ जिसकी प्रौढ़ हिन्दी-व्याख्या ऐतिहासिक तथा साहित्यिक परिवेश के साथ इस ग्रंथ में प्रस्तुत की गई है।

मूल संस्कृत ग्रंथ कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र के शिष्यद्वय रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित रचना है। द्वादश शती का यह नाट्य ग्रन्थ चार 'विवेक' (अध्याय) में विभक्त है जिसमें २०७ पद्य हैं और जो ग्रन्थकर्ताओं द्वारा 'नाट्य-दर्पणसूत्र' के नाम से निर्दिष्ट है। इसकी व्याख्या 'विवृत्ति' नाम से उल्लिखित है जिसकी रचना में दोनों लेखकों का संयुक्त अध्यावसाय जागरूक है। विषय के स्पष्टीकरण के निमित्त लेखक ने प्रचुर अज्ञात तथा अल्पज्ञात रूपकों के उद्धरण दिये हैं। नाट्यदर्पण में उद्धृत इन ३५ अलभ्य ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण आचार्य विश्वेश्वर जी ने बड़ी खोज के साथ दिया है (भूमिका भाग पृष्ठ ३४ से लेकर ५२ पृष्ठ तक)। व्याख्याकार का यह विवरण पर्याप्त अनुसन्धान-मूलक तथा प्रामाणिक है। पृष्ठ ४२ पर 'पार्थ-विजय' के प्रणेता त्रिलोचन को वाचस्पति मिश्र के गुरु 'त्रिलोचन' से अभिन्न माना है; परन्तु जब तक इस अभिन्नता के साधक प्रबलतर प्रमाण उपलब्ध न हों, तब तक इसे सिद्ध-कोटि में नहीं मानना चाहिये। हयग्रीववध' का स्वरूप-विवेचन बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है (पृष्ठ ४८-५२) और सप्रमाण दिखलाया गया है कि यह नाटक न होकर 'महाकाव्य' ही था। यह ऐसा निष्कर्ष है जिसे कोई भी आलोचक अस्वीकार

नहीं कर सकता। नाट्यदर्पण के कतिपय उद्धरण प्राचीन नाटकों के तो इतिहास की दृष्टि से युगान्तरकारी हैं। विशाखदेव का ऐतिहासिक 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक नाटक इसी कोटि का है। इस 'नाट्यदर्पण' के प्रकाशन से पूर्व चन्द्रगुप्त के द्वारा शकाधिपति के व्यापादन की घटना का परिचय ऐतिहासिकों को 'हर्षचरित' के प्रामाण्य पर अवश्य था, काव्यमीमांसा के आधार पर रामगुप्त की सत्ता का ज्ञान भी था, परन्तु यहाँ सात बार उद्धृत नाटकीय उद्धरणों से 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक की वर्ण्यवस्तु स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार रामगुप्त की दुर्बलता से उत्साहित होकर शकराज ने उसकी महर्षि ध्रुवदेवी (या ध्रुवस्वामिनी) को अपने रनिवास के लिए माँगा था और किस प्रकार चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेष धारण कर उसे मार डाला था। इस प्रकार गुप्तवंश के प्रामाणिक इतिहास-परिचय में नाट्यदर्पण समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के बीच में 'रामगुप्त' नामक शासक की सत्ता स्वीकार कर एक नूतन ऐतिहासिक तथ्य की उपलब्धि करता है। आज यह निर्णीत तथ्य है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पूर्व शासक दुर्बल रामगुप्त को हटाकर राज्य और रानी दोनों को प्राप्त किया था। 'नाट्यदर्पण' का और भी मूल्य भले ही न हो, परन्तु इस विस्मृतप्राय घटना की समग्र कड़ियों को एकत्र उपस्थित कर तथा 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के आवश्यक उद्धरणों का संरक्षण कर इस नाट्यग्रन्थ ने गुप्तों के इतिहास जानने के लिए जो बहुमूल्य सामग्री एकत्र कर रखी है; उसके लिए ऐतिहासिकगण इस ग्रन्थ के रचयिता के चिरऋणी रहेंगे।

इतना ही नहीं, नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से भी इसका मूल्य कम नहीं है। इसी विषय पर धनञ्जय ने इत:पूर्व 'दशरूपक' नामक प्रख्यात ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें दशरूपकों के साथ 'नाटिका' नामक मिश्र-रूपक का निर्देश किया गया है। नाट्य-दर्पण की दृष्टि में नाटक तथा प्रकरण के मिश्रण से 'नाटिका' तथा 'प्रकरणिका' नामक दो प्रकार के मिश्र रूपकों का उदय होता है (नाट्य-दर्पण, द्वितीय विवेक, पृष्ठ २१३—२१७ तक)। इन दोनों की विभाजक रेखा बड़ी झीनी है। दोनों में समस्त लक्षण एक समान होते हैं, केवल नायक के स्वरूप में अन्तर होता है। 'नाटिका' का नायक नाटक के समान राजा (धीरोदात्त) होना चाहिए तथा 'प्रकरणिका' का नायक प्रकरण के सदृश वणिक् आदि (धीरप्रशान्त) होना चाहिए। 'नेता प्रकरणोदितः'—बस प्रकरणिका का वैशिष्ट्य इसी नेता के चुनाव में है। 'नाटिका' तो संस्कृत में संख्या में पर्याप्त हैं, परन्तु 'प्रकरणिका' का दृष्टान्त प्रख्यात नहीं है। इस विषय में हमें व्याख्याकार से आशा थी कि वे 'प्रकरणिका' के उपलब्ध ग्रन्थ का नामोल्लेख करेंगे तथा यह दिखलायेंगे कि पीछे के किस नाट्यकर्ता ने इस उपभेद की स्वीकृति अपने ग्रन्थों में दी है। जान पड़ता है कि इस विषय को उपेक्षणीय समझ कर न आचार्य विश्वेश्वर जी ने कुछ लिखा और न डाक्टर दशरथ ओझा जी ने अपनी स्वतन्त्र

भूमिका में ही इसका विचार किया। मेरा ख्याल है इसका भी विचार होना चाहिए कि 'प्रकरणिका' का स्वतन्त्र रूप किस अवान्तरकालिन नाट्याचार्य ने स्वीकृत किया है। 'नाटिका' के विषय में मेरा निजी मत रहा है कि यह मिश्र रूपक (जैसा नाट्य-ग्रन्थों में लक्षित है) महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्नि-मित्र' की वस्तु के ऊपर आधारित है। प्रथम नाटिका का गौरव रखने वाली 'रत्नावली' को 'मालविकाग्निमित्र की वर्ण्य-वस्तु से तुलना करने पर किसी भी आलोचक को यह अपरोक्ष न होगा कि हर्षवर्धन को प्रेरणा कालिदास के इस प्रख्यात नाटक से निःसन्देह मिली। जो कुछ हो, संस्कृत नाट्य के इतिहास में मिश्र रूपकों तथा उपरूपकों का अनुशीलन एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिससे प्राचीन नाटक के स्वरूप तथा इतिहास के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों की उपलब्धि हो सकती है। आशा है इस ग्रन्थ के नये संस्करण में आवश्यकतानुसार इस विषय की भी चर्चा छूट न जावेगी।

'नाट्यदर्पण' के महत्त्व के विषय में डॉ० दशरथ ओझा ने एक स्वतन्त्र भूमिका ही दी है (पृ० ८८—९७) जिसमें ग्रंथ के वैशिष्ट्य का सुन्दर विवेचन किया गया है। पृ० ८८ तथा पृ० ८९ पर प्राचीन नाट्याचार्यों के नाम विस्तार से दिये गये हैं जिनमें से अनेक अप्रख्यात अथवा अल्पख्यात हैं। इसके लिए निर्देशस्थलों का रखना नितान्त आवश्यक था। मातृगुप्त के नाट्यग्रन्थ के प्रभूत उद्धरण 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की प्राचीन टीका में दिये गए हैं (निर्णयसागर संस्करण) जिनका अनुशीलन उनके विशिष्ट मत जानने के लिए किसी शोधकर्ता को करना चाहिए। इन प्राचीन नाट्याचार्यों के समस्त उल्लेखों का तथा उनके विशिष्ट मतों का एकत्र अध्ययन कम महत्त्व का नहीं होगा। आशा है कि इस विषय के विशेष शोधकर्ता ओझा जी इधर ध्यान देंगे तथा निकट भविष्य में अपने अध्ययन का फल प्रकाशित करेंगे।

इस ग्रंथ के अन्यतम सम्पादक डॉ० सत्यदेव चौधरी ने 'नाट्यदर्पण में रूपकेतर काव्यशास्त्रीय प्रसंग' के विषय में अलग से विवेचन किया है और सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने काव्यलक्षण, काव्यहेतु, कवित्वमहिमा, अलंकार, गुण तथा रस के विषय में इस नाट्य-ग्रंथ में जो महत्त्वपूर्ण अव्यक्त तथा अभिव्यक्त मत प्रकट किये गये हैं या अंशतः संकेतित हैं उन सब अंशों का सामूहिक अनुशीलन कर बड़े ही उपादेय मन्तव्य प्रकाशित किये हैं। इस अंश का विवेचन उन्होंने तुलनात्मक ढंग से दिया है तथा तथ्यों के विकासक्रम को ढ़ूढ़ निकालने का जो प्रयत्न उन्होंने किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। 'रस-भाव की स्वशब्दवाच्यता' के विषय में पृ० ७० तथा ७१ के ऊपर प्रकटित मन्तव्य पर्याप्तरूपेण अनुसन्धेय हैं। पृ० ७४—७५ पर 'नवरसों का क्रम' रामचन्द्र की दृष्टि से दिया गया है, परन्तु इस विषय का नाट्यशास्त्र में केवल संकेतित तथा दशरूपकालोक में बहुशः चर्चित विवरण चौधरी जी ने छोड़ दिया है जिससे यह अंश अधूरा ही

है। नवरसों का क्रम धनञ्जय की दृष्टि में मनोवैज्ञानिक पद्धति पर समझाया जा सकता है। भरत की दृष्टि में 'मूल' रस चार ही हैं तथा अन्य चार उससे 'व्युत्पन्न' रस है तथा हृत्कमल की कर्णिका के रूप में शान्त रस विराजता है— यह तथ्य गम्भीरता से समझने तथा समझाने योग्य है। इसके लिए धनञ्जय, धनिक तथा अभिनवगुप्त के मतों का तारतम्य नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा। आशा है चौधरी जी इस अंश को सांगोपांग बनाने की अगले संस्करण में अवश्य चेष्टा करेंगे।

'नाट्यदर्पण' रस के स्वरूप के विषय में नवीन दृष्टिकोण रखने के कारण भी विशेष महत्त्व रखता है इसकी चर्चा तीनो विद्वानों ने अपने-अपने लेखों में की है। व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर जी ने पृष्ठ २८—२९ पर अभिनवगुप्त के मत से ग्रंथकार के मत की तुलना करते हुए इसे 'विभज्यवादी मत' नाम दिया है, क्योंकि नाट्यदर्पण में रसों को अलग-अलग दो भागों में विभक्त कर शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त इन पाँच रसों को सर्वथा सुखात्मक तथा करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स इन चार को सर्वथा दुःखात्मक रस माना गया है। व्याख्याकार ने इस विभाजन तथा रूप-निर्देशन पर अपनी कोई सम्मत्ति नहीं दी है। डॉ० सत्यदेव चौधरी ने अपने वक्तव्य में पृ० ८४ से लेकर पृ० ८७ तक इस पर जम कर विचार किया है तथा इसे समझाने की चेष्टा की है। इस प्रयास को हम सफल मान सकते हैं। सच तो यह है कि काव्यानुभूति को लौकिक अनुभूति से पृथक् करने की नितान्त आवश्यकता है और लौकिक घटमान विषयों के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग करना, कम से कम एक मेरी सम्मति में उचित नहीं प्रतीत होता। इस महत्त्वपूर्ण अभिधान का प्रयोग तो काव्यानुभूति के लिए ही सीमित रखना न्याय्य प्रतीत होता है। रह गई रस की दुःखात्मक होने की बात। कवि की प्रतिभा के द्वारा चर्चित होते ही विषय में एक अपूर्वता का संचार होना स्वाभाविक है जिसमें लौकिकता का सर्वथा विलोप हो जाता है और अलौकिकता का उन्मेष होता है। कला का यही धर्म है। काव्य का यही वैशिष्ट्य है। यदि काव्य की सृष्टि लोक की सृष्टि से इस विषय में विलक्षण न हो, तो उसमें आकर्षण ही किंमूलक होगा? श्रोता तथा द्रष्टा की हृदयावर्जना ही किस प्रकार सम्भव हो सकेगी? इसीलिए तो लोक में वैरस्यजनक भी घटना काव्य में वर्णित होते ही तथा शब्दमय विग्रह प्राप्त करते ही, नवीन रूप में उन्मीलित होती है। यह सब साधारणीकरण व्यापार का भी प्रभाव है। फलतः रसों को नितान्त दुःखात्मक मानना कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, लौकिक वस्तु से अभिन्नता रखने के लिए कहीं-कहीं दुःखानुबेध मान सकते हैं जैसा अभिनवगुप्त ने माना है (देखिए इस ग्रन्थ का पृष्ठ २८)। इस लिए 'नाट्यदर्पण' का पूर्वोक्त मत विचारोत्तेजक अवश्य है; परन्तु साहित्य शास्त्र के मान्य निष्कर्ष के रूप में कथमपि स्वीकार्य नहीं है।

अन्त में, मैं इस ग्रंथ के व्याख्याकार तथा दोनों सम्पादकों को ऐसी सुन्दर रचना के लिए साधुवाद देता हूँ। यह हिन्दी नाट्यसाहित्य का सचमुच नितान्त उपयोगी तथा विश्वासार्ह प्रामाणिक ग्रन्थ है। आशा ही नहीं, पूरा विश्वास है कि इस ग्रंथ के विद्वान् लेखक इस प्रकार की अन्य प्रौढ़ रचना से हिन्दी भारती का भण्डार भरते रहेंगे।



खण्ड ५

५

भोजपुरी साहित्य

किं तेन काव्यमधुना प्लाविता रसनिर्भरैः
जडात्मानोऽपि नो यस्य भवन्त्यङ्कुरितान्तराः ॥

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥

५ : १

भोजपुरी का संक्षिप्त परिचय

भोजपुरी भासा के उधार करे आइल बाडे
जनता जनारदन के माथा हम नवाईलें।
दुनिया के भासा में सुन्नर, मिठास - भरल
भोजपुरी भासा छोड़ि कवनो ना पाईलें॥
ठिठुरल गोड़ से सिवान तक पैदल चलि
आइल रउरा के देखि फूलल ना समाईलें।
सारन सभा में आइल पंचन के हाथ जोड़ि
काली मइया के हम जय जय मनाईलें॥

स्वागत समिति के अध्यक्षजी, देवियों तथा सज्जनों[१],

आपने भोजपुरी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाकर मेरा जो सम्मान किया है उसके लिये मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। इस सम्मेलन का आयोजन एक बड़ा ही पवित्र तथा राष्ट्रीय कार्य है। अपनी प्यारी मातृभाषा भोजपुरी के उत्थान तथा समृद्धि की सद्भावना से प्रेरित होकर आये हुये आप लोगों को देखकर मेरा हृदय फूला नहीं समाता। सचमुच यह हमारी भाषा के सौभाग्य का दिन है कि आज हम लोग– जो विभिन्न स्थानों में बिखरे हुए हैं– एकत्र होकर एकचित्त से यह महान् उत्सव मना रहे हैं।

आपने इस सभा का अधिवेशन सीवान में रखकर अत्यन्त उचित कार्य किया है, क्योंकि इस स्थान (इस तहसील के अन्तर्गत जोरादेई गांव) को उस सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है जिनका अटूट भोजपुरी-प्रेम अत्यन्त विख्यात है। इसके अतिरिक्त सारन जिले का भोजपुरी बोली की उन्नति में योग-प्रदान प्रचुर मात्रा में रहा है। यहाँ के अनेक कवियों तथा लेखकों ने इस बोली को अपनी काव्यकला का माध्यम बनाया है।

'भोजपुरी'

भोजपुरी का नामकरण बिहार प्रान्त के आरा जिले के डुमरांव नामक स्थान से एक मील पूर्व में स्थित 'भोजपुर' नामक गाँव के कारण पड़ा है। यह डुमरांव

---

१. सप्तम हिन्दी साहित्य संमेलन (सीवान, सारन) के भोजपुरी परिषद के सभापति का भाषण सन् १९४०

राज्य की प्राचीन राजधानी थी। वर्तमान भोजपुर आजकल एक सामान्य गाँव होने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी भोजपुर को विख्यात वीर आल्हा और ऊदल की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। मध्य युग में उज्जैन वंशी (उजेन) राजपूतों ने राजपूताने से आकर यहाँ अपना विस्तृत राज्य स्थापित किया था। भोजपुरी उन लोगों की बोली है जिनके नस-नस में वीर रस का संचार रहता है, जो 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति'' के गर्हणीय सिद्धान्त का पूर्णतः तिरस्कार कर अपनी पराक्रमी भुजाओं का सहारा लेते हैं और जो सुदूर विदेशों में भी अपने प्रबल प्रताप की पताका फहराते हैं। जिस प्रकार भारत के भाल को ऊंचा करने वाला वीर राजस्थान स्वतन्त्रता के नाम पर मर मिटने वाले अपने सपूतों के कारण से प्रसिद्ध है, उसी प्रकार भोजपुर-मण्डल—शाहाबाद, बलिया, छपरा, गाजीपुर, आदि जिलों की भूमि—अपने वीर निवासियों की कार्यावली से विख्यात है। भोजपुर निवासियों के रग-रग में अक्खड़पन रहता है। इसका परिचय हम इस प्रसिद्ध कहावत से पाते हैं :—

भागलपुर का भगेलुआ भइया, कहलगाँव का ठग्ग।
जो पावे भोजपुरिया तो तोरे दोनों का रग्ग॥

प्रसिद्ध भाषाविद् डा० ग्रियर्सन का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि भोजपुरी उस उत्साही जाति की व्यावहारिक भाषा है जो परिस्थिति के अनुरूप अपने को बदलने के लिये सदा तैयार रहती है और जिसका प्रभाव हिन्दुस्तान के प्रत्येक भाग पर पड़ा है। हिन्दुस्तान में सभ्यता फैलाने का यश बंगालियों तथा भोजपुरियों को प्राप्त है। इस काम में बंगालियों ने अपनी कलम से काम लिया है तथा वीर भोजपुरियों ने अपने डण्डे से। भोजपुरियों की इस वीर प्रकृति में ही बिरहा, लोरकी, आल्हा आदि वीररस-प्रधान लोक-गीतों के उत्थान का रहस्य छिपा हुआ है। अक्खड़पन को जतानेवाली लाठी के वर्णन में गिरिधर कविराय की यह कुण्डलिया भोजपुर-निवासियों का जातीय गान स्वीकार की जाय, तो कुछ अनुचित न होगा।

लाठी में गुन बहुत हैं सदा राखिये संग।
नदी नार अगाह जल तहाँ बचावे अंग॥
तहाँ बचावे अंग झपट कुत्तों को मारै।
दुश्मन दावागीर होई तिनहूँ को झारै॥
कह गिरिधर कविराय बात बाँधा यह गाँठी।
सब हथियारन छाड़ि हाथ में राखा लाठी॥

विस्तार

भोजपुरी का विस्तार बहुत अधिक है। इसके बोलनेवालों की संख्या मराठी भाषा के बोलनेवालों से भी अधिक है। मराठी बोलने वालों की संख्या दो करोड़

से कम है परन्तु भोजपुरी बोलने वालों की संख्या दो करोड़ से भी अधिक है। व्रज भाषा के बोलने वाले केवल ८० लाख के लगभग हैं। बिहारी की तीनों बोलियों में भी भोजपुरी का ही नम्बर इस दृष्टि से पहला है। मैथिली बोलने वालों की संख्या कए करोड़ से कुछ ऊपर है और मगही भाषियों की संख्या लगभग ७० लाख के है। इस प्रकार भोजपुरी अपनी हमजोलियों से ही संख्या और विस्तार में अधिक नहीं है, प्रत्युत दूरस्थित अपनी बहनों—व्रज और मराठी—से भी कहीं बढ़ चढ़कर है। इतना होने पर भी क्या यह कम दुःख की बात नहीं है कि इसका साहित्य अभी तक समृद्ध रूप में नहीं दीख पड़ता। यह अभी तक लिखित अवस्था में भी नहीं है। भोजपुरी साहित्य की अभिवृद्धि न होने का प्रधान कारण राजाश्रय का अभाव है। भोजपुर मण्डल में किसी व्यापक प्रभावशाली नरपति का पता नहीं चलता। इस मण्डल में अधिकतर किसानों की ही बस्तियाँ है। किसी गुणग्राही राजा के आश्रय न मिलने से हमारी बोली का साहित्य समृद्ध न हो सका। भोजपुरी को न तो विद्यापति ही मिले और न सूरदास ही। तब मैथिली तथा व्रजभाषा के समान इसकी वृद्धि हो तो कैसे हो? यदि कोई प्रतिभा-सम्पन्न कवि इसे भी मिल गया होता तो स्वभाव से सरल तथा मधुर होने के कारण से इसका भी साहित्य रसिकों के गले का हार बन गया होता। परन्तु भोजपुरी के लोकगीतों को पढ़कर हम भलीभाँति कह सकते हैं कि भोजपुरी में भी माधुर्य है, हृदय को बरबस अपनी ओर खींचनेवाले भावों तथा शब्दों का मधुमय सम्मिलन है; चित्त को आनन्द-सागर में विभोर बना देने वाले रसों का शोभन परिपाक है।

प्राचीन कवियों द्वारा भोजपुरी का प्रयोग

हिन्दी के मान्य प्राचीन-काव्यों में भोजपुरी का प्रयोग मात्रा में कुछ कम नहीं है। हिन्दी के अनेक महाकवियों ने इस भाषा के शब्दों को अपनी कविता में स्थान दिया है। कबीर, जायसी तथा तुलसी की कविताओं में इस भाषा के शब्द अनेक स्थानों में बिखरे पड़े है। कबीर तथा तुलसी का कार्य-क्षेत्र विस्तृत भोजपुर मण्डल के अन्तर्गत ही था। कबीर तो काशी के ही निवासी थे और तुलसीदास की कर्मभूमि ही काशी थी। परन्तु जायसी तो ठेठ अवध के रहते वाले थे। उनकी भाषा में भोजपुरी शब्दों का चुनाव अवश्य ही इस भाषा के सौन्दर्य का सूचक है। कबीरदास का यह पद्य ठेठ भोजपुरी में ही लिखा गया है।

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़वलें,
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गइले बकरा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो,
जम दरवजवा बान्हल जइबे पकरा॥

जायसी की इन चौपाइयों में हमारी बोली अपना आसन जमाये बैठी है :—

सबै कटक मिलि गोरहि छेंका, गूँजत सिंह जाइ नहिं टेका।
सिंघ जियत नहि आप धरावा, मुये पाछ कोई घिसियावा॥

तुलसीदास के रामायण में तो भोजपुरी का व्यापक प्रभाव स्पष्ट ही दीख पड़ता है। रामायण में ७० प्रतिशत ऐसे शब्द मिलेंगे जिनका संबंध हमारी ही बोली से है। तुलसीदासने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो ठेठ भोजपुरी के हैं तथा जिनका प्रचलन भोजपुर-मण्डल को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है। उदाहरण के लिये 'जिमि गँव तकइ किरात किशोरी। जीवन मूरि जिमि जुगवत रहऊँ, अचल होइ अहवात तुम्हारा। जो राउर अनुशासन पाऊँ' आदि चौपाइयों में गँव ताकना, जुगवत रहना, आदि क्रियापद तथा अहिवात और राउर जैसे संज्ञा पदों का प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता है जो हमारे गाँवों में बोली जानेवाली बोली से नितान्त परिचित हो। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि हिन्दी के प्राचीन कवियों ने भोजपुरी के व्यापक प्रभाव को पहचाना था तथा उसे कविता के लिये सर्वथा उपयुक्त माना था।

भोजपुरी का साहित्य

आधुनिक काल में भोजपुरी भाषा के महत्त्व की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करनेवाले पहले व्यक्ति डाक्टर सर ग्रियर्सन थे जिन्होंने लन्दन की रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका (जिल्द १६, १८) में तथा इण्डियन एण्टिक्वेरी (१८८५ ई०) में भोजपुरी के अनेक गीतों का संग्रह अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। इस भाषा का व्याकरण भी उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया। अंग्रेजी विद्वानों में डाक्टर बीम्स, डाक्टर हार्नली तथा सर कैम्पबेल ने इस बोली की विशेषताओं पर बहुत कुछ लिखा है परन्तु ग्रियर्सन का प्रयत्न इस क्षेत्र में नितान्त श्लाघनीय है। यह हर्ष का विषय है कि इनके प्रयत्नों से प्रेरित होकर देशी विद्वानों ने भी भोजपुरी के उद्धार का बीड़ा उठाया। साहित्य प्रेमी मझौली नरेश लाला खड्गबहादुर मल्ल ने 'सुधाबूँद' में ६० भोजपुरी—कजरियों का संग्रह किया (बाँकीपुर १८८४)। पं० रविदत्त शुक्ल ने 'देवाक्षर चरित' नामक नाटक के अनेक दृश्य इसी बोली में निबद्ध किये हैं (बनारस १८८४ ई०) तथा 'जंगल में मंगल' नामक पुस्तक में उस समय बलिया में होने वाली घटनाओं का भोजपुरी में वर्णन किया है (बनारस १८८६ ई०)। पं० रामगरीब चौबे के 'नागरी विलाप' की अनेक कवितायें भोजपुरी में लिखी गई हैं (काशी १८८६ ई०)। भारतजीवन प्रेस के स्वामी बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'विरहा-नायिका भेद' लिख कर साहित्यकों का विशेष मनोरञ्जन किया है। बलिया जिले के भोजपुरी कवि पं० दूधनाथ उपाध्याय लिखित 'गोविलाप छन्दावली' और 'भरती के गीत' को जिन लोगों ने पढ़ा है वे भोजपुरी के माधुर्य को तथा उसमें विद्यमान स्फूर्तिदायक ओज को कभी भूल नहीं सकते।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हम भोजपुरी के मान्यकवियों को भूलते जा रहे हैं। इसी सीवान—जहाँ पर इस सभा का आप लोगों ने आयोजन किया है—के पास के रहनेवाले लक्ष्मी सखी ने अनेक पुस्तकों की रचना हमारी प्यारी भोजपुरी में करके हमारी भाषा के महत्त्व को बढ़ाया है। इधर अनेक विद्वानों ने भोजपुरी-साहित्य के उद्धार का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। पं० कृष्णदेव उपाध्याय एम० ए० ने दो बृहत्काय भागों में भोजपुरी साहित्य के ग्राम-गीतों के रूप में बिखरे हुए रत्नों को एकत्रित कर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित किया है जिसका प्रथम भाग आपके सामने प्रस्तुत है तथा दूसरा भाग अभी प्रेस में है जो शीघ्र ही प्रकाशित हो जायेगा। श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'भोजपुरी लोक गीतों में करुण-रस' नामक ग्रन्थ में भोजपुरी गीतों का अच्छा संग्रह प्रकाशित किया है। इन विद्वानों ने जो सामग्री उपस्थित की है वह भोजपुरी बोली के अनुसन्धानकर्ताओं के लिए बहुमूल्य है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस बोली में दो चार छोटे नाटक लिखे हैं जो बहुत ही सुन्दर तथा आकर्षक हैं। अब भोजपुरी बोली के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर भी अधिकारी विद्वानों की दृष्टि आकृष्ट हुई है। इस दिशा में डाक्टर उदयनारायण त्रिपाठी एम० ए०, डि० लिट्० का प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है जिन्होंने भोजपुरी भाषा का बृहत्काय तथा वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर हमारी बोली को महत्ता प्रदान की है। संभवतः यह पहला ही अवसर है जब किसी विद्वान् को किसी प्रान्तीय बोली (डाइलेक्ट) का व्याकरण लिखने के लिये डाक्टर की उपाधि मिली हो। इसी बात से आप भोजपुरी के महत्त्व को स्वतः समझ सकते हैं। हम डाक्टर उदयनारायणजी को हृदय से धन्यवाद देते हैं जिन्होंने अपनी रचना से हमारी बोली को गौरवान्वित किया है।

भोजपुरी की उपादेयता

भोजपुरी ग्रामगीतों का संग्रह अत्यन्त आवश्यक है। इन गीतों के संग्रह का रुचिर परिणाम यह होगा कि हिन्दीभाषा की शब्द-सम्पत्ति नितान्त समृद्ध होगी। हिन्दी की सर्वाङ्गीण उन्नति होने पर भी जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि देहाती ग्रामीण विषयों पर लिखने के समय लेखक को शब्दों का टोटा होने लगता है। यह बात कुछ विचित्र सी जान पड़ती है पर है सोलहो आने सच्ची। अपने रोजमर्रे के परिचित विषयों के नाम से भी हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं विशेषतः खेती बारी की चीजों से। उदाहरण के लिये कई आवश्यक शब्दों की परीक्षा कीजिये। भोजपुरी में बच्चा देने की अवस्था प्राप्त होने पर भी जो गाय बच्चा नहीं देती उसे 'लोर' कहते हैं। गाय के तुरन्त उत्पन्न बच्चे को (जिसे वेद में धरुण कहते हैं) लेरुवा कहते हैं। गर्भघातिनी गाय का नाम है लड़ायल और बाँझ गाय को कहते हैं बहिला। यह बहिला शब्द भाषा की दृष्टि से संस्कृत शब्द

'वशा' के अनुरूप ही है। इस प्रकार गायकी विभिन्न अवस्थाओं के सूचक जो सार्थक शब्द भोजपुरी में उपलब्ध होते हैं, इनके अनुरूप खड़ी बोली में ढूढ़ने पर भी शब्द नहीं मिलेगें। अतः भोजपुरी से इन शब्दों को बिना लिये हिन्दी भाषा का भण्डार कदापि नहीं भर सकता। इसी प्रकार से आसाढ़ती, उरेहना, चेलिक, अनुहार, सुहवा, रमझल्ला आदि भोजपुरी के ऐसे सार्थक तथा अर्थाभिव्यञ्जंक शब्द हैं कि इन्हें अपनाने से खड़ी बोली में व्यापकता के साथ-साथ जीवट भी आवेगा। उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त भोजपुरी के मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ इतनी अनूठी तथा भावपूर्ण है कि उनके व्यापक रूप से प्रयोग करने से ही हिन्दी का कल्याण संभव है। इन्हें प्रान्तीय तथा ग्रामीण कहकर अनादर की दृष्टि से देखना उचितनहीं हैं। ये ग्राह्य हैं, उपेक्षणीय नहीं। लोकोक्तियों के कतिपय उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

एक त बबुनी अपने गोर, दोसरे अइली कमरिया ओढ़।
एहि कमाई पर तेल बुकवा।
ए मँगमुड़नी, का ए पटिया सँवरनी।
जिन विअइली तिन तवइली, बेटा ले पड़ोसिन भइली।

अब भोजपुरी बोली के कतिपय मुहावरों को देखिये :—

पाताल खिलना = बहुत दूर चला जाना।
फिरहिरी होना = कार्य में व्यग्र होना।
लग्गा लगाना = किसी कार्य को आरम्भ करना।
तरवा में आग लगाना = क्रोध से आग बबूला होना।
हाथे दही जामना = मार खाने पर भी चुप रहना।
हाथ झुलाते आना = असफल होकर लौट आना।

इन मुहावरों में इतनी भावव्यञ्जकता वर्तमान है कि इनकी उपेक्षा सर्वथा निन्दनीय है। मेरा पूरा विश्वास है कि यदि भोजपुरी की इन लोकोक्तियों तथा मुहावरों का समावेश खड़ी बोली में किया जाय, तो उसकी साहित्य-वृद्धि होने के अतिरिक्त वह अवश्य व्यापक बन जायेगी। इसलिये खड़ी बोली का भी कल्याण इसी में है कि भोजपुरी का साहित्य पनपे, कवि तथा लेखक भोजपुरी में अपनी रचना करें एवं इसे समुन्नत तथा गौरवशाली बनावें।

भोजपुरी-साहित्य की सुषमा

भोजपुरी साहित्य के सर्वस्व वे लोकगीत हैं जो आज भी इस मण्डल के नरनारियों का मनोरञ्जन किया करते हैं। इन गीतों में चित्रित अवस्था का सम्बन्ध ग्राम्य जीवन से है परन्तु इनमें प्रदर्शित भावों में सर्वथा नागरिकता भरी पड़ी है। इन गीतों में आलंकारिक चमत्कार की कमी नहीं है हिन्दी काव्य की अधिकांश उपमायें परम्परा-भुक्त होने से बासी तथा फीकी लगती हैं परन्तु इन

भोजपुरी गीतों की उपमायें नितान्त स्वाभाविक हैं। ये स्वच्छन्द बहने वाली वायु की तरह स्वतन्त्र है तो जंगल में स्वतः खिलने वाले फूलों की तरह सुन्दर हैं। भोजपुर का यह अज्ञात कवि मुख की उपमा सूरज की ज्योति से देता है, आँख की उपमा आम की फली से, नाक की सुग्गे की ठोर से, भौंहों की चढ़ी कमान से, ओठ की काटे हुए पान से, बाहों की सोने की छड़ी से, पेट की पुरहन के पत्ते से, पीठ की धोबी के पाट से और पैरों की केले के खम्भों से। साहित्यिज्ञों से यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ये सब उपमायें काव्य जगत् में बिलकुल अनूठी और अपूर्व हैं।

भोजपुरी-गीत

भोजपुरी गीतों की मधुरिमा किस साहित्यिक के मानस में आनन्द की लहरी उद्वेलित नहीं करती ? भाषा का सौन्दर्य तथा भावों का सौष्ठव—किसी भी दृष्टि से इनकी समीक्षा की जाय, इनका स्थान उच्चकोटि के काव्यों में किया जायेगा। भोजपुरी मैथिली तथा बंगला की सगी बहिन है। ये तीनों ही मागध अपभ्रंश की हमजोली बेटियाँ हैं। भोजपुरी का यह शब्द-माधुर्य मागधी की देन है। मैथिली तथा बंगला की शब्दमाधुरी से हमारे श्रवण भलीभाँति परिचित हैं। हमारी बोली में निबद्ध काव्यों की भी ठीक यही दशा है। भोजपुरी में ढलते ही कविता में एक अद्भुत शाब्दिक मोहकता उत्पन्न हो जाती है—ऐसी मोहकता, कि आस्वाद लेनेवाले रसिकों के हृदय को बरबस मस्त बनाये देती है। कर कंगन को आरसी क्या ? इसी जिले के सुप्रसिद्ध कवि लक्ष्मी सखी का यह भजन हमारे कथन को सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ होगा :—

मने मने करीले गुनावनि हो पिया परम कठोर।
पाहनो पसीजि पसीजि के हो बहि चलत हिलोर ॥ १ ॥
जे उठत विषय लहरिया हो छने छने में घँघोर।
तनिको ना कनखि नजरिया हो, चितवत मोरे ओर ॥ २ ॥
भावे घरे आँगन ना सेजरिया हो, नाहिं लहर पटोर।
बेंजन कवनो तरकरिया हो जइसे माहुर घोर ॥ ३ ॥
तलफीलें आठो पहरिया हो गति मति भइली भोर।
केहुना चीन्हेला अजरिया हो, बिनु अवध किसोर ॥ ४ ॥
कइसे सहीं बारी रे उमिरिया हो दुख सहस कठोर।
लछमी सखी मोरा नाहिं भावेला हो पथ भात परोर ॥ ५ ॥

इस गीत में शब्दों का माधुर्य जितना लुभावना है, भावों का चमत्कार भी उसी प्रकार श्लाघनीय है।

रस परिपाक

भोजपुरी गीतों में रसों का परिपाक खूब ही हुआ है। पुत्र जन्म के समय जो 'सोहर' गाये जाते हैं उनमें उल्लास की अभिव्यञ्जना कितनी अच्छी है। परन्तु

इन गीतों में करुण रस का परिपाक विशेष मात्रा में हुआ है। इस रस की अभिव्यक्ति इन गीतों में तीन अवसरों पर विशेषरूप से होती है—बिदाई, वियोग और वैधव्य। इन तीनों अवसरों पर सुखमय जीवन का अवसान हो जाता है तथा दुःख का नया अध्याय आरम्भ होता है; जीवन के वसन्त में अचानक पतझड़ शुरू हो जाता है। इसलिए ये तीनों अवसर मनुष्य के कोमल हृदय पर गहरी चोट करने वाले होते हैं। इन विषयों की जो गीतें भोजपुरी में उपलब्ध होती हैं वे करुण रस की मात्रा में उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती हैं। जिस प्रकार महाकवि भवभूति की करुण कविता सुनकर वज्र का हृदय भी टूक हो जाता है और पत्थर भी रो उठता है—

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

उसी प्रकार इन गीतों को पढ़कर भी पत्थर के समान कठोर-हृदय पुरुष का कलेजा आँसुओं के रूप में पसीज पसीजकर बाहर निकल पड़ता है—

अँसुवन के मग जल बह्यौ हियो पसीज पसीज।

अब कतिपय उदाहरणोंसे मैं इस कथन की पुष्टि करना चाहता हूँ। भोजपुरी की एक सुन्दरी परदेश जानेवाले पति से विछोह के दिनों के बिताने की युक्ति पूछ रही है। सुनिये यह गीत दिल पर कितनी चोट पहुँचा रहा है—

जुगुति बताये जाँव। कवन बिधि रहबो राम।
जो तुहुँ साम बहुत दिन बितिहैं,
अपनी सुरतिया मोरी बहियाँ पर लिखाये जाँव ॥ १ ॥
जो तुहुँ साम बहुत दिन बितिहैं,
बिरना बोलाइ मोको नइहर पहुँचाये जाँव ॥ २ ॥
जो तुहुँ साम बहुत दिन बितिह हैं,
बहियाँ पकरि मोके गंगा भसिआये जाँव ॥ ३ ॥

इस गीत के प्रत्येक पद से करुण रस चुआ पड़ता है। यह गीत क्या है? करुण रस की कलशी है। वियोग की आशङ्का से उत्पन्न दुःख का इतना सरस तथा सजीव, अकृत्रिम और हृदयविदारक वर्णन खड़ी बोली में भी मिलना दुर्लभ है। इस गीत की सादगी पर विज्ञ आलोचक अपने को निछावर कर रहा है।

एक दूसरी विरहिणी की व्याकुलता को तो परखिये, जो प्रिय का वियोग न सहकर उसकी खोज में निकल पड़ती है और बटोहियों से उसका पता पूछती है। इस गीत में बड़ा ही लोच है—द्रुत लय है। इस झूमर का पूरा स्वाद झूम झूमकर गानेवाली कलकण्ठ कामिनियों के कोरस में ही मिल सकता है। विरहिणी की बातें तो कान लगा कर सुनिये—

आजके गइल भौंरा कहियाले लवटब, कतेक दिनवाँ
हम जोहों तोरी बटिया, कतेक दिनवाँ।१।
गनत गनत मोर अँगुली भइल खियानी, चितवते दिनवाँ
नैनवाँ ढुरे लोरवा चितवते दिनवाँ।२।
एक बने गइलीं दूसरे बने गइलीं तीसरे बनवाँ
मिलल गोरू चरवहवा तीसरे बनवाँ।३।
गोरू चरवहवा तुहीं मोर भइआ कतहूँ देखला ना
मोर भँवर परदेसिया कतहूँ देखल ना।४।

भोजपुरी भजन भी बड़े प्रभावशाली हैं। इनमें संसार की निःसारता, जीवन की अनित्यता, सम्पत्ति की क्षणभंगुरता का सुन्दर प्रतिपादन मिलता है। बूढ़ी स्त्रियाँ जब तीर्थयात्रा या गंगास्नान के लिए संघ बाँधकर जाती हैं, तब इन भजनों को गाया करती हैं। भजनों का कोमल भाव, वृद्धाओं के कण्ठ से निकल भक्तिविह्वल ध्वनि, प्रातःकाल का सुहावना समय—ये तीनों मिलकर इन्हें इतना रसमय बना देते हैं कि सुननेवालों का हृदय इस विषय-प्रपञ्च से दूर हटकर भगवद्भक्ति के सरोवर में गोता लगाने लगता है। इन भजनों में रहस्यवाद भी पूरी मात्रा में है।

गीतों में भोजपुरी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, तो बिरहों में भोजपुरी का अक्खड़पन दीख पड़ता है। परन्तु इन बिरहों में सरल-सुभग भावों का भी सन्निवेश हमें उपलब्ध होता है। बिरहों के उद्गम के विषय में किसी भोजपुरी कवि की उक्ति बड़ी मार्मिक है—

नाहीं बिरहा कर खेती भइया
नाहीं बिरहा फरे डाढ़।
बिरहा बसेला हिरिदया में ए रामा,
जब उमगेले तब गाव॥

किसी स्वाधीनपतिका की व्यङ्ग्यमयी उक्ति का आस्वादन कीजिये—

रसवा के भेजलीं भँवरवा के संगिया
रसवा ले अइले हा थोर।
अतना ही रसवा में केकरा के बटबों
सगरी नगरी हित मोर॥

इस बिरहे में भँवर (पति और भौंरा) तथा रस (प्रेम और मधु) का श्लेष सहृदयों के मर्मस्थल को स्पर्श कर रहा है।

सज्जनों ! मैं आपके सामने भोजपुरी के लिए अवश्य पैरवी कर रहा हूँ। परन्तु भोजपुरी में इतने स्वाभाविक गुण हैं कि इस पैरवी की विशेष जरूरत नहीं जान पड़ती। जो स्वभाव से ही सुन्दर है उसमें सौन्दर्य सिद्ध करने के लिए शपथ खाने की आवश्यकता नहीं होती। भोजपुरी की यही दशा है। जो दो चार उदाहरण मैंने आप लोगों के सामने रखे हैं वे बिन्दुमात्र हैं। साहित्य के प्रेमियों के लिए भोजपुरी के सौन्दर्य का अनुमान करने के लिए इतना ही पर्याप्त होगा।

कुछ सुझाव

भोजपुरी के साहित्य का अभिवर्धन हमारा परमावश्यक कर्तव्य है। इसके लिए हमें ठोस कार्य कार्य करना चाहिए। यह कार्य एक आदमी के बूते का नहीं है। 'सात पाँचकी लाठी एक जने का बोझ'। आप लोग दत्तचित होकर इस पवित्र कार्य में लग जायँ, तभी कुछ कार्य सिद्ध होगा। इसके निमित्त मैं एक योजना आपलोगों के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। आप इसमें अपनी सहायता प्रदान करें, यही मेरा नम्र निवेदन है।

(१) भोजपुरी अनुसन्धान समिति की स्थापना—

इस अनुसन्धान समिति की स्थापना भोजपुरमण्डल के किसी विशिष्ट नगर में होनी चाहिए। इसका सदस्य भोजपुरी से प्रेम रखने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता है। इसकी एक अपनी पत्रिका होनी चाहिए जिसमें भोजपुरी से सम्बद्ध लेखों का प्रकाशन होता रहे। भाषा की अभिवृद्धि के इन उपायों का अवलम्बन नितान्त आवश्यक है। बिना इस समिति की स्थापना किये भोजपुरी भाषा का प्रसार तथा प्रचार, समृद्धि तथा अभिवृद्धि सफलतापूर्वक सिद्ध नहीं हो सकती। ठोस साहित्यिक कार्य की यह मूल भित्ति हैं।

(२) भोजपुरी साहित्य का प्रकाशन—

यह कार्य बहुत विशाल है। भोजपुरी में उपलब्ध गीतें भिन्न-भिन्न अवसरों पर हमारे घरों में गाई जाती हैं। इस समग्र साहित्य का ठीक वैज्ञानिक ढंग से संकलन होना चाहिए। भोजपुरी में ग्रामीण कहानियों का संकलन अपेक्षित है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से लोकोक्तियाँ तथा मुहावरों का संग्रह आवश्यक है। यह काम बड़ा ही उपादेय तथा लाभप्रद है।

(३) भोजपुरी का वैज्ञानिक अध्ययन—

भोजपुरी भाषा के व्याकरण तथा विराट् कोष के संकलन की महती आवश्यकता है। मेरा अपना अनुभव है कि खड़ी बोली के प्रभाव से भोजपुरी के ठेठ शब्द धीरे-धीरे नष्ट होते चले जा रहे हैं। नगर में शिक्षा पानेवाला भोजपुरी

बालक इन्हें समझ भी नहीं पाता। फलतः ये व्यवहार से लुप्त होते चले जाते हैं। शीघ्र ही इन शब्दों के संग्रह की आवश्यकता है।

(४) भोजपुरी कवियों को प्रोत्साहन—

भोजपुरमण्डल के अनेक मान्य कवि खड़ी बोली में कविता करते हैं। उनसे यह प्रार्थना है कि वे अपनी बोली में भी कविता करने का प्रयत्न करें। हमें चाहिए कि गांवों में बिखरे हुए भोजपुरी कवियों को यथोचित प्रोत्साहन दें।

(५) प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह—

भोजपुरमण्डल में प्राचीन इतिहास की सामग्री बिखरी पड़ी है। प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष भरे पड़े हैं। हमें उत्साही कार्यकर्ता चाहिए जो इन स्थानों में भ्रमण कर इतिहास की उपयोगी सामग्री का संग्रह कर सकें।

(६) रीति-रस्मों का अध्ययन—

भोजपुरमण्डल में विवाह आदि संस्कारों के समय पर जो रीतियां प्रचलित हैं उनका संकलन तथा वर्णन हमें करना चाहिए। समाजशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन के लिए इसका विशेष महत्त्व है। इस प्रकार व्रजसाहित्य मण्डल जो उपयोगी कार्य व्रजसाहित्य के उद्धार के लिए कर रहा है वही कार्य हमें अपने साहित्य के अभ्युत्थान के निमित्त करना चाहिए।

यही भोजपुरी के प्रेमियों से मेरा नम्र निवेदन है आशा है वे इस ठोस कार्य में चित्त लगावेंगे। भोजपुरी का यह अधिवेशन अपने प्रयत्न में सर्वथा सफल हो, यही भगवान् से प्रार्थना है।[1]

'मधुरेण समापयेत्।' अब इसी नीति के अनुसार मैं यह अभिभाषण इसी जिले के निवासी लक्ष्मी सखी के दो भजनों के साथ समाप्त करता हूँ।

कजली

सुनि सुनि पिआ के सनेस हमरो जिअरा ललचे ना।
टपर टपर गीरे लोर सखिया चलते चलते ना।।
काहे जे औगुन भईल बहुत गलते गलते ना।
तेहि से चले के हाथ सखिया मलते मलते ना।।
पिआ बिनु जिअवा हमरो हिअवा कलपे ना।
जेकर तेज प्रताप घट घट नूर झलके ना।।
बेरि बेरि हेरीले बाट सखिया पलके पलके ना।
करि मंजन असनान सरजु जल जल जलके ना।।
राजा जनक के बेटि हम त दोसरा खलके ना।
लछमी सखी पिया धरबो बंहिया छोरबो बलके ना।।

चौमासा

झमर झमर उजे वरसेला मेघवा गगन घटा घनघोर हे।
खोलिले हे सखि कपट केवरिआ अपने जे होला अँजोर हे।।
खासा खसम पिआ लौटेला सुन्दर माया मोह भागेला चोर हे।
बारी बयस मोरा घरे रहु पिअउ मिनती करीले कर जोर हे।।
निसि दिन करब चरन सेवकाइ आठो धरि रहब अगोर हे।
नाहिं त अबही संगहि प्रान जइहें सुनि लेहु अवध किसोर हे।।
सकल भुवन कर करता धरता जो कुछ करिए से थोर हे।
अपने सुजान पिआ का समुझाओ मैं अबला मति मोर हे।।
लछमी सखि के सुन्दर पिअवा पुरुष दुभुज किसोर हे।
भजब त भजिले आपन पिअवा नात होखेला हाथी से घोर हे।।

भजन

सखी तोरे पियवा देइ गइले एगो पतिया।
बारहु दियवा चुड़ाइ लेहु हियवा, समुझि
समुझि के बतिया। १।
इहवाँ ना केहू साथी ना संघतिया, कामिनी कंत
तोरे जोहत बटिया। २।
सोने के खाटी रूपे के पटिया, करू मंजन चलु
त्रिकुटी के घटिया। ३।
ओहि के घाट पर सुन्दर पियवा, निरखत
रहू दिन रतिया। ४।
'लछिमी सखी' के सुन्दर पियवा,
सूत रहू लगाई के छतिया। ५।

---

१. प्रसन्नता की बात है कि ऊपर निर्दिष्ट सुझावों में से अनेक की कार्यरूप में परिणति हो गई है। आज भोजपुरी साहित्य की समृद्धि नितान्त श्लाघनीय है।

५ : २

भोजपुरी लोक साहित्य की मीमांसा

(१) ग्राम गीतों का परिचय तथा वैशिष्टच

एक समय था जब संसार के समग्र देशों में मनुष्य प्रकृति देवी का उपासक था; प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। उस समय उसका आचार-विचार, रहन-सहन, सब सरल, सहज तथा स्वाभाविक थे। वह आडम्बर, दिखावा तथा कृत्रिमता से कोसों दूर रहता था। उसके कोश में 'कृत्रिमता' शब्द का एकदम अभाव था। वह तो स्वाभाविकता की गोद में पला हुआ जीव था। उसके समस्त कार्य—उठना-बैठना, बोलना-चालना, हँसना-गाना, स्वाभाविकता में पगे रहते थे। कविता उस युग में भी होती थी। चित्त के आह्लाद के निमित्त कविता की रचना उस समय भी होती थी और आज भी होती है, परन्तु दोनों युगों की कविताओं में जमीन आसमान का अन्तर है। आज की कविता नियम की पाबन्दी में जकड़ी हुई है, छन्द की नपी तुली नालियों से प्रवाहित होती है, अलङ्कार के बोझिल भार से वह दबी हुई है, परन्तु जिस प्राचीन युग की चर्चा हम कर रहे हैं उस युग की कविता का प्रधान गुण था स्वाभाविकता, स्वच्छन्दता तथा सरलता। वह उतनी ही स्वाभाविक थी जितना जंगल का फूल; उतना ही स्वच्छन्द थी जितनी आकाश में उड़ने वाली चिड़िया; वैसी ही सरल थी जैसे गंगा का प्रवाह। उस समय की कविता का जो अंश आज अवशिष्ट रह गया है वही हमें ग्राम-साहित्य, लोककाव्य अथवा लोकगीत के रूप में उपलब्ध हो रहा है।

भारतवासियों का जीवन सदा से संगीतमय रहा है। शायद ही दूसरी कोई जाति होगी जिसके जीवन पर संगीत का इतना प्रचुर प्रभाव पड़ा हो। प्रत्येक उत्सव, पर्व, त्योहार के अवसर पर समयोचित गीत गाकर चित्तविनोद करना हमारी दिनचर्या का एक आवश्यक अङ्ग है। पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, द्विरागमन आदि हमारे समस्त उत्सवों के अवसर पर स्त्रियाँ अपने कोमल कल-कण्ठों से रमणीय गीत गाकर अपना तथा उपस्थित मण्डली का पर्याप्त मनोरञ्जन किया करती हैं। यह प्रथा आधुनिक न होकर अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक युग में भी इन पर्वों के अवसरों पर मनोहर गाथाओं के गाने का निर्देश वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मैत्रायणी संहिता (३।७।३) में विवाह के अवसर पर गाथा गाने की विधि उल्लिखित है। पारस्कर गृह्यसूत्र, (१ काण्ड, ७ कण्डिका) में विवाह के अवसर पर और आश्वलायन गृह्यसूत्र में सीमन्तोन्नयन के समय वीणा पर गाथा (गीत) गाने का प्रचलन निर्दिष्ट है। अतः विवाह के समय वैदिककाल

में स्त्रियाँ सुन्दर गाथाएँ गाती थीं और वह परम्परा आज भी अक्षुण्ण रीति से चल रही है।

वाल्मीकीय रामायण में रामजन्म के समय तथा श्रीमद्भागवत (दशम स्कन्ध) में कृष्ण जन्म के अवसर पर स्त्रियों के एकत्र होकर मनोरञ्जक सामयिक गीतों के गाने का स्पष्ट वर्णन मिलता है। इतना ही नहीं, मेहनत-मजदूरी करने के (चक्की पीसना, धान कूटना, ढेकी कूटना, खेती निराना आदि) समय जिस प्रकार स्त्रियाँ झुंड बाँध कर गीत गाकर अपनी थकावट हलका किया करती हैं, प्राचीनकाल में भी ठीक इसी प्रकार होता था। प्रसिद्ध कवयित्री विज्जका (१२ वीं सदी) ने धान कूटनेवाली स्त्रियों के गीत गाने का जो वर्णन किया है, वह बड़ा ही रोचक है। स्त्रियाँ धान कूट रही हैं और साथ-साथ गाना भी गा रही हैं। मूसल के उठाने और गिराने के कारण उनकी चूड़ियाँ झनझना रही हैं, उरःस्थल उनका हिल रहा है; मीठी हुंकार की आवाज तथा चूड़ियों के शब्द से मिलकर उनका गाना विचित्र आनन्द पैदा कर रहा है—

विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोःकन्दली-
परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्बन्धुराः ।।
लसन्ति कलहुङ्कृतिप्रसभकम्पिरोरःस्थल-
त्रुटद्गमकसंकुलाः कलभकण्डनीगीतयः ।।

इन लोकगीतों का लिखित गीतों से पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। लिखित गीत किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा किसी अवसर को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुए हैं, वे छन्द की चहारदिवारी के भीतर बन्द होने से स्वच्छन्दता-विहीन है तथा रचयिता के मस्तिष्क की उपज होने से व्यक्तिगत भावों का दिग्दर्शन कराते हैं। परन्तु लोकगीतों की गति-विधि दूसरे ही ढंग की है। न तो वे लिपिबद्ध होती हैं, न उनके रचयिता का ही पता होता है। स्त्री-पुरुषों की जिह्वा ही उनकी आवासस्थली है। कृत्रिमता उनमें छूकर भी न मिलेगी। उनमें मिलेगी सरलता और स्वाभाविकता। जिन भावों में तनिक भी बनावटीपन नहीं है और जो मानव प्रकृति के साथ जन्मतः सम्बद्ध हैं उन्हीं भावों का प्रकाश हमें इन गीतों में मिलता है। उनमें एक विचित्र मिठास मिलती है; जिसके कारण जो कोई इन्हें एक बार भी चख लेता है; वह इनके स्वाद को जन्म भर भूल नहीं सकता। वैयक्तिकता के स्थान पर इनमें सार्वजनीनता विद्यमान रहती है। गीतों में वर्णित भाव किसी व्यक्ति के हृदय के उच्छ्वास नहीं होते, प्रत्युत उनमें उस समाज के समस्त व्यक्तियों के हृद्गत भाव अभिव्यक्त होते हैं। यही कारण है कि इनमें हृदय में घर कर लेने का, मर्मस्थल को स्पर्श करने का विशेष गुण पाया जाता है। अलंकृता लिखित कविता आँखों में चकाचौंध जरूर पैदा कर देती है; परन्तु वह हृदय में वह मोहकता पैदा नहीं कर सकती जो सरल कविता अनायास सम्पादन कर सकती है। ये लोकगीत उसी प्रकार स्वाभाविक हैं जैसे जंगल के फूल, उसी भाँति मीठे हैं

जैसे गन्ने का रस। महाकवि राजशेखर ने प्राकृत कविता की जो दिल खोलकर प्रशंसा की है वह इन लोकगीतों के विषय में बिलकुल ठीक जँचती है।

यद्योनिः किल संस्कृतस्य, सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते,
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत् प्राकृतं यद्वच-
स्तान् लाटान् ललिताङ्गि पश्यनुदतो दृष्टेर्निमेषव्रतम्।
(बालरामायण—१० अङ्क, ७८ पद्य)

ठीक! बहुत ठीक! यदि एक बार भी इन रसमय लोकगीतों की अंगूरी शराब का मजा ले लिया जाय, तो क्या मजाल कि वह जीभ कृत्रिम गीतों की निबौरी की ओर तनिक भी लगे! "जीभ निबौरी क्यों लगे बौरी चाखि अँगूर।"

(२) लोक-गीत की भारतीय परम्परा

भारतीय साहित्य में लोकगीत की उत्पत्ति तथा विकास की कहानी बड़ी मनोरञ्जक है। किस प्रकार सुदूर प्राचीन काल में लोकगीत का प्रथम प्रचार हुआ और किस प्रकार वह भिन्न-भिन्न शताब्दियों से होकर वर्तमान अवस्था तक पहुँच गया है? यह विषय नितान्त विचारणीय, मननीय तथा व्यापक है। इसके लिए एक अलग बड़े अध्ययन की जरूरत है। केवल प्रधान बातें पुरातत्त्व के प्रेमी पाठकों के सामने पेश की जा रही है।

प्राचीन साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर पाया जाता है, वे ही लोकगीत की पूर्व प्रतिनिधि हैं। 'गाथा' का अर्थ है पद्य या गीत और इस अर्थ में इसका व्यवहार ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में पाया जाता है (ऋग्वेद ८।३२। १=कण्व इन्द्रस्य गाथया, ८।७१।१४, ८।६८।६, ६।६६।४)। गानेवाले के अर्थ में 'गाथिन्' शब्द का व्यवहार ऋग्वेद (१।७।१) में किया गया है (इन्द्रमिद गाथिनो वृहत्)। 'गाथा' का प्रयोग एक प्रकार के विशिष्ट साहित्य के अर्थ में ऋग्वेद (१०।८५।६) में ही किया गया है जहाँ इसे रैभी और नाराशंसी से अलग निर्दिष्ट किया है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१८) ने ऋक् और गाथा में पार्थक्य दिखलाया है—ऋक् दैवी होती थी और गाथा मानुषी अर्थात् गाथाओं की उत्पत्ति में मनुष्य का उद्योग ही प्रधान कारण होता था। ब्राह्मण ग्रंथों के अनुशीलन से यही प्रतीत होता है कि गाथाएँ ऋक्, यजुः और साम से पृथक् होती थीं, अर्थात् गाथाओं का व्यवहार मन्त्र के रूप में नहीं किया जाता था। अतः प्राचीन काल में किसी विशिष्ट राजा के किसी अवदान—सत्कृत्य—को लक्षित कर जो गीत लोक-समाज में प्रचलित रूप से गाये जाते थे वे ही 'गाथा' नाम से साहित्य का एक पृथक् अंग माने जाते थे। निरुक्त (४।६) में दुर्गाचार्य ने गाथा का यह अर्थ स्पष्ट रूप से दिखलाया है—स पुनरितिहास ऋग्बद्धो गाथाबद्धश्च। ऋक्प्रकार एवं कश्चित् गाथेत्युच्चते गाथा:

शंसति, नाराशंसीः शंसति इति उक्तं गाथानां कुर्वीतेति। आशय है कि वैदिक सूक्तों में कहीं-कहीं जो इतिहास उपलब्ध होता है, वह कहीं ऋचाओं के द्वारा और कहीं गाथाओं के द्वारा निबद्ध होता है। ऋचाओं के समान गाथा भी छन्दोबद्ध होती है।

वैदिक गाथाओं के नमूने शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४, १३।४।३।८) तथा ऐतरेयब्राह्मण (८।४) में उपलब्ध होते हैं जिनमें अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं के उदात्त चरित्र का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। ऐतरेयब्राह्मण में ये गाथायें कहीं केवल श्लोक नाम से निर्दिष्ट हैं और कहीं यज्ञ-गाथाएँ कहीं गई हैं। एक दो गाथाओं का निरीक्षण कीजिए—

जन्मेजय के विषय में—

आसन्दीवति धान्यादं रुक्मिणं हरितस्रजम्
अश्वं बबन्ध सारङ्गं देवेभ्यो जन्मेजयः॥

दौष्यन्ति (दुष्यन्तपुत्र) भरत के विषय में—

हिरण्येन परीवृतान् शुक्लान् कृष्णदतो मृगान्
मष्णारे भरतोऽददाच्छतं बद्धानि सप्त च॥
अष्टासप्ततिं भरतो दौष्यन्तिर्यमुनामनु।
गङ्गायां वृत्रघ्नेऽबध्नात् पञ्च पञ्चाशतं हयान्॥
महाकर्म भारतस्य न पूर्वे नापरे जनाः।
दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोदापुः पञ्च मानवाः॥

इन ऐतिहासिक गाथाओं की परम्परा महाभारत-काल में अक्षुण्ण दीख पड़ती है। इसी दुष्यन्त-पुत्र भरत के सम्बन्ध में अनेक अन्य गाथायें दी गई हैं जो नितान्त प्राचीन प्रतीत होती हैं (महाभारत आदि पर्व ७४ अ० ११०—११३)। ऐतरेय वाली गाथाएँ ठीक उसी रूप में श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में भी उपलब्ध होती हैं।

ये गाथाएँ राजसूय के अवसर पर गाई जाती थीं, परन्तु विवाह के अवसर पर भी गाथा के गाने का विधान मैत्रायणी संहिता (३।७।३) में है। यहाँ विवाह-विषयक दो गाथाएँ दी हैं:—अथ गाथां गायतिः

सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती।
या त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः।
यस्यां भूतं समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत्
तामद्य गाथां गास्यानि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥

आश्वलायन गृह्यसूत्र (१ अ०, १२ खण्ड) में सीमन्तोन्नयन के अवसर पर गाथा गाने की चाल बतलाई गई है और सोम की प्रशंसा में यह गाथा दी गई है—

सोमो नु राजावतु मानुषीः प्रजा निविष्टचक्रासी। इन समस्त उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि राजसूय, विवाह और सीमन्तोन्नयन के शुभ अवसरों पर ऐसी गाथाएँ गाई जाती थीं जो प्राचीन काल से परम्परा-गत रूप से चली आती थीं। राजसूय में ऐतिहासिक गाथाओं तथा विवाहादि के समय देवता-विषयक प्रचलित गाथाओं के गाने का नियम था, यह बात ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होती है।

वैदिक गाथाओं के समान अवस्ता में उपलब्ध गाथाएँ अवस्ता के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक प्राचीन स्वीकृत की गई है। इन गाथाओं में पारसी धर्म के मूल सिद्धान्त बड़ी ही सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गए हैं। पाली जातकों के अनुशीलन से पाली भाषा में उपनिषद्ध गाथाओं का पता चलता है, जो प्राचीन काल से प्रचलित थीं और जिनमें उस काल की विख्यात लौकिक कहानियों का सारा अंश उपस्थित किया गया है। गौतम बुद्ध के प्राचीन जीवन से सम्बद्ध कथाएँ (जिन्हें 'जातक' के नाम से पुकारते हैं) इन्हीं गाथाओं के पल्लवीकरण से आविर्भूत हुई है। ये गाथाएँ बुद्धभगवान् की समसामयिक प्रतीत होती है। सुप्रसिद्ध सिंहचर्मजातक में (जिसमें व्याघ्रचर्म से आच्छादित गर्दभ की मनोरञ्जक कहानी है) ये दो गाथाएँ दी गई हैं जिनसे कथा की मूल घटना की पर्याप्त सूचना मिलती है—

नेतं सीहस्स नदितं न व्यग्धस्स न दीपिनो
पारुतो सीहचम्मेन जम्मो नदति गद्रभो।
चिरं पि खो तं खादेय्य गद्रभो हरितं यवं
पारुतो सीहचझेम्मेन रवमानो च दूसयी॥

विक्रम संवत् की तृतीय शताब्दी में, जब-प्राकृत भाषा का बोल-बाला था, लोकगीतों की उन्नति बड़े जोर-शोर से हुई। राजा 'हाल' या 'शालिवाहन' के द्वारा संगृहीत 'गाथा सप्तशती' से पता चलता है कि उस समय लोकगीतों के बनाने और गाने की धुन बहुत ही अधिक थी। करोड़ गाथाओं में से केवल सात सौ गाथाएँ चुनकर इस कोश में संगृहीत कर दी गई हैं और काल के गाल से बचा ली गई हैं। ये गाथाएँ सरस गीति-काव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। रस से सनी इन गथाओं को पढ़कर लोक-साहित्य की माधुरी का तनिक परिचय प्राप्त किया जा सकता है। रसोई बनाते समय सुन्दरी फूँक मारकर आग जलाना चाहती है, परन्तु आग जलती नहीं। इसका कितना रसमय हेतु इस गाथा में खोजा गया है—

रन्धणकम्मणिउणिए मा जुरसु रत्तपाडल सुअन्धम्
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही न पज्जलइ॥

विरहिणी की भावना का कितना सुन्दर चित्र अङ्कित किया है इस भावमयी गाथा ने—

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए
पढ़म व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिँ चित्तलिओ ॥ (३।८)

वह आज गया है, आज गया है, आज गया है, इस प्रकार पति के जाने के दिनों को गिनने वाली विरहिणी ने दिन के पहले अर्ध भाग में ही दीवाल (कुड्य) को रेखा खींच कर चित्रित बना डाला है।

ललित-कलेवरा ललना के सर्वाङ्गों की सुषमा आजतक किसी ने देखी ही नहीं। क्यों? आँखें जहाँ गिरती हैं, वहीं चिपककर रह जाती है, आगे बढ़ें, तब तो दूसरे भागों का सौन्दर्य देखें! इस भाव की अभिव्यञ्जिका गाथा कितनी साफ-सुथरी सीधी-सादी है—

जस्स जहं विअ पढ़मं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी
तस्स तहि चेअ ठिआ, सव्वंगं केण वि न दिट्ठम् ॥

—३ शतक, ३४ गाथा

अपभ्रंश काल में भी लोकगीतों का ह्रास नहीं हुआ। उस समय के अनेक कथा-ग्रन्थों में नाना प्रकार की गाथाओं का उद्धरण दिया गया है। इस प्रकार लोकगीतों की भारतीय परम्परा बड़ी प्रचीन है। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के आजकल उपलब्ध गीतों में पारस्परिक साम्य तो है ही, साथ ही साथ प्राचीन-काल की गाथाओं की भी छाया उनमें जानकारों को स्पष्ट दीख पड़ती है। इस आवश्यक विषय की छानबीन कभी फिर की जायगी।

(३) लोकगीतों की पाश्चात्य परम्परा

पाश्चात्य जगत् में भी लोकगीतों का व्यापक प्रभाव है। वहाँ विद्वानों ने बड़े अध्यवसाय के साथ लोकगीतों की गहरी खोज कर उनका सूक्ष्म अध्ययन किया है। लोकगीतों को अंग्रेजी में बैलेड और जर्मन भाषा में 'फोल्कसलीदर' कहते हैं। 'बैलेड' शब्द की व्युत्पत्ति नर्तनार्थक लैटिन 'बेलारे' धातु से मानी जाती है। अतः इनका मूल अभिप्राय उस गीत से है जिसे किसी नर्तक मण्डली के लोग नाच के साथ-साथ कोरस में गाते हों। जर्मन शब्द 'फोल्कसलीदर' का अक्षरशः अनुवाद है—लोकगीत जिसे किसी लोक-मण्डली ने लोगों के लिये तैयार किया हो, जो गतानुगतिक रूप से चला आता हो और जो रीति, वर्णन तथा घटनाओं के विन्यास में भी यूरोप की समग्र जातियों में एक समान पाया जाता हो। लोकगीतों के लक्षण विस्तार के साथ फ्रेञ्च विद्वान् मोशिए आँपेर ने १८५२-५३ में फ्रेंच लोकगीतों के संग्रह-कर्ताओं के सामने इस प्रकार किया था—(क) अन्त्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनिसाम्य का प्रयोग; (ख) व्यक्तियों के कथनोपकथन की अक्षरशः पुनरुक्ति; (ग) कतिपय संख्याओं, जैसे तीन और सात, का बारंबार उपयोग; (घ) रोजमर्रे की सर्वसाधारण चीजों को सोने चाँदी का बना हुआ बतलाना। इन लक्षणों की सत्ता भारतीय लोकगीतों में विलक्षण प्रकार से

उपलब्ध होती है। इन हमारे देशी गीतों में तुक भले न मिले, परन्तु अन्त में ध्वनियों की समता अवश्य ही रहती है। व्यक्तियों के कथन ठीक उन्हीं शब्दों में इतनी बार दोहराये गए हैं कि इसके साहित्यिक मूल्य से अपरिचित पाठकों के लिए यह वैरस्यका कारण बन सकता है। यह पुनरुक्ति श्रोताओं के हृदय पर उत्कृष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के अभिप्राय से जान-बूझकर की गई है। यह पुनरुक्ति यादृच्छिकी न होकर साभिप्रायिकी है, आकस्मिक न होकर मौलिक है। कतिपय संख्याओं का प्रयोग बारंबार पाया जाता है। कन्या को पतिगृह ले जाने की डोली सात काठ की बनी बताई जाती है और सात सहेलियों ने (सात सलेहरी) मिलकर नायिका के शरीर को सजाया है, ऐसा वर्णन गीतों में विशेषरूप से मिलता है, जिसमें घर की साधारण चीजें भी सोने-चाँदी की बनी बताई जाती है। भोजपुरी गीतों में जहाँ किसी पाहुने के लिये भोजन परोसने की बात है वहाँ वह सदा सोने की थाली में ही परोसा जाता है (सोने की थारी में जेवना परोसल)। कई विद्वानों की सम्मति में यह अन्तिम लक्षण पश्चिमी गीतों पर पूर्वी देशों के प्रभाव के कारण है, परन्तु जान पड़ता है कि लोकगीतों में ऐसा वर्णन बहुत कुछ स्वाभाविक है। ग्रीस देश के पुराने काव्यों तक में यह बात पाई जाती है। प्रसिद्ध प्रहसनों के रचयिता एरिस्टोफेनीज़ ने केवल राजाओं की धुरियों को ही सुनहली नहीं बल्कि घोड़ों के पैरों को भी चाँदी से मढ़ा बतलाया है। कतिपय विशेषण निश्चित कर दिये गए हैं जिनका बारबार प्रयोग आवश्यक होता है। भोजपुरी गीतों में सास सदा 'बढ़ैतिन' और ससुर हमेशा 'बढ़ैता' कहा गया है। यह बात होमर में भी उसी तरह पाई जाती है जैसे बाल्मीकि में। इस प्रकार भारतीय लोकगीतों तथा पाश्चात्य बैलेडों में विलक्षण साम्य है, परन्तु वैषम्य भी कम नहीं है। बैलेडों में किसी परम्परागत आख्यान का छन्दोबद्ध वर्णन प्रस्तुत मिलता है; ये भिन्न-भिन्न लय और तालों के साथ गाये जाते हैं। अतः वे संगीतमय भी हैं, परन्तु रसात्मक नहीं है ; घटना का वर्णन उनका लक्ष्य है, मानव हृदय को स्पर्श करनेवाले कोमल भावों का व्यक्तीकरण नहीं। परन्तु भारतीय गीतों का मुख्य उद्देश्य श्रोताओं के हृदय में रस संचार करना है, उन्हें अपने वर्णित भावों से भावित कर देना है। यही कारण है कि हमारी दृष्टि में भारतीय लोकगीतों का साहित्यिक मूल्य बैलेडों से कहीं अधिक है। छन्दोबद्ध लोक-कथा के रूप में बैलेड लोकगीत के अन्तर्गत हैं, परन्तु विषय तथा वर्णन दोनों दृष्टियों से हमारे लोकगीत कहीं अधिक व्यापक, सरस तथा मर्मस्पर्शी हैं।

परन्तु लोकगीतों का सत्कार करना हमें पाश्चात्यों से सीखना है। यूरोप के प्रत्येक देश के विद्वानों ने अपने लोकगीतों का संग्रह, समुचित संरक्षण तथा साहित्यिक समीक्षण कर उन्हें नष्ट हो जाने से ही नहीं बचाया है, बल्कि जातीय साहित्य की अभिवृद्धि पर उनका विशेष प्रभाव डाला है। जर्मन, अंग्रेज और अमेरिकन लोगों का प्रयत्न विशेष श्लाघनीय है। जर्मनी में १८ वीं शताब्दी

में गेटे और ग्रिम ने इस ओर खूब ध्यान दिया था। ग्रिम का कार्य तो समधिक में महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन जर्मन भाषा में उपलब्ध लोकगीतों और लोक-कथाओं का विशाल संग्रह कर उन्होंने इस विषय के अध्ययन की प्रतिष्ठा की। इङ्गलैण्ड में १७६५ ई० में विशप पर्सी ने प्राचीन बैलेडों का संग्रह प्रस्तुत किया। स्काटलैण्ड के लोकगीतों तथा आख्यानों को जनप्रिय बनाने का काम औपन्यासिक सर वाल्टर स्काट ने किया, परन्तु हारवर्ड के फ्रैन्सिस जेम्स चाइड (१८२५-१८९६) ने जिस अध्यवसाय के साथ इङ्गलैण्ड और स्काटलैण्ड के प्रचलित लोकगीतों का ५ भागों में संग्रह कर इस विषय को शास्त्रीय और वैज्ञानिक रूप दिया है वह प्रसिद्ध ही है। इस विषय के अध्ययन की शैली में भी अन्तर है। १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल तक लोकगीतों का अध्ययन केवल शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही किया जाता था और इसी कारण इनका प्रभाव हर्डर, गेटे और हाइने की जर्मन गीतिकाओं में और कोलरिज तथा वर्ड्सवर्थ की कविता में विशेषरूप से पड़ा। आजकल की विशेषता है लोकगीतों का बहुमुखी शास्त्रीय अध्ययन। यूरोप की भिन्न-भिन्न जातियों के लोकगीतों में अनेकांश में साम्य विद्यमान है। अतः लोककथा के समान, जिन्हें अंग्रेजी में—'फेयरी टेल्स' और जर्मन भाषा में 'मेरकेन' कहते हैं, ये समग्र गीत समग्र यूरोपी जातियों की पैतृक सम्पत्ति हैं जो अति प्राचीनकाल से उनके हिस्से में चली आती हैं। पाश्चात्य विद्वानों की शैली का अनुसरण कर अपने लोकगीतों का संरक्षण तथा अध्ययन करना भारतीय विद्वानों का भी परम कर्तव्य है। सिजविक का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि लिखित रूप में आते ही लोकगीतों की मोहकता नष्ट हो जाती है, परंतु संरक्षण के लिए वह जरूरी है ही। इसकी अवहेलना एक महान् जातीय अपराध है जिस भारत के विद्वान् मुक्त नहीं माने जा सकते। आशा है साहित्य की नवीन जागृति के इस युग में लोकगीतों का समुचित सत्कार होगा, साहित्यिक समीक्षा कर उनके गुण दोषों का पर्याप्त विवेचन सर्व-साधारण के सामने रखा जायगा।

(४) ग्रामगीतों का महत्त्व

ग्राम-गीतों का संग्रह तथा अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। रसमय होने के कारण से ये गीत केवल हमारे जीवन को ही सरस तथा मधुर नहीं बनाते; इन गीतों के अध्ययन से पाठक केवल अपने दुःखों को भूल कर आनन्द सरोवर में डुबकियाँ ही लगाने नहीं लगता, प्रत्युत इनके अध्ययन से वह अनेक ज्ञातव्य विषयों की जानकारी भी प्राप्त कर सकता है। इन गीतों का महत्त्व चार विभिन्न दृष्टियों से कूता जा सकता है।

(१) भाषा शास्त्र की दृष्टि से इन गीतों का महत्त्व बहुत अधिक है। भारत की बहुत सी ऐसी प्रान्तीय बोलियाँ हैं जिनका लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है।

उनके उदाहरण केवल इन गीतों में ही मिल सकते हैं। उदाहरण के लिये, भोजपुरी बोली को ही लीजिए। इसका लिखित साहित्य नहीं के बराबर है। अतः इस बोली का यदि कोई विशेष अध्ययन करना चाहे तो ये ही गीत उसके अध्ययन की आधार-शिलायें होंगे। इन बोलियों में अनेक कहावतें तथा मुहावरे मिलते हैं जो साहित्यिक भाषा में उपलब्ध नहीं हैं। ये मुहावरे इतने उचित और अनूठे हैं कि उनका प्रयोग साहित्यिक भाषा में न करना एक महान् अपराध है। उदाहरण के लिये, 'हाथ में दही जमना' तथा 'तलवा में आग लग जाना' को लीजिए, जिनका अर्थ पराक्रम न दिखलाना तथा क्रोध से अभिभूत हो जाना है। इन भावों को प्रकट करने के लिये इनके साहित्यिक भाषा में लिए जाने से हमारी भाषा की महती अभिवृद्धि होने की आशा है। कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी अनेक पदार्थों के वाचक शब्द इन भोजपुरी गीतों में मिलते हैं; जिनका ठेठ हिन्दी में अत्यन्त अभाव है। बाँझ गाय के लिये 'बहिला' शब्द तथा गर्भघातिनी गाय के लिये 'लड़ाइल' शब्द इसी कोटि के हैं। इनका हिन्दी में उपयुक्त पर्याय नहीं मिल सकता। व्यवसाय सम्बन्धी शब्दों की भी यही दशा है। इन शब्दों के ग्रहण करने से भाषा का भण्डार भरेगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

शब्दों की ऐतिहासिक परम्परा को जानने के लिए भी इन गीतों का अध्ययन उपादेय है। उदाहरण के लिए 'जुगवत' शब्द को लीजिए। इस शब्द का प्रयोग इन गीतों में खूब खबरदारी करने के अर्थ में हुआ है। इसका सम्बन्ध संस्कृत के 'गुपु रक्षणे' धातु से है। भोजपुरी में सौभाग्यवती स्त्री के लिये प्रयुक्त 'सुहवा' शब्द संस्कृत 'सुभगा' से ही निकला है, यह बात भाषा शास्त्रवेत्ताओं से छिपी नहीं है।

(२) भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से भी इन गीतों के पढ़ने से हमें यह ज्ञात होता है कि किस देश तथा शहर में कौन सी विशिष्ट वस्तु पैदा होती या बनती थी, किस स्थान की कौन सी वस्तु प्रसिद्ध थी। इन गीतों में मगहर का पान, मिर्जापुर का पत्थर, पटने की भूल तथा गोरखपुर के हाथी प्रसिद्ध बतलाये गए हैं। आज भी कौन नहीं जानता कि 'मगहिया पान' स्वाद में अपना सानी नहीं रखता तथा मिर्जापुर का पत्थर बड़ा ही मजबूत और टिकाऊ होता है। इस प्रकार इन गीतों से भारत के प्रादेशिक भूगोल का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

(३) ऐतिहासिक दृष्टि से भी ये ग्राम-गीत उपेक्षणीय नहीं है। इनमें बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री बिखरी पड़ी है जिनके संग्रह करने से भारत का सच्चा, जीता-जागता इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। इन गीतों में कई स्थानों में मुगलों के अत्याचार तथा उनकी परस्त्री-कामुकता का वर्णन है, जिससे पता चलता है कि उनके शासन काल में कितना अन्धेर था। किसी की बहू-बेटी का सतीत्व सुरक्षित नहीं था। इसी प्रकार से कुँवर सिंह के अँग्रेजों से लड़ने के वर्णन से बहुत सी सच्ची ऐतिहासिक घटनाओं का पता चलता है।

(४) सामाजिक दृष्टि से भी ये ग्राम-गीत बड़े उपयोगी हैं। चूँकि ये गीत विशेष कर सामाजिक उत्सवों—जनेऊ, विवाह, गौना और विदाई—पर ही गाये जाते हैं अतएव इन संस्कारों से संबंध रखनेवाली बहुत सी बातों का वर्णन इनमें पाया जाता है। जनेऊ के अवसर पर ब्रह्मचारी के भीख माँगने तथा काशी जाकर पढ़ने का बड़ा अच्छा वर्णन है। कन्या के विवाह के लिए जब पिता वर खोजने के लिए जाता है तब पुत्री कहती है— ऐ पिता जी मेरे लिए सयाना वर खोजना। इन गीतों में दहेज-प्रथा का भी बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। ननद तथा भौजाई का शाश्वत विरोध और झगड़ा, सास तथा बहू का दैनिक कलह, परदे की प्रथा का अभाव, विधवा स्त्री की दयनीय दशा, पुत्री के जन्म की निन्दा तथा उसके साथ अत्यन्त कटु-व्यवहार आदि विषयों की बाँकी झाँकी इन गीतों में उपलब्ध होती है। इस प्रकार हम देखते है कि इन ग्राम-गीतों में भोजपुरी समाज का बड़ा ही सजीव और जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया गया है।

(५) सांस्कृतिक दृष्टि से भी ये गीत बड़े काम की चीजें हैं। इन गीतों में भोजपुरी संस्कृति का जैसा सुन्दर चित्रण किया गया है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं। इन गीतों में स्त्रियों का चरित्र बड़ा ही उदात्त, शुद्ध तथा पवित्र दिखलाया गया है। स्त्री एक पतिव्रता, सती, साध्वी के रूप में चित्रित की गई है। एक स्त्री का देवर अपनी भावज से जब अनुचित प्रस्ताव करता है तब वह कहती है कि "मैं तुम्हारे इस कुत्सित आचरण के कारण तुम्हारी बाहों को कटा दूँगी।" स्त्रियों की तो बात ही क्या, एक हरिनी भी अपने पति की हड्डियों को लेकर सती होने को तैयार है। कितना उदात्त भाव है। एक मुगल आततायी के हाथों से कुसुमा देवी ने किस बहादुरी से अपने सतीत्व की रक्षा की, इसका पता इन गीतों से ही लगता है। इस प्रकार भोजपुरी संस्कृति का बड़ा सुन्दर चित्रण इन गीतों में उपलब्ध है।

(५) भारतीय भाषाओं में ग्राम-गीतों का संग्रह

भारत भूमि बड़ी विस्तृत है। इसमें भिन्न जातियाँ निवास करती हैं तथा भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। इन भाषाओं तथा बोलियों की संख्या बहुत अधिक है। प्रत्येक प्रान्त की एक अपनी भाषा है, धिसके भीतर अनेक बोलियाँ हैं। प्रत्येक प्रान्त में सामाजिक उत्सवों के अवसरों पर गाने योग्य अनेक गीत प्रचलित हैं। लोक-साहित्य की उपज के लिए भारतर्ष के समान उर्वर देश शायद ही दूसरा मिले। भिन्न-भिन्न जातियों तथा भाषाओं की क्रीड़ास्थली इस भारत-भूमि में ग्राम-साहित्य का विकास जितना समृद्ध हो सका उतना अन्यत्र मिलना नितान्त असंभव है। इस देश के हर एक प्रान्त में, प्रादेशिक बोलियों में, हजारों गीत आज भी प्रचलित मिलते हैं। परन्तु शिक्षित समाज का इनकी ओर इतनी उपेक्षा-

बुद्धि है कि यह हमारी सम्पत्ति दिनोंदिन क्षीण होती चली जा रही है, और यह असंभव नहीं दीखता जब वह एक दिन बिल्कुल ही लुप्त हो जावेगी। हमारी इस अमूल्य जातीय निधि का समुचित संरक्षण करना प्रत्येक शिक्षित भारतीय का कर्तव्य है।

हर्ष का विषय है कि इधर कुछ सालों से विद्वानों की दृष्टि इधर आकृष्ट हुई है। उन्होंने कठिन परिश्रम को स्वीकार कर मजदूरों से, स्त्रियों से तथा अनेक नीच जातियों के मुँह से सुन कर इन गीतों का संग्रह कर प्रकाशित किया है। इस दिशा में कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा बंगाली विद्वानों का प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है, क्योंकि इनके प्रयत्न से पूर्व बंगाल में प्रचलित गीतों का बहुत ही सुन्दर प्रामाणिक तथा सानुवाद संग्रह प्रकाशित हुआ है।

बँगला के विख्यात विद्वान् डाक्टर दिनेशचन्द्र सेन के सम्पादकत्व में केवल मैमनसिंह जिले से संग्रहीत लोक गीतों का संग्रह 'मैमनसिंह गीतिका' के नाम से एक भाग में प्रकाशित किया गया है, तथा पूर्व बंगाल के अन्य जिलों से संग्रहीत गीतों का संग्रह तीन भागों में 'पूर्व-वंग-गीतिका' के नाम से कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। मूल बंगला गीतों का अंग्रेजी में प्रामाणिक अनुवाद चार वृहत् भागों में भी प्रकाशित किया गया है।

गुजराती लोकगीतों के संग्रह, संरक्षण तथा प्रचारण में झवेरचन्द मेघाणी का नाम सर्वश्रेष्ठ है। इन्होंने गुजराती लोकगीतों का केवल संग्रह ही नहीं किया है, बल्कि लोक-साहित्य के महत्व की पर्याप्त समीक्षा भी प्रस्तुत की है। इनकी लिखी पुस्तकों में 'रड़ियाली रात', ३ भाग और 'लोक-साहित्य' प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त रणजीत राय मेहता का 'लोकगीत' और नर्वदाशंकर लालशंकर की 'नागर स्त्रियों माँ गवाता गीत' नामक पुस्तकें भी हैं।

मराठी लोकगीतों का विशाल संग्रह तथा समीक्षात्मक विवेचन श्रीमती अनसूया बाई भागवत ने किया है जो 'महाराष्ट्र-साहित्य-पत्रिका' में छप रहा है। इनमें से कई गीतों का अनुवाद जर्नल आफ़रा बाम्बे यूनिवर्सिटी में इधर प्रकाशित हुआ है। श्रीमति दुर्गाभागवत रचित 'लोक साहित्याची रूपरेखा' नामक मराठी ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक है।

राजस्थान में भी लोक-गीतों की प्रचुरता है। परन्तु जिस प्रकार प्राचीन गीत विशुद्ध और साहित्यिक है उसी प्रकार नवीन गीत प्रायः अश्लील तथा कुरुचिपूर्ण है। राजस्थानी गीतों के उद्धार का कार्य अनेक विद्वान् कर रहे हैं जिनमें सूर्यकरण पारिक, एम० ए० का नाम उल्लेख योग्य है। आपने हिन्दुस्तानी पत्रिका (भाग ७ अंक २, पृष्ठ १९६ से २१६) में राजस्थानी लोकगीतों का बड़ा ही विस्तृत विवरण दिया है। आपका संग्रहीत राजस्थानी लोकगीत सम्मेलन द्वारा पुस्तकरूप में प्रकाशीत हो चुका है।

हिन्दी भाषा भाषियों के ग्राम-गीतों का संग्रह कर पं० रामनरेश त्रिपाठी ने बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। आपने 'ग्राम-गीत' नाम से हिन्दी तथा हिन्दी से इतर भाषाओं के गीतों का संग्रह कविता-कौमुदी नामक ग्रन्थ में दो भागों (भाग ५,६) में किया है। हम लोग उनके इस कार्य के लिए चिर ऋणी रहेंगे। परन्तु त्रिपाठीजी के इन संग्रहों में 'मिशनरी स्पिरिट' अधिक हैं। वैज्ञानिक दृष्टि बहुत ही कम। इन गीतों में पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी के गीतों का ऐसा घपला किया गया है कि भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उसका महत्त्व विशेष नहीं है। अतएव ऐसे संग्रहों की बड़ी आवश्यकता थी जो वैज्ञानिक दृष्टि से संग्रहीत केवल एक ही बोली के हों। बड़े सौभाग्य की बात है कि पं० अमरनाथ झा के सभापतित्व में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इस कार्य को करने का बीड़ा उठाया। अभी हाल ही में 'मैथिल लोकगीतों' का एक प्रामाणिक बहुमूल्य संग्रह सम्मेलन से प्रकाशित हुआ है। 'भोजपुरी ग्राम-गीतों' का यह संग्रह भी अपने विषय का सर्वप्रथम प्रयत्न है। स्त्रियों के मुख से ये गाने जिस प्रकार से सुने गए हैं उसी प्रकार से लिपि-बद्ध किए गए हैं। संग्रहकर्ता ने इसे विशुद्ध तथा प्रामाणिक ढंग से संग्रहीत किया है जिससे भोजपुरी के भाषाशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों के लिए यह एक अनमोल सामग्री है।

अन्त में, इस प्रसंग में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम लिए बिना यह प्रकरण अधूरा ही रहेगा। इन्होंने भारत के विभिन्न प्रान्तों में घूक-घूमकर लोकगीतों का अमूल्य संग्रह किया है और 'माडर्न रिव्यू' में समय-समय पर आपने इन गीतों के अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशीत किए हैं। परन्तु इनके लोकगीत संबंधी लेखों की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उनमें मूल गीतों का अभाव है। अतः उन गीतों के अनुवाद में वह मजा नहीं आता जो मूल गीतों में मिलता।

(१) भोजपुरी-भाषा

इस पुस्तक में संग्रहीत गीत भोजपुरी भाषा के हैं। संग्रहकर्ता की बड़ी इच्छा थी कि गीतों के प्रधान-प्रधान शब्दों के ऊपर भाषाशास्त्र विषयक टिप्पणियाँ लिखी जायँ, परन्तु पुस्तक की कलेवर-वृद्धि होने के डर से वह इस इच्छा को पूर्ण नहीं कर सके। इन गीतों की सहायता से भोजपुरी के व्याकरण की छानबीन प्रामाणिक रूप से की जा सकती है। इस भाषा के विषय में छोटी-मोटी बातें संक्षेप में दी जा रही है. जिससे पाठकों को इन गीतों को भलीभाँति समझने में पूरी मदद मिलेगी।

भोजपुरीया का नामकरण बिहार में बक्सर के समीप डुमराँवराज की पुरानी राजधानी, 'भोजपुर' के कारण है। वर्तमान भोजपुर आजकल एक सामान्य गाँव होगे पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी भोजपुर भूमि को विख्यात वीर अल्हा तथा ऊदल की प्रसविनी भूमि होने

का श्रेय प्राप्त है। पिछले समय में राजपूताने से आकर 'उज्जैन' राजपूतों ने यहाँ अपना विस्तृत राज्य स्थापित किया और 'भोजपुर' को प्रधान नगर बनाया। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या अढ़ाई करोड़ के लगभग कूती गई है। यह बोली उन लोगों की मातृ बोली है, जिनकी नस-नस में वीर रस का संचार होता है, 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणः क्षारं जलं कापुरुषाः वदन्ति' के गर्हणीय सिद्धान्त का पूर्ण तिरस्कार कर जो अपने पराक्रमी भुजाओं का सहारा लेते हैं और सुदूर विदेशों में भी अपने प्रबल प्रताप की पताका फहराते हैं, जो कूपमंडूकत्व का बहिष्कार कर स्वतन्त्रता की पवित्र वायु के सेवन करने वाले हैं। भोजपुर मण्डल, शाहाबाद, बलिया और गाजीपुर जिलों की भूमि वीरता के लिए उसी प्रकार विख्यात है, स्वतन्त्रता के नाम पर मर मिटनेवाले अपने सपूतों की वीर गाथाओं से उसी प्रकार पवित्र है, जिस प्रकार भारत के भाल को ऊँचा करने वाला वीर पुरुषों का देश राजस्थान। भोजपुरियों के अक्खड़पन के विषय में यह कहावत समूचे बिहार में खूब मशहूर है—

भागलपुर का भगेलुआ भैया, कहल गाँव का ठग्ग।
जो पावै भोजपुरिया, तोड़ै दोनों का रग्ग॥

डाक्टर ग्रियर्सन का यह कहना बिल्कुल ठीक है—"भोजपुरी उस उत्साही जाति की व्यावहारिक भाषा है जो परिस्थिति के अनुरूप अपने को बदलने के लिए हमेशा तैयार रहती हैं और जिसका प्रभाव हिन्दुस्तान के हर एक भाग पर पड़ा है। हिन्दुस्तान में सभ्यता फैलाने का यश बंगालियों और भोजपुरियों को प्राप्त है। इस काम में बंगालियों ने अपने कलम से काम लिया है और वीर भोजपुरियों ने अपने डंडे से। भोजपुरियों की इस वीर प्रकृति में बिरहा, लोरकी आदि वीररस प्रधान लोकगीतों के उत्थान का रहस्य छिपा हुआ है। गिरिधर कविराय की निम्न कमनीय 'कुण्डलिया' को भोजपुर निवासियों का जातीय गान करार दिया जाय, तो अनुचित न होगा। अक्खड़पन को जतानेवाली 'लाठी' का यह वर्णन वास्तविक है—

लाठी में गुन बहुत है, सदा राखिए संग।
नद्दी नार अगाह जल, तहाँ बचावै अंग॥
तहाँ बचावै अंग, झपट कुत्तों को मारै।
दुश्मन दावागीर होइ, तिनहूँ कौ झारै॥
कह गिरिधर कविराय, बात बाँधा यह गाँठी।
सब हथियारन छाड़ि, हाथ में राखा लाठी॥

भोजपुरिया बिहार की सबसे पश्चिमी बोली है जिसका विस्तार बिहार, राँची पलामू, शाहाबाद, सारन और चम्पारन जिलों में, और संयुक्त प्रान्त के बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़, फैजाबाद, गाजीपुर और बलिया जिलों में सर्वत्र है।

आजकल हिन्दी के सामान्य नाम से जो भाषा अभिहित की जाती है उसको भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं ने तीन बड़े विभागों में बाँटा है—पश्चिमी हिन्दी (शौरसेन-अपभ्रंश से उत्पन्न), बिहारी (मागध अपभ्रंश से उत्पन्न) तथा पूर्वी हिन्दी (अर्ध मागधी प्राकृत से उत्पन्न)। मागधी से उत्पन्न होने के हेतु भोजपुरी का सम्बन्ध बंगला के साथ जितना घनिष्ट है, उतना पश्चिमी हिन्दी-ब्रजभाषा आदि से नहीं। ब्रजभाषा और बिहारी का भेद उनके क्रिया-पद पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत के क्त प्रत्ययान्त भूतकालिक क्रिया पद 'मारितः' का परिवर्तन दोनों भाषाओं में देखने से पारस्परिक पार्थक्य साफ दीखता है। शौरसेनी भाषा में 'मारितः' का अपभ्रंश हुआ 'मारिदो', जो प्राकृत के नियमानुसार दशर के लोप होने से 'मारिओ' बन गया। इससे ब्रजभाषा का भूतकालिक पद 'मारचो' तैयार होता है। यही कारण है कि शौरसेनी से उद्भूत समस्त भाषाओं तथा बोलियों में 'इओ' प्रत्यय भूतकाल की सूचना के लिये धातु के अन्त प्रयुक्त होता है। उधर मागधी में तकार के स्थान पर लकार होने से 'मारितः' 'मारितो' के रूप में परिवर्तित हो गया है। मागधी से सम्भूत भाषाओं का भूतकाल इसी प्रकार 'ल' प्रत्यय के योग से बनता है।

एक बात और। ब्रजभाषा के भूतकालिक रूपों में पुरुष का निर्देश कथमपि नहीं होता। 'मारचो' कहने से पता नहीं चलता कि किसने मारा? उसने, तूने या मैंने मारा? इस पुरुष-सम्बन्धि त्रुटि का मार्जन मागधी से उत्पन्न भाषाओं में स्पष्ट दीख पड़ता है। इनमें क्रिया के आगे पुरुष-वाचक सर्वनाम का संक्षिप्त रूप भी जुटा हुआ मिलता है। बँगला के 'मारिलाम' (मैंने मारा) पद के आगे 'आमि' (मैंने) देने की तनिक भी जरूरत नहीं है, क्योंकि उत्तम पुरुष का द्योतक सर्वनाम पद 'आम' के रूप में उसमें पहले से जोड़ा गया है। इसी प्रकार भोजपुरी के भूतकालिक रूप 'मारलो' में भूतकालिक 'ल' प्रत्यय के साथ उत्तम पुरुष का सूचक 'ओ' भी विद्यमान है। 'मारिलसि' और 'मारिलन' में प्रथम पुरुष के एक वचन और बहुबचन सूचक सर्वनाम पद क्रमशः रखे गए हैं।

भविष्यकाल में भी ठीक इसी प्रकार का विभेद है। ब्रजभाषा में जहाँ 'ह' प्रत्यय के योग से भविष्यकालिक रूप तैयार होता है, वहाँ बिहारी में 'ब' प्रत्यय ही उसका काम करता है। ब्रज का 'चलिहै' संस्कृत के 'चलिष्यति' से बना हुआ है और चलिस्सदि, चलिहइ के रूपान्तरों को पार कर वर्तमान रूप में आया है; किन्तु भोजपुरी का भविष्य कालिक रूप 'चलबि' चलिष्यति से न निकल कर कर्म-कर्तृक 'चलितव्यम्' से निकला है। चलितव्यं—चलितब्बं—चलिअब्बं—चलब्बं रूपों को तै कर यह शब्द 'चलब' के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है। परन्तु भोजपुरी में इस विषय में एक विचित्रता दीख पड़ती है। उत्तम और मध्यम पुरुष के रूपों में तो 'ब' ही लगता है, परन्तु प्रथम पुरुष में ब्रज तथा अवधी की तरह 'ह' प्रत्यय लगता है।

	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	देख + ब + ओं (देखबो)	देखबि
मध्यम ,,	देखबे	देखब
प्रथम ,,	देखिहे (देखी)	देखिहें या देखिहेन

इस प्रकार बिहारी का ब्रज से पार्थक्य निःसन्दिग्ध रूप से दृष्टिगोचर होता है।

बिहारी के अन्तर्गत तीन बोलियाँ मानी जाती हैं—मैथिली, मगही और भोजपुरी, परन्तु प्रथम दोनों बोलियों का आपस में इतना अधिक साम्य है और भोजपुरी से इतना अधिक वैषम्य है कि बिहारी को दो भागों में ही विभक्त करना अधिक उचित प्रतीत होता है—पूरबी बिहारी (जो मैथिली और मगही भेद से द्विविध मानी जायगी) और पश्चिमी बिहारी (भोजपुरिया)। इन दोनों में उच्चारण, तथा रूपगत अनेक भेद दीख पड़ते हैं। मैथिली में विशेषतः, और मगही में सामान्यतः, 'अकार' का उच्चारण बँगला के उच्चारण से मिलता जुलता है, क्योंकि 'अ' की ध्वनि ओकार के समान मुँह को गोलाकार बनाने से होती है, परन्तु भोजपुरिया में अकार का उच्चारण पश्चिमी हिन्दी के समान नितान्त सुस्पष्ट अकार ही होता है। भोजपुरी में अकार की एक विभिन्न ध्वनि है, जो 'हवे' (है) शब्द में वर्तमान है। यह कुछ विचित्र है और कुछ औकार के समान मुँह को अधिक गोल बनाने पर उच्चरित होती है। मध्यम पुरुष के लिए आदरार्थ मैथिली और मगही में बोलते हैं 'अपने'। परन्तु भोजपुरिया में रउरे[1]। यह 'रउरे' तथा 'राउर' (आपका) का प्रयोग भोजपुरिया का स्पष्ट संकेत है। तुलसीदास ने 'मोहि लगत दुःख रउरे लागा' और 'जो राउर अनुशासन पाऊँ', आदि चौपाइयों में इन्हीं भोजपुरिया शब्दों का प्रयोग किया है। सहायक क्रिया के रूप में या सत्तार्थक धातु के लिए मैथिली में प्रयोग करते हैं 'छइ' या 'अछि', मगहीं में 'हइ', परन्तु भोजपुरिया में 'बाटी', 'बाड़ी' या 'बानी'। इन पदों के अतिरिक्त भोजपुरिया का व्याकरण यहाँ के निवासियों के स्वभावानुसार व्यावहारिक तथा सीधा है; वह मैथिली व्याकरण के समान जटिल तथा विषम नहीं है।

इस भोजपुरिया के भी तीन प्रधान भेद माने गए हैं:—(१) आदर्श भोजपुरी, जो समग्र शाहाबाद, छपरा, बलिया और गाज़ीपुर के पूरबी भाग में बोली जाती है। भोजपुर के समीप होने से इन स्थानों की बोली आदर्श (स्टैन्डर्ड) मानी गई है।[1] (२) पश्चिमी भोजपुरी जो आज़मगढ़, जौनपुर, बनारस,

---

१. इस पुस्तक में संगृहीत अधिकांश गीत आदर्श भोजपुरी के हैं। इस बोली के व्याकरण के लिए देखिए पं० उदयनारायण तिवारी लिखित 'ए डायलेक्ट आफ भोजपुरी'।

फैजाबाद के पूर्वी भाग, मिर्ज़ापुर और गाजीपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। (३) नागपुरिया जो छोटा नागपुर में बोली जाती है और राँची तक फैली हुई है। नागपुरिया के ऊपर पूरबी हिन्दी की छत्तीसगढ़ी का प्रभाव अधिक पड़ा है। इन तीन बड़े-बड़े भेदों के अतिरिक्त दो छोटे-छोटे उपविभाग भी हैं- (१) मधेसी चम्पारन जिले में। यह तिरहुत की मैथिली और गोरखपुर की भोजपुरी के बीच वाले स्थानों में बोली जाती है। (३) थरुई भोजपुरी—जो नैपाल की तराई में रहने वाले 'थारू' लोगों की बोली है। इन सब बोलियों में आदर्श भोजपुरी से अधिक भेद नहीं है, परन्तु पश्चिमी भोजपुरी इस से कई बातों में भिन्न दीखती है।[1] पश्चिमी भोजपुरी में करण कारक के लिए क्रिया के आगे 'अन' प्रत्यय का प्रयोग दीख पड़ता है, जो आदर्श भोजपुरी में बिल्कुल ही नहीं है। पश्चिमी भोजपुरी में आदरसूचन के लिए 'रउरा' के स्थान पर 'तुँह' का प्रयोग दीख पड़ता है। दोनों बोलियों में सहायक क्रिया के दो रूप पाये जाते हैं - बानी और हवीं। परन्तु पश्चिमी में 'हवीं' का रूप 'होई' पाया जाता है। उच्चारण की विशेषता से भी अनेक प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं। बलिया की तरफ उत्तम पुरुष के रूपों के साथ कुछ अनुस्वार सा मिला रहता है, अतः उसके उच्चारण के लिए नाक की सहायता अवश्य ली जाती है, परन्तु पश्चिमी बोली में अनुनासिक का नाम तक नहीं है। मैंने काम किया'', इसके लिए हम लोग सानुनासिक बोलेंगे—''काम कइली'' परन्तु बनारस के लोग बोलेंगे—''काम कइली''। उच्चारण का यह स्पष्ट भेद प्रत्येक मनुष्य को मालूम हो सकता है। अन्यपुरुष के बहुवचन के रूप में भी अन्तर पड़ता है। संज्ञा के रूपों में भी एक प्रसिद्ध विशेषता है। जहाँ आदर्श भोजपुरी में सम्बन्ध के लिए 'के' का प्रयोग करते हैं वहाँ पश्चिमी भोजपुरी में 'का' या 'कई' प्रयुक्त होता है। 'के' का परिवर्तित रूप तो 'का' बन जाता है परन्तु 'क' का 'के' होता है। आदर्श भोजपुरी वाले ''ओह देश का एक सहर का रहवइया का पास'' बोलेंगे परन्तु पश्चिमी भोजपुरी में ''ओह देश के एक शहर के रहवैये के पास'' बोला जावेगा। सम्प्रदान कारक का 'परसर्ग' दोनों में भिन्न है—'लगि आदर्श भोजपुरी में, पर बनारसी में 'के बदे' या 'वास्ते' है। ''तोहरा लागि उड़बों अकाह'' और ''किनली है रजा लाल दुसाला तोरे बदे'' में दोनों का पार्थक्य बिल्कुल स्पष्ट है। इस प्रकार नागपुरिया, मधोसी, भोजपुरी, सरवरिया (गोरखपूर तथा बस्ती के असपास), थरुई आदि के परस्पर भेद उतने महत्त्व के नहीं है जितने आदर्श भोजपुरी और पश्चिमी भोजपुरी के हैं। बलिया की बोली तथा बनारस की बोली[2] में उच्चारण तथा रूपगत इतनी विभिन्नता है कि एक बार सुनने पर भी विभेद स्पष्ट रूप से मालूम पड़ सकता है। एक उदाहरण से यह भेद स्पष्ट हो जावेगा—

---

१. देखिए लिंग्विस्टिक सर्वे, जि० ५, भा० २ पृष्ठ ४२ पृष्ठ ४२-४४।

२. द्रष्टव्य—वाचस्पति उपाध्याय, एम० ए० कृत 'बनारसी बोली'।

(१) आदर्श भोजपुरी—

तलवा झुरइले कँवल कुम्हलइले
हँस रोये विरह वियोग।
रोवत बाड़ी सरवन के माता,
के कावर ढोइहें मोर।

(२) बनारसी—

भौंचूमि लेइला केहु सुन्नर जे पाइला।
हम उ हई जे ओठे पै तलवार उठाइला।।

× × ×

हम उनसे पूछलि, आँखी में सुरमा काहे बदे लगाइला।
ऊ हँस के कहलन, छूरि पत्थर से चटाइला।

× × ×

हम खर-मिटाव कैली हा रहिला चबाय के।
भेंवल धरल बा दूध में खाजा तोरे बदे।। १।।
अपने के लोई लेहली है कमरी भी बा धइल।
किनली है रजा, लाल दुसाला तोरे बदे।। २।।
पारस मिलल बा, बीच में गंगा केरा मधै।
सजवा देइला सोने कैं बँगला तोरे बदे।। ३।।
अत्तर तू मल के रोज नहायल कर, रजा।
बीसन भरल धयल बा कराबा तोरे बदे।। ४।।
जानीला आजकल में झनाझन चली रजा।
लाठी, लोहाँगी, खंजर औ बिछुआ तोरे बदे।। ५।।
बुलबुल, बटेर, लाल लड़ावैलँ दुकड़हा।
हम काबुली मँगौली है मेढ़ा तोरे बदे।। ६।।
कासी पराग द्वारिका, मथुरा औ बृन्दावन।
धावल करैलँ 'तेग', कन्हैया, तोरे बदे।। ७।।

—तेग़ अली

भोजपुरी व्याकरण की बातें—भोजपुरी का व्याकरण जटिल नहीं है। शब्दरूपों के बनाने के नियम सीधे-सादे हैं।

संज्ञा—प्रत्येक संज्ञा-पद के तीन रूप होते हैं, लघु, दीर्घ और दीर्घतम; जैसे घोड़ा, घोड़वा और घोड़उअवा; बेटा, बेटवा, बेटउअवा; नाऊ, नउआ, नउअवा। इनमें मूल या लघु रूप शब्द-कोश में स्थान पाता है, परन्तु दीर्घ और दीर्घतम रूप लोगों के मुख में। 'वा' स्वार्थिक प्रत्यय है, परन्तु कभी-कभी दूसरे योग से बने रूपों में अर्थ-भेद भी पाया जाता है। 'घोड़वा ले आव' में हमारा अभिप्राय

किसी खास घोड़े से है। बहुवचन के लिए एकवचनान्त पद में नि, न्ह, या न जोड़ते हैं। कभी-कभी समूह-सूचक 'लोग' और 'सभ' शब्दों के योग से भी बहुवचन बनाया जाता है जैसे 'राजा लोग' और 'आदमी-सभ'। कारक बनाने के लिए अनेक प्रत्यय जोड़ने की व्यवस्था है, जैसे 'के' (कर्मकारक), से, ते, सन्ते या कर्ते (करण कारक), 'खातिर', लाग या ला (सम्प्रदान), से, ले (अपादान), क, के, कई (सम्बन्ध), में, मो (अधिकरण)। इनके अतिरिक्त करम और अधिकरण के लिए 'एँ', 'ए', प्रत्यय शुद्ध कारक प्रत्यय हैं, जिसके पहले 'आ' का लोप हो जाता है, परन्तु अन्तिम 'ई' या 'ऊ' को ह्रस्व बना दिया जाता है। जैसे घोड़ें, घोड़े, माली से मलिएँ, मलिए।

क्रिया—उत्तम पुरुष का एक वचन का प्रयोग कविता को छोड़कर बोलचाल में बहुत कम होता है। उसकी जगह पर सदा बहुवचन का ही प्रयोग होता है। उसी प्रकार मध्यम पुरुष के एकवचन का प्रयोग तिरस्कार सूचित करता है (तू बाड़)। इसलिये इसके लिए बहुवचन का प्रयोग होता है। आदर-सूचक के लिए (रौरा शब्द के साथ) मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तम के बहुवचन का प्रयोग किया जाता है ('रउरा आई', परन्तु साधारण मध्यम पुरुष के लिए 'तूँ लोग आव')।

सहायक क्रिया के लिये और सत्ता दिखलाने वास्ते दो धातु हैं—बाड़, बाड़ी या बानी और हवीं। वर्तमान काल में :—

उत्तम	(बाड़ों)	बाड़ी, बानी	(हवों)	हवीं
म०	बाड, बाड़े	बाड़	हवे	हव
प्र०	बा, बाड़े	बाड़न	हा, हवे	हवन

भूतकाल में—

	पुल्लिग		स्त्रीलिंग	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उत्तम	रहलों	रहलीं	×	रहल्यूँ
मध्यम	रहले, रहलस	रहल	रहली, रहलिस	रहलूँ
अन्य	रहल, रहले	रहलन	रहली	रहलिन

मुख्य क्रियाओं के रूप भी सीधे ढंग पर तैयार होते हैं। वर्तमान दो प्रकार का होता है। एक तो साधारण धातु से बनता है, परन्तु दूसरे प्रकार के लिए 'ल' प्रत्यय का योग आवश्यक है। यदि अन्य पुरुष का साधारण रूप देखे, देखसि, देखसु या देखस (ए० व०)—देखन या देखनि (ब० व०) है, तो दूसरा रूप

है देखला, देखेला (ए० व०)—देखले, देखलन; देखलनि या देखेले, देखेलन, देखलनि (ब० व०)। भूतकाल के लिए 'ल' प्रत्यय जोड़ा जाता है (जैसे देखले, देखलस या देखलसि=उसने देखा; देखलन या देखलनि=उन्होंने देखा)। भविष्य-काल का सूचक 'ब' प्रत्यय है उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष के लिए, परन्तु 'ह' अन्य पुरुष के लिए। रूप पहले ही दिया गया है।

क्रियाओं के परिवर्तन में कभी-कभी विषमता दीख पड़ती है—जैसे

करल (करना), भू० का० करल या कइल;
मर (मरना) ,, ,, मरल या मूअल;
जाइल (जाना) ,, ,, गइल;
देल (देना) ,, ,, दिहल, देल;
होऊल (होना) ,, ,, भइल;

(२) भोजपुरी साहित्य

भोजपुरी का विस्तार बहुत अधिक है। इसके बोलनेवालों की संख्या मराठी बोलनेवालों से भी अधिक है। मराठी बोलनेवालों की संख्या दो करोड़ से भी कम है (१,८७,९७,८३१—१९२१ ई० की गणना), परन्तु भोजपुरी वालों की संख्या दो करोड़ से कहीं ऊपर है (२,०४,१२,९०८—१९२१ की गणना; ब्रज के बोलनेवाले केवल ८० लाख के करीब हैं (७८,३४,२७४) बिहारी की तीनों बोलियों में भी भोजपुरीवालों का नम्बर पहला है। मैथिली बोलनेवालों की संख्या एक करोड़ से कुछ ऊपर है, मगही की लगभग ७० लाख के। इस तरह भोजपुरी अपनी हमजोलियों से ही संख्या तथा विस्तार में बढ़कर नहीं है, प्रत्युत दूरस्थित अपनी बहनों (ब्रज और मराठी) से भी कहीं बढ़-चढ़कर है। इतना होने पर भी यह कम दुःख की बात नहीं है कि इसका साहित्य अभी तक समृद्ध रूप में नहीं दीख पड़ता। वह अभी तक लिखित अवस्था में भी नहीं हैं, बल्कि जीविका के लिए इधर-उधर भ्रमण करनेवाले गायकों और अनपढ़ देहातियों की जिह्वा पर निवास कर रहा है। भोजपुरी साहित्य की अभिवृद्धि न होने का प्रधान कारण है राजाश्रय का अभाव। भोजपुर मण्डल में किसी प्रभावशाली, व्यापक प्रतापी नरेश का पता नहीं चलता। अधिकतर इसमें किसानों की बस्तियाँ हैं। किसी गुणग्राही नरपति के आश्रय न मिलने से साहित्य सम्पन्न न हो सका। भोजपुरी को तो न विद्यापति ही मिले, न सूर ही। मैथिली और ब्रज के समान इसकी वृद्धि हो तो कैसे हो ! विद्यापति के कारण मैथिली साहित्य का उदय हुआ और सूरदास के कारण ब्रजभारती चमक पड़ी और ये दोनों रसिक काव्य की भाषा समझी जाने लगीं, किन्तु उत्साह तथा प्रतिभा के अभाव में भोजपुरी साहित्य पनप न सका। यदि प्रतिभासम्पन्न कवि इसे मिल गया होता, तो स्वभावतः सरस तथा मधुर होने के हेतु इसका भी साहित्य, रसिकों के गले का हार बन गया होता। परन्तु

इस संग्रह के गायनों को पढ़कर किसी सहृदय को सन्देह नहीं हो सकता कि भोजपुरी में भी माधुर्य है, हृदय को बरबस अपनी ओर खींचनेवाले शब्दों और भावों का मधुमय सम्मिलन है; चित्त को आनन्द सागर में विभोर बना देनेवाले रसों का शोभन परिपाक है।

भोजपुरी भाषा का प्रयोग काव्य-ग्रन्थों में कुछ कम प्राचीन नहीं है। हिन्दी के अनेक महाकवियों ने इस भाषा के शब्दों को अपनी कविता में स्थान दिया है। कबीरदास, जायसी तथा तुलसीदास की कविताओं में इस भाषा के शब्द अनेक स्थानों पर बिखरे पड़े हैं। कबीरदासजी भोजपुर प्रान्त के हो रहनेवाले थे। यद्यपि इनकी भाषा में अनेक भाषाओं के शब्द पाये जाते हैं तो भी भोजपुरी का कुछ कम प्रयोग इन्होंने नहीं किया है। इनकी भोजपुरी कविता के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) कनवा फराय जोगी जटवा बढ़वलें,
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गइलें बकरा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो,
जम दरवजवा बान्हल जैबे पकरा॥

(२) बाबा घर रहलौं बबुई कहवलौं।
सइयाँ घर चतुर सयान।
चेतब घरबा आपन रे॥

(३) का लेइ जैबों पितम घर अइबा,
गाँव के लोग जब पूछन लगिहे।
तब हम का रे बतइबों॥

(४) सुतल रहलौं माइ नींद भरिहो, पिया दिहलें जगाय।
चरन कवल के अञ्जन हो, नैना लेलू लगाय॥

कबीर के अतिरिक्त हिन्दी के जायसी तथा तुलसीदास आदि महाकवियों ने भी भोजपुरी शब्दों का अपने काव्यों में प्रचुर प्रयोग किया है। तुलसीदास की अपेक्षा जायसी ने भोजपुरी शब्दों का प्रयोग कम किया है परन्तु जिन शब्दों का उन्होंने व्यवहार किया है वे ठेठ भोजपुरी के हैं। जायसी का कार्यक्षेत्र अवध में ही सीमित रहा, अतः उनके काव्य में भोजपुरी शब्दों की कमी स्वाभाविक है। परन्तु तुलसीदास का क्षेत्र जायसी की अपेक्षा अधिक व्यापक था, वे काशी में अनेक वर्षों तक रह चुके थे, अतएव उनकी रचनाओं में भोजपुरी के शब्दों की प्रचुरता प्राकृतिक है। रामचरितमानस में तो भोजपुरी के शब्दों की इतनी अधिकता है कि यदि उनका संग्रह किया जाय तो एक लम्बी लिस्ट तैयार हो सकती है। हम अब जायसी तथा तुलसी के ग्रन्थों में आये हुए कुछ भोजपुरी शब्दों को नमूने के तौर पर देते हैं।

जायसी (पद्मावत से)

साजि सबै चंडोल चलाये, सुरंग ओहार मोति बहु लाये।
छूँछि जौ घरी, फेरि विधि भरी।
का पछिताव आउ जौ पूजी।
सबै कटक मिलि गोरेहिं छेंका, गूँजत सिंह जाइ नहिं टेका।
सिंघ जियत नहिं आप धरावा; मुये पाछ कोई घिसियावा।
पहुँचा आइ सिंह असवारू; जहाँ सिंह गोरा बरयारू।
कोई नियरै नहिं आवै, सिंघ सदूरहि लागि।
भइ परलय अस सबही जाना; काढ़ा खड़ग सरग नियराना।

तुलसीदास (रामायण से)

जो राउर अनुशासन पाऊँ। कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ॥
रामु रामु रटि भोरु किय। कहेउ न मरमु महीसु॥
तदपि धीर धरि समय बिचारी। पूछी मधुर बचन महतारी॥
सुमिरि महेसहिं कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥
छुवत चढ़ी जनु सब तन बीछी।
जिवन मूरि जिमि जुगवत रहेऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहेऊँ॥
आपन मोर नीक जो चहहू। वचन हमार मानि गृह रहहू।
जिमि गँव तिकइ किरात किशोरी।
बार बार मृदु मूरति जोही। लागहि ताति बयारि न मोही॥
अचल होइ अहिवात तुम्हारा। जब लग गंग जमुन की धारा॥
गुरु, पितु, मातु न जानौ काहू। कहौ सुभाउ नाथ पतिआहू॥

(कवितावली से)

राजिव लोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।
पोंछि पसेउ बयारि करूँ, अरु पाँय पखारिहौं भूभूरि डाढ़े।

तुलसीदासजी के अन्य ग्रन्थों से भोजपुरी शब्दों के प्रयोग के उदाहरण देकर इस भूमिका को मैं बढ़ाना नहीं चाहता। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि तुलसीदास ने कुछ ऐसे भोजपुरी शब्दों का प्रयोग किया है जो ठेठ भोजपुरी भाषा के शब्द हैं। उदाहरण के लिये 'जुगवत' शब्द को लीजिए, जिसका अर्थ भोजपुरी में किसी वस्तु की बड़ी सावधानी से रक्षा करना है। यह शब्द भोजपुर प्रान्त में ही बोला जाता है, अन्यत्र नहीं। दूसरा शब्द 'अहिवात' है, जिसका अर्थ सौभाग्य है। यह भी ठेठ भोजपुरी है, इसका प्रचलन अन्यत्र नहीं। तीसरा शब्द 'लूगा' है जिसका प्रयोग तुलसीदास ने 'विनय-पत्रिका में' अनेक स्थानों पर किया है। भोजपुरी में 'लूगा' का अर्थ स्त्रियों के पहिनने का कपड़ा है।

परन्तु भोजपुरी का ठेठ शब्द होने के कारण विनयपत्रिका के प्रसिद्ध टीकाकार पं० रामेश्वर भट्ट ने भ्रमवश इसका अर्थ क्रियापद 'लूंगा' किया है, जो नितान्त अशुद्ध है। कहने का तात्पर्य केवल यही है कि तुलसीदास ने भोजपुरी के ठेठ शब्दों का प्रयोग किया है।

यद्यपि जायसी की भाषा अवधी है, परन्तु ऊपर के उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि उनकी भाषा पर भी भोजपुरी की छाप अवश्य है।

अंग्रेजी अफसरों का ध्यान भोजपुरी के गीतों के संग्रह की ओर बहुत दिनों से है। आज से पचास-साठ साल पहले डाक्टर ग्रियर्सन का ध्यान मैथिली तथा भोजपुरी कविताओं को एकत्र करने की ओर आकृष्ट हुआ। विद्यापति की कविता का अंग्रेजी में अनुवाद कर उन्होंने मैथिली के छिपे जौहर को विज्ञों की मण्डली में लाकर उपस्थित किया। भोजपुरी के भी अनेक गीतों का संग्रह अंग्रेजी अनुवाद के साथ लंडन की रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका (१६ वीं तथा १८ वीं जिल्द) तथा इन्डियन एन्टिक्वेरी (१८८५ ई०) में प्रकाशित किया। भोजपुरी का व्याकरण भी उन्होंने 'सेविन ग्रामर्स आफ दि डाइलेक्ट्स एण्ड सब-डाइलेक्ट्स आफ दि बिहारी लैंग्वेज' (कलकत्ता, १८८४) नामक पुस्तक के द्वितीय भाग नें विस्तार के साथ लिखा। इनके पहले भी डा० बीम्स, डा० हार्नली तथा सर कम्पबेल ने इस बोली की विशेषताओं तथा शब्दों के विषय में बहुत कुछ लिखा था, परन्तु ग्रियर्सन का प्रयत्न नितान्त श्लाघनीय था। उसी समय एतद्देशीय विद्वानों की भी दृष्टि भोजपुरी पर पड़ी और उन लोगों ने इसके उदाहरण अपने ग्रन्थों में दिए। साहित्यप्रेमी लाला खड्ग बहादुर मानन ने 'सुधा बूंद' में ६३ कजरियों का संग्रह किया (बाँकीपुर, १८८४)। पण्डित रविदत्त शुक्ल ने 'देवाक्षर चरित' नामक नाटक के अनेक दृष्य भोजपुरी बोली में लिखे हैं (बनारस १८८४), तथा 'जंगल में मंगल' नामक पुस्तक में उस समय बलिया में घटित होने वाली घटनाओं का वर्णन भोजपुरी में किया है (बनारस, १८८६)। पण्डित रामगरीब चौबे ने 'नागरी विलाप' में भोजपुरी का प्रयोग किया है (काशी, १८८६), परन्तु इन ग्रन्थों की रचना १८८६ ई० के आसपास की गई है। उसके अनन्तर भारत जीवन प्रेस के स्वामी स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'बिरहा नायिका भेद, लिखकर साहित्यिकों का विशेष मनोरञ्जन किया है। बलिया जिले के स्वर्गीय पं० दूधनाथ उपाध्याय द्वारा रचित भोजपुरी कविताओं का स्वाद उन लोगों को अवश्य ही मिला होगा, जिन्होंने इनकी 'गोविलाप छन्दावली' और 'भर्ती के गीत' पढ़ने का प्रयास किया होगा। सन् १८८८ ई० में तेग़अली का 'बदमाश दर्पण' बनारसी गुण्डों के विचित्र चरित्र का ही दर्पण नहीं है, प्रत्युत बनारसी में विरचित मनोहर कविताओं का कमनीय संग्रह है। पश्चिमी भोजपुरी की विशेषताओं के अध्ययन करने का इसमें महान् साधन उपलब्ध है। परन्तु

विशुद्ध भोजपुरी के गीतों का इतना बड़ा संग्रह प्रस्तुत पुस्तक के पहले कहीं भी प्रकाशित नहीं था। यह पहला ही अवसर है कि परिश्रमी तथा विद्वान् सम्पादक ने साहित्य प्रेमियों तथा भाषाविदों के काम की एक अपूर्व चीज तैयार की है। इस संग्रह के द्वारा भोजपुरी की कमनीयता का ही पता नहीं चलता, प्रत्युत उसे भाषा-शास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करने के लिए भी अनुपम सामग्री का यह अपूर्व भण्डार है।

इन गीतों के अध्ययन का यह सुचारु परिणाम होगा कि हिन्दी भाषा की शब्द-सम्पत्ति नितान्त समृद्ध होगी। हिन्दी की इतनी उन्नति होने पर भी जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि देहाती ग्रामीण विषयों पर भी लिखने के समय लेखक को शब्दों का टोटा होने लगता है। यह बात बेतरह सी दीखती है, परन्तु है सोलहों आने सच्ची कि अपने रोजमर्रे के परिचित विषयों के नाम से भी हम अनभिज्ञ ही हैं। विशेषकर खेती बारी के सम्बन्ध की चीजों से। उदाहरण के लिए कई जरूरी शब्दों को परखिए। जवान, बियाने लायक होने पर अनबियाई गाय को कहते हैं—'कलोर'; गाय के सद्योजात शिशु (वैदिक नाम—धरुण) को कहते हैं —लेरुआ। गर्भघातिनी गाय ('वेहद्') का नाम है 'लड़ायल गाय' तथा बाँझ गाय (वशा) को कहते हैं 'बहिला', जो भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी 'वशा' के अनुरूप ही है। इन पदार्थों के यथार्थतः सूचक शब्दों का हिन्दी में सर्वथा अभाव ही है। इसी प्रकार हिन्दी में प्रयोग योग्य अन्य शब्द हैं— आसावती=गर्भिणी; उरेहना=चित्र खींचना; हँकार=बुलावा; चेलिक=छैला, युवक; मनुहारी=प्रार्थना, मनावा; सुहवा=सुभगा, दुलहिन; फोकट=मुफ्त; बोहनी-बंटा=प्रातःकाल की पहली बिक्री; रमझल्ला=हल्ला-गुल्ला। ये शब्द इतने सार्थक तथा अर्थाभिव्यञ्जक हैं कि इनके अपनाने से हिन्दी में व्यापकता के साथ-साथ जीवट भी आवेगा। परन्तु आजकल तो हिन्दी-लेखकों का ढर्रा ही नया है। वे या तो अरबी-फारसी लफ्जों की भरमार कर मजमून को दुर्बोध बनाने के आदी हैं अथवा संस्कृत के अप्रचलित कठिन शब्दों को ठूसठास कर अपनी विद्वता दिखाने के लिये उद्यत रहते हैं। ये दोनों बातें 'अति' होने के कारण वर्जनीय हैं। तद्भव शब्दों का तिरस्कार कथमपि श्लाघनीय नहीं हैं।

ये गीत नये-नये मुहावरों की खान हैं। इनमे से कुछ तो इतने अनूठे तथा भावपूर्ण हैं कि उनको व्यापक रूप देकर प्रयोग करने से हिन्दी का महान् कल्याण होने की सम्भावना है। उन्हें प्रान्तीय और ग्रामीण कहकर हिकारत की नजर से देखना किसी तरह भला नहीं जँचता। ये ग्राह्य हैं, उपेक्ष्य नहीं। कुछ उदाहरण लीजिए—

पाताल खिलना = बहुत दूर चला जाना।

फिरहिरि होना = कार्य में नितान्त व्यग्र होना।

लग्गा लगाना = किसी काम को आरम्भ करना।
हेठी दिखलाना = अपमान सूचित करना।
तरवा में आग लगना = क्रोध में आग बबूला होना।
हाथे दही जामना = मारने पर क्रुद्ध न होकर चुप रहना।
हाँकी हाँकी बदना = स्पर्धा करना।
हाथ झुलावत आना = असफल होकर लौटना।

इन मुहावरों में इतना अधिक औचित्य तथा भावव्यञ्जकता विद्यमान है कि इनकी उपेक्षा सर्वथा गर्हणीय है। हिन्दी-लेखकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। हर्ष का विषय है कि पण्डित उदयनारायण तिवारी ने लगातार कई सालों के परिश्रम से भोजपुरी बोली की कहावतें और मुहावरों का एक बड़ा संग्रह 'हिन्दुस्तानी' के कई अंकों में प्रकाशित किया है (हिन्दुस्तानी सन् १९३९ तथा ४० की)। इसके लिए वे हमारे धन्यवाद के भाजन हैं।

(३) भोजपुरी गीतों के गाने के ढंग

भोजपुरी गीतों के गाने के ढंग निराले हैं। इनमें अधिक गीत कामिनियों के कोमल कण्ठ के लिए उपयुक्त हैं, परन्तु कुछ गीत (जैसे चैता और बिरहा) पुरुषों के ही लिए हैं। इन गीतों को पढ़ने के समय याद रखना चाहिए कि ये गाने हैं, इनका आनन्द गाकर ही उठाया जा सकता है। ये काव्य नहीं हैं जिनका आनन्द पाठमात्र से मिल सकता है। पिंगल के नियम का ये अक्षरशः पालन नहीं करते, परन्तु फिर भी इनमें छन्दोबद्धता है—लघुगुरु के नियम की पूरी पाबन्दी है। गान के सौन्दर्य के लिए कभी-कभी शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की भी जरूरत आ पड़ती है। यही कारण है कि 'निरमोहिया' 'निरवामोहिया' के रूप में, और 'निरदरदी' 'निरवा दरदी' के रूप में परिणत पाये जाते हैं। कहीं-कहीं 'रे' 'हो' तथा 'ये' आदि सहायक अव्ययों की भी सहायता उपेक्षणीय नहीं होती और कहीं कहीं दीर्घ स्वर को ह्रस्व रूप से ही पढ़ना पड़ता है। भोजपुरी गीतों में अनेक स्थलों पर दीर्घ स्वर को बिना ह्रस्व पढ़े छन्दोभंग की भूयसी आशंका बनी रहती है। यह दशा आ, ई तथा ऊ के ही विषय में लागू नहीं है, बल्कि एकार तथा ओकार के विषय में भी (जिनके ह्रस्व की कल्पना संस्कृत व्याकरण के स्वप्न का भी विषय नहीं है)। इन गीतों के प्रत्येक पद्य के अन्तिम शब्द का उपान्त्य स्वर दीर्घकाल तक उच्चारित किया जाता है और अन्तिम स्वर बहुत ही हलका। कुछ उदाहरण लीजिए—

गोरि के छतिया पर उठेला जोबनवा
हँसेला सहरिया के लोग।
लेबू गोरि दमवा, देबू हो जोबनवा
तोरा से जतनवा ना होई॥

इस बिरहा में के, उठेला में 'ठे', 'जोबनवा' में 'जो'; 'हँसेला' में 'से' और 'के', ये समग्र स्वर ह्रस्वरूप हैं तथा 'लोग' और 'होई' शब्दों का उपान्त्य स्वर—लो और हो—देर तक उच्चारण चाहता है। इसके अभाव में बिरहा का सारा मजा किरकिरा हो जायगा। सोहर, जँतसारि आदि अन्य गीतों में भी इस बात का खयाल रखा जाता है। "नाहीं कोठी लवलू पेहान", "भउजी नयनवों न लोर" "चनन अस गमकीले"—इन पदों में उपान्त्य स्वर 'हा', 'लोर', 'की' को देर तक पढ़ने से ही छन्द की यथाविधि पूर्ति होती है।

३

(१) भोजपुरी गीतों के प्रकार

भोजपुरी गीतों में अनेक प्रभेद हैं। हमारा जीवन नाना प्रकार के संस्कारों के द्वारा संस्कृत बनाया जाता है। हिन्दुओं के प्रधान १६ संस्कार हैं, परन्तु इनमें यज्ञोपवीत (जनेऊ) और विवाह की मुख्यता है। इन अवसरों पर ब्राह्मण पुरोहित वैदिक मन्त्रों का उच्चारण कर विधि-व्यवहार को सुसम्पन्न बनाता है, परन्तु स्त्रियाँ अवसर के अनुरूप नाना प्रकार की भावभंगियों से संवलित मनोहर गीत गाकर उसे मधुर तथा संगीतमय बनाती हैं। ऋतु-परिवर्तन के कारण भी गीतों में अनेक भेद दीख पड़ते हैं। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर इस संग्रह में संगृहीत गीतों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(१) **सोहर**—पुत्र-जन्म के अवसर पर गाये जाने वाले गीत 'सोहर' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'सोहिलो' तथा 'मंगल' के अभिधान से इन्हीं का संकेत किया जाता है। पुत्र-जन्म का अवसर सौभाग्यशाली पुरुष के ही जीवन में कभी-कभी आया करता है। स्त्रियाँ पुत्र होने के लिए लाख मनौती मानती रहती हैं। अतः पुत्रजन्म भारतीय ललनाओं की ललित कामनाओं की चरम परिणति है, मानी गई मनौतियों का मनोरम परिणाम है। इस शुभ अवसर पर पास-पड़ोस की स्त्रियाँ, विशेषतः ग्रामगीतों की पण्डिता वृद्धाएँ, एकत्र होकर जच्चा के सूतिकागृह के दरवाजे पर बैठ जाती हैं और रमणीय गीतों को सुनाकर घर भर की स्त्रियों का, विशेषतः जच्चा का मनोरञ्जन किया करती है। 'सोहर' वस्तुतः हिन्दी कविता में गृहीत एक छन्द विशेष है, जिसे तुलसीदास ने अपने 'रामलला-नहछू' में व्यवहृत किया है; परन्तु भोजपुरी सोहर किसी पिंगल के नियम से विरचित नहीं है, तथापि इनमें एक विचित्र प्रकार की लय रहती है जो सुनने वालों के हृदयों को बरबस खींच लेती है।

इन गीतों में आनन्द के उल्लास का विशद वर्णन होना स्वाभाविक है, परन्तु जच्चा के हृदय में गुदगुदी पैदा करने वाली मीठी हँसी की बाँकी झाँकी भी विद्यमान है। कहीं-कहीं सन्तानहीन बाँझ नारियों की करुण दशा का चित्र

सहृदयों के हृदय में विशद सहानुभूति उत्पन्न करता है। गर्भ का जैसा साङ्गोपाङ्ग तथा विस्तृत वर्णन इन गीतों में उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र मिलना विरल है। गर्भिणी का शरीर पिराने लगता है, तरह-तरह के भोजन करने की इच्छा (जिसे संस्कृत में दोहद कहते हैं) उत्पन्न होती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए पति उसकी सखियों से कह देता है। प्रसव काल की वेदना को दूर करने के लिए नाना प्रकार के जतन किये जाते हैं। रानी की विषम वेदना से व्यथित-चित्त होकर राजा स्वयं ही धाय (धगड़िनि) को बुलाने के लिए जाता है। धाय के घर का पता उसे मालूम नहीं है। इसलिये वह राहगीरों से पूछता चलता है। जब आधीरात के समय वह धाय के घर पहुँचता है, धाय मीठी नींद सो रही है। दरवाजे का खटखटाना सुनकर वह जगती है और इस अनुपयुक्त समय पर आनेवाले पुरुष का परिचय पाकर चलने के लिए तैयार हो जाती है, परन्तु अपने लिए लाल ओहार वाली पालकी पर चढ़ने की माँग पेश करत है। वह कहती है—

आपना के राजा हाथी करु अवरु घोड़ा करु रे।
ऐ राजा, हमारा लाल ओहार चढ़ि हम जाइबि रे।

यह वर्णन कितना स्वाभाविक है।

(२) खेलवना—यह भी सोहर के समान पुत्र-जन्म के सुखद अवसर पर गाया जाता है, परन्तु सोहर से इसमें कुछ भिन्नता रहती है। सोहर में विशेष कर पुत्रजन्म की पूर्वपीठिका का वर्णन रहता है, 'खेलवना' में उत्तर पीठिका का। लड़के के लिए ललचनेवाली वनिता, गर्भ की वेदना से व्याकुल तरुणी, बहू के मंगल साधन में लगी सासु, धाय को दौड़कर बुलानेवाले पति, बालक के उत्पन्न होने पर राजपाट माँगनेवाली धाय—ये सोहर के प्रतिपाद्य विषय हैं; परन्तु सद्योजात शिशु का रोदन, माता का आनन्द, सास की प्रसन्नता, अपने कलांकुर के पैदा होने से सर्वस्व लुटानेवाले पिता का हर्ष 'खेलवना' के मुख्य विषय हैं।

(३) जनेऊ के गीत—मुण्डन तथा यज्ञोपवीत के अवसर पर गाने योग्य गीत, जिनमें ब्रह्मचारी के साधनों तथा नियमों का विशेष उल्लेख रहता है।

(४) विवाह के गीत—भोजपुरी गाँवों में विवाह एक लम्बा व्यापार है। वर के प्रथम पूजन को 'वररक्षा' कहते हैं, जिसके बाद कन्यापक्ष वाले अनेक पात्र, पत्र-पुष्प तथा द्रव्य लेकर वर की विशेष पूजा करते हैं। इसे 'तिलक' कहते हैं। वर को विवाह के लिये जाते समय जो मांगलिक पूजन होता है उसे 'परीछन' के नाम से पुकारते हैं। कन्यापूजन का नाम 'गुरहथी' है। इनमें से हर एक अवसर के लिए भिन्न-भिन्न गीत तथा उनके विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। विवाह के पहले शिव-पार्वती के विवाह विषयक गीत भी मंगलाचार के तौर पर गाये जाते हैं।

(५) **वैवाहिक परिहास के गीत**—जिनमें वर के साथ दुलहिन की सहेलियाँ नाना प्रकार की समयोचित हँसी की बातें रहती हैं। इनमें हास्य रस का अच्छा पुट रहता है।

(६) **गवना के गीत**—वधू के पतिगृह में प्रथम आगमन को 'गवना' कहते हैं। इस अवसर पर गीतों का ममतामयी माता, परिचित स्निग्ध बन्धुओं और प्रेमी पिता से बिछुड़ना प्रधान विषय रहता है। इन गीतों में बिछोह तथा करुणरस का निरन्तर संचार रहता है।

(७) **बारहमासा**—पति के परदेश जाने पर साल के बारहों मासों में नई-नई चीजों का होना तथा वधू का क्लेशमय जीवन का विशद वर्णन इन गीतों में रहता है। इसी के भीतर सावन में झूला झूलने के समय के गीतों का समावेश समझना चाहिए।

(८) **जाँत के गीत**—जिनका भोजपुरी नाम 'जँतसारि'। विषय वही प्रियतम वियोग। जाँत पीसने के समय, विशेषत: रात के तीसरे पहर, बिल्कुल सन्नाटा होने के कारण ये गीत दूर तक सुनाई देते है। गाने का ढंग विचित्र होता है।

(९) **सोहनी के गीत**—बरसात के शुरू में खेत में उगे पौधों को नुकसान पहुँचानेवाले घासपात को निकाल बाहर करना सोहनी करना कहलाता है। इन काम के लिए नीच जाति की स्त्रियाँ रखी जाती हैं। आवश्यकतानुसार इन गीतों के पद छोटे-छोटे होते हैं।

(१०) **छठी माता**—सन्तान की कामना से कार्तिक शुक्ल षष्ठी को सूर्य की विशेष पूजा होती है। उस समय ये गीत गाये जाते हैं।

(११) **शीतला के गीत**—चेचक हो जाने पर शीतला देवी की प्रसन्नता सम्पादन करने के निए ये गीत गाये जाते हैं। इनमें शीतला की नाना प्रकार की कीड़ाओं तथा भक्तों के प्रति दया की कथाओं का विशेष वर्णन रहता है।

(१२) **झूमर**—ये गीत द्रुत लय से गाये जाते हैं। सब स्त्रियाँ खड़ी होकर एक साथ झूम-झूमकर स्वर में स्वर मिलाकर इन गीतों को गाती हैं, इसी कारण इन्हें 'झूमर' कहते हैं। विषयों में एकता नहीं है। जब सुन्दरियाँ मस्ती में झूम झूमकर अपने कलकण्ठ से झूमर गाती हैं, तब श्रोताओं के हृदय में एक विचित्र हर्ष का प्रादुर्भाव होता है। द्रुत लय से होने के कारण इन गीतों में एक विशेष ढंग का प्रवाह है।

(१३) **चैता**—चैत के महीने में (वसन्त के आरम्भ में) ये गीत मर्दों के द्वारा गाये जाते हैं। इन्हें 'घांटो' भी कहते हैं। इनकी लय बड़ी ही मनोमोहक

होती है। लय विलम्बित होता है। गानेवाला अपनी मधुर श्लथ लय से चैत महीने की रुचिर वस्तुओं का सुन्दर वर्णन करता है और विरहिनों के चित्त को आश्वासन देता है। घाँटों के प्रसिद्ध लेखक कोई बुलाकीदास हो गये हैं जिनका नाम अनेक गीतों के अन्त में आता है।

(१४) बिरहा—बड़े उमंग का मर्दाना गाना है। अहीर लोगों का तो यह जातीय गान हैं। किसी भी शुभ अवसर पर अहीर इन बिरहों को जरूर गावेगा। शादी के मौके पर तो बिरहा ही अहीरों के मनोरञ्जन का प्रधान साधन है। बिरहा का विशेषज्ञ पुरुष अहीर समाज में विशेष आदर तथा सत्कार पाता है। बिरहा एक प्रकार का छन्द है। विषय—कभी वीर, कभी शृङ्गार, कभी नीति और कभी अहीर-जीवन।

(१५) भजन—मेला तथा तीर्थयात्रा के समय अनेक भजनों के गाने की चाल है। स्त्रियों का झुंड एक साथ मिलकर भगवान की स्तुति, जीवन की क्षणभंगुरता भजनपूजन की उपादेयता आदि विषयों पर रमणीय गीत गाता है। बड़ा रस भरा है इन भजनों में तथा रहस्यवाद की मधुर झाँकी मिलती है इन सामूहिक गीतों में।

(२) गीतों की दुनियाँ

गीतों की दुनियाँ ही निराली है। इनमें जिस समाज का वर्णन किया गया है वह कितना स्वस्थ, कितना स्वाभाविक, कितना सुन्दर तथा कितना निर्मल है! गीतों में अभिव्यक्त गृहस्थी का चित्र कितना रँगीला दीख पड़ता है! गृहस्थी में खाने-पीने लायक ही समान प्राप्त हैं; वह समृद्धि में लोट-पोट की झाँकी दीख पड़ती है वह किसी दिव्य लोक की प्रतीत होती है। कितनी कोमल कल्पना तथा मधुर भावुकता का राज्य है इस गीत-सुलभ जगत् में! परिचित वस्तुओं के लिए भी अनेक मधुर उपमानों की रमणीय कल्पना गीत-जगत् को संगीतमय बनाये डालती है। पतिदेव घर के मालिक होने की हैसियत से 'प्राभु जी' कहलाते हैं, रंगरलियाँ मचाने के कारण 'कन्हैया', रस के लोलुप होने के कारण 'भौंरा' तथा धर्म-कर्म के फल के साझी होने के कारण 'सझबइता'। उचित अवसरों पर इन साहित्यिक शब्दों का प्रयोग गीतों की काव्यकला का पर्याप्त द्योतक है। जब प्रसव की वेदना से व्याकुल निःसहाय गर्भिणी वेदना को बाँट लेने के लिये अपने 'सझबइता' को खोजती है; तब वह कितना कवित्वमय प्रतीत होता है! जब प्रिय धर्म-कर्म के समग्र फलों में साझी है, तब क्या उसे उचित नहीं है कि वह गर्भवेदना को भी बाँटकर व्याकुल पत्नी के बोझ को हलका बना डाले? गीतों में चित्रित सुन्दरी की सौन्दर्य-कल्पना में कितनी नूतनता तथा नैसर्गिकता भरी है! वह पान के समान पतली (तन्वङ्गी) है, तो सुपारी की भाँति सरस-चिक्कण (दुरहुर है।

वह फूलों के समान कोमल (सुकुवाँर) है, तो चन्दन के समान सौरभ फैला रही (गमकती) हैं। उसके केश काले और लम्बे हैं। जब अपने बाबा के तालाब पर माथा मीसने और नहाने जाती है, तो उसके सौन्दर्य की छटा देखकर लोग मूर्च्छित हो जाते हैं। कभी-कभी उसका बाल टूटकर नदी में बह निकलता है जिसकी सुकुमारता और सुनहला रंग किसी देखने वाले रसिक के हृदय को बरबस खींच लेता है और वह उस काञ्चन केश वाली कामिनी की खोज में बेचैन हो उठता है। उसके प्रेम के दो ही विषय हैं—माँग और कोख = पति और पुत्र, जिनको केन्द्र मानकर सुन्दरी स्नेह की अभिव्यक्ति अभिराम शब्दों में की गई है।

पुत्र के पाने की चाह कितनी मीठी है इन ललनाओं में !

पुत्र उत्पन्न होते ही माता के मन को भरता है; वह 'मनभरन' है; मन को रख लेता है—वह 'मनराखन' है, लीला का ललित निकेतन है—वह 'गोविन्दजी' के नाम से अभिहित होता है।

सासु—

बहू के हृदय में अपने सास-ससुर के लिए गहरा, निश्छल आदर का भाव बना है। सास मचिआ (छोटी खटिया) पर बैठकर गृह का पालन करती है। वह नितान्त आदरणीय होने से 'बढ़ैतिन' है। ससुर 'बढ़ैता' है। सासु का हृदय कितना कोमल और सहानुभूतिमय है ! जब उसे खबर लगती है कि बधू को गरमी के दिनों में बाहर से पानी भरकर लाने में क्लेश होता है, तब उसका हृदय पसीज जाता है और अपने पति से आग्रह कर आँगन में कुआं खोदने की व्यवस्था कर देती है। पानी खींचने के लिए रेशम की डोर लगा देती है जिससे उसके हाथ में किसी किस्म की तकलीफ न हो। सास अपने पुत्र के मंगल के लिए तो चिन्तित रहती है, परन्तु इससे अधिक अपनी पतोहू के कल्याण-साधन में व्यग्र है। किसी पाहुने के आने पर भोजन सोने की थाली में परोसा जाता है और उसके स्वागत में रात भर चन्दन का तेल जलाया जाता है।

बहू—

प्रियतम कार्यवश मोरँग चला जाता है और लौटने में विलम्ब कर बैठता है। बेचारी पत्नी का हृदय बेचैन हो उठता है। वह कहती है कि यदि मैं जानती कि मेरा लोभिया मोरँग जायगा, तो मैं उसे रेशम की डोरी से बाँध लेती। इतना ही नहीं, रेशम की डोर की टूटने की आशंका हो सकती है, इससे अधिक दृढ़ होता है वचन का बन्धन (प्रतिज्ञा की शृंखला) इसी में उसे बाँध रखती। बड़ी कोमल कल्पना है इस वियोगिनी कामिनी की—

जहु हम जनितीं ए लोभिया, जइबे तुँहु मोरँगवा
घोचीं बाँही बँन्हितो ए लोभिया, रेसम के रे डोरिया।

रेसम के डोरिया ए लोभिया, टुटि फाटि जइहें
बचन के बान्हल पियवा कतहों ना राम जइहें ।।

प्रिय का यह विलम्ब पत्नी के लिए असह्य हो जाता है। वह अपने पड़ोसी भीमल मल्लाह के हाथ उसके पास पाती भेजना चाहती है, परन्तु पत्री कैसे तैयार हो ? वह अपने नेत्र के काजल की स्याही बनाती है और अपना आँचल फाड़कर कागज तैयार करती है। मदन-लेख (प्रेमपत्र) लेकर भीमल मल्लाह मोरँग जाता है और उसके पति को लाने में समर्थ होता है।

बड़ा उदात्त, आदर्श तथा पवित्र चरित्र है इन भारतीय ललनाओं का जिनके सुकृत-सौरभ से ये गीत गमक रहे हैं। पति के परदेश चले जानेपर प्रोषितपतिका की व्याकुलता स्वाभाविक है, परन्तु वह कभी अनुचित व्यवहार में अपना हाथ नहीं डालती। देवर उसके पास नेह गाँठने का प्रस्ताव लाकर उपस्थित होता है, परन्तु वह उसे दुत्कार देती है और क्रोध में आकर प्रिय के पर देवर की 'अंलफी बाहों' (सुन्दर हाथों) को काट डालने की धमकी देती है।

पत्नी का सन्देश पाकर निर्मोही पति जब नहीं लौटता, तब पत्नी की चिन्ता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। वह नालायक उसे दूसरा पति कर लेने की सलाह देता है, तब पतिव्रता की स्वाभाविक तेजस्विता चमक उठती है और वह कह बैठती है कि तुम्हारी बहन या माता दूसरा पति कर लें, वह आजन्म अपने व्रत को निभावेगी और तुम्हारे जैसे आदमी को डयोढ़ीदार बना कर रखेगी। पति के अतिरिक्त बहू के सुख-स्वप्नों का केन्द्र उसका पीहर है और वह उसी ओर टकटकी लगाये जीवन बिता रही है। पीहर की हरएक चीज में उसके वास्ते कितनी मोहकता है ! भाई और पिता के लिवा ले जाने की आशा उसकी जीवन-लता को हरी-भरी रखती है और अपनी माँ से फिर मिलने तथा परिचित देश में स्वतन्त्रता की वायु के सेवन की कोमल कल्पना उसके जीवन को सरल बनये रहती है। बुरी ससुराल मिलने पर उसे सास, ननद और जेठानी के व्यङ्ग बाणों से बिद्ध होने के अवसरों की कमी नहीं रहती। यह वस्तुस्थिति बुरे दिन आने पर भारतीय समाज में आज विशेष रूप से दीख पड़ती है, परन्तु ये गीत हमें उस दुनियाँ की सैर कराते हैं जहाँ किसान हल-बैल के सहारे अपनी निष्कपट जीविका उपार्जन करता है, मचिया पर बैठकर 'बढ़ैतिन' सास गृह के अनुशासन में लगी रहती है, जहाँ रेशम की डोर से बधू अपने आँगन के कुएँ से पानी खींचती है, बच्चे अपनी छलहीन हँसी से बड़ों का मनोरञ्जन किया करते हैं। भोजपुरी गीतों में चित्रित समाज का वातावरण कितना शान्त है कितना निर्मल है, कितना मोहक है ! इन गीतों में हमें तो किसी दिव्य लोक की बाँकी झाँकी मिलती है, है, जिसके सामने आधुनिक समाज का प्रकाश फीका, बनावटी तथा मलिन प्रतीत होता है।

(३) गीतों का भौगोलिक आधार

इन गीतों के अध्ययन से उनकी भौगोलिक पृष्ठभूमि का परिचय भली-भाँति चलता है। भोजपुर भारत के पूर्वी प्रान्त में आज ही नहीं, प्राचीनकाल में भी परिगणित किया जाता था। मनु के कथनानुसार विनशन कुरुक्षेत्र के पास सरस्वती नदी के लुप्त होने का स्थान के पूरब तथा प्रयाग के पश्चिम का भारत खंड 'मध्यदेश माना जाता था। अतः मध्य देश से पूरब ओर स्थिति के कारण भोजपुर का पूर्वीय प्रान्त माना जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। आज की भाँति इन गीतों के समय में भी भोजपुर का सम्बन्ध पूरब के देशों से अत्यधिक था। शिवजी 'पूरबी बनिजीया' पर जाते हैं; अपनी सुन्दरी को शोक-सागर में डुबाकर युवक पति भी जीविका की तलाश और वाणिज्य के नाते पूरब के देशों की ही ओर पयान करता है। इन देशों की विशेष उपज की भी गवाही गीतों से मिलती है। मगह अपने पान लिए प्रसिद्ध है, तो मोरंग (नेपाल की तराई में देश विशेष) अपनी सुपारी के वास्ते मशहूर है। हाथी गोरखपुर से मँगाया जाता है और वर महोदय के चढ़ने के लिए वह पटनहिया झूल से अलंकृत किया जाता है। कन्या के बाबा अपनी सयानी कन्या के लिए वर की तलाश में उत्तर-दक्षिण सब देशों को छान डालते है, परन्तु केवल 'तिरहुत' में ही उन्हें मनोवांछित सयाना वर मिलता है। वर के परीछने के लिए जो लोढ़ा मँगाया जाता है वह विन्ध्याचल के पत्थर का बना मिर्जापुरी ही है। बंगाल की कीर्ति-कौमुदी इन गीतों में खूब गाई गई है। कलकत्ते में लाल रंग के छाते बिकते हैं। अपने लम्बे-लम्बे काले केशों को सजाकर खड़ी होनेवाली सुघर बंगालिन बिटिया 'पूरबी बनिजिया' पर जानेवाले भोजपुरी नायकों का मन बरबस हर लेती है। वह उनके पंजों में इतना फँस जाता है कि घर पर धर्म से ब्याही पत्नी के रहने पर भी वह बंगालिन को घर में डाल देता है, जिससे उपेक्षिता पत्नी का जीवन दूभर हो जाता है। भोजपुरी सुन्दरी ढाके के मलमल की साड़ी और पटने की झूलनी पहनकर अपने को कृतकृत्य समझने लगती है। ध्यान देने की बात तो यह है कि गीतों में वर्णित पूर्वीय वाणिज्य की परम्परा अधिक या न्यून मात्रा में, आज भी विद्यमान है। 'पूरब' को जाते हुए पति से प्रिय पत्नी का यह निवेदन कितना मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी है तथा इसके विपरीत लम्पट पति का उत्तर कितना निष्ठुर और कठोर हैं—

आरे जो तुहु जइब बलमू पुरुब बनिजिया हो;
हमारा का तू ले अइब रावल मुनिया।
तोरा के लाइब धनिया कसमस चोलिया हो;
अपना के सुन्दर बंगालिन रावल मुनिया॥

कहीं-कहीं इन गीतों में हाजीपुर के हाट—सोनपुर के हरिहर क्षेत्र के मेले का भी उल्लेख मिलता है। मालूम होता है कि उन दिनों में यह मेला उतना ही प्रसिद्ध था

जितना आजकल है। यह मेला अपनी विशालता तथा प्रसिद्धि में भारतवर्ष में अद्वितीय है।

(४) गीतों में ऐतिहासिक वृत्त

इन गीतों का समय निर्णय करना कठिन है, परन्तु इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि इनकी परम्परा कम से कम दो सौ तीन सौ वर्षों से निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती आ रही है। भोजपुर मण्डप सदा से अपने वीर 'बाँकुड़ों' के लिए विख्यात है। अतः शत्रुओं का मानमर्दन करनेवाले वीरों की अनेक कहानियाँ गीतों में गाई जाती हैं। सन् ५७ के बलवे की बात, जिसमें भोजपुरी सिपाहियों का विशेष हाथ था, इन गीतों में आप को बिखरी मिलेगी। वीराग्रणी बाबू कुँवरसिंह भोजपुर के पास जगदीशपुर (आरा) गाँव के निवासी थे। उन्होंने जिस पराक्रम के साथ युद्ध किया था वह इतिहासवेत्ताओं को अविदित नहीं है। गीतों में वर्णित इनके उत्कृष्ट बाहुबल की कहानी सुनकर आज भी हमें रोमाञ्च हो आता है। उससे भी पहले मुसलमान-काल की दुरवस्था का भी पर्याप्त चित्रण हमें इन गीतों में उपलब्ध होता है। तुर्कों की विषय-लोलुपता तथा स्वेच्छाचारिता की गूँज इन गानों में खूब सुनाई पड़ती है। किस प्रकार कुसुमा देवी ने मिरजा साहब के अत्याचारों को सहकर भी अपने सतीत्व की रक्षा की थी तथा अपने चरित्र की ओजस्विता को प्रकट किया था वह भोजपुर के गाँवों में आज भी उसी उत्साह से गाया जाता है। सती कुसुमा देई का नाम इन गीतों ने अमर कर दिया है। मिर्जा नामक किसी तुर्क सरदार की दृष्टि कुसुमा देई के लावण्य-मण्डित शरीर पर पड़ी। वह उसे पाने के लिए बेचैन हो उठा। उसके पिता को कैदखाने की काली कोठरी में डाल दिया। पितृ परायण पुत्री मिर्जा के साथ चलने के लिए तैयार हो गई, परन्तु रास्ते में अपने पिता के तालाब में नहाने के बहाने उसने अपनी जान दे डाली। कुसुमा का यह दिव्य चरित्र हमारे लिए आज भी नारीत्व के उत्कृष्ट महत्त्व को प्रदर्शित कर रहा है। देखिए—

देहु न मैया रे कँगही कटोरिया हो ना।
बाबा के सगरवा मुड़वा मीजब हो ना॥
अरे सगरवा कुसुमा मुड़वा जो मीजै।
घोड़वा कुदावै मिरजा रजवा हो ना॥
घोड़वा कुदावत परिगै नजरिया हो ना।
केकरी तिरियवा मुड़ा मीजै हो ना॥
घोड़वा थमावै मिरजा वो घोड़सरिया।
बाबा का पकरि मँगावै हो ना॥
अपनी कुसुमा मोहि बिआहो हो ना॥

कैसे मैं बिआहौं अपनी कुसुमिया।
तू तो तुरुक हम ब्राह्मन हो ना॥
एतना बचन सुनि मिरजा रजवा।
बाबा के डारैं हथकड़िया हो ना॥
अगिया लगाओं बेटी तोरी सुन्दरइया।
बाबा के चढ़ी हथकड़िया हो ना॥
देहु न मैया रे अपनी चदरिया।
बाबा कै सँसतिया देखि आवों हो ना॥
जो तुही मिरजा हो हमही लोभानेउ।
बाबा जोगे हथिया बिसाहउ हो ना॥
जो तुही मिरजा हो हमही लोभानेउ।
भैया जोगे घोड़वा बेसाहउ हो ना॥
मैय्या जोगे गहना गढ़ावो हो ना।
भौजी जोगे चूनर रँगावो हो ना॥
हँसि हँसि मिरजा रे डोलिया फनावे।
रोइ रोइ चढ़ै कुसुमा रनिया हो ना॥
एक बन गइली दूसर बन गइली।
तिसरे में बाबा के सगरवा हो ना॥
तनियक डोलिया थमावो मिरजवा।
बाबा के सगरवा मुँहवा धोइत हो ना॥
बाबा के सगरवा सुन्दर बढ़इल पनियाँ।
हमरे सगरवा पनियाँ पीयो हो ना॥
तोहरा सगरवा मिरजा नित उठि होइ हैं।
बाबा कै सगरवा दूलभ होइहै हो ना॥
एक घूँट पियली दुसर घूँट पियली।
तिसरे में गई है तराई हो ना॥
रोइ रोइ जलवा डरावै राजा मिरजा।
फँसि आवै घोंघिया सेवरिया हो ना॥
हँसि हँसि जलवा डरावै भैया गंगाराम।
आवै थी बहिनी कुसुमा हो ना॥
मुँहवा पठुवा देके रोवे राजा मिरजा।
मोरे मुँह करिखा लगाइब हो ना॥
सिर पै पगड़िया बाँधि हँसे भैया बाबा।
दूनो कुल राखेउ बहिनी कुसुमा हो ना॥

अब कुँवरसिंह की वीरता से परिपूर्ण इस गीत को पढ़िए और देखिए कि अंग्रेजों से कुँवरसिंह की बहादुरी का कितना जीता-जागता चित्र उपस्थित किया गया है। इस गीत में वर्णित घटनाएँ बिल्कुल ऐतिहासिक हैं।

लिखि लिखि पतिया के भेजलन कुँवरसिंह,
ए सुन अमरसिंह भाय हो राम।
चमड़ा टोड़वा दाँत से हो काटे कि
छतरी के धरम नसाय हो राम ॥ १ ॥
बाबू कुँअरसिंह और भाई अमरसिंह,
दोनों अपने हैं भाय हो राम।
बतिया के कारण से बाबू कुँअर सिंह,
फिरंगी से हो रेढ़ बढ़ाय हो राम ॥ २ ॥
दानापुर से जब सजलक हो कम्पू,
कोइलवर में रहे छाय हो राम।
लाख गोला तुँहु कै गनि के मरिहौं,
छोड़ बरहरवा के राज हो राम ॥ ३ ॥
रोवत बाड़े बाबु हो कुँअर सिंह,
मुखवा पर धर के रुमाल हो राम।
ले ली लड़इआ हम तो बूढ़ा हो समय में,
अब कवन होइहे हवाल हो राम ॥ ४ ॥

इस गीत में विद्रोह का कारण कितना सटीक दिया गया है।

(५) गीतों में देव-चरित्र

गीतो में देवताओं का चरित बड़ी खूबी से अंकित किया गया है। विवाह के अवसर पर मंगल के लिए सबसे पहले शिव-पार्वती के विवाह-विषयक गान गाये जाते हैं। देवताओं की कल्पना मनुष्य अपनी ही भावना के अनुरूप करता है। देवता लोग किसी काल्पनिक जगत् के पात्र न होकर ऐहिक लोक के जीते-जागते सुख-दुःख को भोगनेवाले जीवों के रूप में अंकित किये गए हैं। भोजपुर मण्डल में विवाह के शुभ अवसर पर शिव-पार्वती के विवाह-विषयक गीतों के गाने की चाल है। इन गीतों में चित्रित शिव का चरित्र इस प्रदेश के मानवों की कल्पना के नितान्त अनुकूल है। महादेव का विवाह भोजपुरी विवाह का एक रमणीय प्रतिनिधि है। शिवजी के माता-पिता दोनों हैं। एक बार शिवजी पार्वती से एकान्त में भेंट करने जाते हैं। पार्वती उनके साथ चलने को कहती हैं। तब वे कहते हैं कि आज तो अपने 'बाबा की चोरी', पिता से छिप कर, आया हूँ। कल मैं अपने बन्धु बान्धवों को इकट्ठा कर (सजन बटोरी) आऊँगा, तब तुम्हें अपने साथ ले चलूँगा। शिव-पार्वती में जो शादी के लिए शर्तें तय की जाती हैं, उनमें

एक विचित्र ढंग का दुनियावीपन है। पार्वतीजी कहती हैं कि मेरे पिता बड़े गरीब हैं, आपको दहेज नहीं दे सकते, इसलिए ज्यादा गहना न लाकर मेरे लिए केवल ताग-पाट (सूत की बनी माला) ही लाइएगा। शिवजी इस पर तैयार हो जाते हैं, पर पार्वती से आग्रहपूर्वक कहते हैं कि हमारी माता को कभी जवाब न देना। इस पर वे कहती हैं कि "हे भोला, अपनी पूरी कमाई मुझे दे देना और कभी हिसाब न लेना, तभी मैं तुम्हारी माता की आज्ञाओं का सदा पालन करूँगी"—

हामारा ही आमा के गउरा जबाब जनी दीह।
जो कुछ अरजीह ए भोला, से लेखा जनी लीह।
तोहारा ही आमा के सीव जबाबो नाँही देबो॥

दूसरे दिन शिव की बारात पहुँचती है—चिताभस्म से भूषित बावला वर (बर बौराह), बसहा बैल पर असवार, एकदम नंग-धिड़ंग ! बराती भूत प्रेत, पिशाच ! ऐसे वर को देखकर पार्वती की माता चिन्तित हो उठती हैं, और कहती हैं—

धिया लेके उड़बि, धिया लेके बुड़बि।
धिया लेके खिलबों पाताल॥

अर्थात् मैं अपनी पुत्री को लेकर उड़ जाऊँगी, डूब मरूँगी और पाताल में खिल जाऊँगी अर्थात् पाताल-लोक में छिप जाऊँगी, जिससे मेरी पुत्री को कोई पा न सके; पर ऐसे बौड़म वर से शादी न होने दूँगी। वह केवल शब्दों में ही अपनी ग्लानि और चिन्ता प्रकट नहीं करतीं, बल्कि कार्यतः भी। वह माँड़ों (मण्डप) उखाड़ फेंकती हैं, कलश फोड़ देती हैं, पुरहथ बिखरा देती हैं; रंग में भंग उन्हें मंजूर है; गौरा का क्वारी बनी रहना उन्हें मंजूर है, परन्तु शिव जैसे बउराह वर से प्राणों से प्यारी पुत्री की शादी मंजूर नहीं। पार्वती शिव से अपना विकट वेष बदल देने की प्रार्थना करती हैं; तब वे अपना चिर-सुन्दर, त्रिभुवन-कमनीय, मारमदभञ्जन रूप धारण कर लेते हैं। विवाह आनन्द से सम्पन्न होता है।

पार्वती अपनी ससुराल से घर आती है। माता उसकी दीन दशा देखकर नितान्त दुःखी होती है। पार्वती का दिल भाँग पीसने से बेचैन है। धतूर की गोलियाँ बनाते-बनाते हाथ घिस गए हैं। दुःखित माता हाथ की चूरी फोड़ देने की और माथे का सिन्दूर मिटा देने की सलाह देती हैं, परन्तु पतिपरायणा पार्वती माता को चुप रहने के लिए झिड़कती है और कहती हैं कि बुरा हो या भला, वह तपसी ही उसके जीवन की आशा है—

भँगीआ पीसन ए आमा, जीयरा अकुलाई।
धतुरा के गोलिया ए आमा, हाथावा रे खीआई॥
फोरि घाल आहो ए गउरा हाथ के रे चूरी।
मेटि घाल आहो ए गउरा सिर के सेनुरवा॥

दीनवा गवाँव ए गउरा हमरी।
अइसन बोलिया ए आमा फेनु जनि बोलीह।
उहे तपसीआ ए आमा हमरा जिअरा के आई॥

इस गीत में गौरी की माता की पुत्री-चिन्ता और गौरी का निष्कपट पतिप्रेम कितने सरल शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है! इस प्रकार शिव-गौरी की शादी में भोजपुरी माता तथा पुत्री के सरल स्नेह का ही हम प्रतीक पाते हैं। इस विषय में भोजपुरी गीतों की समानता उन उड़िया ग्राम्य गीतों से दी जा सकती है जिनमें राम का चरित्र एक सामान्य उड़िया किसान के रूप में चित्रित किया गया है।[1]

उड़िया लोकगीतों के राम अपने हाथों अपने घर का सारा काम काज करते है। राम हल चलाते हैं, लईखन (लक्ष्मण) जुताई करते हैं और सीता बीज बोती हैं। वे कपिला गाय का दूध पीते हैं, जो चन्दन की आग पर गरम किया जाता है। लक्ष्मणजी कच्चे आम लाते हैं। सीताजी चटनी पीसती हैं। सब चटनी राम ही चट कर जाते हैं बेचारे लक्ष्मणजी को थोड़ी भी चटनी चाटने को नहीं मिलती। बड़े दुःखित होते हैं। राम पान भी खाते हैं। सुख के साथ-साथ दुःख भी उनके बाँटे में खूब पड़ा है। सीता फूटे बर्तन में दूध दुहती हैं। सारा दूध बह जाता है। राम के क्रोध का ठिकाना नहीं रहता—

दौदरा माठिया हाते धरि करि
खीर दुहिबाकु सीताया गला। मो राम रे।
सबु खीर जाको तले बहि गला
सीताया ए कथा जाणी न पारीला। मो राम रे।
बौहड़ीला राम हल काम सरि
खीर मन्दे-वेगे सीताकु मागीला। मो राम रे।
धाईं धाईं सीताया पाखकु अईला
घोइतांकु सब कथाटी कहिला। मो राम रे।
रामंक आँखीटी रंग होई गला
मन कि तोर लो बाइया हेला। मो राम रे॥

अर्थात्—फूटे हुए बर्तन को हाथ में लेकर सीताजी दूध दूहने के लिए गईं। सब दूध नीचे बह गया। परन्तु सीता को इस बात का पता न चला। हल चलाकर राम घर पर आए और धीरे से सीता से दूध माँगा। वह दौड़ कर आईं और पति से सारा हाल कह सुनाया। राम की आँख लाल हो गईं और कहने लगे कि तुम्हारा मन क्या पागल हो गया है? राम को आँखों के लाल हो जाने और सीता को पागल कह कर भर्त्सना करने में भी प्रेम की ही झलक दीखती है।

---

१. उड़िया ग्राम-साहित्य में रामचरित्र—ना० प्र० पत्रिका, भाग १५, पृष्ठ ३१७-३३०।

भोजपुरी गीतों की गौरी पतिगृह के निवास-काल में अपनी माता के लिए उसी भाँति चिन्तित होती है जिस भाँति उड़िया गीतों की सीता। सीताजी के जीवन की एक झलक देखिए—

सरि गला दीप-र तेल
कि परि दीप जालिबी। महाप्रभु से।
तेल आगी वाबु जाओ हे राम
से तेल दीप-रे ढालिबी। महाप्रभु से॥
सुना-र दीप रे चन्दन तेल
सीताया दीप जाल्छी। महाप्रभु से॥
दीप जाली जाली सीताया
मा घर कथा भालछी। महाप्रभु से॥

सीता की दयनीय दशा का कितना रोचक चित्रण है। वह कहती हैं कि तेल खतम हो गया है। मैं दीपक कैसे जलाऊँ? हे राम, तुम जाओ और तेल लाओ और उसी तेल को मैं दीपक में डालूँगी। सोने का दीपक है और चन्दन का तेल; जिससे सीता दीपक जला रही है। दिया जलाते-जलाते सीता को अपनी माता के घर की कथा याद आती है। पुत्री सुख-समृद्धि के दिनों में भी, आराम करने के दिनों में भी, अपनी माता के घर को भूल नहीं सकती। भोजपुरी गानों में सोने के दीपक चन्दन के तेल जलाने का वर्णन अनेक प्रसङ्गों में आता है। इन गायनों में रामविषयक अनेक गाने हैं जिनमें रामजन्म से सम्बद्ध गीत बड़े सुहावने लगते हैं। राजा दशरथ के चित्रण में हम भोजपुर के किसी समृद्ध गृहस्थ की ही छाया पाते हैं। पत्नी की प्रसव वेदना को सुनकर उनका व्याकुल होना, धाय को बुलाने स्वयं जाना; आदर-पूर्वक उसे लाना तथा पुत्र-जन्म के अवसर पर अपनी दौलत लुटाना—इनका चित्रण इतना नैसर्गिक है कि पाठकों का चित्त अनायास इनकी ओर खिंच जाता है। इस तरह देवचरित के बहाने हमें भोजपुर के निवासियों के दैनिक जीवन का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

(६) लोककाव्य में ऋतुवर्णन

मनुष्य और प्रकृति—दोनों में नितान्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति निर्जीव वस्तु नहीं है। उसमें चेतना भरी पड़ी है। वह मनुष्य को सदा प्रभावित किया करती है। मनुष्य कभी अनजान दशा में भी प्रकृति के व्यापक प्रभाव के वश में आकर अनेक काम किया करता है। वह कृत्रिम जीवन में रहने वाले लोगों के ऊपर प्रकृति का अभाव, भले ही कम पड़े, परन्तु गाँवों के स्वच्छ वायु में रहने वाले; स्वाभाविकता की गोदी में पलनेवाले जीवों के ऊपर प्रकृति का प्रभाव बहुत ही अधिक पड़ता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। ऋतुओं के परिवर्तन के संग-साथ में प्रकृति के रूप में भी परिवर्तन होता रहता है। जाड़े के दिनों में प्रकृति

के ऊपर जो मुर्दनी छाई रहती है, जो सिकुड़न दीख पड़ता है, जो आलस्य दृष्टिगोचर होता है, वसन्त के आते ही वह समाप्त हो जाता है। संकोच के स्थान पर विकास विराजने लगता है। आलस्य के स्थान पर वह स्फूर्ति दिखलाई पड़ती है। भीषण जाड़े की ऋतु में भी हमारे अंग-प्रत्यंग शीत के कारण सिकुड़े रहते हैं। वे ही वसन्त का सुहावना समय पाकर फैल जाते हैं। हमारे मन की भी यही दशा होती है। चैती का सम्बन्ध इसी वसन्त के साथ है।

मधुमास की माधुरी

चैत के महीने में चित्त के बहलाने के लिए जो गीतें हमारे गावों में गायी जाती हैं उन्हें चैती कहते हैं। भोजपुर मण्डल में इन चैती गीतों को 'घाँटो' के नाम से भी पुकारते हैं। इन गीतों का गाने का भी ढंग निराला होता है। आरम्भ से 'रामा' और अन्त में 'हे रामा' से ये गीत संपुटित होती हैं। गीतों का आरम्भ ऊँचे स्वर में किया जाता है, बीच में अवरोह (उतराव) आता है और फिर अन्त में आरोह (चढ़ाव) होता है। स्वरों के इस आरोहावरोह क्रम से इन गायनों की माधुरी श्रोताओं के कान में आनन्दोल्लास प्रकट करती है और विरहिणियों के दुःखित हृदय को प्रफुल्लित बनाने में विशेष रूप से सफल होती है। भोजपुरी गीतों में चैता अपनी मधुरिमा तथा कोमलता के विषय में अपनी समानता नहीं रखता। इसके गीतों में एक प्रकार की तन्मयता होती है जो हृदय को झट से आकृष्ट कर लेती है। चैतमास में होनेवाले भोजपुरी मेलों में जब कोई चैता गाने लगता है और

'आरे हमरी अटरिया हो रामा
सुगना - बोले हो'

जब सुस्वर में अलापने लगता है तब श्रोताओं की जमघट लग जाता है। अन्य लोकगीतों के समान ही ये गीत जनता को, हमारे गावों के निवासियों को अपनी ओर खींचने में विशेष समर्थ होते हैं।

यदि चैती का विषय चैत मास से सम्बन्ध रखे तो यह अत्यन्त उत्तम होता है। श्रृंगारिक विषय विशेषतः विप्रलम्भ श्रृंगार का चित्रण चैती की अपनी विशेषता है। फागुन का अन्त होली के हुल्लड़ से होता है। इस सर्वप्रिय उत्सव में भाग लेने के लिए परदेशी अपने घर पर आ विराजते हैं, परन्तु फिर से परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़े हुए अनेक परदेशी विदेशों की ही खाक छानते रहते हैं—अपने भाग को कोसते हुए परदेश में ही अपना धिक् जीवन बिताते हैं। इन्हीं को प्रधानतया लक्ष्य कर प्रोषितपतिका नायिका अपनी विरह वेदना की अभिव्यक्ति चैती के द्वारा किया करती है। प्रधान विषय यही होता है—विरह चित्रण, परन्तु आगन्तुक रूप से अन्य विषय भी इसमें आते जाते हैं। बारह मासा की बियोगिनी चैत मास को लक्ष्य कर कह रही है—

चेतमास उदास सखि हो, एहि मास हरि मोर जाई,
हम अभागिनि कालिनि साँपिनि, आवेला समय बिताय।

चैती का यही विशुद्ध राग है। विरह के मारे तड़पने वाली कृशांगी का कोमल हृदय इसमें भलीभाँति अभिव्यक्त होता है।

पति अपनी स्त्री से क्रुद्ध होकर इतनी गहरी नींद सो रहा है कि स्वयं जागता ही नहीं। स्त्री भी हार जाती है। तब वह अपनी ननद से इस पवित्र कार्य के सम्पादन में सहायता माँगती है।—

राम साँझहि के सूतल फुटलि किरिनिया हो रामा; तबो नाँहि।
तबो नाँहि जागेलें, हमरो बलमुआ हो रामा; तबो नाँहि॥ १॥
राम चुर घीचीं मरली पइरी घीची मरली हो रामा, तबो नाँहि।
तबो नाँही जागेले, सैंया अभागा हो रामा; तबो नाँही॥ २॥
राम गोड़ तोरा लागीला लहुरि ननदिया हो रामा; रचि एक।
रचि एक आपन भैया देहु ना जगाई हो रामा; रचि एक॥ ३॥
राम, कैंसी के भौजी भइया के जगाइबी हो रामा; हमरो भैया।
हमरो भैया निंदिया के मातल हो रामा हमरो भैया॥ ४॥
रामा तोरा लेखे ननदी तोर भैया निनिया के मातल हो रामा
मोरा लेखे। आरे मोरा लेखे
चान सुरूज दूनो छपित भइलें हो रामा मोरा लेखे॥ ५॥
रामा चढ़ले चइत घाँटो गावे हो रामा गाइ गाई।
आरे गाइ गाइ बिरहिन सखी समुझावे हो रामा; गाइ गाई॥ ६॥

यह चइती गाने में जितनी मधुर है भाव में भी उतनी ही सुन्दर है। भौजाई के आग्रह की उपेक्षा करती हुई ननद जब कहती है कि मेरा भाई नींद में मतवाला होकर पड़ा हुआ है, घबड़ाने की बात ही कौन सी है, तब भौजाई का उत्तर कितना भावपूर्ण, कितना स्वाभाविक तथा कितना सरस है। वह कहती है कि तुम्हारी दृष्टि में तो तुम्हारा भाई केवल नींद में मतवाला हो गया है। परन्तु मेरे लिए तो चन्द्रमा और सूरज दोनों छिप गये हैं। चन्द्रमा के छिप जाने पर आकाश का अन्धकार सूरज हटाता है और सूरज के अस्त हो जाने पर चन्द्रमा; परन्तु उस स्थिति की कल्पना कीजिए कि तब अन्धकार कितना गहरा होगा तथा लोगों की घबराहट कितनी अधिक होगी जब चन्द्रमा और सूरज दोनों एक साथ अस्त हो जाँय। पति का क्षणिक वियोग नायिका के हृदय में कितना उद्वेगजनक है, इसका पूरा आभास इस उक्ति से हमें मिल जाता है। यह उक्ति नायिका के प्रेम को नितान्त तीव्र तथा गाढ़ प्रदर्शित कर रही है।

एक दूसरी चैती सुनिए और इसके भाव तथा भाषा दोनों का निरीक्षण कीजिए। यह चैती कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम की अभिव्यक्ति कर रही है। गोपी दही बेचने के लिए मथुरा जा रही है। रास्ते में उससे मिल जाता है कुँवर कन्हैया। दोनों में जो रसभरी बातें होती हैं उन्हीं का परिचय हमें इस मधुर गीत में मिलता है—

रामा छोटि मुटि ग्वालिनि, सिर तो मटुकिया
हो रामा, चली भइली,
आरे चलि भइलि हो मथुरा नगर दहि बेचन
हो रामा, चलि भइलि,
रामा जहाँ जहाँ ग्वालिनि, धरेले मटुकिया
हो रामा, तहाँ जहाँ
अरे तहाँ जहाँ कुँवर तमुआ तनावे
हो रामा ताहाँ जाँहा॥
रामा आगू होखऽ आगू होखऽ, राजा के कुँअरवा
हो रामा परि जइहें।
आरे परि जइहें दही के छिटिकवा
हो रामा, परि जइहें॥
रामा तोरा लेखे ग्वालिनि दही के छिटिकवा
हो रामा, मोरा लेखे,
आरे मोरा लेखे अगर चनन देव बरिसे
हो रामा, मोरा लेखे
रामा चढ़ले चइतवा, चईत घाँटो गावे
हो रामा, गाइ गाई,
अरि गाइ गाइ बिरहिन सखि समुझावे
हो रामा, गाइ गाई

इस गीत की एक पंक्ति में कोमल कला का विलास पूरे रूप से झलक रहा है। राजकुमार ग्वालिन के बहुत ही पास खड़ा होकर अपना प्रेम जता रहा है। ग्वालिन कहती है कि कृपया आप दूर पर खड़े होइए नहीं तो मेरे दही के बूँद आप के शरीर पर गिर कर खराब कर देंगे। इस पर राजकुमार की उक्ति है कि अरे ग्वालिन, तुम्हारी दृष्टि में तो ये श्वेत बिन्दु दही के छींटे जान पड़ते हैं परन्तु मेरी दृष्टि में तो प्रतीत हो रहा है कि भगवान् अनुग्रह कर मेरे ऊपर अगर और चन्दन की वृष्टि कर रहे हैं। यह भाव कितना शोभन तथा सरस है !!!

भोजपुर मण्डल के अनेक चैती गायनों के रचयिता का नाम बुलाकीदास मिलता है। ये बुलाकीदास कौन थे ? इसका ठीक ठीक परिचय नहीं मिलता,

परन्तु थे वे इसी काशीमण्डल के निवासी और इनका स्थिति काल भी सौ बरस से अधिक नहीं जान पड़ता। इनकी चैता गीतों में काफी सरसता तथा सत्कविता है। भाव हैं गाँवों के अनुरूप सीधे-सादे, बिलकुल स्वाभाविक। बनावटीपन का उनमें कहीं नाम भी नहीं है। बुलाकीदास के द्वारा रचित चैता-गायनों का यदि संग्रह एकत्र किया जाय, तो लोकगीत के पुनरुद्धार के इतिहास में यह नितान्त महत्त्वपूर्ण घटना प्रमाणित होगी।

आज तक हम अपनी लोक गीतों की उपेक्षा करते आये हैं। इन गीत रत्नों का तिरस्कार करते आये हैं। परन्तु अब तो यह दशा बदल जानी चाहिए। स्वतन्त्र भारत में जिस प्रकार अनेक भारतीय वस्तुओं का पुनः संस्कार हो रहा है, उसी प्रकार इन हमारे लोक गीतों का भी पुनरुद्धार होना चाहिए। इन लोक गीतों की माधुरी स्वतः सिद्ध है। उसे सिद्ध करने के लिये आज प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। इनका वैज्ञानिक ढंग से संग्रह होना चाहिये, तथा अनुशीलन होना चाहिये।

सावन की सुषमा

प्रकृति भगवान् के सौन्दर्य की बाहरी प्रतिकृति है। प्रकृति नित्य-नित्य नया-नया रंग बदलती रहती है; और प्रत्येक रंग में उसकी मनोरम झाँकी हमें आनन्द से मस्त बनाती है। प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध भी बड़ा ही गहरा है। प्रकृति अपने सौन्दर्य की अनुभूति के लिए मनुष्य को सदा आकृष्ट करती है। मनुष्य जाने या अनजाने इस आकर्षण की उपेक्षा भी नहीं कर सकता। वह उसके वश में होकर अपने जीवन की सफलता का अनुभव करता है। प्रकृति की चारुता और रुचिरता को बिना अनुभव किये हमारे जीवन के आनन्द में विशेष कमी बनी रहती है। मनुष्य और प्रकृति के इस सामरस्य का बोध हमें होता है सावन के महीने में।

सावन का महीना सचमुच ही बड़ा सुहावना होता है। नीले आकाश पर बादल घिरे रहते हैं। जान पड़ता है कि हाथियों की छटा क्षितिज पर से उमड़ती हुई चली आ रही हो। वायु इस मेघमाला के साथ क्रीड़ा करता हुआ अठखेलियाँ किया करता है। बीच में बकपंक्ति की शोभा चित्त को मोह लेती है। कभी-कभी घटा घहराती है। बिजली चमकती है, रिमझिम-रिमझिम बूँदें गिरने लगती हैं। वृक्ष, लता और पौधे धुलकर निखर जाते हैं। खेत हरियाली में सन जाते हैं। जिन लोगों ने किसी पहाड़ी प्रदेश में रहकर सावन का महीना बिताया है वे मैदान के प्रदेशों से भिन्न प्रकार का ही अनुभव करते हैं। पहाड़ी प्रदेशों में इस समय न तो कहीं कीचड़ दिखाई पड़ता है और न किसी प्रकार की गंदगी। परन्तु मैदान के गांवों का हाल इससे कुछ विलक्षण ही होता है। इस महीने में हर एक गाँव में, बाग में या तालाब के किनारे झूले लगाये जाते हैं जिनमें गाँव के स्त्री-

पुरुष, युवती और युवक अलग-अलग झूला झूलते हैं। इन झूलों के लिए कितनी तैयारी की जाती है। सुन्दर रंगीन रस्सी से काठ के तख्ते को बांधकर पेड़ की मोटी डाली से लटका देते हैं। इसी सुसज्जित झूले पर बैठकर नरनारी सावन का आनन्द मनाते हैं तथा सरस गीत गाकर अपने चित्त को रसस्निग्ध बनाते हैं। इस समय जो गीत गाये जाते हैं वे ही 'कजली' के नाम से विख्यात हैं। इस महीने के मादक प्रभाव से कोई भी रसिक हृदय अछूता नहीं बचता। संस्कृत तथा हिन्दी के मान्य कवियों ने अपने काव्यों में सावन के मनभावन रूप का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। महाकवि कालिदास का कहना है कि मेघ के दर्शन पर सुखी होनेवाले व्यक्ति का भी चित्त अचानक उत्सुक बन जाता है, प्रिय के विरह से व्याकुल जीव की तो कथा ही न्यारी है।

बात बिलकुल ठीक है। इसीलिए सावन में विरह की वेदना से व्याकुल कामिनी अपने हृदय के भावों को अपने सरस गीतों में प्रकट किया करती है। देखिये मिथिला की किसी महिला के हृदय की भावधारा मैथिल-कोकिल विद्यापति के इस कमनीय गायन में किस प्रकार फूट रही है—

सखि हे हमर दुःखक नहि ओर।
ई भर बादर माह भादर,
सून मन्दिर मोर।
झंपि घन गरजन्ति संतति
भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन
सघन खर सर हंतिया।
कुलिस कत सत पात, मुदित
मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाकुक
फाटि जायत छातिया।
तिमिर दिग भरि घोर जामिनि
अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि बिना दिन रातिया।

इस गीत में सावन के दृश्य का भी सुन्दर संकेत है—बिजली का चमकना, मोर का नाचना, डाहुक पक्षी की पुकार, दादुर का रटना, रात में घना अन्धकार। चित्त को प्रसन्न करने वाली समग्र सामग्री विद्यमान है, परन्तु चित्त को रमाने वाला प्रियतम ही नहीं है। इसीलिए यह समस्त साधन सूना तथा नीरस प्रतीत हो रहा है।

पति ने अपनी प्रियतमा से रात को आने का वादा किया है। अतः वह पूरी तैयारी के साथ उसकी बाट जोहती है। परन्तु पतिदेव का दर्शन ही नहीं होता। नितान्त खिन्न मन होकर वह उसे उलाहना दे रही है। देखिये, यह गीत कितना सीधा सादा और हृदयाकर्षक है—

हरि हरि कहाँ बदे तुम रात
कहाँ रहि जालऽ ए हरी
सोने के थारी में जेवना परोसलों
हरि - हरि जेवना लिये हम ठाढ़ि
कहाँ रहि जालऽ ए हरी ॥ १ ॥
झांझर गेड़ुआ गंगाजल पानी
हरि - हरि पनिया लिये हम ठाढ़ि
कहाँ रहि जालऽ ए हरी ॥ २ ॥
लौंगा में डोभि-डोभि बिरवा लगवलों
हरि - हरि बिरवा लिये हम ठाढ़ी
कहाँ रहि जालऽ ए हरी ॥ ३ ॥
फूल नेवारी क सेजिया डसउलों
हरि - हरि सेजिया लिये हम ठाढ़ि,
कहां रहि जालऽ ए हरी ॥ ४ ॥

किसी कामिनी का प्रियतम सावन में परदेश जा रहा है। वह अपने पति से पूछती है कि हे हरी, आप तो परदेश चले जा रहे हैं। आपके बिना मैं कैसे जीऊँगी? पति ने उत्तर दिया—हे धनी, सब्र करना और सन्तोष करना और वज्र की छाती करके जीती रहना। विश्वास रखना, मैं शीघ्र ही आऊँगा। अपने कोमल हृदय को जरा कड़ा करना। इन विरह के दिनों को आँख मारते-मारते बिता देना। मुझे आया ही हुआ समझो। सासु से पूछने पर सासु भी वही उत्तर देती है। देखिये यह गीत कितना सरस तथा मंजुल है—

हरि - हरि रउरा चलबि परदेश
जिअबि हम कइसे ए हरी।
धनी हो, सबुर कर, सन्तोख
बजरकर छाती ए हरी ॥ १ ॥
चम्पा फूलि रही चारु दारी
बेइल सारी रात ए हरी।
दिनवा जे बीते हरि सखिया सहेलरि
रतियाँ सैंयाँ रउरी सोच
जिअबि हम कइसे ए हरी ॥ २ ॥

मचिया बइठल तुहुँ सासु हो बढ़इतिन;
सासु हरी मोरे गइले विदेस
जिअबि हम कइसे ए हरी ।। ३ ।।
बहू हो सबुर कर सन्तोख
बजर कर छाती रे हरी ।। ४ ।।

सावन का एक दूसरा दृश्य देखिये। पति परदेश से लौट आया है, पर अपनी प्रियतमा के साथ न तो झूला झूलता है, और न फूलों से सजी हुई सेज को सुशोभित करता है। इसीलिए वह प्रियतमा के उपालम्भ का भाजन बनता है। देखिये, कितने सीधे-सादे शब्दों में वह अपना भाव प्रकट करती है—

सोने के थारी में जेवना परोसलों,
जेवना ना जेवें
जेवना जेंवे राधिका प्यारी साथे गिरधारी ना।
चनन के पीढ़ई रेसम के डोरी
झूलना ना झूले,
झूलवा झूले राधिका प्यारी,
साथे गिरधारी ना ।। २ ।।
फूलवा हजारी के सेजिया डसवलों
सेजिया ना सोवे,
सेजवा सूते राधिका प्यारी
साथे गिरधारी ना ।। ३ ।।

सावन के गीतों में विरहवर्णन की ही प्रचुरता है। ठीक ही है, संयोग से विप्रलम्भ शृंगार की सुन्दरता अधिक होती है। संयोग में जितना आनन्द नहीं आता उतना आनन्द वियोग में आता है। इसीलिए प्रोषितपतिका की इस गीत में बड़ी पीर भरी हुई है, यह हृदय पर गहरी चोट कर रही है। इस लम्बे गायन की सुन्दरता परखने के लिए एक ही दो कड़ी सुनिये—

घिरि आइलि रे बदरिया सावन की,
सावन की मनभावन की।
घिरि आइलि रे बदरिया सावन की ।। १ ।।
अति निरमोही पिय ना आइलें,
अन्सा अब ना आवन की।
घिरि आइलि बदरिया सावन की ।। २ ।।
सखियाँ झूला हिलिमिलि झूलत,
मोर जियरा तरसावन की।
घिरि आइलि रे बदरिया सावन की ।। ३ ।।

इस प्रकार लोककाव्य में भी ऋतुओं का चमत्कारी तथा हृदयग्राही वर्णन उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार संस्कृत तथा हिन्दी के शिष्ट काव्यों में। प्रकृत्ति का आकर्षण सार्वभौम होता है। मानव हृदय में सरसता एक रूप से प्रवाहित होती है चाहे वह मानव ग्राम में अपना सामान्य जीवन बिताता हो या नगर में अपना विशिष्ट वैभव युक्त जीवन व्यतीत करता हो।

(७) गीतों में कवित्व

भोजपुरी गीतों में चित्रित दुनिया का संबंध गाँवों से है। परन्तु इनमें प्रदर्शित भावों में सर्वथा नागरिकता भरी पड़ी है। काव्य के जितने आवश्यक अंग और उपांग हैं—रस, अलंकार, गुण—उन सबका सन्निवेश उचित स्थान पर इन गीतों में पाया जाता है। इन गीतों में आलंकारिक चमत्कार की कमी नहीं है, परन्तु गीतों के अलंकारों में एक विचित्र प्रकार की सादगी है, नवीनता है जो काव्य की कृत्रिम कविताओं में देखने को नहीं मिलती। काव्य की अधिकांश उपमाएँ परम्परायुक्त होने से बासी तथा फीकी सी प्रतीत होती हैं परन्तु इन भोजपुरी गीतों की उपमाएँ वैसी ही स्वाभाविक हैं जैसा जंगल का अपने आप खिलने वाला फूल। इस गीत में मुँह सूरज की ज्योति से, आँख आम की फली से, नाक सुग्गे की 'ठोर' से, भौंहें चढ़ी कमान से, ओठ काटे हुए पान से, बाँह सोने की छड़ी से, पेट पुरइन के पत्ते से, पीठ धोबी के पाट से, पैर केले के खम्भा से उपमित किये गये हैं। साहित्यिकों से यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ये सब उपमाएँ काव्य-जगत् में बिल्कुल अनूठी और अपूर्व हैं—

गहिड़ि नदिया अगमि बहे राम पनिया।
पिया चलेले मोरङ्ग देखवा, बिहरेला राम छतिया॥
जो हम जनितों ए लोभिया, जइब रे बिदेसवा।
पिया के पएतवा ए लोभिया, अचरा छिपइतों। १॥
दह रोवे चकवा चकइया।
बिछोहवा कइले राम बलमू॥ २॥
मुंह तोरे हवे ए लोभिया, सुरुज के जोतिया।
आँखि तोर हवे ए लोभिया, असवा के फरिया॥ ३॥
नाक तोर हवे ए लोभिया, सुगवा के ठोरवा।
भहुँ तोर हवे ए लोभिया, चढल कमनिया॥ ४॥
ओठ तोर हवे ए लोभिया कतरल पनवा।
और तोर हवे ए लोभिया, कड़ि कड़ि मोछिया॥ ५॥
बाँहि तोर हवे ए लोभिया, सोबरन सोंटवा।
पेट तोर हवे ए लोभिया, पुरइन पतवा॥ ६॥

पीठि तोर हवे ए लोभिया, धोबिया के पटवा ।
गोड़ तोर हवे ए लोभिया, केरवा के थुन्हना ।। ७ ।।

कहीं-कहीं इन गीतों में भाव इतने अनूठे और अनोखे हैं कि उन भावों पर कितने काव्य निछावर किये जा सकते हैं। इस गीत की कन्या ससुराल से लौटकर अपने पिता से ससुराल की शिकायत करती है कि तुमने किस घर में मेरी शादी की ? इस पर पिता कहता है कि ऊँचे स्थान पर मैंने 'काकर' बोया, जिसकी डाल जंगल में दूर-दूर तक फैल गई। उसकी बतिया (छोटा फल) देखने में तो बड़ी सुहावनी जान पड़ती है, परन्तु आगे चलकर हमें क्या मालूम कि उसका फल मीठा होगा या तीता ?

ऊँच निवास बेटी काँकर बोअलों,
रन बन पसरेले डालि रे ।
आरे ककरी के बतिया ए बेटी देखत सुहाव,
ना जानो तींत कि मीठ ए ।।

इस गीत का भाव बड़ा ही सुन्दर है। शोभन वर और सम्पन्न घर देख कर पिता ने अपनी कन्या का विवाह तो कर दिया, परन्तु बेचारे को क्या पता कि आगे चलकर लड़की को सुख होगा या दुःख। इसकी उपमा ककड़ी से देकर गीत के कर्ता ने इसमें जान डाल दी है।

उपमा की छटा और कल्पना की उड़ान तो आपने देख ही ली, अब रसों के परिपाक का भी आस्वादन कीजिए और यदि आपका जी भरे तो दिल खोल कर दाद दीजिए।

(८) गीतों में रस परिपाक

भोजपुरी गीतों की शब्दार्थ-माधुरी बड़ी सुसम्पन्न है। शब्द माधुर्य के साथ-साथ अर्थ चमत्कार की कभी कमी नहीं है। भोजपुरी (जैसा हमने ऊपर सप्रमाण दिखलाया है) मैथिली और बँगला की बहन है। अतः यदि इसमें इन भाषाओं के समान शब्द सौष्ठव दीख पड़ता है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भोजपुरी में ढलते ही कविता में एक अद्‌भुत शाब्दिक मोहकता उत्पन्न हो जाती है—ऐसी मोहकता कि आस्वाद लेनेवालों को बरबस मस्त बनाये देती है। बँगला का माधुर्य प्रसिद्ध ही है। उसी के समान, यदि बढ़कर नहीं, माधुर्य आपको दीख पड़ेगा इन भोजपुरी के भी गानों में। अर्थ-चमत्कार की भी न्यूनता नहीं है। परन्तु सबसे बढ़कर इन गीतों की साहित्यिक विशेषता है रस से ओतप्रोत होना। परिस्थिति के अनुकूल समुचित रस के आस्वादन कराने की विचित्र शक्ति इन लोकगीतों में पाई जाती है। विवाह तथा सोहर के गीतों में शृंगार का सुन्दर नमूना मिलता है तथा मन्द हास्य का उज्ज्वल दृष्टान्त। शिव-पार्वती के वैवाहिक

गीतों में हास्य का भरपूर परितोष है। गवना के गीतों में जब कन्या अपने मायके छोड़कर पति के घर पर पहले,पहल जाती है, करुण रस की सरिता उमड़ पड़ती है। कन्याओं का करुण रोदन इतना निश्छल तथा प्रभावशाली होता है कि पत्थर का भी कलेजा पसीज जाता है। शीतला माई तथा छठी देवी की पूजा के अवसर पर भक्ति-भाव के उद्रेक का मनोरम प्रसङ्ग आता है। गीतों की सरसता ही इनकी अपनी विशेषता है। मधुर शब्द, परिचित भाव, गृहस्थी का मनोरम वातावरण, अवसर की उपयुक्तता—सब मिलाकर इन गीतों में एक विचित्र तन्मयता उत्पन्न करने की क्षमता प्रदान करते हैं।

(क) शृङ्गार रस

विवाह-सम्बन्धी गीतों में श्रृंगार रस का मजा हमें अधिक मात्रा में मिलता है। हमारे यहाँ विवाह एक दीर्घ व्यापार है जिसके भीतर अनेक अवान्तर व्यापार सम्मिलित किये जाते हैं। वररक्षा, तिलक, वर का कन्या के घर जाना, परिछन, कन्या निरीक्षण, (गुरहथी), सिन्दूर-दान आदि रस्में विवाह के अन्तर्गत हैं। इन अवसरों पर जो पाये गाये जाते हैं उनमें शृङ्गार की पर्याप्त मात्रा है। इनके अतिरिक्त पुत्र-जन्म के उत्सव के ऊपर गाये जाने वाले सोहरों में भी श्रृंगार रसानुकूल सामग्री की कमी नहीं है। श्रृंगार-वर्णन में भोंड़े भावों की गुञ्जाइश नहीं है। समस्त भाव नितान्त उदात्त, पवित्र तथा विशुद्ध है। भोजपुरी गीतों में सोहर अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। गर्भिणी की मानसिक अवस्था का जो चित्र इन गीतों में अंकित किया गया है वैसा सजीव वर्णन अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। गर्भिणी के शरीर तथा मन पर जो जो विकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं उनका सूक्ष्म निरीक्षण तथा विशुद्ध वर्णन इन गीतों को साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनाये देती हैं।

गर्भिणी की शरीर-यष्टि का कितना सहानुभूतिपूर्ण वर्णन इस मनोरम गीत में किया गया है—

लीपी पोती अइलों ओबरिया[1] अँगनवा में ठाढ़ भइलों रे।
ललना राजा के देरिया भितीआ ओठँघे, हरदी मुंहवा पीयर रे॥ १॥
दुअरा से अइले नन्दलाला, नाजो[2] के मुंहवा देखेलें हो।
आमा दुलहिनी के ओठवा झुरइलें, हरदी मुँहवा पीयर रे॥ २॥
सासु मोरी मुँहवा निरेखे, ननद मुँहवा चूमेले हो।
बहुआ धीरे-धीरे अँगव[3] बेदनिया[4], होरिल तोहरा होइहें हो
सोहर हम सुनाइबी रे॥ ३॥

१. भीतरी घर। २ सुकुमारी, नाजुक बदन।
३. सहो। ४. बेदना, पीड़ा।

आपन मइया जहू रहीती बेदन बाँटी लीहीतीहू रे।
ललना प्राभू जी के मइआ नीरवादरदी[1] त होरिला होरिला करे
बेदन बहूत माँगेले रे ॥ ४ ॥

जनी केहू मुँहवा निरेखो, त जनी गलवा ये चूमसु रे।
ललना दुअरा सुतेला समझतआ[2] बोलाय घरवा ये ले आओ रे ॥ ५ ॥
एहि अवसर पीआ के भेंटी तो तो लाते मूँके मरीतों हू रे।
ललना लपकी डँड़वाँ धरीतों बेदन आधा बटीतों हू रे ॥ ६ ॥
तब तूहूँ मंथ बँवाधुवलू त ताजावा लगवलू[3] हू हो।
पाजी अब जीयरा परल बा सकेतवा[4] कवनी सकिया ये चलाइं रे । ७ ॥

प्रसव वेदतु से व्याकुल कोई सुकुमारी अपनी दशा का विशद वर्णन सुना रही है कि मैंने घर के भीतरी भाग को लीप पोत दिया है; आगन में आकर खड़ी हूँ। अपने राजा (पिया) की दुलारी मैं भीत का सहारा लेकर लेट रही हूँ और मेरा मुँह हल्दी के समान पीला पड़ गया है ॥ १ ॥

नन्दलाल (प्रियतम) द्वार पर से भीतर आये, सुकुमारी का मुँह देखा (माता से कहने लगे कि) ऐ माता ! दुलहिन का होठ सूख गया है और हरदी के समान मुँह पीला पड़ गया है ॥ २ ॥

सासु मेरा मुँह देखती है, ननद मुँह को चूम रही है; ऐ बहूजी, इस पीड़ा को धीरे-धीरे सह लो। तुम्हें पुत्र होगा और मैं सोहर सुनाऊँगी ॥ ३ ॥

यदि अपनी माता होती तो पीड़ा बाँट लेती, प्रभु जी (पति जी) की माता बड़ी निर्दयी है, केवल 'लड़का' 'लड़का' चिल्ला रही है और अधिक पीड़ा माँगती है ॥ ४ ॥

(गर्भिणी कह रही है कि) कोई मेरा मुँह न तो देखो न गाल को चूमो; द्वार पर सोनेवाले मेरे सामी (पति) को बुला कर जरा घर के अन्दर तो लाओ ॥ ५ ॥

यदि इस समय अपने प्रिय को पाती, तो लात-मूकों से उनकी खबर लेती। लपककर मैं कमर पकड़ लेती और आधी वेदना बाँट लेती ॥ ६ ॥

(अपने पुत्र के मरम्मत किये जाने की बात सुनकर सासु खीझ उठती है और बहू को व्यंग्य सुना रही है कि) तब तो तुमने शौक से शृङ्गार किया, माथ बँधाया और शिरोभूषण पहना; अब, पाजी कहीं की, तुम्हारे प्राण संकट में पड़ गये हैं; अब कौन शक्ति चलाना चाहती हो ? अपने ही सहो। मेरे बबुआ को इसके लिए क्यों उलाहना दे रही हो ?

---

१. निर्दयी। २. साझी, पति। ३. शिरोभूषण। ४. संकट।

मुझे यह गीत गर्भिणी विषयक गीतों में सबसे अधिक रमणीय जँचता है। इसमें गर्भिणी की शारीरिक विकृति की और पीड़ा के कारण विह्वलचित्त की दशा से जिस प्रकार सहृदयों के हृदय में सहानुभूति की सरिता वह चलती है, उसी प्रकार 'प्रभु जी की निरदर्दी माता'—सासु के लिए असीम धिक्कार मुँह से अनायास निकल पड़ता है। सासु के दिल में बहू के लिए ममता न होकर बेहद निर्दयता का भाव घर कर लेता है। गर्भिणी का यह चित्र कितना दयनीय है—पाठकों के दिल में चित्र कितना दर्द पैदा करता है।

नारी-जीवन को सार्थकता

नारी-जीवन की सार्थकता मातृत्व में है। जब तक नारी माता नहीं बनती तब तक उसका जीवन निरर्थक है। इस गीत में इसका विवेचन भली भाँति किया गया है—

बाय बहेले पुरवईआ, उतरही झकझोरेले हो
ए ललना, रुकुमिनी सुतेले रे ओसरवा, त गोदिया भतीज लेई रे।
घर में से नीकले भउजइआ, अँगनवा में ठाढ़ भइली रे
ए ललना, लपकी के छोवेले भतीजवा, रुकमिनी मनवा दुखीत रे।
घर में से निकलेली आमा रुकुमिनी समुझावे ले रे
ए रुकुमिनी का ओही अनका बलकवा, तोर जनम अकारथ रे॥
का ओही आमावा का खइले, अठीलीया का चटलेइ हो
रुकुमिनी, का ओही अनका बलकवा, तोर जनम अकारथ रे॥
लाल पीयर ना पहीरनी, चउक ना बइठली हू हो
रामजी गोदिया बलक ना खेलवलीं, मोर जनम अकारथ रे॥

भावार्थ—पुरवैया हवा बहती थी और उत्तरी हवा पेड़ों को हिला रही थी। रुक्मिणी (नायिका) गोद में भतीजा लेकर बरामदे (ओसारा) में सो रही थी। उसकी भौजाई ने घर से निकलकर बालक को छीन लिया। रुक्मिणी का मन उदास पड़ गया। माता घर में से निकलकर अपनी पुत्री को समझा रही है कि दूसरे के बालक से क्या पुत्रवती बनना है तुझे? तेरा जनम तो व्यर्थ हो गया है। दूसरे की दी गई चीज से कब तक गुजारा हो सकता है। दूसरे के दिये आम का स्वाद लेना तथा गुठली का चाटना जैसे बेकाम है, उसी प्रकार दूसरे के बालक से पुत्रवती कहलाने का शौक हँसी का विषय है। पुत्रहीन नारी का जीवन तो व्यर्थ होता ही है। माता के समझाने पर पुत्री स्वयं कह रही है कि माता, तेरा कहना सोलहो आने सच है। मेरे जीवन की व्यर्थता स्पष्ट है। मैंने लाल और पीला कपड़ा नहीं पहना, न तो पति के साथ किसी शुभ-कार्य में देवाराधना के लिए चौके पर बैठी और न मैंने गोदी में बालक ही खेलाया। सचमुच मेरा जीवन व्यर्थ है!

अन्तिम कड़ी में सुन्दरी की हार्दिक इच्छा की कैसी सुन्दर अभिव्यक्ति है ! बालम के बिना सूनी सेज तथा बालक के बिना सूनी गोद का मनोरम वर्णन कितने अच्छे शब्दों में किया गया है इन सोहरों में । एक सुन्दरी कह रही है—

एक सौ अमवा लगवलीं सवा सौ जामुन हो ।
अहो रामा तबहुँ न बगिआ सोहावन यक रे कोइलि बिनु ॥ १ ॥
नइहर में पाँच भइया त सात भतीजा बाड़े हो ।
अहो रामा तबहुँ न नइहर सोहावन यक रे मयरिया बिनु ॥ २ ॥
एक कोरा लिहलों मैं भइया दूसरे कोरा भतीजवा हो ।
अहो रामा न तबहुँ गोदीया सोहावन अपना बालक बिनु ॥ ३ ॥
पलँग पर सेजिया डसवलों त फूल छितरइलों हो ।
अहो रामा तबहुँ न सेजिया सोहावन एक बलम बिनु ॥ ४ ॥

मैंने एक दो नहीं बल्कि पूरे सौ आम के पेड़ और जामुन के सवा सौ पेड़ लगाए हैं, परन्तु यह बगीचा केवल एक कोयल के बिना सुहावना नहीं लगता ॥ १ ॥

मेरे मायके में भाई पाँच है और भतीजे सात हैं, परन्तु तो भी स्नेहमयी माता के बिना मायके में कभी अच्छा नहीं लगता ॥ २ ॥

एक कोरे में मैंने अपना भाई ले रखा है और दूसरे कोरे (क्रोड़) में मैंने अपना भतीजा ले रखा है, परन्तु अपने बालक के बिना मेरी गोदी सुहावनी नहीं लगती ॥ ३ ॥

पलँग के ऊपर मैंने सेज (बिस्तरा) बिछा दिया है, और उसके ऊपर फूल बिखेर दिये हैं, परन्तु तोभी केवल एक प्रियतम के बिना फूलों से सजी सेज सोहावनी नहीं लगती ॥ ४ ॥

इस गीत के भाव सुन्दर हैं ही, परन्तु 'मयरिया' शब्द के भीतर कितनी ममता भरी हुई है— वह ममता जो न तो 'मातः' में विद्यमान है और न 'जननी' में । 'माई' शब्द में मोहकता जरूर है, परन्तु वह 'मयरिया' शब्द में वर्तमान कोमलता तथा मार्मिकता तक पहुँच नहीं सकता । 'सहृदया एव प्रमाणम्' ।

भारतीय घरों में सन्तानहीन नारियों का जीवन कितना दुःखमय बन जाता है ! उनके शरीर में कितना ही अधिक सौन्दर्य का साज हो, वे भले ही भूतल की अप्सराएँ हों, परन्तु पुत्र के बिना सब निरर्थक हैं । नारी की सार्थकता मातृत्व में है और उसी सुख से वंचित होने के कारण यदि वे अपना जीवन भारभूत समझती हों, तो अचम्भे की कौन सी बात है ? एक बन्ध्या नारी अपनी रामकहानी कितने दर्दनाक शब्दों में सुना रही है—

पनवा अइसन हम पातरी कसइली अइसन ढुरहूर[1] हो।
ये लालना फुलवा अइसन सुकुवार[2], चनन अइसन गमकीले हो।
इ तीन फल जहू पइतों अँगनवा में लगइतों हू रे।
ये लालना राम मोर बइठे पुजनरीया हम लोहीं लोहि चढाइबी रे।
एक दिन ऐ रामजी उहें रहलों जाही दिन बीयाह भइलें हो।
नीहूरी नीहूरी चरन छुयल चीटूकी सेनुरा लावेल हो॥
एक दिन ए राम जी उहे रहलों जाही दिन गवन कइली हो।
रामजी तोसक तकिया लगल नजरीया ना उतारीले हो॥
जइसन बन में के कोइलरी बन ही बन कुहूकेले हो।
राम हो ओइसे जीयरा कुहूके हमार त एक रे बलक[3] बिनु रे॥
जइसन बोरसी के आगीआ[4] धीरे धीरे तलफे ले हो।
राम हो ओइसे जीयरा तलफे हमार त एक रे बलक बिनु रे॥

मैं पान सी पतली और सुपारी के समान गोल और चिकनी हूँ। फूल की भाँति मैं सुकुमार हूँ और चन्दन के समान मैं गमकती (सुगन्ध दे रही) हूँ। यदि सुन्दर फूलों को पाती, तो आँगना में लगाती। प्रियतम के पूजावसर पर मैं इन्हें चुन चुनकर उनके सामने रखती। एक दिन वह था जब मेरी शादी हुई, झुक-झुककर मैंने गुरुजनों के चरण छुए और चिटुकी भर कर सेन्दुर लगाया। एक दिन वह था जब गवना आने पर मैं तोशक लगाती थी और नजर नहीं उतारती थी, परन्तु आज ? हाँ, आज वे मेरे मधुर दिन अतीत की स्मृति बन गए। 'ते हि नो दिवसा गताः।' अब तो बन में कोयल के समान, बालक के बिना मेरा दिल कूक उठता है, और जिस तरह बोरसी (अँगीठी) की आग धीरे-धीरे सुलगती है, उसी तरह मेरा जियरा बालक के बिना रात दिन ताप से सुलगता रहता है। क्या करूँ ? कौन दवा है इस महान् रोग की ?

यह गीत साहित्यिक सौन्दर्य से भरपूर है। पहले छन्द में दी गई उपमाएँ कितनी रुचिर हैं ! भोजपुरी के जानकारों से 'ढूरहूर' शब्द के भीतर जो कवित्व है उसे बतलाने की जरूरत नहीं। यह शब्द गोल-चिकनी चीज के लिए प्रयुक्त होता है—वह चीज जो नयनाभिराम होने के अतिरिक्त छूने में भी सुखद हो। कोयल की कूक साहित्य में नितान्त प्रसिद्ध है, परन्तु बोरसी (अँगीठी) की आग सुलगने की उपमा काव्य-संसार में एक दम नई है। बोरसी में घास-पात और भूसा भरा रहता है, जो झटपट तो दहकता नहीं, परन्तु दहकने पर उसकी आँच इतनी

१. गोल और चिकनी।
२. सुकुमार।
३. बालक (पुत्र)।
४. अग्नि।

कड़ी होती है कि सही नहीं जा सकती। इसी भाव की अभिव्यक्ति इस उपमा से की गई है! संस्कृत में इस आग को 'कुकूलाग्नि' कहते हैं। सीता के वियोग में राम का शरीर कुकूलाग्नि में जलता सा प्रतीत हो रहा है। मदनाग्नि की उपमा कुकूलाग्नि से दी गई है।

अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः ॥

इस गीत में पुत्र की प्राप्ति के निमित्त कोई सुभग सुन्दरी उपदेशों की राह चलने के वास्ते उद्यत है—

गाया त गइलो गजाधर अवरु बेनीमाधव रे।
ये ललना अतना तीरीथी हम कइलों सन्तती नाहीं पाई रे।
सासु ससुर नाहीं मानेलु ननदो ना दुलारेलु हो।
ये ललना भसुरा अलोत कइ ना चललु, बझीनी हो गईलु हो।
सासु ससुर हम मानरी ननदो दुलारबी हो।
ये ललना भसुर अलोत कइ हम चलबों सन्तती हम पाइबी हो।
गँगवा के तीरवा कदम गाछ अवरु चनन गाछ हो।
ये ललना ताही तर ठाढ़ नारायन बालका उरेहे ले हो।

भूषण तथा वस्त्र से सुसज्जित होकर वर जब विवाह के लिए प्रस्थान करता है, तब वह अवसर कितना मनोरम होता है! वर की माता अपनी सहेलियों के साथ उसे परीछने के लिए जाती है और वर के सिर के चारों ओर लोढ़ा घुमा कर संभावनीय बाधाओं के विनाश के लिए प्रार्थना करती है। उसी शुभ अवसर का वर्णन इस गीत में बड़े सुचारु ढंग से किया गया है—

सुनु देवरनिया रे सुनु रे छोटनिया; परिछीना लेहु मोरे राम रे ललनवा।
जैसे गाया गजाधर झलकेले; ओइसन झलके मोरे राम रे ललनवा॥
जैसे काशी में शिव जी झलकेले; ओइसन झलके मोरे राम रे ललनवा।
बाबू दुवरवा झलके मोर अँगनवा; परिछीना लेहु मोरे राम रे ललनवा॥
जैसे भादों के बिजुरी चमकेले; ओइसन चमके मोरे राम रे ललनवा।
जैसे गांगा के लहरि चमकेले; ओइसन चमके मोरे राम रे ललनवा॥
जैसे अजोधा के लाल झलकेले; ओइसन झलके मोरे राम रे ललनवा॥

पुत्र की माता अपनी देवरानी तथा 'छोटानी' से कहती है कि व्याह में जाने वाले मेरे पुत्र को तुम लोग क्यों नहीं परीछ लेती? जिस प्रकार गया में विष्णु, काशी में शिव, भादों के महीने में बिजली तथा गंगा की लहर चमकती है, उसी प्रकार मेरा पुत्र भी सुशोभित हो रहा है। वह कहती है कि जिस प्रकार अयोध्या में श्री रामचन्द्रजी सुशोभित हैं, उसी प्रकार विवाह में सजधजकर जाने वाला मेरा लड़का भी सुन्दर लगता है।

ऊपर के गीत में माता का पुत्र-प्रेम कितना स्वाभाविक तथा सहज है ! इस गीत के प्रत्येक पद से शृङ्गार रस झलक रहा है।

बेटी का विवाह पिता के लिए किसी ग्रहण से कम नहीं होता। सूर्य तथा चन्द्रमा के समान विवाह-काल में भी पिता के ऊपर एक बड़ा ग्रहण लगता है। कन्या राशि पर स्थित होने वाला जामाता दशम ग्रह माना ही जाता है। नवग्रह की शान्ति साधारण चीजों से की जा सकती है, परन्तु-जामता रूपी ग्रह की शान्ति एक कठिन, बहु-साधन-साध्य व्यापार है। दुर्भर जकारों में जामाता जी भी तो एक हैं ! इस वैवाहिक ग्रहण का चित्रण कितने चुभते शब्दों में इस गीत में किया गया है ! भाव की कल्पना जितनी श्लाघनीय है, शब्दों की योजना उतनी युक्तियुक्त है।

कवन गरहनवा बाबा साँझ ही लागे हो
कवन गरहनवा भिनुसार ए।
कवन गरहनवा बाबा मँड़वनी लागेला
कबदोनी उगरह होइ ए ॥ ॥
चान गरहनवा बाबा साँझह लागेला
सुरुज गरहनवा भिनुसार ए।
धीयवा गरहनवा बाबा मँड़वनी लागेला
कबदोनी उगरह होइ ए ॥ २ ॥
हामारा ही बाबा का सोने थरीयवा हो
छुवत झानाझनी होइ ए।
उहे थरीवा बाबा दामादे के दीहितो हो
तब रउवा उगरह होइ ए ॥ ३ ॥
हामारा ही भइया का लीली बछेड़वा हो
सोनवे मढ़ावल चारो पाँव ए।
उहे बछेड़वा बाबा दामादे के दीहीतो हो
तब रउवे उगरह होइ ए ॥ ४ ॥

दही बेचने के लिए कोई ग्वालिन सिर पर मुकुट, गले में मोती की माला तथा पीताम्बर धारण किये चली जा रही है। रास्ते में कन्हैया मिल गए और उनका रास्ता रोकने लगे। ग्वालिनें दूध, दही उन्हें देने के लिए तैयार हैं। परन्तु कन्हैया काम-केलि माँगते हैं और उनको धर्म-च्युत करने को तैयार हैं। तब ग्वालिनें आपस में सलाह करती हैं कि कन्हैया की माँ के पास सब मिल कर चलो और यह उलाहना दिया जाय कि तुम्हारा लड़का हमारा रास्ता रोकता है, तुम उसे मना क्यों नहीं करतीं। ग्वालिनों के उलाहना देने पर उनकी माँ कहती है कि तुम लोग अपनी माँग का सिन्दूर मिटा दो, आँखों में काजल लगाना छोड़ दो

तथा दातों में मिस्सी (काला पाउडर) मत लगाओ। इस पर परिहास-प्रिय ग्वालिनें उत्तर देती हैं कि हम लोग अपने दाँतों में मिस्सी लगावेंगी, आँखों में काजल करेंगी और माँग में खूब सिन्दूर लगावेंगी। इस प्रकार बन-ठन कर हम लोग कन्हैया को ललचावेंगी।

दही बेचे चलली गोवालीनी, सीर पर मुकुट लीहले हो।
आरे गले गजमुकुता के हार, त ओढ़ेली पीताम्बर हो॥
एक बने गइलों दोसर बने, अवरु तीसर बने हो।
आरे बीचवा कन्हइया बटवारावा, डगरी हमरो रोकेला हो॥
दही दूध दीहीले त नाही लेले डगरिया हमरो रोकेले हो।
अरे माँगे ले कन्हइआ जी, के रतिया धरम हमरो छोड़ावेले हो॥
मीलहुँ सखीया सहेलरी, मीली जुली जासो अंगनवा चलहु हो।
ये मइया बरजी ना आपन कन्हइआ, डगरिया हमरो रोकेले हो॥
दही दूध दीहीले त नाही लेले, डगरिया हमरो रोकेले हो।
ये मइया माँगेले कन्हइआ जी, के रतिया धरम हमरो छोड़ावेले हो॥
मेटी घालु सीर के सेनुरवा, नयन भरो काजर हो।
ये बहुआ मेटी घाल दँतवा के मसीया, कन्हइआ तोहरो नाहीं आइहे हो॥
घनी के बइठइबों दाँत मिसिआ, नयन भरी काजर हो।
ये मइआ डाटी फारी करबों इँगुरवा, कन्हइआ के ललचाइब हो॥

(ख) हास्य रस

इन गीतों में स्थान-स्थान पर हास्य रस का भी पुट पाया जाता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इन गीतों का हास्य ग्रामीण होते हुए भी ग्राम्य नहीं है। विवाह के अवसर पर ससुराल में वर के साथ जो परिहास का उल्लेख किया गया है वह कितना मीठा है, कितना विशुद्ध है; यह बात इन गीतों के पाठकों से छिपी हुई नहीं है। कहीं-कहीं इन गीतों का व्यङ्ग इतना चुभता चुटीला तथा अनूठा है कि पढ़नेवाले को अचरज होता है।

सुन्दर चित्रों के अंकन करने में चित्रकार जितने सिद्धहस्त दीख पड़ते हैं उतने वे कुरूप, भद्दे चित्रों के चित्रण में नहीं। कुरूपता का चित्रण भी एक विशेष कला है। अनमोल, अनगढ़ अवयवों को एक साथ जुटा देने से ही कोई चित्र कला की दृष्टि से प्रशंसनीय नहीं हो सकता। आदर्श सती स्त्रियों के चित्रण से साहित्य भरा पड़ा है परन्तु कुलटा स्त्रियों का कलापूर्ण चित्र बहुत कम मिलता है। इस दृष्टि से कर्कशा स्त्री का यह चित्रण कितना हास्यरसानुकूल है।

ऐ पुरुष ! तेरा भाग्य धन्य है जो तुझे ऐसी कर्कशा स्त्री मिली है। सात घड़ी तक वह दिन में रोती है, बाद में झाड़ू उठा कर झुक झुककर आँगन बुहारती है और घर भर के सब लोगों को गाली देती जाती है। टूटे घर के ऊपर

कौवा रो रहा है, उसी समय घर में तीन अतिथि चले आए। तब वह स्त्री कहती है कि तुम लोग बैठो, मैं उपले इकट्ठी करके ला रही हूँ। उसने हांड़ी में भर करके पानी डाल दिया और उसमें केवल तीन ही चावल डाले। कठौता भर माँड़ निकाला और उस माँड़ को अतिथियों से पीने के लिए कहने लगी। उन लोगों के लिए उसने सात सेर की सात रोटियाँ तैयार कीं, परन्तु अपने लिए नव सेर का एक ही लिट्ट लगाया। फिर गाली देती हुई कहने लगी कि तुम दुष्टों ने सातों रोटियाँ खा डाली, परन्तु कुलश्रेष्ठा मैंने केवल एक ही खाई। वह दरवाजे पर बैठकर तेल लगाती है, माँग में सिन्दूर लगाती है। अपना आँचर पसार कर सूर्य से यही प्रार्थना करती है कि मैं विधवा कब हो जाऊँगी।

धनि धनि रे पुरुष तोरि भागि, करकसा नारि मिली।
सात घरी दिन रोय के जागी लिहिन बढ़निया उठाय।
निहुरे निहुरे अँगना बटोरे, घर भर को गरिआय॥
करकसा नारि मिलि॥ १॥
बखरी पर कौवा रोवे, पहुना अइलें तीन।
आव पाहुन घरमाँ बैठ, कंडा लाऊँ बीन।
करकसा नारि मिली॥ २॥
हँड़िया भर के अदहन दीहली, चाउर मेरवली तीन।
कठवत भरि के माँड़ पसवली, पिय हिलोर हिलोर॥
करकसा नारि मिली॥ ३॥
सात सेर के सात पकवली, नव सेर का एक।
तू दहिजरऊ सातो खइलः, हम कुलवन्ती एक॥
करकसा नारि मिली॥ ४॥
डेहरी बैठे तेल लगावै, सेंदुर भरावै माँगि।
आँचर पसारि कै सूरज मनावै होइहौं कब मैं राँड़ि।
करकसा नारि मिली॥ ५॥

(ग) करुण रस

भोजपुरी गीतों में करुण-रस की मात्रा अत्यधिक दीख पड़ती है। यह करुण रस अनेक अवसरों पर विभिन्न परिस्थितियों में प्रवाहित होता हुआ दीख पड़ता है। इस रस की अभिव्यक्ति इन गीतों में तीन अवसरों पर विशेष रूप से होती है—बिदाई, वियोग और वैधव्य। इन तीनों अवसरों पर सुखमय जीवन का अवसान हो जाता है, तथा दु.ख का नया अध्याय प्रारम्भ होता है। जीवन के वसन्त में अचानक पतझड़ शुरू हो जाता है। ये तीनों अवसर मनुष्य के कोमल हृदय पर गहरी चोट करनेवाले होते हैं। बिदाई के अवसर पर लड़की का माता-पिता से बियोग होता है, वियोग में पति से बिछोह होता है और वैधव्य में अपने प्रियतम से

सदा के लिए आत्यन्तिक विच्छेद हो जाता है। यही कारण है कि इन गीतों में करुण-रस की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। जिस प्रकार भवभूति की करुण कविता सुनकर बज्र का हृदय फट जाता है और पत्थर भी पसीज जाता है, उसी प्रकार इन करुण रस से ओतप्रोत गीतों को पढ़कर पत्थर के समान कठोर पुरुष का भी कलेजा आँसुओं के रूप में पसीज-पसीजकर बाहर निकल पड़ता है।

"आँसुन के मग जल बह्यो हियो पसीज पसीज"

बेटी की बिदाई—कन्या की बिदाई का समय कितना करुणोत्पादक है, इसे शब्दों में बतलाने की जरूरत नहीं होती। पितृगृह में स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन बितानेवाली, दुलार से पाली गई कन्या एक अनजान, अपरिचित घर में जाती है; पिता के घर के दुलार की याद उसके हृदय को मसोसने लगती है। और उसकी मानसिक वेदना आँसुओं की झड़ी के रूप में बहती दीख पड़ती है ऐसे अवसर पर बड़े-बड़े धीरों की भी धीरता का बाँध टूट जाता है, साधारण लोग किस गिनती में हैं। कालिदास ने शकुन्तला की बिदाई के अवसर पर उद्विग्न-चेता महर्षि कण्व के मुख से जिस भावोद्‌गार को अभिव्यक्त किया है, वह साहित्य-वेत्ताओं से अपरिचित नहीं है। इस प्रसङ्ग का मार्मिक चित्रण इन गीतों में उपलब्ध होता है।

आठ काठ की बनी डाँड़ी या पालकी पर चढ़कर बधू पति-गृह जा रही है। इस पर उसका सगा भाई उसे पालकी से उतर जाने को कहता है। वह उसे अपने ही घर रखने की बात कहता है, परन्तु बहिन बोल उठती है कि ऐ मेरे भाई, मेरी डाँडी छोड़ दे, मुझे जाने दे। जानते हो मेरा बोझा कितना है। तुम सात लौंड़ियों का भार मजे में सह सकते हैं; उन्हें देखकर तुम खिला-पिला सकते हो, परन्तु मेरा भार तुम सह नहीं सकते—

छोड़ु छोड़ु भइआ डँड़ियावा घरे जाये रे देउ।
सातो लउड़ियाँ के भारावा, ए गो हमारो नाहीं॥

कैसी दीनता है इस कन्या की !

× × ×

बिदाई के समय माता पुत्री को समझा रही है कि घबड़ाना मत, मैं तेरे भाई को ख़बर लेने के लिए जरूर भेजूंगी। परन्तु जेठे भाई के भेजने में कन्या को विश्वास नहीं होता। वह कहने लगती है कि तुम बासी भात खाने को देते समय क्रुद्ध हो जाया करती थी और फलफूल (केन) खरीदने के समय भी मुझे लुलुआ देती थी, लो अब मैं चली। अब मेरे बासी भात को रखे रहना और फल खरीदने के पैसे से धेनु गाय खरीद कर स्वयं दूध पीना—

हमारा ही बसिया के आमा धरिह बार-बार।
हमारा ही केनवा के आमा कीनीह धेनु गाय॥

बेटी के ये व्यंग्य वचन बिल्कुल सच्चे थे। उसका बर्ताव सचमुच ऐसा ही था। इन वचनों से माता की आँखें खुल जाती हैं और कहती है कि उसकी छाती पत्थर की है। भला होता, यदि उसकी छाती फट जाती—

चले के त चललु हो बेटी दीहलु समुझाई।
आरे पथल के छतिया हो बेटी बीहरि बलु जाई॥

परन्तु प्यारी माता का हृदय पुत्री के प्रति दयारहित हो नहीं सकता। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'। दृश्य बदलता है। पुत्री की सवारी बनबीहड़ को पार करती दूर निकल जाती है। वह पालकी ओहार (ढकने वाली चादर) तनिक हटाकर क्या देखती है कि उसका भाई उसके पीछे-पीछे आ रहा है। माता सच्ची निकली। भाई को देख बेटी का हृदय माता के लिए बेचैन हो उठता है और वह अपने भाई को लौटा देती है। माता अटारी पर खड़ी है। पुत्र को लौटा देख झट झिड़कने लगती है कि मेरे रतन को तू कहाँ रख आया? मेरी बेटी को किस बन-बीहड़ में छोड़ आया? भाई 'अर्थो हि कन्या परकीय एव' की दुहाई देकर माता को समझाता है।

इस गीत में माता के कोमल हृदय तथा अकृत्रिम स्नेह की अभिव्यक्ति कितने दर्दनाक शब्दों में की गई है!

कन्या की बिदाई के समय माता-पिता के रोने का पारावार नहीं है। पिता के रोने के कारण गंगा में बाढ़ आई है। माता के रोने के कारण उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया है, भाई के रोने से उसके पैर की धोती भींग रही है, परन्तु भावज के नेत्र में आँसू का बूँद भी नहीं है—

बाबा के रोवले गंगा बढ़ियली
आमा के रोवले अनोर।
भइया के रोवले चरन धोती भींजे
भउजी नयनवा न लोर॥

कन्या के लौट आने की सब कामना करते हैं, परन्तु उस कामना में प्रेम के विकास के अनुसार तनिक भिन्नता भी है। परिवार के लोगों की मानसिक-वृत्ति परीक्षा-योग्य है। माता कहती है कि बेटी, तू रोज उठकर आया कर, पिता कहते हैं छ मास पर आना; भाई कहता है कि कल ही प्रयोजन है—उत्सव है, और भावज कहती है दूर चली जा। जान पड़ता है कि भावज की मनोवृत्ति का आश्रय लेकर ही निरुक्तिकार ने 'दुहिता' की व्युत्पत्ति 'दूरे हिता' (दूर रहने पर हित करनेवाली या दूर पर स्थापित की गई) की है। गीत के शब्दों में—

आमा कहेली बेटी निति उठि आव,
बाबा कहेलें छव मास।
भइया कहेलें बहिना काल्हे परोजन,
भउजी कहेली दुरे जाव॥

भावज के रुष्ट होने का कारण कभी-कभी कहा गया कटुवचन है। इसे वह मानती है। कारण पूछने पर वह कहती है कि न तो तुमने मेरे तेल-नून छेंका, न तो कोठी में पेहान लगा दिया; वचन ही मेरा बैर उत्पन्न करने का कारण है—

नाहीं तुहुँ ननदी नून तेल छेकलू
नाहीं कोठी लवलू पेहान।
नाहीं तुहुँ ननदी रसोइआ झाँकी अइलू
बतिये बैरिन भइल तोहार॥

बेटी को ससुराल ले जाने के लिए उसका श्वसुर बारात सजाकर आया है। हाथी-घोड़े द्वार पर उगने वाले चन्दन पेड़ में बाँध दिये गए हैं। वे चन्दन के पेड़-को तोड़-मरोड़ रहे हैं। पिता से यह दृश्य देखा नहीं जाता, वह क्रुद्ध होकर बरातियों को झिड़की सुनाता है। इस पर उसकी पुत्री घर से बाहर निकल कर पिता को समझाने लगती है :—

सहु बाबा सहु रे बाबा आज की रतीया हो।
बाड़ा हो पाराते हो बाबा, जाइबी बड़ी दूर॥
दुवरा राउर होइहें ए बाबा रन रे बन।
आँगन राउर होइहें ए बाबा भदउआ निसु राती॥

हे बाबा, आज की रात भर इस क्लेश को सह लीजिए। कल बहुत तड़के मुझे बड़ी दूर जाना होगा। हमारे चले जाने पर आपका द्वार जंगल की तरह हो जायगा और आपका आँगन भादों की काली अँधियारी निशा हो जायगा। कितना दर्द भरा हुआ है कन्या के इस कथन में! उसकी बात सोलहों आने सच्ची निकली। दूसरे दिन उस कुटुम्ब की दशा कैसी बदल जाती है। गीत के मनोरम शब्दों को ही पढ़ लीजिए। कितनी वेदना भरी है इन छोटे-छोटे वाक्यों में—

दुवरा भुलीए भूली बाबा जे रोवेले
कतहीं न देखों हो बेटी नुपुरवा हो तोहार॥
आँगाना भुलीए भूली आमा जे रोवेले
कतहीं न देखों हो देटी, रसोइआ झाझाकाल॥
रसोइआ भुलीए भूली भउजी जे रोवेली
कतहीं ना देखों हे बेटी, रसोइआ झाझाकाल॥

दरवाजे पर पुत्री की बिदाई से व्याकुल होकर पिता रो रहा है कि बेटी कहीं भी तुम्हारा नूपुर (पायजेब) मैं नहीं देख रहा हूँ, आँगन में बैठी हुई माता रो रही है और रसोईघर में बैठी भावज रो रही है कि कहीं भी बेटी दिखलाई नहीं पड़ती। उसके बिना रसोईघर भयानक और छूँछा लगता है।

इस गीत के करुण भाव को सुनकर कौन ऐसा सहृदय होगा जिसका दिल बिदाई के समय की चोट की याद से विचलित न हो जायगा और जिसकी आँखें आंसुओं से भींग न जावेंगी

बिदाई के इन भोजपुरी गीतों में जो भाव दिखलाये गए हैं उनके समान ही भाव अन्य भाषाओं के लोक-गीतों में भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। मानव-हृदय सर्वत्र एक समान है, चाहे हम भोजपुरी गीतों को पढ़ें चाहे गुजराती गीतों को। मिलन और बिछुड़ना, संयोग और वियोग मानव-जीवन के चिरसंगी हैं। वियोग से संयोग पुष्ट होता है, बिछुड़ने पर मिलन की माधुरी का अनुमान लगाया जा सकता है। वियोग का तीता घूंट पीकर ही सांसरिक जीवन मीठा होता है। यही कारण है कि लोक-गीतों में इस विषय का रसमय वर्णन विशेष मात्रा में उपलब्ध होता है।

पंजाब के एक लोक-गीत में कन्या अपने पिता से विदाई के समय कह रही है—

साडा चिड़ियां दा चम्बा वे, बाबल असीं उड़ जाना।
साड़ी लम्बी उड़ारों वे, बाबल के हडे देश जाना।।
तेरा चौका भाण्डा वे, बाबल तेरा कौन करे?
तेरा महल दाँ बिच बिच वे, बाबल मेरी माँ रोवें।।

गीत का आशय है कि हे पिता जी, मैं तो एक चिड़िया हूँ, मुझे तो एक दिन उड़ जाना होगा। मेरी उड़ान बड़ी लम्बी है। मुझे किसी अनजान देश में उड़कर जाना होगा। हे पिता, मेरे बिना तेरा चौका-बर्तन कौन करेगा? तुम्हारे महल के बीच में मेरी अम्मा रो रही है।

ठीक इसी प्रकार एक गुजराती बेन अपनी दशा का वर्णन कर रही है—

अमे रे लीलुडा बननी चर कलडी
उड़ी जाशुं परदेश जो
आज रे दादा जा ना देश माँ
काले जाशुं परदेश जो।।

—मेघाणी : लोक-साहित्य, पृष्ठ १८३।

मैं तो एक हरे-भरे जंगल की चिड़िया हूँ। उड़कर परदेश चली जाऊँगी। आज दादाजी के देश में हूँ, कल परदेश चली जाऊँगी।

काश्मीर की एक कुलाङ्गना पति के परदेश जाने पर किन शब्दों में अपनी विरह-व्यथा का बयान कर रही है—

यार चलूम तय कति छाँडन, आर आसनय व्यसियय।
यारस रुसतूय बाग फुलमय, कुसम्य छाव्यम करमाह।।

अर्थात् मेरा प्रेमी चला गया है, उसे मैं कहाँ खोजूं? हे सखि! उसे मुझे छोड़ते तनिक भी दया नहीं आई। यदि समय पाकर मेरे यौवन-रूपी उपबन में बसन्त आवे, तो उसका स्वाद कौन लेगा?

क्या यावुन यीयना होरिथ ।
मानंदि तीर जन गुम नीरिथ ।।

हाय ! क्या वह यौवन फिर आवेगा जो तीर के मानिन्द गुम हो गया है—निकल कर चला गया है ।

एक दूसरी विरहिणी इस प्रकार ईश्वर से प्रार्थना कर रही है—

यार गोमय पाम्पोर वते
कुंग पाश व रुटनाल मते ।
सुछम तते बछुस यते
बार सायबो बोज़तग ज़ार ।।

आशय है कि मेरा यार पाम्पुर (काश्मीर एक मशहूर स्थान) की ओर चला गया है; केशर के फूलों ने उसे गले लगा लिया । वह वहाँ और मैं यहाँ । ओ खुदा ! मेरी बिनती सुन लो (कुग=केसर; पोश=पुष्प, फूल) ।

पंजाब की कन्या कितने पते की बात सुना रही है—

दिल दरिया समुन्दरों डूँघा
कौन दिलां दीयाँ जाणे ?
बिच्चे चप्पू बिच्चे बेड़ी
बिच्चे वंग महाणे ।।

दिल एक दरिया है, समुन्दर से कहीं अधिक गहरा । दिल की बातें कौन जान सकता है, इसके बीच क्या चप्पू, क्या किश्ती, क्या मल्लाह (सभी डूब जाते हैं) ।

वियोग—इन गीतों में प्रिय-वियोग का वर्णन बड़े ही सरस शब्दों में किया गया है । प्रिय के परदेश चले जाने पर पत्नी के लिए सारा संसार सूना लगता है, घर काटने को दौड़ता है । प्रिय-वियोग के समय समस्त प्रकृति में एक अनोखी विषमता का साम्राज्य उठ खड़ा होता है । एक प्रोषितपतिका अपनी दयनीय दशा दर्शाती हुई कह रही है कि अरे निर्मोही लोभी, तुम्हारे बिना देखे कितने लोग रो रहे हैं—घर में तुम्हारी घरनी रोती है, बाहर हरिनी रोती है, तालाब में चकवा चकई रो रहे हैं । बिछोह करते समय तुझे तनिक दया नहीं आई । गीत के शब्दों में—

घरावा रोवे घरिनी ए लोभिया, बाहारवा राम हरिनिया ।
दाहावा रोवे चाका चकइया, बिछोहवा कइले निरवामोहिया ।।

एक दूसरी प्रोषितपतिका के मनोभाव की बानगी देखिए । वह कह रही है कि ठण्ढी पुरवैया चल रही थी । नींद में अलसाई पड़ रही थी । उसी वक्त वह मेरा प्रियतम मुझे छोड़कर चला गया । वह नाना प्रकार से उसकी सेवा करना चाहती है । कचहरी जाते समय वह अपने प्यारे के पैर में बबूर का काँटा बनकर

चूमना चाहती है, कभी कोयल बन मीठा शब्द सुनाना चाहती है; कभी फुलवाड़ी में फूल बनकर अपने प्यारे के वास्ते गमकना चाहती है; जल में मछली बनकर प्यारे के पैर से लिपटना चाहती है; पति के देश में जाकर पानी बरसने के लिए बादल से प्रार्थना करती है। गरज यह है कि विरह व्यथा से सताई गई विरहिणी अपनी व्यथा को भूलने की विशेष चेष्टा करती है, परन्तु उसे सफलता नहीं मिलती।

किसी स्त्री का पति विदेश जाने के लिए प्रस्तुत है। उसकी प्रेमी स्त्री उससे कहती है कि आपके वियोग में मैं कैसे रहूँगी इसकी युक्ति मुझे बतलाते जाइए। (देखिये गीत, पृ० ३६६)

ऐ मेरे प्राणप्रिय ! यदि तुम विदेश में बहुत दिनों तक रहोगे तो कृपा करके अपना चित्र मेरी बाहों पर चित्रित कर दो, जिसे मैं वियोग के दिनों में सदा देखती हुई शान्ति धारण करूँगी।

ऐ मेरे प्राणप्रिय ! यदि तुम विदेश में बहुत दिन बिताओगे तो कृपा कर मेरे भाई को बुलाकर मुझे अपने मायके पहुँचवा दो (जिससे मैं तुम्हारे वियोग को काट सकूं)।

ऐ मेरे प्राणप्रिय ! यदि तुम विदेश में बहुत दिनों तक रहोगे तो मेरी बाँह पकड़ मुझे गंगाजी में गिरा दो (जिससे मैं मरकर तुम्हारे वियोग के दुःसह दुःख को सहने से वंचित हो जाऊँगी)॥ ३॥

इस गीत के प्रत्येक पद से करुण-रस चुआ पड़ता है। यह गीत क्या है करुण-रस का कलश है। जितनी करुणा इन कतिपय पंक्तियों में भरी पड़ी है इतनी संभवत: समस्त हिन्दी-साहित्य में भी नहीं मिलेगी। वियोग की आशंका से उत्पन्न दुःख का इतना सरस, सजीव,अकृत्रिम तथा हृदय-द्रावक वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं। हिन्दी के कतिपय कवियों ने पति के परदेश जाने के समय उनकी स्त्रियों की आँखों में आँसू तो जरूर दिखलाए हैं, जिससे न तो वह जीती रहेगी और न वियोग के कष्टों को सहन करेगी। हिन्दी के 'तोष' आदि कवियों ने वियोगिनियों के आँसू से नदियों में बाढ़ आने की बात लिखी है यह वर्णन अलंकार की दृष्टि से भले ही चमत्कारपूर्ण हो परन्तु श्रोताओं के हृदय पर यह कुछ भी चमत्कार पैदा नहीं करता। परन्तु इस गीत में वर्णित भाव अपनी अकृत्रिमता के कारण सहृदयों के दिल पर सहज ही में चोट करते हैं। 'बहियाँ पकरि मोके गंगा भसिआये जाव' आदि पदों में जो गहरी वेदना छिपी हुई है उसे अच्छी तरह से वे ही जान सकते हैं जो 'भसियाना' शब्द के देहाती अर्थ को जानते हैं। इस स्त्री को पति का वियोग सह्य नहीं है परन्तु गंगा में गिरकर मर जाना सह्य है। इस घनिष्ट तथा स्वाभाविक प्रेम की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।

इस गीत में पति के वियोग में उसके चित्र के स्मरण करने का वर्णन है। यह प्रथा बहुत प्राचीन मालूम पड़ती है। कालिदास ने अपने मेघदूत में यक्षपत्नी का अपने पति का चित्र बना कर मनोविनोद करने का वर्णन किया है। इस गीत में करुण-रस की मात्रा इतनी कूट-कूटकर भरी हुई है जिसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। मैं तो महाकवि भवभूति की अनेक करुण रसमयी कविताएँ इस एक ही गीत पर निछावर करने के लिए तैयार हूँ। इस गीत की सरसता, मधुरता तथा करुण-रसता के विषय में मतिराम का यह पद उपयुक्त जान पड़ता है। ''ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनन, त्यों त्यों खरी निकरे सी निकाई।''

कोई विरहिणी स्त्री अपनी दुःखद दशा का वर्णन करते हुए कह रही है कि मेरी धानी रंग की चुनरी (साड़ी) इत्र के समान गमक रही है। मैं अपते यौवन को लिये हुए पति के समागम के लिए मायके में तरस रही हूँ। मैंने सोने की थाली में भोजन परोसा था परन्तु उस भोजन को करनेवाला आज विदेश में पड़ा तरस रहा है। मैंने बड़े लोटे में पीने के लिए गंगाजल रक्खा था, तथा पति के खाने के लिए लवंग और इलायची लगाकर पान का बीड़ा तैयार किया था परन्तु उस पान को खानेवाला परदेश में विराज रहा है। उस प्रियतम के सोने के लिए मैंने कलियों को चुन-चुन करके सेज तैयार की थी परन्तु उस सेज को सुशोभित करनेवाला परदेस में है—

मोरी धानी चुनरिआ इतर गमके।
धनि बारी उमरिया नइहर तरसे॥
सोने की थारी में जेवना परोसलों।
मोर जेंवन वाला बिदेस तरसे॥
झझरे गेडुववा गङ्गाजल पानी।
मोर घूंटन वाला बिदेस तरसे॥
लवँग इलायची के बीड़ा लगवलीं।
मोर कूँचन वाला बिदेस तरसे।
कलिया चुनि चुनि सेजवा लगवलीं।
मोर सूतन वाला बिदेस तरसे॥

प्रिय के वियोग में तड़पनेवाली इस बिरहिणी की दशा देखने ही योग्य है। प्रिय के वियोग में कामिनी की व्याकुलता कितनी अधिक है। बेचैनी को न सह सकने के कारण वह स्वयं प्रिय को खोजने के लिए निकल पड़ती है और बटोहियों से उसका पता पूछती चलती है। इस गीत में बड़ा ही लोच है, द्रुत लय है। इस झूमर का पूरा स्वाद झूम-झूमकर गाने वाली कलकण्ठ कामिनियों के कोरस में ही मिल सकता है। विरहिणी कह रही है (देखिये— गीत, पृ० ३६७)—

ऐ भौंरा ! तुम आज परदेश जाकर कितने दिनों में लौटोगे ? मैं कितने दिनों तक तुम्हारे मार्ग की प्रतीक्षा करूँगी ? जब पति बहुत दिनों तक परदेश से लौटकर नहीं आया, तब स्त्री दुःखी होकर कहती है कि पति के आने की अवधि के दिन गिनते-गिनते मेरी अँगुली घिस गई। उसके आने के दिन की प्रतीक्षा करते हुए मेरी आँखों से आँसू गिरते रहते हैं। मैं पति को ढूँढ़ने के लिए एक बन, दूसरे बन और तीसरे बन में गई। वहीं मुझे एक ग्वाला मिला। वह ग्वाले को संबोधित कर पूछती है कि ऐ भइया ग्वाला ! क्या तुमने मेरे परदेसी भँवरे को कहीं देखा है ? उसका पता भला बता तो सही।

इन गीतों से पशु-हृदय का चित्रण भी अछूता नहीं बचा है। पशुओं के मानसिक भावों का भी अंकन सहानुभूति से भरी कूची से किया गया है। पानी के लिए प्यासे प्रियतम हरिन के पकड़े जाने पर हरिनी का यह बिलाप इतना करुणोत्पादक है कि श्रोताओं की आँखें आँसुओं से छलक उठती हैं। हरिनी का यह पति-प्रेम कितना आदर्श पूर्ण है !

पानी के लिए प्यासा हिरन जमुना के घाट पर गया। मैंने खेत में चीन बोया था उसे वह चर गया। हरिनी पूछती है कि ऐ बटोही ! तुम मेरे भाई हो, क्या तुमने इस रास्ते से हिरन को ले जाते हुए बहेलिया को देखा है ? बटोही कहता है कि मैंने बहेलिया को हिरन के हाथ और पैर बाँधकर हाजीपुर के हाट की ओर जाते देखा है। हरिनी बहेलिये पर क्रुद्ध होती हुई कहती है कि ऐ बहेलिये ! तेरे पाँव थक जायँ, तेरे हाथों में घुन लग जायँ। तूने किस कारण से मेरी सेज को सूनी कर दिया ? तुम हिरन के चाम और मांस को भले ही बेंच देना, परन्तु उसकी हड्डियाँ मुझे दे देना। मैं उन्हीं हड्डियों को लेकर इसी जमुना के तीर पर सती हो जाऊँगी। हरिनी के विचार कितने उदात्त हैं। कामना कितनी विशुद्ध है—

पानी के पिआसल हरिनवा, जमुनवा घाटे रे जाय।
बोअलों मैं चीनवा हे रामा हरिनवा चरि रे जाय ॥
बाट बटोहिया भइआ तू हुँ रे मोर भाय।
एहि राहे देखुआ अरिनवा, बहेलिया लेले रे जाय ॥
देखुइं मैं देखुइं हे पातरि हाजीपुर के रे हाट।
हाथ गोड़ बन्हले बहेलिया, हटिया लेले रे जाय ॥
पग तोरे थाके बहेलिया हथवा लागे रे घून।
कवनों कसूरवा बहेलिया मेरी सेजरिया कइलो रे सून ॥
चाम मांसु बेचिहे बहेलिया हाड़वा दिहे रे मोर।
ओही हाड़ लेइ सती होइबों एहि जमुना के तीर ॥
पानी के पिआसल हरिनवा ॥

वैधव्य—इन गायनों में विषाद की रेखा जरूर खिँची हुई है, परन्तु अमिट रूप से नहीं। दिन ज्यों-ज्यों ढलते जाते हैं, रातें जितनी बीतती जाती हैं, विषाद की रेखा फीकी पड़ती जाती है, परन्तु बालविधवाओं की मनोवेदना का चित्रण किस प्रकार किया जा सकता है? इन बालविधवाओं में कितना भोलापन भरा हुआ है जो ब्याह जैसी अजनबी चीज़ को जानती ही नहीं; शादी जिनके वास्ते एक अजूबा है। इनकी दर्दनाक आहें किसके दिल को न दहला देंगी। बड़ी मार्मिक वेदना भरी पड़ी है इन विधवाओं के गीतों में। यहाँ नमूने के तौर पर एक ही गान नीचे दिया जाता है।

एक भोली-भाली बाल-विधवा अपने पिता से अपनी शादी के बारे में पूछ रही है कि आपने किस लिए मेरी शादी की? कब मेरा गवना किया? पिता कहता है कि तेरी शादी आनन्द भोगने के वास्ते की तथा मुहूर्त देखकर तेरा गवना किया। इस पर बेटी कह रही है कि मेरा सिर सिन्दूर के बिना रो रहा है, आँखें काजर के बिना रो रही हैं, मेरी गोद पुत्र के बिना रो रही है और सेज कन्हैया बिना रो रही है—

बावा सिर मोरा रोवेला सेनुर बिनु,
नयना कजरवा बिनु रे राम।
बाबा गोद मोरा रोवेला बालक बिनु
सेजिया कन्हइया बिनु रे राम॥

बेटी की आहभरी बातें सुनकर पिता उसे फुसलाना चाहता है, परन्तु वह बालिका फुसलाने में नहीं आती। बाप कहता है कि ऐ बेटी! हाजीपुर की हाट लगने दे, उस बाजार में मैं चलूंगा और तुम्हारे करम को बदल दूँगा। परन्तु बालिका होने पर भी कन्या होशियार है। वह तुरन्त बढ़िया उत्तर देती है कि काँसा पीतल ही बदला जा सकता है; परन्तु करम कैसे बदल जायगा? जैसा मैंने किया है उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। जैसा बोया जायगा वैसा ही काटा जायगा। कन्या का यह कथन कितने भोलेपन से भरा है, साथ ही साथ कितना सच्चा है! भाग्य की प्रबलता और कर्म की दुर्निवारता की अभिव्यक्ति कितने अच्छे शब्दों में की गई है। गीत की दो चार कड़ियों को पढ़कर इस मार्मिक वेदना का अनुभव कीजिए—

बेटी लागे देहु हाजीपुर के हटिया करम तोरे बदली देबों ए राम।
बाबा काँसावा पीतर सब बदलबी, करम कइसे बदलबी ए राम।
बेटी सिर तोरे भरबों रे सेनुर लेइ, नयेना काजारवा लेइ ए राम।
बेटी गोद तोरे भरबों रे बालक लेइ, सेजिया कन्हइया लेइ ए राम॥

(घ) शान्त-रस

इन ग्रामगीतों में शान्तरस का भी बड़ा ही सुन्दर परिपाक दिखाई पड़ता है। देवी-देवताओं की स्तुति विषयक गीतों में जिस प्रकार भक्ति का उद्रेक दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार भोजपुरी भजनों में ऐहिक जीवन की निःसारता और पारलौकिक जीवन की महत्ता प्रतिपादित की गई है। स्त्रियों की कामनाओं के केन्द्र दो ही हैं—माँग और कोख, अर्थात् पति और पुत्र। इनके कल्याण-साधन के लिए वे भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं से मंगल की कामना किया करती हैं। इन देवताओं में एक प्रधान देवता षष्ठी माई (छठी माई) हैं, जिनकी पूजा कार्तिक शुक्ल की षष्ठी को बड़ी उमंग तथा उत्साह के साथ की जाती है। उस दिन उपवास में रहकर सायंकाल में सूर्य को अर्घ दिया जाता है तथा सप्तमी के प्रातःकाल बालसूर्य को अर्घ देने के बाद ही व्रत की समाप्ति समझी जाती है। तब तक वे एक बूँद जल भी ग्रहण नहीं करतीं अनेक मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए, परन्तु विशेषतः पुत्र की प्राप्ति के लिए, इस व्रत का आचरण विहित है। एक गीत के वर्णनानुसार बुढ़िया पोते की चाह से, तरुणी बेटे की इच्छा से तथा बालिका भाई-भतीजा पाने की अभिलाषा से इस व्रत को करती हैं।

एक बन्ध्या षष्ठी माता से पुत्र की प्राप्ति के लिए प्रार्थना कर रही है कि माता, मेरा जीवन निरर्थक सा प्रतीत होता है। सास दुतकारती है, ननद गालियों की बौछार करती है और अपना ब्याहता पति डण्डों से उसकी खबर लेता है। बेचारी का दोष केवल यही है कि उसकी गोद पुत्र के बिना सूनी है। सूर्य भगवान् उसकी प्रार्थना सुनकर सफल बनाते हैं—

सासु मारे हुदुका ए दीनानाथ; ननदिया पारे गारी।
संगे लागल पुरुखवा ए दीनानाथ; देले उदबास ॥
आरे सबके डलियवा ए दीनानाथ; लिहलीं उठाई।
आरे बाँझि के डलियवा ए दीनानाथ; ठहरे तवांई ॥
आरे असों के कतिकवा ए बाझिनि; घरवा चलियो जाहु।
आरे अगिला कतिकवा ए बाझिनि; गजाधर पुतवा पाऊ ॥

दूसरा दृश्य उस समय का है जब प्रातःकाल प्राची गगन में अरुण की तनिक-तनिक आभा छिटक रही है। रात के चेहरे पर से अन्धकार का काला परदा उठ गया है, परन्तु अभी सूर्य भगवान् का उदय नहीं हुआ है। भक्त नारी का हृदय बेचैन हो रहा है कि कब भगवान् का उदय होगा; कब वह सूर्य के सुवर्ण बिम्ब को देखकर अपने नेत्रों को सफल करेगी और अर्घ्य देकर अपने व्रत की समाप्ति करेगी। सूर्योदय की प्रतीक्षा करते करते वह थक सी गई है। उस समय उसके मुँह से जो प्रार्थना निकलती है वह कितनी भक्तिपूर्ण और भावपूर्ण है, इसे सहृदय पाठक गीत को पढ़कर स्वयं समझें—

आरे गोड़े खड़उँवा ए अदितमल; तिलका लिलार।
आरे हाथावा में सोबरन साटी; ए अदितमल अरघ दिआऊँ।
ए आमा के कोरा पइसि सुतेले अदितमल; भोरे हो गइल बिहान।
आरे हाली हाली उग ए अदितमल; अरघ दिआऊ॥
फलवा फूलवा ले ले मालिनि बिटिआ ठाढ़।
हाली हाली उग ए अदितमल; अरघ दिआऊ॥
धूँपवा जलवा रे लेके; बभनवा रे ठाढ़।
हाली हाली उग ए अदितमल; अरघ दिआऊ॥
गोड़वा दुखइले रे डाँड़वा पिरइले; कब से जे हम बानी ठाढ़।
हाली हाली उग ए अदितमल, अरघ दिआऊ॥

भक्त-हृदय की व्याकुलता का कैसा सुन्दर चित्रण किया गया है!

शीतला माता के विषय में जो भोजपुरी गीत उपलब्ध होते हैं उनमें भावुक भक्त की प्रगाढ़ भक्ति का भलीभाँति परिचय मिलता है। इन गीतों में चेचक से पीड़ित बालक के लिये आरोग्य-प्रदान की प्रार्थना की गई है। माता बड़ी दयालु हैं, थोड़े से उपकार के लिए भक्त के मनोरथ की सद्यः पूर्ति कर देती है। वह नीम के पेड़ में हिंडोला लगाकर झूल रही है, इतने में उसे प्यास लगती है। रात का समय, गाँव है दूर। गाँव में आकर वे मालिन की लड़की को जगाती है और पीने के लिये पानी माँगती है। वह कहती है कि मेरी गोद में लड़का सो रहा है, मैं कैसे उठूँ? शीतला के आग्रह करने पर वह उठती है और पानी पिलाती है। तब शीतला माता प्रसन्न होकर उसकी अभिलाषा की पूर्ति कर देती हैं। वह इतनी दयालु हैं।

एक गीत में सेविका की प्रार्थना तथा नैराश्य का भाव इतने सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है कि पढ़ते ही बनता है। एक बाँझ स्त्री अपनी डाली लेकर माता के दरबार में उपस्थित होती है। सबकी पूजा की डाली माता ले लेती हैं, परन्तु उस गरीबनी की डाली पड़ी रह जाती है। पूछने पर बन्ध्यापन के कारण डाली अशुद्ध बतलाई जाती है। इस पर बन्ध्या दुःखित होकर जल भरने के लिए जंगल में जाने को तैयार हो जाती है, और कहती है कि आपकी पूजा के लिए पानी भरते-भरते मेरे सिर की चाँद घिस गई है और देवघर (मन्दिर) लीपते-लीपते मेरे हाथ घिस गये हैं। तौभी ऐ माता! आपकी कृपा नहीं हुई—मेरे बाँझिन होने का कलंक नहीं छूटा। इस पर माता आश्वासन देती हैं कि तुम जलो मरो नहीं। मैं तुम्हें पुत्र देकर तुम्हारे कलंक को धो दूँगी। इस भक्तिभावपूर्ण गीत को पढ़कर पाठक स्वयं आनन्द लें—

सिकिया चिरि चिरि बिनलों; ए डलियवा हो।
आरे डलिया लिहले ठाढ़ भइलों; मइया दरबरिया हो।

सभ के डलियवा ए मइया; आरे लिहलु परीछि हो।
आरे हमरा अभागिन के डलियवा; काहें फिरि आइल हो।
आरे आरे बाँझी तिरियवा; आरे डलियवा तोर असुद्ध हो।
आरे तोहर बा असुद्धवा ए बाझिनि; डलियवा तोर असुद्ध हो ॥
पईसबि ननन बनवा; आरे छेवड़ब चननवा हो।
आरे चिरि, साजि के जरबी; मइया अकलंक तोहरा होइहे हो ॥
पनिया भरत ए मइया; चनिया मोर खिआइल हो।
आरे देवघर लिपत ए मइया; हाथवा खिआइल हो ॥
आरे तबहुँ ना छुटेले ए मइया; बाझिनि केरि नइयाँ हो।
आरे बाँझी तिरियवा; जनि रोइ मर हो।
जनि पइस ननन बनवा, जनि पइस चननवा हो ॥
आरे आपन बालकवा ए बाझिनि; तोहरा के देबों हो ॥
आरे सुतल देवमुनि; उठली चिहाई हो।
आरे कवन चरित्र ए मइया; बाझिनि घरवा बालक हो ॥
आरे का तुहु देवमुनि, उठलू चिहाई हो।
आरे सीतला का चरित्रे ए देवमुनि, बाझिन घरवा बालक हो ॥

शीतला (चेचक) के होने से जब बालक का शरीर जलने लगता है, बेहद पीड़ा होती है, तब उसकी दयामयी जननी भक्ति भावना में झूमते-झूमते हुए शीतला माता से प्रार्थना करती है

पटुका पसारि भीखि माँगेली बालाकवा के माई;
हमरा के बालाकवा भीखि दीं।
मोरी दुलारी हो मइआ;
हमरा के बालकवा भीखि दीं ॥
आँचरा पसारि भीखि माँगेले बालकवा के बाबा;
हमरा के बालकवा भीखि दीं।
मोरी मानावा राखनि मइया;
हमरा के बालकवा भीखि दीं ॥

मैं बालक की माता हूँ। मैं आँचर पसार कर भीख माँग रही हूँ, इस बालक को मुझे भीख दीजिए। ऐ मेरी दुलारी माँ ! कृपा कीजिए, बालक को भीख दीजिए, अर्थात् इसके रोग को दूर कर दीजिए। बालक की दर्द भरी आहों से व्याकुल हो कर उसकी माँ जब इन गीतों को मस्ती में झूम-झूमकर गाती है, तो सुनने वालों के शरीर में रोमांच हो जाता है और जान पड़ता है कि नीम की डाल पर झूलने वाली शीतला माँ, अपने आनन्दमय झूले से उतर कर, जल्दी-

जल्दी बालक की सेज के पास आकर खड़ी हो जाती हैं और अपना वरद हस्त फैला कर उसे नीरोग होने का आशीर्वाद देती हैं।

भजन—भोजपुरी भजन बड़े मार्के के हैं। इनमें संसार की निःसारता, जीवन की अनित्यता, सुख-सम्पत्ति की क्षण-भंगुरता का सुन्दर प्रतिपादन मिलता है। वृद्धा स्त्रियाँ जब तीर्थ-यात्रा या गंगा-स्नान के लिए संघ बाँध कर जाती हैं तब वे इन भजनों को प्रायः गाया करती हैं। एक तो भजनों का कोमल भाव, दूसरे इन वृद्धाओं के कण्ठ से निकली भक्त-विह्वल ध्वनि, तीसरा प्रातःकाल का सुहावना समय—ये तीनों मिल कर इन भजनों को इतना रसमय बना देते हैं कि सुनने वाले का हृदय इस सांसारिक प्रपञ्च से दूर हट कर भगवद्भक्ति के सरोवर में गोता लगाने लगता है। नमूने के तौर पर इस भजन के भाव को परखिए जो मनुष्य के हृदय में वैराग्य जगाने में सर्वथा कृतकार्य सा प्रतीत होता है—

का देखिके मन भइल दिवाना, का देखि के। टेक
मानुख देह देखि जनि भूल, एक दिन माटी होई जाना।
का देखि के०
आरे इ देहिया कागद की पुड़िया, बूँद परत भिहिलाना।
का देखि के०
इ देहिया के मलि मलि धोवलों; चोवा चनन चढ़ाई।
ओहि देहिया पर कागा भिनके; देखत लोग घिनाई।
का देखिके मन भइल दिवाना, का देखि के।

(६) गीतों में रहस्यवाद

भोजपुरी गीतों में कहीं-कहीं रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर झलक दिखाई पड़ती है। भक्ति-भाव से अपनापन को भूलकर जब भक्त अपने हृदय के भावों को प्रकट करता है तब जिस कविता का उद्गम होता है वह काव्यकला तथा दार्शनिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होती है। रहस्यवाद में प्रयुक्त प्रतीक सांसारिक होते हैं परन्तु उनसे अभिव्यक्त भाव पारलौकिक होता है। इन गीतों में रहस्यवाद की छटा भी देखने को मिलती है।

इस गीत को लीजिए जिसमें गुरु का महत्त्व दिखलाया गया है। साधिका कह रही है कि मैं अपने ओसारे में बेखबर सो रही थी कि गुरुजी ने मुझे जगाया और गवने के नजदीक होने की सूचना मुझे दी। यह गवना सांसारिक गवना न होकर भगवान रूपी प्रियतम के पास जाने की सूचना है। जीव संसार के रमणीय विषयों में इतना लगा हुआ है कि उसे गन्तव्य स्थान भी भूल गया है। वह जानता नहीं कि यह जन्म केवल आगे बढ़ने के लिए एक सोपान मात्र है, टिककर आनन्द मनाने की जगह नहीं। ऐसी गाढ़ अज्ञान-निद्रा से गुरु के सिवाय और कौन जगा सकता है? गुरु के शरण में जाने से ही साधक का निस्तार है—

सुतल रहलों ओसरवा हो; गुरुजी दिहलें जगाई।
गवना के दिन नियरा गइलें हो; मन गइल घबराई ॥
गुरुजी हो गुरुजी पुकारीलें हो; गुरुजी सरन तोहार ।
रचे एक दीहितीं गुरु हूकुमवा हो; धउरल करि अइतो दान ॥
कोठिला भरल बाटे चउरा हो; गुरुजी कइ अइतो दान ।
रचे एक दीहितीं हुकुमवा हो; गुरुजी कइ अइतो दान ॥

एक दूसरे भजन में कोई गुरु संसार में दिन-रात मस्त रहनेवाले किसी सांसारिक पुरुष से पूछ रहा है कि तुम अपना तम्बू गिराकर कहाँ जाओगे ? अपना ठिकाना तो बतलाओ। यहाँ आकर तुमने सांसारिक प्रपञ्च का खूब फैलाव तो कर दिया, परन्तु तुम्हें अपने गन्तव्य स्थान का कुछ पता है, जहाँ तुम्हें जाना होगा ? तुमने बबूर का पेड़ क्यों लगाया, तुम्हें आम का पेड़ लगाना चाहिए था। हरि नाम का भजन करना चाहिए था। तब तो तुम्हें अमृत फल प्राप्त होता। क्या तुम नहीं जानते कि भगवद्भक्ति के बिना इस मर्त्यलोक में अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती ? प्रेम ही जीवन का सार है। यह प्रेम न तो आम में बौरता है और न हाट में बिकता है। प्रेम के बिना मानव हृदय उसी प्रकार सूना है जिस प्रकार घनघोर अँधियारी रात। प्रेम नगर के हाट में हीरा और रत्न बिकता है। चतुर लोग तो सौदा करके अपना जीवन सफल बनाते हैं। परन्तु मूर्ख लोग घूम-घूमकर खड़े-खड़े पछताते हैं। मूल गीत इस प्रकार है—

तमुवाँ गिराइ कहाँ जइबो हो कहो आपन ठेकान।
काहे के लगवल बबुरिया हो लगवत तू आम।
अमिरित करत भोजनियाँ हो भजत हरिनाम ॥ १ ॥

प्रेम बाग नहीं बौरे हो प्रेम न हाट बिकाय।
बिना प्रेम कै मनुजवो हो जस अँधियरिया राति ॥ २ ॥

प्रेम नगर की हटिया हो हीरा रतन बिकाय।
चतुर चतुर सौदा करि गये हो मूरख ठाढ़ पछिताय ॥ ३ ॥

इस भजन में तम्बू गिराने से सांसारिक जीवन की जो उपमा दी गई है वह कितनी मार्मिक और उपयुक्त है, इसे वे ही लोग भलीभाँति समझ सकते हैं जिन्होंने भोजपुर की बारातों का दृश्य देखा है। इन बारातों में किसी सुनसान खेत या बागीचे में तम्बू तान देते हैं। उसके नीचे बैठकर रात भर गाना, बजाना और नाच हुआ करता है। आलीशान मजलिस जमती है, संगीत से शामियाना गूँज उठता है। एक रहता है विवाह की नयी उमंग और दूसरा बन्धु-बान्धवों और इष्ट-मित्रों के साथ मेल-मिलाप। ऐसा उत्सव रात भर मचता रहता है, परन्तु दूसरे ही दिन सबेरे दृश्य बदल जाता है, बारात की बिदाई हो जाती है, तम्बू

गिरा दिया जाता है और वह स्थान फिर से निपट उजाड़ बन जाता है। इसी सांसारिक आकस्मिक परिवर्तन की उपमा तम्बू गिराने से दी गई है। पूरा भजन रहस्यवाद के गहरे रंग से रँगा हुआ है।

नीचे के भजन में नैहर से नाता तोड़कर पति के पास जाने का जो वर्णन दिया गया है वह भी रहस्यवाद की परम्परा के ही अन्तर्भुक्त है। यहाँ आत्मा की कल्पना स्त्री से की गई है और परमात्मा को पति माना है। यह संसार ही नैहर है और गुरु की कृपा से ईश्वरोन्मुख होने का ही नाम गवना है। गुरु की कृपा ही वह डोली है जिस पर चढ़कर यह जीव अपने प्रियतम के पास जाता है। इस कमनीय कल्पना को हिन्दी भाषा के कबीर, जायसी आदि रहस्यवादी कवियों ने खूब ही अपनाया है। इस गीत में रहस्यवाद की आभा फूट निकलती है—

मोरे नइहरवा से नातवा छोड़वले जाला पियवा।
काचें काचें बँसवा के डोलिया बनवले,
ताहि पर काया के सुतवले जाला पियवा।
चारि कहार मिलि डोलिया उठवले,
आगे आगे रहिया देखवले जाला पियवा॥

(१०) बिरहा की बहार

भोजपुरी गीतों में बिरहा अपना विशेष स्थान रखता है। उमंग भरे अहीरों के मुँह से जब बिरहा गाया जाता है तो श्रोताओं के हृदय में एक विचित्र उत्साह पैदा हो जाता है। अहीरों का तो यह जातीय गान ही है जिसे वे अपने उत्सवों तथा पर्वों पर अवश्य ही गाते हैं। बिरहा से मिलता-जुलता अहीरों का एक दूसरा भी गाना है जिसे 'लोरकी' कहते हैं। इसमें एक आभीर वीर की पराक्रम-कथाओं का छन्दोबद्ध वर्णन रहता है। भोजपुर प्रान्त में 'लोरकी' गाने की बड़ी प्रथा है। परन्तु दुःख की बात यह है कि 'लोरकी' लिपि के कारागार में बद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि इसके गाने वाले इतने उमंग से, इतने जोश से तथा इतने आवेश से इसे गाते हैं कि अनेक प्रयत्न करने पर भी हम उनके लिपिबद्ध करने में समर्थ नहीं हो सके। परन्तु बिरहा की दशा इससे भिन्न है। लोरकी की अपेक्षा लघुकाय होने के कारण बिरहा लिपि की कुण्डली में सिमट कर आ जाता है और नट के समान अपनी कलाबाज़ी दिखाने में समर्थ होता है।

हम कह आए हैं कि बिरहा एक छन्द है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में दो जगह यति होती है। प्रथम यति १६ अक्षर पर और दूसरी यति १० अक्षर पर। अन्त में दोहे के समान एक लघु और एक गुरु होता है। कहीं-कहीं प्रथम चरण में दो अक्षर बढ़ भी जाते हैं। इसके गाने की एक विशेषता यह है कि छन्द के चतुर्थ चरण का उपान्त्य दीर्घ स्वर प्लुत स्वर में उच्चारित किया जाता है। इसके

वर्णनीय विषय अनेक हैं। नीति, शृङ्गार, वीर तथा ग्रामीण जीवन का बड़ा रमणीय वर्णन इन बिरहों में पाया जाता है। भाषा का सौन्दर्य, भाव का माधुर्य, इनमें इतना पूर्ण है कि जान पड़ता है कि किसी ने कलेजा निकाल कर इन गानों में रख दिया हो।

ये बिरहे हृदय में उमंग आने पर अपठित मनुष्यों के मुँह से आप ही आप निकल पड़ते हैं। इनका निवास स्थान जन साधारण का उत्साह पूर्ण हृदय ही है। इन कवित्वपूर्ण बिरहों के उद्गम की कहानी किसी ने क्या ही अच्छे ढंग से कही है।

नाहीं बिरहा कर खेती भइया;
नाहीं बिरहा फरे डाढ़।
बिरहा बसेले हिरिदिया में ए रामा;
जब उमगेले तब गाव॥

बिरहा की न तो खेती है, न बिरहा फलों की तरह पेड़ों की शाखाओं पर फलता है। बिरहा तो मनुष्य के हृदय में बसता हैं। जब उमंग आवे तब इसे गाइए।

मातृभक्त सरवन के मर जाने पर उसकी स्नेहमयी माता का विलाप इस बिरहे में कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है। कमनीय प्रकृति पर भी इस शोक-कलाप की मलिन छाया दीख पड़ती है—

तलवा झुरइले, कँवल कुम्हलइले;
हँस रोवे बिरह वियोग।
रोवत बाड़ी सरबन के माता;
के काँवर ढोइहें मोर॥

ताल सूख गया है; कमल कुम्हला गया है, हंस रो रहा है, सरबन की माता रो रही है कि हाय अब काँवर कौन ढोवेगा, मुझ पंगुल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर कौन ले जावेगा।

कुँवर कन्हाई के बाल चरित की भी बानगी देखिये—

बने बने गइया चरावेला कन्हइया,
घरे घरे जोरेला पिरीति।
अनका[1] मउगी[2] के सान[3] मारि अइले,
आखिर त जात अहीर॥

ये वन-वन में तो गायों को चराते फिरते हैं और घर-घर में प्रीति जोड़ते फिरते हैं। दूसरी स्त्री से इशारा करने में भी नहीं चूकते। आखिर तो अहीर की ही जाति ठहरी। कृष्ण की बाल-लीलाओं पर यह कितना चुभता परिहास है--

१. दूसरे की। २. स्त्री। ३. संस्कृत संज्ञा का अपभ्रंश, इशारा।

पिया पिया कहत पियर भइली देहिया,
लोगवा कहेला पिंडरोग।
गँउवा के लोगवा मरमियों न जानेले,
भइले गवना ना मोर॥

एक बिरहे में कोई पूर्वानुरागिणी स्त्री अपनी दयनीय दशा का रहस्य समझाती हुई कहती है कि 'पिया' 'पिया' रटते-रटते मेरी कोमल देह पीली पड़ गई है। पड़ोसी लोग कहते हैं कि मुझे पाण्डुरोग (पियारी) हो गया है लेकिन बेचारे गांव के भोले-भाले लोग इसके मर्म को नहीं जानते। उन्हें क्या मालूम कि मेरा गौना अभी तक नहीं हुआ है। इस गीत में पूर्वानुराग जन्य दीनता तथा हृदय की द्रवता सहृदय रसिक के आस्वादन की वस्तु है।

स्वाधीनपतिका की व्यंगमयी वाणी का आस्वादन कीजिए—

रसवा के भेजलीं भँवरवा के संगिया,
रसवा ले अइले हा थोर।
अतना ही रसवा में केकरा के बटबों,
सगरी नगरी हित मोर॥

वह कहती है कि ऐ मित्र! मैंने भँवरा को रस लाने के लिए भेजा। लेकिन वह थोड़ा ही रस लाया। मेरे पास रस इतना थोड़ा है कि मैं किसे-किसे इस रस में बांटूं क्योंकि गांव के जितने रहनेवाले हैं वे सब हमारे मित्र हैं। भँवर (पति और भौंरा) और रस (प्रेम और मधु) का श्लेष सहृदय साहित्यिज्ञों के मर्मस्थल को स्पर्श करता है। सुन्दरी का आशय यही है कि उसके पास प्रेम इतना कम है कि वह एक आदमी से अधिक को दे नहीं सकती, अर्थात् अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष से प्रेम नहीं कर सकती। भावों की उदात्तता तथा शब्दों की कोमलता इस गीत में कितनी सुन्दर बन पड़ी है।

कामिनी के कमनीय कलेवर में उभरते हुए यौवन का चित्रण भी इन बिरहों में बड़ी मार्मिक रीति से किया है। कोई सखी अपनी अन्य सहेली से नायिका की उठती हुई जवानी को लक्षित करके कहती है—

अमवा के लागले टिकोरवा, रे सँगिया;
गूलरि फरेले हड़फोर।
गोरिया का उठलेहा छाती के जोबनवा;
पिया के खेलवना रे होई॥

आम में टिकोरा (छोटे फल) लग रहे हैं, गूलर का पेड़ फलों से लद गया है, अर्थात् वसन्त का समय उपस्थित हो गया है। गोरी की छाती पर यौवन खिल रहा है जो आगे चल कर प्रियतम का खिलोना बन जावेगा। इस बिरहे में यौवन का आगमन कितनी मार्मिक रीति से वर्णन किया गया है।

एक अन्य विरहे में साहित्य की कला बड़ी अनुपम है। इसमें युवती स्त्रियों को उपदेश देने वाली कोई रसिका भावमय शब्दों में अपना भाव प्रकट कर रही है। वह कहती है—

पिसना के परिकल मुसरिया तुसरिया;
दूधवा के परिकल बिलार।
आपन - अ पन जोबनवा सभारिहे ए बिटियवा;
रहरी में लागल बा हुड़ार ।।

चूहा तथा उसके समान अन्य छोटे जीव आटा खाने के आदी हो गये हैं और बिल्ली दूध पीने की आदी हो गई है। ऐ युवती! तुम अपने यौवन की रक्षा करो, क्योंकि अरहर के खेत में हुँड़ार (भेड़िया) छिपा हुआ है। यहाँ हुँड़ार से अभिप्राय उन कामुक जनों से है जो स्त्रियों पर उचित घात देखकर छिपे-छिपे छापा मारा करते हैं, और अपने बल से उन्हें अभिभूत कर अपने चंगुल में फँसा लेते हैं। हुँड़ार जब आदमी के मांस को चख लेता है तो वह मनुष्य के मांस-भक्षण का आदी बन जाता है। इसी प्रकार इस गीत का कामुक परस्त्री-उपभोग का अभ्यासी है। अतः उससे बचने में बड़ी सावधानी होनी चाहिए। रसिका की यह उक्ति बड़ी ही चुभती हुई है। हुँड़ार की कल्पना का स्वारस्य रसिक जन ही समझ सकते हैं।

बिरहा की बहार को समाप्त करने के पहले इन भोजपुरी बिरहों के नमूने पर लिखे गये कुछ साहित्यिक बिरहों की चाशनी हम अपने पाठकों को चखाना चाहते हैं। बाबू रामकृष्ण वर्मा (उपनाम 'बलवीर') रचित 'विरहा नायिका-भेद' इतना सरस, साहित्यिक और सुहावना है कि रसिकों के चित्त को अपनी ओर बरबस खींच लेता है। ये बिरहे इस बात के प्रमाण हैं कि प्रतिभाशाली कवि के हाथ में पड़ कर भोजपुरी भाषा भी व्रज तथा अवधी की भाँति काव्य की भाषा बन सकती है तथा अपनी कोमल-कान्त पदावली और रसमय भावों से सहृदयों का पर्याप्त मनोरंजन कर सकती है। कुछ बिरहों का रसास्वादन कीजिए—

अज्ञात यौवना

बईद हकीमवा बुलाओ कोई गुइयाँ;
कोई लेओ री खबरिया मोर।
खिरकी से खिरकी ज्यों फिरकी फिरत दुओ;
पिरकी उठल बड़े जोर।।

मध्या

लजिया की बतिया मैं कइसे कहों ए भउजी;
जे मोरे बूते कहलो ना जाय।
पर के फगुनवाँ की सिअली चोलियवा में;
असों न जोबनवाँ अमाय।।

रतिगुप्ता

भरली गगरिया उठवले जइसे गोइयाँ
तइसे बिछलल गोड़वा हमार।
जो पै बलबिरवा न बहियाँ धरत तो पै;
बहितीं जमुनवाँ के धार।

---

५ : ३
बिसराम की कविता का विवेचन

मुझे आज भोजपुरी संसद् के इस नूतन प्रकाशन के विषय में चार शब्द लिखते विशेष हर्ष हो रहा है। इस अभिनय संस्था ने भोजपुरी के कमनीय काव्यों के प्रकाशन का जो उपक्रम किया है, वह सर्वथा स्तुत्य तथा श्लाघनीय है। 'बिसराम के बिरहे' वास्तव में भोजपुरी साहित्य का एक अनुपम रत्न है जिसकी आभा अनुशीलन से दिन दूनी बढ़ती जायेगी, ऐसा मेरा पूरा विश्वास है। और इस विश्वास के लिये पर्याप्त कारण भी हैं। रस ही काव्य की आत्मा है। 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' नाटचाचार्य भरत मुनि का यह कथन एक सार्वभौम सत्य का अभिव्यंजक है। काव्य में कितना भी शब्दलालित्य हो, कितना भी अर्थ गौरव हो, परन्तु यदि वह रस से शून्य हो, तो वह श्रोताओं की हृत्कलिका को उत्फुल्ल करने में कथमपि समर्थ नहीं होता। इसीलिये तो संस्कृत के विज्ञ समालोचक विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक वाक्य को 'काव्य' की संज्ञा प्रदान की है—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

इसकी कसौटी पर कसने से बिसराम के ये बिरहे खरे उतरते हैं। कान्ता के वियोग से दग्ध हृदय युवक कवि की वाणी में इतनी वेदना भरी है कि वह श्रोताओं के हृदय में एक टीस पैदा किये बिना नहीं रहती। इसके सुनने वाले सहृदयों की आँखें आँसुओं से छलछला उठती हैं। कवि ने करुण रस की तीव्र अनुभूति स्वयं की है। और इन बिरहों के माध्यम से वह अपने श्रोताओं के हृदय को छूता है और उसमें इस रस की अनुभूति जगाता है। भोजपुरी का बिरहा

छन्द भी अपनी विशिष्टता लिये हुए है। उसके विषय में यह उक्ति मुझे यथार्थ प्रतीत होती है—

नाहीं बिरहा कर खेती भैया
नाहीं बिरहा फरै डार।
बिरहा बसेला हिरिदय में, ए रामा
जब उमगें तब गाव॥

बिरहा की यह प्रशंसा प्रायोवाद न होकर तथ्य वाक् है। भोजपुरी का तो यह सर्वस्व है—अपना निजी छन्द है जिसके माध्यम से कवि अपना हृदय उड़ेलता है। तथा श्रोताओं को रस से सराबोर बनाता है। बहुत संभव है कि 'विरह' के वर्णन में प्रथम प्रयुक्त होने के कारण ही यह छन्द तदनुरूप अभिधान से पुकारा जाता है। इस काव्य में भाषा और भाव का, कवि-हृदय तथा छन्दोविधान का एक अनुपम मेल है जिससे यह निश्चित रूप में चमक उठा है।

उदाहरण के लिये कवि के दो बिरहे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं जिनके पढ़ने से विश्राम के हृदय की व्यथा का अनुमान भलीभाँति लगाया जा सकता है। भरी जवानी में विश्राम की प्रेयसी का देहावसान हो जाता है। इसके वियोग में उन्हें संसार की सुखद वस्तुए भी दुःखद मालूम पड़ने लगती हैं। वियोगी कवि के सामने पूरा संसार ही वियोग की व्यथा से व्यथित दृष्टि गोचर होता है। उसे कहीं चैन नहीं। बसन्त आता है परन्तु उसे आराम नहीं। प्रकृति के मोहक दृश्यों को वह देखता है। परन्तु उसके बेचैन-हृदय को तनिक भी शान्ति नहीं मिलती। इन्हीं भावों की द्योतना के लिये इस ग्रन्थ से दो बिरहे अर्थ के साथ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं जिनके अध्ययन से रसिक पाठकों को इस कवि के अन्तःस्तर का, दुःख से भरे हृदय का एवं सहानुभूति के लिये चारों ओर घूमने वाले भावना का पूरा परिचय मिल जायेगा।

बिरही बिसराम ने भी सावन मास में आकाश में उमड़ते हुए बादलों को देखा तथा अपनी रानी के अभाव में तड़प उठे :—

आयल बाटैं सावन कै महीना मोरे भइया,
रहि-रहि उठै बदरा हो घनघोर।
उड़ेला पपीहा आपन गितिया सुनावत।
चलेले बयारि जियरा के लहरावत।
जोन्हरी कै पात हिल्लै, मढ़ुआ कै चोटी।
रही-रही खहरालीं उखिया जे मोटि-मोटि।
उड़ैले बकुलबा जइसे बेइली कै गजरा।
बदरा कै टुकड़ी नभवा में करै झगरा।
परल-बाटैं झलुआ ओप्पर झुल्लति बाटी नारी।
रहि-रहि के हिल्लै वोहीं पेड़वा के डारी।

चारों ओर कजरी सुनाले मोरे भईया।
जेहि सुनि फटेला, करेज मोर दइया।
कहै बिसराम दुनिया करति बाय आराम,
नाचत बाटैं बनवाँ में खूब मोर।
राम मोरी रानी भइलीं स्वाती कै पानी।
मोरा करकैला करेजवा कै कोर।

सावन का महीना आया हुआ है। रह-रहकर घनघोर बादल उठ रहे हैं। पपीहा अपनी गीत सुनाता हुआ उड़ता है। मन को उत्फुल्ल करती हुई वायु चल रही है जिससे मक्का के पत्ते और मड़ुवा की चोटी हिल रही है। रह-रहकर मोटे-मोटे गन्ने खड़खड़ा उठते हैं। आकाश में बगुलों की पंक्तियाँ बेले के गजरों के समान उड़ रही हैं। नभ में बादलों की टुकड़ियाँ लड़ रही हैं। बाग में झूला पड़ा हुआ है। उस पर स्त्रियाँ झूल रही हैं। उसके कारण रह-रह कर पेड़ की डालियाँ हिल रही हैं। चारो ओर कजरी सुनाई पड़ रही हैं जिसे सुनकर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। सारा संसार आनन्द कर रहा है तथा वन में मोर खूब नाच रहे हैं। किन्तु मेरे कलेजे में हूक उठ रही है। मेरी रानी स्वाती की बूँद हो गई।

जाड़े के साथ-साथ कवि का मन भी ठिठुर जाता है और वह अपने को निर्जीव सा अनुभव करने लगता है :—

माघ के महिनवा में पाला पड़ि गइलैं,
हमरा ठिठुरि ठिठुरि जाला हाथ।
हरि जाला हाथ में नाहीं खुलैले हथेलिया,
दुनिया के मरलै आइ जड़वा बहेलिया,
दिसवन में धुँअवन के फइलिलि उजराई,
कुहरा से सूरज नाहीं देत बाय देखाई,
चरर मरर चलै कोल्हू के कतरिया,
जड़वा के मारे लोग बाँधै ले पगरिया,
काँव काँव कइके कउआ स उड़ि जालैं,
मटरी के खेतवन में छिम्मी खूब खालैं।
चढ़ल कराह कै त गुड़वा मँहकत बाटै,
अउर चररि चररि करै जाठ,
हथवा के साथे मोर मनवौं ठिठुरलैं,
हम होइ गइलीं उकठल काठ।

माघ के महीने में पाला पड़ा हुआ है। हमारा हाथ ठिठुर ठिठुर जाता है। हाथ इतना ठंडा हो जाता है कि खुलता नहीं। इस प्रकार बहेलिया रूपी जाड़े ने संसार को मार डाला है।

दिशाओं में धुएँ के कारण सफेदी छाई हुई है, कुहरे के कारण सूर्य भी नहीं दिखाई देता। कोल्हू की पंक्तियाँ चरर-मरर करती हुई चल रही हैं। जाड़े के कारण लोगों ने पगड़ी बाँध रखी हैं।

काँव काँव करते हुए कौवे उड़-उड़कर मटर के खेतों में जाकर फली खूब खाते हैं। आग पर चढ़े हुए कड़ाह का गुड़ खूब महक रहा है और कोल्हू का जाठ चरर-मरर कर रहा है।

किन्तु हाथ के साथ-साथ मेरा मन भी ठिठुर गया है और मैं सूखे हुए काष्ठ के समान हो रहा हूँ।

मैं युवक कवि विसराम को भोजपुरी साहित्य का 'कीटस्' मानता हूँ। अंग्रेजी साहित्य में 'कीटस्' का जो अनुपम स्थान है, भोजपुरी साहित्य में 'विसराम' का वही स्थान हैं। दोनों शृङ्गार रस के भावुक कवि थे। दोनों अपनी भरी जवानी में कालकवलित हो गये। दोनों की कविता परिमाण में कम होने पर भी सरस तथा हृदयावर्जक है। भोजपुरी के इस प्रतिभाशाली कवि के काव्य के उद्धार करने तथा रसिक जनों के सामने लाने का श्रेय है इस काव्य के संपादक श्री ईश्वरचन्द्र सिनहाजी को तथा इसके प्रकाशक डाक्टर स्वामीनाथ सिंह जी को। ये दोनों सज्जन भोजपुरी भाषा तथा साहित्य के सच्चे हितैषी हैं। मैं इस सुन्दर प्रकाशन के लिये इन दोनों सज्जनों का अपनी ओर से तथा भोजपुरी काव्य के जिज्ञासुजनों की ओर से आभार प्रदर्शन करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन कर 'भोजपुरी संसद' वास्तव में भोजपुरी साहित्य का कल्याण संपादन करें। तथास्तु।

---

५ : ४

महाभाष्य में देवदत्त का जीवन-वृत्त

संस्कृत के व्याकरण-शास्त्र के उद्भावक तथा प्रचारक तीन मुनि प्रसिद्ध हैं—पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि। प्रामाणिकता की दृष्टि से पाणिनि से अधिक प्रामाण्य है कात्यायन का। और कात्यायन से अधिक प्रामाण्य है पतञ्जलि का। सूक्ति है—यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण के सिद्धान्तों को समझाने के लिए अपने ग्रन्थ में स्थान स्थान पर उदाहरण के लिए देवदत्त नामक व्यक्ति की कल्पना की है। उन्होने देवदत्त के जीवन वृत्त का इतना मनोरम विवरण प्रस्तुत किया है कि हम उसकी पूरी रूपरेखा पाठकों के सामने खीच सकते हैं। पतंजलि ने देवदत्त के विषय में भिन्न भिन्न तथ्य दिये हैं, उन्हें सामूहिक रुप से क्रमबद्ध कर पूरे जीवन का चित्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। जीवन के प्रत्येक तथ्य की जानकारी के लिये महाभाष्य से ही भिन्न भिन्न वाक्य यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं।

देवदत्त—बालक रूप में

देवदत्त का कुटुम्ब स्रुघ्न से आया था

स्रौघ्नो देवदत्तः।

देवदत्त गर्ग गोत्र का था।

गार्ग्यो देवदत्तः।

देवदत्त अनेक नामों से पुकारा जाता था। देवदत्त, देवक, दत्तक, देवदत्तक तथा दत्त ये उसे पुकारने के नाम थे।

देवदत्तको देवकः। देवदत्तको दत्तकः। देवदत्तो दत्तः।

—महाभाष्य ५। ३। ८३

मातापिता ने उसका नाम 'देवदिण्ण' रखा था, परन्तु गुरु ने अध्ययन के समय आश्रम में आनेपर उसके प्राकृत नामका परिष्कार—संस्कृतीकरण—कर उसका नाम 'देवदत्त' रखा। यह नाम रखने पर उसका पुराना नाम निवृत्त हो गया क्योंकि सबलोग उसे इसी नाम से पुकारने लगे।

देवदत्तशब्दो देवदिण्ण शब्दंनिवर्तयति। —महाभाष्य १। १। १

देवदत्त कभी शिखा रखता था, कभी जटा धारण करता था और कभी वह सिर मुड़ा लेता था। परन्तु प्रत्येक दशा में उसे लोग देवदत्त नाम से ही पुकारते थे।

देवदत्तः मुण्डयपि जटयपि शिख्यपि स्वाम् आख्यां न जहाति।

—महाभाष्य १।१।१

देवदत्त बिना किसी के द्वारा ताडित हुए भी यों ही चिल्लाता और हल्ला मचाता था।

अनाहतो नदति देवदत्तः।

भोजन में देवदत्त को लड्डू बड़ा प्रिय था। लड्डू (मोदक) भूने हुये चावल को पीस कर तथा गुड़ मिला कर मीठा बनाया जाता था। यही लड्डू की मिठाई देवदत्त को बड़ी रुचती थी।

अभिप्रायो देवदत्तस्य मोदकेषु भोजने।

देवदत्त अपनी माता के प्रति बड़ा ही आदर करता था।

साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति। **(महाभाष्य २।३।८)**

देवदत्त—पाठशाला में

देवदत्त विद्या पढ़ता है।
पठ्यते विद्या देवदत्तेन।

यह बालक जो अध्ययन में लगा हुआ है, देवदत्त है।
योऽधीयान आस्ते स देवदत्तः।

देवदत्त और उसका मित्र यज्ञदत्त—दोनों ही धनी हैं, सुन्दर तथा देखने लायक हैं तथा अच्छे कुल में उत्पन्न हैं, परन्तु दोनों में वेद के पढ़ने में देवदत्त यज्ञदत्त की अपेक्षा अधिक योग्य है।

देवदत्त यज्ञदत्तौ आढ्यौ अभिरुपौ दर्शनीयौ पक्षवन्तौ।
देवदत्तस्तु यज्ञदत्तात् स्वाध्यायेन विशिष्टः॥

महाभाष्य २।१।६०

देवदत्त—कृषक के रूप में

देवदत्त के जीवन का साधन कृषि ही है। उसी के सहारे उसकी जीविका चलती थी। देवदत्त के खेत नदी के किनारे तक फैले हुये थे।

नद्यन्तं देवदत्तस्य क्षेत्रम्। **(महाभाष्य ७।२।९१)**

देवदत्त ने इस खेत को अपने ही हाथ खरीदा था। इस खेत को उसने अपनी ही कमाई से खरीदा था। वह मेहनती किसान था जो खाने पीने के अतिरिक्त भी अन्न पैदा करता था और उसे ही बेचकर उसने खेत खरीदा था

देवदत्तेन पाणिना क्रीतम्।

देवदत्त और उसके मित्र लोग आपस में मिलकर धान काटते थे। एक दूसरे की इस कार्य में सहायता करते थे।

देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति

खेत में देवदत्त अपने हाथ में हँसुआ (दात्र) लेकर चारो ओर एक ही समय में घूमता फिरता दीख पड़ रहा है जिससे जान पड़ता है कि भरे पानी में उगने वाला धान आप ही आप कट गया—देवदत्त खेत में इधर से उधर हँसुआ से धान इतनी तेजी से काट रहा है कि देखने वालों को जान पड़ता है कि खेत अपने ही आप कट रहा है।

लूयते केदारः स्वयम् एवेति यत्रासौ देवदत्तो दात्रहस्तः समन्ततो विपरिपतन् दृश्यते।

देवदत्त बड़ा ही स्वाद लेकर मजे में जौ की खिचड़ी खा रहा है।

स्वादुंकारं यवागूं भुङ्क्ते देवदत्तः।

देवदत्त अपने लिए चटाई बिनवा रहा है। चटाई ही उसके बैठने तथा लेटने का प्रधान उपकरण है। फलतः दूसरे से उसे अपने उपयोग के लिए तैयार करा रहा है।

कारयति कटं देवदत्तः।

चटाई खर या फूस की बनाई जाती थी। दरवाजे के ढकने के लिए भी उसका उपयोग था। वह स्वयं अपने हाथों से चटाई को पर्दे के वास्ते तैयार कर रहा है।

उच्छ्रयति कटं देवदत्तः।

अपने ही हाथों देवदत्त ने चटाई अच्छी तरह तैयार कर ली है।

प्रकृतं कटं देवदत्तेन।

देवदत्त का वैवाहिक जीवन

देवदत्त यज्ञदत्त को बहुत ही सुन्दर कन्या मानता है।

दर्शनीयां मन्यते देवदत्तो यज्ञदत्ताम्।

देवदत्त ने कन्या का आलिंगन किया। यह कन्या उसकी बहु थी।

उपाश्लेषि कन्या देवदत्तेन।

देवदत्त को पुत्र उत्पन्न हुआ। उसे लेकर देवदत्त का पिता (बालक का पितामह) अपने गोद में बैठाता था। एक बार किसी ने पितामह की गोदी में बैठे बालक को देखकर पूछा—यह किसका बेटा है ? पितामह ने झट जवाब दिया-यह देवदत्त का बेटा है।

पितामहस्योत्सङ्गे दारकम् आसीनं कश्चित् पृच्छति-कस्यायमिति। स आह देवदत्तस्य।

देवदत्त का बेटा (जाडे के दिनों में) अपने हाथ में कम्बल लेकर चलता था।

देवदत्तस्य पुत्रः पाणिकम्बलः ॥

(म० भा० १।१।४८)

पाटलिपुत्र नगर की प्रशंसा

देवदत्त पाटलिपुत्र का निवासी था। फलतः पाटलिपुत्र की समृद्धि तथा सजावट के बारे में उत्सुकता होना जनसाधारण के लिए स्वाभाविक है। इस प्रकार एक बाहरी व्यक्ति देवदत्त के आवासनगर पाटलिपुत्र के लिए अपनी प्रशंसा कर रहा है-

पाटिलपुत्रस्य व्याख्यानी सुकौशला—……— ईदृशा अस्य प्राकारा इति।

सुकौशला पाटलिपुत्र की प्रशंसा परक पुस्तिका है जो बड़े ही विशद शब्दों में कह रही है……—— पाटलिपुत्र की चहारदिवारी की दीवारे इस प्रकार ऊँची थीं।

अनुशोणं पाटलिपुत्रम्।

पाटलिपुत्र की भौगोलिक स्थिति के बारे में यहाँ कहा गया है। पाटलिपुत्र नगर शोण नद के तट पर फैला हुआ विद्यमान है।

पाटलिपुत्रस्य प्रासादाः। पाटलिपुत्रस्य प्राकाराः

यहाँ पाटिलपुत्र के महलों का तथा शहर को घेरने वाली दीवालों के वैशिष्ट्य की ओर उनके आश्चर्यजनक होने का, संकेत है। पाटलिपुत्र के महल भी ऊँचे-ऊँचे हैं और ऊँची हैं वे नगर की दीवालें (शहर पनाह) जो उसे चारों ओर से घेरे हुई हैं ! ! !

सांकाश्यकेभ्यः अभिरूपतराः पाटलिपुत्रकाः (म० भा० १।३।११)।

पाटलिपुत्र का नगर ही बडा नही है; उसकी दीवालें ही ऊँची नही हैं, प्रत्युत वहाँ के निवासी भी सभ्यशिष्ट हैं। पतञ्जलि के समय में एक प्रसिद्ध नगर था सांकाश्य जो अपने नगरवासियों की रूपसम्पत्ति के बारे में विख्यात था। परन्तु दोनों से

तारतम्य या तुलना करने पर पाटलिपुत्र के निवासी देखने में सांकाश्य (उत्तर-प्रदेश के फर्रुखाबाद मण्डल का वर्तमान 'संकीसा' ग्राम) निवासियों की अपेक्षा बड़े ही सुन्दर थे।

देवदत्त—रोगशय्या पर

देवदत्त ज्वर से पीड़ित है। ज्वर का कारण यह है कि उसने दही के साथ खीरा खा लिया है। वैद्यों का कहना है कि दही के साथ खीरा का खाना तो प्रत्यक्ष ज्वर ही है। भला, ऐसे भोजन से बिना रुग्ण हुए कोई बच सकता है।

दधित्रपुषं प्रत्यक्षो ज्वरः। (म० भा० १।३।९)

शय्या-ग्रस्त होने पर देवदत्त को कोई चीज अच्छी नहीं लगती। उसने उपवास कर लिया है। फलतः भूखे आदमी को कोई चीज अच्छी नहीं लगती—

न देवदत्तं प्रतिभाति किञ्चित्।
बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्॥

देवदत्त की बीमारी में कोई उनके विषय में पूछता है कि देवदत्त की बीमारी कैसी है? एक ने कहा कि बीमारी घट रही है। अब उसकी तबीयत ठीक हो रही है। दूसरा कहता है—नहीं, बीमारी ज्यों की त्यों है। देवदत्त रोगशय्या पर ही है।

एवं हि कश्चित् कञ्चित् पृच्छति—किमवस्थो देवदत्तस्य व्याधिरिति, अपर आह—अपक्षीयत इति। अपर आह स्थित इति।

देवदत्त अब पिण्डी खा रहा है। पिण्डी दवा की गोली हो सकती है अथवा भोजन की पिण्डी हो सकती है। आराम होने के लिये वह यही खा रहा है।

भक्षयति पिण्डीं देवदत्तः।

देहात से पाटलिपुत्र के ब्राह्मणों का निमन्त्रण

कश्चिद् उक्तो ग्रामे भिक्षां चर। देवदत्तं चाऽऽनयेति।

देहात के निवासी को किसी ने कहा—गाँव में भीख माँग लो और शहर में जाकर देवदत्त को ले आवो।

देहाती ने पूछा कि पाटलिपुत्र में जाकर मैं ब्राह्मण को कैसे पहिचानूंगा। देवदत्त तो ब्राह्मण ठहरा। अतः उसके पहिचान के कौन से साधन हैं? जिनसे मैं ब्राह्मण को पहचान सकूँ। इस पर आदेशदाता व्यक्ति उसे ब्राह्मण-अब्राह्मण का पार्थक्य बतला रहा है—

अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति। अब्राह्मणोऽयं यो गच्छन् भक्षयति। गौरं शुच्याचारं पिंगलं कपिलकेशं दृष्ट्वाऽध्यवस्यति ब्राह्मणोऽयम् इति। ततः पश्चात् उपलभ्यते नायं ब्राह्मणो, ब्राह्मणोऽयमिति।

अब्राह्मण वह होता है जो खड़े खड़े मूतता है—पेशाब करता है। अब्राह्मण वह होता है जो चलते-चलते खाता है। यह तो ब्राह्मण से भिन्न व्यक्ति की पहिचान है। जब कोई किसी व्यक्ति को देखता है जो गौरे रंग वाला हो, पवित्र आचार वाला हो, भूरा देहचर्म वाला हो, कपिल रंग के केश वाला हो, तो उसे जान लेना चाहिये कि ऐसा व्यक्ति निश्चयेन ब्राह्मण है। उसके बाद जिसकी देहयष्टि तथा आचार इस वर्णन से पृथक् हो, तो जान देना चाहिए कि वह ब्राह्मण नहीं है, प्रत्युत अब्राह्मण ही है।

ठीक है, यह तो ब्राह्मण-अब्राह्मण का पार्थक्य है। अब देवदत्त का परिचय मुझे कैसे मिलेगा? उसे कहा जाता है कि पाटलिपुत्र जाकर वहाँ के किसी निवासी देवदत्त का परिचय पूछ लेना। वह साधारण व्यक्ति नहीं है। फलतः वह ग्रामीण पाटलिपुत्र में जाकर देवदत्त का परिचय पूछता है—

देवदत्तं मे भवान् उपदिशतु इति।

महाशयजी, कृपाकर मुझे देवदत्त का परिचय दीजिये। उसे मैं निमन्त्रण देने के लिए देहात से यहाँ आया हूँ। मैं उनसे अपरिचित हूँ। तब पाटलिपुत्रवासी व्यक्ति देवदत्त के परिचय में उसकी देहसम्पत्ति का वर्णन करता है—

इसी शहर में देवदत्त का निवास है। वह अपनी भुजा में केयूर (आजकल 'बिजायठ'), कानों में कुण्डल और सिर पर किरीट धारण करता है। उसका वक्षःस्थल चौड़ा हैं, भुजायें मांसल तथा गोलाकार हैं। नेत्रों में रक्तिमा दिखाई पड़ती है। उसका नाक चोखा है और सुन्दर वेशभूषा से सम्पन्न है। ऐसा व्यक्तित्व-मण्डित पुरुष देहसम्पत्ति से युक्त तथा साजसज्जा से सुशोभित व्यक्ति देवदत्त है—ऐसे व्यक्ति को पहचानने में देर नहीं लगेगी—

पाटलिपुत्रस्थं देवदत्तमुपदिशति। स इहस्थः अङ्गदी, कुण्डली, किरीटी, व्यूढोरस्को वृत्तबाहुः लोहिताक्षः तुङ्गनासो विचित्राऽऽभरण ईदृशो देवदत्त इति।

इतना ही नहीं, देवदत्त का अपना महल है जिसमें वह निवास करता है।

प्रासादो देवदत्तस्य स्यात्।

देवदत्त सम्पत्तिशाली धनाढ्य व्यक्ति है। उसके पास गायें हैं, [घोड़े हैं, सोना है। वह सम्पन्न व्यक्ति है। उसकी पहिचान एक और भी है कि वह विधवा का पुत्र है। उसके पिता का निधन हो चुका है। देवदन्त माता के प्रति सद्भाव रखता है।

देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च आढ्यो वैधवेयः॥ म० भा० ५।३।६०]
साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति॥ (म० भा० २।३।८)

जावो, इन गुणों से युक्त ब्राह्मण देवदत्त को यहाँ गांव में भोजन के लिए निमन्त्रण दे आवो। देवदत्त के घर ऊंचे जो हैं।

उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि। आमन्त्रयस्व एनम्॥ म० भा० ७।२।५१

इन वचनों को सुनकर तथा देवदत्त के रूप रंग से पूर्णतया परिचय पाकर वह संदेशवाहक शहर में जाता है जहाँ देवदत्त से उसकी मुलाकात होती है। वह पूछता है कि क्यों भाई, तुम्हीं देवदत्त हो? देवदत्त उत्तर देता है—हाँ, हाँ, मैं ही देवदत्त हूँ—

देवदत्तोऽहं भोः।

इसपर वह सन्देशवाहक कहता है कि आयुष्मन् देवदत्त! आप ही देवदत्त हैं। कहिये, देवदत्त जी, कुशल से तो आप हैं। चलिये महाराज! मेरे गाँव चलिए। वहाँ भात खाने के लिए आपका निमन्त्रण है। वहाँ जरूर पधारिये—

आयुष्मान् एधि देवदत्त भोः। देवदत्त भोः। देवदत्त कुशली असि? आगच्छ देवदत्त! ग्रामम्, ओदनं भोक्ष्यसे। (म० भा० ८।१।५१)

देवदत्त जी, मुझे रास्ता बताइये। मैं दूसरे गाँव में जाना चाहता हूँ वहाँ किधर से जाना होगा? कृपा कीजिये और रास्ता बता दीजिये—

ग्रामान्तरं गमिष्यामि! पन्थानं मे भवान् उपदिशतु।

देवदत्त रास्ता बतला रहा है। उस स्थान पर जाकर आप दाहिने घूम जाना और उसके आगे वाले अमुक स्थान पर बायें घूम जाना। तब अभीष्ट ग्राम में पहुँच जावोगे—

स तस्मै आचक्षते—अस्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो
ग्रहीतव्योऽमुष्मिन् अवकाशे हस्तवाम इति॥

धन्य है भगवन्! आप ने मुझे उचित राह दिखा दी। अब मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा—

उपदिष्टो मे पन्थाः।

भोजन का निमन्त्रण पाकर देवदत्त उस गाँव में अकेले नहीं, प्रत्युत अपने पुत्र के साथ जाता है। तब रास्ते में एक राहगीर, जो घटना से परिचित है, उन्हें लक्ष्य कर कहता है—यह देखिये, दाल-भात के निमन्त्रण में यह सज्जन जा रहा है—

ओदनं भोजको व्रजति।

देवदत्त—आतिथेय के गृह में

यह देखिये देवदत्त अपने पुत्र के साथ आ गया है।

पुत्रेण सहागतो देवदत्तः।

वहाँ कोई अपरिचित व्यक्ति उससे पूछ बैठता है कि कहिये, आप कहाँ से आये हैं? आप कुशली तो हैं:—

कुतो भवान्? देवदत्त, कुशल्यसीति (म० भा० ८।२।८३)

देवदत्त झट उत्तर देता है—मैं पाटलिपुत्र से आ रहा हूँ।

पाटलिपुत्रात् ।।

आतिथेय निमन्त्रित ब्राह्मणों को एक साथ आया हुआ देखकर आश्चर्यचकित होकर कहने लगता है—भाई, बड़े अचम्भे की बात है कि इधर ओदन का पाक तैयार हुआ नहीं कि उधर ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव हो गया। दोनों घटनायें एक साथ ही सम्पन्न हो गईं। इधर भात तैयार हो गया और उधर समग्र निमन्त्रित ब्राह्मणजन उपस्थित हो गये। आश्चर्य ! अचम्भा ही तो है !!!

आश्चर्यमिदं वृत्तम्। ओदनस्य च नाम पाको ब्राह्मणानां च प्रादुर्भाव इति ।।

निमन्त्रित लोगों में दोनों प्रकार के व्यक्ति थे। कुछ धनाढ्य थे और दरिद्र थे। फलतः धनाढ्य व्यक्तियों को पहिले भोजन कराया गया, तब तक दरिद्र लोग भोजन की प्रतीक्षा करते रहे। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे नाव के द्वारा किसी नदी के पार जाने की घटना। मल्लाह लोग समाज में अभिनन्दनीय ब्राह्मणों को प्रथमतः नाव से पार ले जाते हैं, तब तक नीची श्रेणी के लोग पार जाने की प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं।

ऋद्धेषु भुज्यमानेषु दरिद्रा आसते। ब्राह्मणेषु तरत्सु वृषला आसते।

भोजन गृह का दृश्य

आतिथेय अपने सहयोगियों को आदेश दे रहा है—देखो भाई, ब्राह्मणों को दही परोसो और कौण्डिन्यजी को तक्र परोसो। रही व्यञ्जनों के परोसों की बात, तो इस विषय में कोई विचार मत करो। प्रत्युत एक ओर से सब किसी को स्वच्छन्दता से परोसो, ठीक नटकी भार्या के समान (जिसका सम्पर्क सब किसी के साथ स्वच्छन्दता किया से जाता है)—

दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्यायेति।
व्यञ्जनानि पुनः नटभार्यावद् भवन्ति ।।

देवदत्त, यज्ञदत्त तथा विष्णुमित्र—ये तीनों मित्र आमन्त्रित किये गये हैं—इन तीनों को भोजन करावो।

देवदत्त-यज्ञदत्त-विष्णुमित्राः भोज्यन्ताम् (म० भा० १।१।१)

आतिथेय इसके बाद कहने लगता है—देवदत्त जी, दही अब रहने दीजिये, अब आप तरकारी के साथ ही भात खाइये—

तिष्ठतु दधि, अशान त्वं शाकेन।

देवदत्त पुकार उठता है—न जूस में नमक है, और न शाक में। दोनों में कोई भी नमकीन नहीं है।

अलवणः सूपः। अलवणं शाकम्।

वह मूँग की दाल के साथ भात खा रहा है—

शालीन् भुङ्क्ते मुद्गैः।

देवदत्त भोजन करता है—दाल-भात खा रहा है—

भुङ्क्ते देवदत्तः।

देवदत्त ने अभी तक दूध नहीं पीया। यहाँ भात के साथ (अथवा उसके अन्त में) दूध पीने की प्रथा की ओर संकेत है।

अपीतं क्षीरं देवदत्तेन !

अतिथि को माँस के साथ भात खिलाया जाता है। जैसे दही भात, दूध भात, उसी प्रकार माँस भात खाने की प्रथा की ओर संकेत है।

मांसौदनिकोऽतिथिः।

उन अतिथियों में से एक परिचित अतिथि देवदत्त से पूछ बैठता है—क्यों ? देवदत्तजी, वह दिन याद है जब हम लोग काश्मीर में रहेंगे और वहाँ भात का परोसा खाया करेंगे—

आभिजानासि, देवदत्त ! यत् काश्मीरेषु वत्स्यामः, यत् तत्रौदनानि भोक्ष्यामहे !

दूसरा परिचित मित्र इसी प्रसंग में बोल उठता है—कहिये, देवदत्त जी याद है वह दिन तुम्हें जब हम लोग काश्मीर गये हुये थे और वहाँ सत्तू पीये थे—

अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरान् अगच्छाम, तत्र सक्तून् अपिबाम।

अतिथि की बातचीत

एक अतिथि बोल उठता है कि देखो, वह व्यक्ति बड़ा ही बदमाश दीखता है। बहुत सम्भव है कि वह प्याज के साथ शराब पीता है।

वृषलरूपोऽयम् अप्ययं पलाण्डुना सुरां पिबेत्।

दूसरा अतिथि बातचीत में बोल रहा है कि वह देखो, वह मनुष्य तो पूरा चोर मालूम पड़ता है। वह तो आँखों में लगाये आँजन को भी चुरा सकता है।

चोररूपोऽयम्। अप्ययम् अक्ष्णोः अञ्जनं हरेत्।

तीसरा अतिथि बोल उठता है—देखो वह आदमी तो पूरा डाकू ही मालूम पड़ता है। वह तो भागने वाले व्यक्ति का खून ही पी सकता है।

दस्युरूपोऽयम्। अप्ययं धावतो लोहितं पिबेत्।

चौथा अतिथि बोल उठता है— जिसके घर में दश पुरुष पर्यन्त कोई शूद्र—नौकर—नहीं हो, वही सोम का पान कर सकता है, अन्य कोई नहीं।

दशपुरुषान्तिकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेत्।

पाँचवे अतिथि का कहना है कि पाटलिपुत्र तक तो खूब वर्षा हुई है।

आ पाटलिपुत्रं वृष्टो देवः ॥

इतनी बातचीत के बाद अतिथियों को दक्षिणा में गाय तथा मुद्रा दी जाती है और वे अपने घर लौट जाते हैं।

दक्षिणा में देवदत्त को गाय दी जाय, यज्ञदत्त को तथा विष्णुमित्र को भी गाय दी जाय। ये तीनों मित्र इस आमन्त्रण व्यापार में अतिथि बनकर आतिथेय के घर पर गये थे जो इन तीनों को दक्षिणा के रूप में गाय देने का आदेश अपने कर्मचारी को देता है—

देवदत्ताय गौर्दीयताम् यज्ञदत्ताय विष्णुमित्राय। म० भा० १।३।११

रास्ते में लौटने वाला एक अतिथि दक्षिणा में प्राप्त रुपये को सिक्कों के पारखी को दिखाता है। वह पारखी रुपये की परीक्षा करता है कि वह नकली तो नहीं है।

दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्। पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्।

देवदत्त के घर पर मित्रों का आमन्त्रण

कोई व्यक्ति मित्रों को आमन्त्रण देता है—भगवन्, अपने घर पर देवदत्त आपको भोजन का आमन्त्रण दे रहे हैं।

देवदत्तो भगवन्तम् आमन्त्रयते। देवदत्तशालायां ब्राह्मणा आनीयन्ताम्।
म० भा० १।४।५१

मित्र वहाँ पहुँच कर पूछते हैं उपस्थित व्यक्तियों से कि इस समय देवदत्तजी क्या कर रहे हैं।

किं देवदत्तः करोति ?

उत्तर मिलता है कि देवदत्त भोजन बना रहा है।

पचति।

देवदत्त के मित्र यज्ञदत्त भोजन की व्यवस्था करते हैं। आये हुए मित्रों को भात से तथा पुरवा-पत्तल के द्वारा भोजन करने की सुन्दर व्यवस्था यज्ञदत्त कर रहे हैं।

देवदत्तस्य समाशं शरावैः ओदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते।

वह मूँग की दाल के साथ भात खा रहा है—

शालीन् भुङ्क्ते मुद्गैः ।

देवदत्त भोजन करता है—दाल-भात खा रहा है—

भुङ्क्ते देवदत्तः ।

देवदत्त ने अभी तक दूध नहीं पीया। यहाँ भात के साथ (अथवा उसके अन्त में) दूध पीने की प्रथा की ओर संकेत है।

अपीतं क्षीरं देवदत्तेन !

अतिथि को माँस के साथ भात खिलाया जाता है। जैसे दही भात, दूध भात, उसी प्रकार माँस भात खाने की प्रथा की ओर संकेत है।

मांसौदनिकोऽतिथिः ।

उन अतिथियों में से एक परिचित अतिथि देवदत्त से पूछ बैठता है—क्यों ? देवदत्त जी, वह दिन याद है जब हम लोग काश्मीर में रहेंगे और वहाँ भात का परोसा खाया करेंगे—

आभिजानासि, देवदत्त ! यत् काश्मीरेषु वत्स्यामः, यत् तत्रौदनानि भोक्ष्यामहे !

दूसरा परिचित मित्र इसी प्रसंग में बोल उठता है—कहिये, देवदत्त जी याद है वह दिन तुम्हें जब हम लोग काश्मीर गये हुये थे और वहाँ सत्तू पीये थे—

अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरान् अगच्छाम, तत्र सक्तून् अपिबाम ।

अतिथि की बातचीत

एक अतिथि बोल उठता है कि देखो, वह व्यक्ति बड़ा ही बदमाश दीखता है। बहुत सम्भव है कि वह प्याज के साथ शराब पीता है।

वृषलरूपोऽयम् अप्ययं पलाण्डुना सुरां पिबेत् ।

दूसरा अतिथि बातचीत में बोल रहा है कि वह देखो, वह मनुष्य तो पूरा चोर मालूम पड़ता है। वह तो आँखों में लगाये आँजन को भी चुरा सकता है।

चोररूपोऽयम् । अप्ययम् अक्ष्णोः अञ्जनं हरेत् ।

तीसरा अतिथि बोल उठता है—देखो वह आदमी तो पूरा डाकू ही मालूम पड़ता है। वह तो भागने वाले व्यक्ति का खून ही पी सकता है।

दस्युरूपोऽयम् । अप्ययं धावतो लोहितं पिबेत् ।

चौथा अतिथि बोल उठता है— जिसके घर में दश पुरुष पर्यन्त कोई शूद्र—नौकर—नहीं हो, वही सोम का पान कर सकता है, अन्य कोई नहीं।

दशपुरुषान्तिकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेत् ।

पाँचवे अतिथि का कहना है कि पाटलिपुत्र तक तो खूब वर्षा हुई है।

आ पाटलिपुत्रं वृष्टो देवः ।।

इतनी बातचीत के बाद अतिथियों को दक्षिणा में गाय तथा मुद्रा दी जाती है और वे अपने घर लौट जाते हैं।

दक्षिणा में देवदत्त को गाय दी जाय, यज्ञदत्त को तथा विष्णुमित्र को भी गाय दी जाय। ये तीनों मित्र इस आमन्त्रण व्यापार में अतिथि बनकर आतिथेय के घर पर गये थे जो इन तीनों को दक्षिणा के रूप में गाय देने का आदेश अपने कर्मचारी को देता है—

देवदत्ताय गौर्दीयताम् यज्ञदत्ताय विष्णुमित्राय। म० भा० १।३।११

रास्ते में लौटने वाला एक अतिथि दक्षिणा में प्राप्त रुपये को सिक्कों के पारखी को दिखाता है। वह पारखी रुपये की परीक्षा करता है कि वह नकली तो नहीं है।

दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्। पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्।

देवदत्त के घर पर मित्रों का आमन्त्रण

कोई व्यक्ति मित्रों को आमन्त्रण देता है—भगवन्, अपने घर पर देवदत्त आपको भोजन का आमन्त्रण दे रहे हैं।

देवदत्तो भगवन्तम् आमन्त्रयते। देवदत्तशालायां ब्राह्मणा आनीयन्ताम्।
म० भा० १।४।५१

मित्र वहाँ पहुँच कर पूछते हैं उपस्थित व्यक्तियों से कि इस समय देवदत्तजी क्या कर रहे हैं।

किं देवदत्तः करोति ?

उत्तर मिलता है कि देवदत्त भोजन बना रहा है।

पचति।

देवदत्त के मित्र यज्ञदत्त भोजन की व्यवस्था करते हैं। आये हुए मित्रों को भात से तथा पुरवा-पत्तल के द्वारा भोजन करने की सुन्दर व्यवस्था यज्ञदत्त कर रहे हैं।

देवदत्तस्य समाशं शरावैः ओदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते।

भोज्य पदार्थ समाप्त हो जाने पर लोग पुकार कर कहते हैं—देवदत्त, और भात लावो। यज्ञदत्त उन लोगों को खिलावेंगे।

आहर देवदत्त शालीन्। यज्ञदत्त एनान् भोक्ष्यते।

देवदत्त का निधन

देवदत्त का अन्त बड़ा दुःखद होता है। किसी दुष्ट ने उनकी हत्या कर दी है। वह बदमाश हत्यारा पकड़ा गया है। अब समस्या है। उसका क्या किया जाय? उसे यदि प्राणदण्ड दिया जाय, मार डाला जाय, तो क्या देवदत्त फिर से जी सकता है? नहीं, नहीं।

न हि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति।

देवदत्त की हत्या होने पर यज्ञदत्त का दिल टूट जाता है। फलतः जो काम दोनों मित्रों को मिलकर करने योग्य था, उसे देवदत्त की मृत्यु के अनन्तर यज्ञदत्त भी नहीं करेगा।

देवदत्त—यज्ञदत्ताभ्याम् इदं कर्म कर्तव्यम्। देवदत्तापाये यज्ञदत्तोऽपि न करोति।
(म० भा० ५।१।७१)

महाभाष्य में पतञ्जलि के द्वारा चित्रित देवदत्त का यह जीवनवृत्त है। इसकी परीक्षा करने से उस युग में वर्तमान लोक-व्यवहार, आचार-विचार रहन-सहन, भोजन-छाजन के रूप रंग का सामान्य परिचय उपलब्ध हो जाता है। महाभाष्य में वर्णित भौगोलिक स्थिति काशी से लेकर पटना तक फैली हुई थी। इसे काशी-मण्डल के नाम से हम पुकार सकते हैं। आजकल मोटे तौर से यह भूभाग भोजपुर मंडल नाम से प्रसिद्धि पा रहा है। यह बड़े ही महत्त्व की बात ठहरी कि विक्रम से पूर्व की यह जीवन-परम्परा आज दो हजार वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी इस प्रदेश में ज्यों की त्यों जागरूक हैं।

आज भी इस प्रदेश का निवासी देवदत्त की शैली में ही अपने बालक का नाम देवतादीन, रामदीन, सिवदिहल आदि रखता है। गुरु के घर जाकर पढ़ने की परम्परा उसी तरह आज भी जागरूक है। खेती बारी का प्रचलन आज भी वैसा ही है जैसा कि पतञ्जलि ने ऊपर चित्रित किया है। धान की खेती की अधिकता आज भी इस प्रान्त में दृष्टिगोचर होती है। हाथ में हसुआं लेकर पानी में खड़े धान को किसान इतनी तेजी से घूम-घूम कर काटता है कि जान पड़ता है कि धान आप ही आप कटता चला जा रहा है। उस समय भी 'दात्र' से धान काटा जाता था। इसी दात्र का वर्तमान रूप दाँतीं है जो हँसुए के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

आश्चर्य है कि आज भी भोजन की प्रथा ज्यों की त्यों बनी हुई है। आज भी जव की बनी लप्सी (अथवा खीचड़ी) को खूब मजे से स्वाद लेकर खाया जाता है।

भूने हुए चावल को पीसकर तथा उसमें गुड़ मिलाकर लड्डू (मोदक) खाने की प्रथा आज भी विद्यमान है। इस प्रदेश का सामान्य भोजन सातू है जो जव और चना को भूंजकर तथा पीसकर तैयार किया जाता है। इस प्रदेश का यह भोज्य पदार्थ मध्ययुगीन कवियों की पैनी-दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। बारहवीं शती में काशी में जनमे महाकवि श्री हर्ष ने अपने नैषधचरित महाकाव्य में सत्तू का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसकी सुगन्ध इतनी सोंधी थी कि वह अपने सुगन्ध से पथिक-जनों को आकृष्ट कर लेती थी। ब्रह्म-भोज की परम्परा आज भी वैसी ही जारी है कि ब्रह्म-भोज के समय आमंत्रित व्यक्तियों में से विद्वान् तथा श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न ब्राह्मणों को पहले भोजन कराया जाता है तथा निम्न कोटि के ब्राह्मण (महापात्र, साईं आदि) को पीछे खिलाने की प्रथा है। महाभाष्य के युग के समान आज भी भोजन के अन्त में दही खाने या खिलाने की प्रथा विद्यमान है।

निष्कर्ष यह है कि महाभाष्य में वर्णित भोजपुरीय देवदत्त का यह जीवन-वृत्त इतना पूर्ण तथा हृदयावर्जक है कि उसे पढ़कर हम आजसे बाईस सौ वर्ष पूर्व काशीमंडल के जनजीवन का चटकीला चित्रण पा सकते हैं। यह नितान्त प्रामाणिक तथा समग्र एवं सुन्दर है। आजकल के समाज के अध्येता विद्वानों की दृष्टि इधर अवश्य आकृष्ट होनी चाहिये।

उस युग में भी एक नगर को छोड़कर दूसरे नगर में रहने की चाल थी। देवदत्त का मूल निवास स्रुघ्न नगर था जहाँ से आकर वह पाटलिपुत्र में बस गया था। महाभाष्य के समय मथुरा तथा पाटलिपुत्र के समान ही स्रुघ्न की आर्थिक सम्पत्ति तथा समृद्धि का बहुशः उल्लेख मिलता है। स्रुघ्न थानेश्वर से ४० मील की दूरी पर छोटा-सा जनपद था। यह पूर्व की ओर गंगातट तथा उत्तर में ऊँचे पर्वतों की श्रेणी तक फैला हुआ था। यमुना इसके बीच में होकर बहती थी। इसका मथुरा से निकट का सम्बन्ध था। इन दोनों का उल्लेख इस ढंग से मिलता है मानों इनमें दैनन्दिन यातायात सम्बन्ध रहता हो। स्रुघ्न से मथुरा को सीधा मार्ग जाता था। स्रौघ्न प्रासादों तथा प्राकारों के बहुशः उल्लेख से प्रतीत होता है कि यह बड़ा सम्पन्न नगर था। स्रुघ्न नगरी मेरठ, सहारनपुर तथा अंबाला होकर उत्तर पंजाब जाने वाले मार्ग पर स्थित थी। स्रुघ्न को आजकल 'सुघ' कहते हैं।

उस युग में दधि का आधिक्य था। भाष्यकार वे दही को तीन श्रेणियाँ बतलाई हैं—'मन्द' (कुछ कम जमा हुआ), 'उत्तरक' (पूर्णतया जमा हुआ) तथा 'निलीनक' (जमकर कुछ बिगड़ता हुआ)। ब्राह्मण भोजन में दही परोसा जाता था। दही परोसने वाले को 'दधिसेच्' कहते थे। दही बड़ा मांगलिक माना जाता था। भाष्य का कहना है कि दधि-भोजन कार्यसिद्धि के लिए आदिम साधन है। दधिभोजनम् अर्थ—सिद्धेरादिः—(भाष्य ६।४।१६१) यह कथन आज भी

काशीमण्डल में आदरणीय माना जाता है तथा इनके अनुसार इसका बहुल व्यवहार किया जाता है।

सक्तु (=सातू) के प्रयोग की अधिकता थी। इसका व्यवहार इतना अधिक था कि यह दूकानों पर बिका करता था। सामान्यतया व्रीहि, यव तथा गोधूम (गेहूँ) को भूँजकर तथा पीसकर सातू तैयार किया जाता था। चक्की (दृषद्) में पीसे जाने के कारण यह 'दार्षद' कहलाता था। तितउ (चालनी) से इसे चालकर साफ करते थे। अधिकतर सातू यव से ही बनाया जाता था। सक्तु तो पेय था ही, परन्तु दही मिलाकर भी इसे खाने की चाल थी। फलतः 'उदसक्तु' (उदकसक्तु) तथा 'दधिसक्तु—दोनों शब्दों का प्रयोग महाभाष्य में मिलता है। यह प्रथा आज भी भोजपुर-प्रदेश उसी प्रकार चालू है। वैदिक काल में भी सक्तुपान की प्रथा प्रचलित थी। दूध के साथ खाया जाने वाला सक्तु 'मन्थ' कहलाता था। सक्तु खाने के तीन प्रकार थे—मधुमन्थ=मधु में सान कर, दधिमन्थ दही मिलाकर, उदमन्थ जल मिलाकर यह खाया जाता था। (द्रष्टव्य लाट्यायन सूत्रभाष्य १।२।७, ८)।

बारहवीं शती के श्रीहर्ष महाकवि ने जाँत में सातू पीसने की गड़गड़ाहट आवाज का तथा पीसे हुये सातू के सुगन्ध द्वारा राह चलते राहियों के आकर्षण का सुन्दर वर्णन इस विश्रुत पद्य में किया गया है—

प्रतिहट्टपथं घरट्टजात् पथिकाह्वानद - सक्तुसौरभैः।
कलहान्न घनान् यदुत्थितात् अधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः॥

(नैषधचरित २।८५)

इससे स्पष्ट है कि उसयुग में 'सातू' पथिकों के लिए उपलब्ध सुलभ भोजन साधन था। इसीलिए तो इसे आज भी भोजपुरमण्डल में 'तुरन्ता भोजन' नाम से पुकारते हैं।

---

५ : ४

महाभाष्य और भोजपुरी

इस लेखके शीर्षक को देखकर पाठकों को आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक है। कहाँ संस्कृत व्याकरण का सर्वतोभावेन महामान्य, महर्षि पतञ्जलि रचित, महाभाष्य !! और कहाँ उत्तर-प्रदेश के पूर्वी छोर पर बोले जाने वाली 'भदेसिया' लोकभाषा भोजपुरी !!! दोनों के सम्पर्क की कोई सम्भावना ही नहीं है। भोजपुरी भाषा के सहारे महाभाष्य की विषम भाषाशास्त्रीय ग्रन्थियों के खुलने की ओर किसी भी विचारशील व्यक्ति का ध्यान जाना नितान्त आश्चर्यजनक है; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी ही अचरज पैदा करने वाली है।

यह नितान्त सत्य है कि किसी प्रदेश विशेष के भाषाभाषियों पर उस प्रदेश में व्यवहृत होनेवाली देववाणी के भाषाशास्त्रीय वाग्योगों के (भाषा के मुहावरों का) प्रभाव को खोज निकाला जा सकता है। कार्य दुरूह है, परन्तु असम्भव नहीं है। पतञ्जलि ने संस्कृत को 'शिष्टजनों' की भाषा बतलाया है, परन्तु संस्कृत उस युग की लोकभाषा के पद पर प्रतिष्ठित थी। साधारण जन भी बोल-चाल में इस भाषा का प्रयोग किया करते थे। पूर्व लेख में दिखलाया गया है कि पतञ्जलि का परिचित भूमिखण्ड 'काशीमण्डल' है जो वाराणसी मे लेकर पाटलिपुत्र तक विस्तृत था और जिससे आजकल 'भोजपुर' मण्डल के नाम से पुकारने की परिपाटी है। उनके द्वारा अंकित 'देवदत्त' का जीवन वृत्त इसी भूमिभाग के प्रतिनिधिभूत सामान्य व्यक्ति का जीवन चरित है। फलतः पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट संस्कृत के मुहावरों का प्रयोग इस मण्डल की लोक भाषा में—भोजपुरी—विद्यमान होने की घटना हमें आश्चर्य-चकित नहीं करती। यह भाषाशास्त्रीय परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से विराजमान है। आजकल की कोरवी बोली (खड़ी बोली) का मूल स्थान इस प्रदेश से बहुत दूर पश्चिम में होने के कारण संस्कृत के मुहावरों का इस बोलो में प्रचलन एवं व्यवहार नहीं मिलता और उसे मिलने की आशा भी नहीं है। लेकिन काशीमण्डल की लोकभाषा में, जनवाणी में, इन मुहावरों का प्रयोग ठीक ठीक मिल रहा है, इस बोली के बोलने वाले इसे जाने चाहे न जाने। भोजपुरी में ऐसे मुहाविरों का अस्तित्व है, जिसका ठेठ संस्कृत भाषा से मूलतः सम्बन्ध है। इस तथ्य को उदाहरण देकर समझाने का प्रयास किया जा रहा है।

पतञ्जलि ने धातुओं के अनेकार्थक होने के तथ्य को भली-भाँति समझाया है। सामान्य रीति से धातु का जो अर्थ धातुपाठ में बतलाया जाता है उससे भी भिन्न अर्थ में उसका प्रयोग मिलना असामान्य बात नहीं है। उदाहरण के लिए कृ धातु के अर्थ पर विचार करें। कृ धातु का सामान्य अर्थ है करना, किसी नई

वस्तु का सम्पादन करना, रचना करना आदि आदि । कृ का साधारण अर्थ है—'अभूत प्रादुर्भाव' अर्थात् जो वस्तु नहीं हो, उसे उत्पन्न करना । परन्तु इतने मात्र से उसके अर्थों की गतार्थता नहीं होती । उसका एक अर्थ निर्मलीकरण भी है अर्थात् साफ करना, निर्मल बनाना और इस अर्थ में पतञ्जलि ने उदाहरणार्थ दो वाक्य दिये हैं—पृष्ठं कुरु तथा पादौ कुरु जिसका अर्थ है—पीठ को निर्मल करो, पोंछ दो तथा पैरों को साफ कर दो । इसी विशिष्ट अर्थ में यह मुहावरा प्रचलित है । महाभाष्य का कथन है—

करोतिरभूत-प्रादुर्भावे दृष्टः । निर्मलीकरणे चापि विद्यते ।
पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते । १।३।१ सूत्र पर महाभाष्य ।

विचार करना है कि आज यह मुहावरा किस बोली में प्रचलित है ? खड़ी बोली में 'पादौ कुरु' का अक्षरशः अर्थ होगा 'पैरों को करो', परन्तु इस वाक्य से कोई समुचित अर्थ या तात्पर्य नहीं निकलता । इस प्रसंग में भोजपुरी इस पद-प्रयोग की अर्थ-मीमांसा के लिए हमारी सर्वथा सहायता देने के लिए तैयार है । भोजपुरी में 'पादौ कुरु' का अर्थ होगा 'गोड़ करना' अर्थात् पैर की सफाई करना और यह पद भोजपुर के लोकव्यवहार में आज भी व्यवहृत है । इस अर्थ-निरूपण में एक अनुभूत छोटा प्रसंग उपस्थित करता हूँ ।

उत्तर प्रदेश के सर्वाधिक पूरबी भाग बलिया जनपद के दूरस्थ अंचल का रहने वाला एक ग्रामीण सेवक काशी में लाया गया था । उसके ऊपर शहरी बोली की परिछाही नहीं पड़ी थी । वह ठेठ भोजपुरी जो गाँवों में विशुद्ध रूप से बोली जाती है, से ही परिचित था । मालिक ने जब उससे घर के अनेक कार्यों को करने का आग्रह किया तब वह झुँझलाकर भोजपुरी में बोल उठा 'ई कुली काम करे हम नईखी आईल । हम गोड करबी, पीठ करबी, माथा करबी और कुछ ना करबी । इस बात का स्पष्ट अर्थ है कि वह पैर साफ करेगा, पीठ मीसेगा, माथा दबावेगा । बस, और काम नहीं करेगा । फलतः यहाँ गोड़ करबी, पीठ करबी, वाक्यों में पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट अर्थ स्पष्टतः अभिव्यक्त हो रहा है । यह परम्परागत अर्थ है जो भोजपुरी को पतञ्जलिकालीन संस्कृत की बोलचाल से मिलाता है ! ध्यान देने की बात है कि बोल-चाल होने के कारण ही भोजपुरी देववाणी की भाव-धारा का प्रतिनिधित्व करने के लिए सर्वथा समर्थ है ।

अन्त में, यही कहना है कि धन्य है यह हमारी भोजपुरी बोली जिसकी सहायता से महाभाष्य की विषम पंक्ति का ठीक ठीक अर्थ लग जाता है, धारावाहिक परम्परा का पता चल जाता है । यदि इसकी सहायता प्राप्त नहीं होती, तो पण्डितजन जनभाषा के हाट में टक-टकाते खड़े ही रह जाते और महाभाष्य के कीमती सौदा को खरीदने वाला कोई भी व्यक्ति नही मिलता । यह सूक्ति सर्वथा सत्य है :—

पातञ्जल - महाभाष्य—व्याख्या - मर्म - प्रकाशिका ।
जीव्यात् भोजपुरी भाषा भव्यभावानुवर्तिनी ॥

५ : ५

भोजपुरी व्याकरण

संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में संस्कृत ही प्राचीनतम भाषा है। इस विषय में विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से संसार की भाषाओं में दो ही भाषायें ऐसी हैं जिनके बोलने वालों ने संस्कृति तथा सभ्यता का निर्माण किया है। एक है 'आर्य भाषा' तथा दूसरी है सामी या 'सेमेटिक' भाषा। आर्यभाषा के अन्तर्गत दो विशिष्ट शाखाए हैं—(१) पश्चिमी (२) पूर्वी। पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत योरोप की सभी प्राचीन तथा नवीन भाषायें सम्मिलित हैं। यथा ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक फ्रेन्च, जर्मन, इंग्लिश आदि। ये सभी भाषायें मूल आर्य-भाषा से ही प्रादुर्भूत हुई हैं। पूर्वी शाखा में दो विभाग है—(१) ईरानी एवं (२) भारतीय। ईरानी भाषा का नाम 'जेन्द अवेस्ता' है जिसमें पारसियों के मूल धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय शाखा में संस्कृत ही सर्वस्व है। यहीं सबसे प्राचीनतम है। आर्यभाषा के मूल रूप को जानने के लिये संस्कृत में पर्याप्त सामग्री है। भारत की समस्त आधुनिक भाषायें (द्राविडी भाषा को छोड़-कर) संस्कृत भाषा से ही निकली हैं। तात्पर्य यह है कि भोजपुरी भाषा का साक्षात् सम्बन्ध संस्कृत से है।

एक समय था जब संस्कृत भी बोलचाल की भाषा थी। किन्तु जब व्याकरण के कड़े अनुशासन में वह आ गई, तब साहित्य की भाषा मात्र रह गई और उसका जनसम्पर्क कम हो गया। उस समय जन सम्पर्क की भाषा पाली या प्राकृत थी। धीरे-धीरे उसने भी बौद्ध ग्रन्थों तथा नाटको में साहित्य का रूप ग्रहण कर लिया फलतः उसे भी विद्वानों ने व्याकरण के नियमों में बाँध दिया। अनन्तर बोलचाल की भाषा का कार्य एक दूसरी ही भाषा ने ले लिया जिसका नाम 'अपभ्रंश' था। अपभ्रंश में भी जब काव्य-रचना होने लगी, तब वह भी साहित्य की भाषा मान ली गई। उसी अपभ्रंश से हिन्दी की विविध बोलियों का विकास हुआ। जैसे ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली, भोजपुरी आदि। तात्पर्य यह कि आज जिसे हम हिन्दी के नाम से अभिहित करते हैं, वह कोई एक भाषा नहीं है, अपि तु विविध बोलियों का सम्मिलित रुप है। तभी तो सूर, तुलसी आदि कवियों की ब्रजभाषा अवधी आदि में लिखित रचनायें हिन्दी साहित्य की निधि मानी जाती हैं। भोजपुरी भाषा या बोली भी हिन्दी की एक अंग-भूत भाषा है। उसका साहित्य भी हिन्दी का साहित्य है।

हिन्दी की दो धारायें हैं – (१) पूर्वी तथा पश्चिमी। भोजपुरी पूर्वी अथवा मागधी धारा की पश्चिमी उपधारा है। डा० ग्रियर्सन ने मागधी को 'बिहारी' नाम से अभिहित किया है; बिहारी से उसका तात्पर्य उस भाषा से है, जिसकी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी तीन बोलियाँ है। यही कारण है कि इन तीनों बोलियों के बोलले वाले अत्यन्त सरलता से एक दूसरे की बोली समझ लेते हैं। उन तीनों बोलियों में विस्तारक्षेत्र की दृष्टि से भोजपुरी का स्थान सर्वोच्च है। उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में मध्य प्रान्त की सरगुजा रियासत तक इस बोली का विस्तार है। बिहार में शाहाबाद, सारन, चम्पारन, राँची, जशपुर स्टेट, पालामऊ के कुछ भाग तथा मुजफ्फरपुर के उत्तर-पश्चिमी कोने तक और उत्तर प्रदेश में बलिया, देवरिया, गोरखपुर, गाजीपुर, आजमगढ़, वाराणसी, मिरजापुर तथा जौनपुर के अधिकांश भाग और बस्ती जिले की हरैया तहसील में स्थित कुवानो नदी तक भोजपुरी भाषा बोली जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि भोजपुरी पश्चिमी बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश की व्यावहारिक भाषा या बोली है। इसकी एक अपनी परम्परा है तथा एक अपनी विशिष्ट संस्कृति है। इस भूखण्ड में यही कारण है कि प्रान्त भेद होते हुए भी एक दूसरे में रोटी-बेटी तक का सम्बन्ध परस्पर सौहार्द-पूर्वक सम्पन्न होता है। इस भूखण्ड में आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि दैनिक व्यवहार मे भी भोजपुरी भाषा जनता में अधिक साम्य रखती है। सही माने में उक्त क्षेत्र की मातृ-भाषा भोजपुरी है, हिन्दी (खड़ी बोली) नहीं, जिसे आज भारत की राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त हो रहा है।

भोजपुरी नाम का भी रहस्य हैं। डा० उदय नारायण तिवारी ने उक्त नाम के विषय में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' में विस्तृत प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि भोजपुरी का नामकरण बिहार के शाहाबाद जिले के भोजपुर परगना के नाम पर हुआ है। किसी समय भोजपुर राज्य अत्यन्त प्रसिद्ध था। इसके शासक उज्जैन के राजपूत प्राचीन काल में अपने मूल स्थान मालवा से बिहार चले आये थे। मध्य-युग के भारतीय-इतिहास में विशेषतः पश्चिमी बिहार के इतिहास में, इन राजपूतों का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति तक इनका प्रभुत्व अक्षुण्ण रहा। इसी समय महाराज कुमार बाबू कुँवर सिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध विप्लव किया, जिसके परिणामस्वरूप भोजपुर ध्वस्त कर दिया गया। इस प्रकार भोजपुर राज्य का अन्त हुआ। इस समय डुमराव राज्य एक उज्जैन-वंशी क्षत्रिय के अधिकार में है।'[1]

उक्त कथन से यह निष्कर्ष निकाला कि प्राचीन भोजपुर राज्य से भोजपुरी भाषा का अधिक सम्बन्ध है। अतः वहाँ की या आस-पास की बोली ही भोजपुरी का सही नमूना है। भोजपुरी की विस्तृत सीमा का निर्धारण करने वाले

१. भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० ४, ५।

डा० ग्रियर्सन आदि विद्वानों ने इनके विविध रूपों का आकलन किया है, जो भाषा-शास्त्र की दृष्टि से वाञ्छनीय है। इस विविधता में जो सहज एकरूपता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे विविध रूप भोजपुरी भाषा की शैलियाँ हैं। प्रत्येक दो कोस पर बोली बदलती है, इस मान्य सिद्धान्त के आधार पर उक्त वैविध्य स्वाभाविक है।

अब प्रश्न उठता है कि बोली की यह विविधता क्या साहित्य-रचना में भी स्वीकार्य है ? यदि है, तो साहित्य की भाषा में भी विविधता होगी और भाषा का कोई स्थिर स्वरूप नहीं बन पायेगा। यदि नहीं, तो तत्तत् स्थानों की बोलियों में निर्मित साहित्य की स्थिति चिन्तनीय होगी। ऐसी स्थिति में न तो ठोस साहित्य ही निर्मित हो सकेगा और न तो भाषा का ही स्वरूप स्थिर हो पायेगा। अतः उचित यह होगा कि साहित्य की भाषा में यथाशक्य एकरूपता लाई जाय। बात यह है कि साहित्य की भाषा और बोलचाल की भाषा में सर्वदा अन्तर होता है। साहित्य की भाषा परिष्कृत तथा अनुशासित होती है और बोलचाल की भाषा स्वच्छन्द एवं उटपटांग होती है। शास्त्रकार जब व्याकरण शास्त्र लिखता है, तब वह भी साहित्य को ही अपना आधार मानता है। तात्पर्य यह कि भोजपुरी-साहित्य की भाषा में एकरूपता होनी चाहिये, विविधता नहीं; नहीं तो अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग अलापने से भोजपुरी साहित्य का सम्यक् विकास न हो सकेगा।

अब प्रश्न उठता है कि वह कौन सी भोजपुरी है जिसको आदर्श माना जाय। मैं समझता हूँ कि भोजपुर के आस-पास बोली जाने वाली भाषा ही वस्तुतः आदर्श भोजपुरी का स्थान पाने की अधिकारिणी है। ऐसी स्थिति में उसका व्याकरण शास्त्र होना परम आवश्यक है। व्याकरण का अर्थ है 'शब्द-व्युत्पत्ति' तथा शास्त्र का अर्थ है 'अनुशासन'। इसी से व्याकरण शास्त्र को 'शब्दानुशासन' भी कहते हैं।

अस्तु। प्रस्तुत पुस्तक 'भोजपुरी व्याकरण'[1] उसी दिशा में एक स्तुत्य प्रयास है। इस पुस्तक में भोजपुरी के कवियों एवं लेखकों को समुचित सहायता मिलेगी। आकार में लघु होते हुए भी पुस्तक सर्वांगीण है। अतः इसके लेखक श्री रास बिहारी शर्मा बधाई के पात्र हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ का निर्माण कर एक नितान्त आवश्यक कार्य की संपूर्ति की है। मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ भोजपुरी के मुख्य स्वरूप को बतलाने में सर्वथा कृतकार्य है और लेखक का प्रयत्न सर्वथा श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है।



१. पं० रास बिहारी शर्मा रचित 'भोजपुरी व्याकरण' की भूमिका के रूप में लिखित।

संस्मरण खण्ड

खण्ड ६

जीवित इव कण्ठगते सूक्ते दुःखासिका कवेस्तावत् ।
नयन - विकासविधायी सचेतनाभ्यागमो यावत् ।।

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं
स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम् ।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियै—
र्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः ।।

६ : १

भारतेन्दु के दिव्य संस्मरण

भारतेन्द्र हरिश्चन्द हिन्दी जगत् की एक विभूति थे। उनका नाम लेते ही उनके कवि-दरबार का चित्र सामने झूलने लगता है। इस विषय में उनकी तुलना जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे से की जा सकती है। गेटे कवि होने के अतिरिक्त एक महनीय विचारक भी थे और उनका दरबार तत्कालीन मान्य कवियों, लेखकों, वैज्ञानिकों तथा राजनीतिज्ञों के जमघट से सदा चमत्कृत रहता था। यही बात भारतेन्दु के विषय में भी सत्य है। परन्तु दुःख की बात है कि जहाँ एकरमान की कृपा से गेटे का यह सार्वभौम रूप विद्वानों को रिझाता रहेगा वहाँ हरिश्चन्द के इस चटकीले चित्र को अंकित करने का कोई समुचित उद्योग नहीं हुआ।

भारतेन्दु जी ने काव्य-सृजन के अतिरिक्त इतिहास लेखन की ओर भी ध्यान दिया। 'काश्मीरकुसुम'; के नाम से राजतरंगिणी के कुछ अंशों का अनुवाद किया। निबन्ध, नाटक, उपन्यास, सम्पादन, कविता और इतिहास सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया। उनकी कार्य-शक्ति कोरे साहित्य-सृजन तक सीमित न थी। हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए वे व्याख्यान भी देते और उनके प्रचार के लिए पुस्तिकाएँ भी लिखते थे। सरकारी दफ्तरों में नागरी के प्रवेश के लिए भी उन्होंने उद्योग किया। उनके जीवनकाल में तो नहीं, पर सं० १९५७ में यह आन्दोलन सफल हुआ। अपने इस स्वरूप में वे नवीनतम हिन्दी हितैषी नेता से लगते हैं। अपने व्याख्यानों के प्रसंग में वे जहाँ जाते वहाँ एक पर्व या उत्सव का समाँ बँध जाता। उनके चारो ओर का वायुमण्डल जिन्दा-दिली का नमूना था। भारतेन्दु का रहना-सहना, उठना-बैठना, साँस लेना और जीवित रहना सब कुछ हिन्दीमय था। हिन्दी भाषा उनके जीवन की धुरी थी। हिन्दी का जो रथ उन्होंने चलाया उसका बढ़ता हुआ स्वर आज लोक में गूँज रहा है। अगले सौ वर्षों में हिन्दी भाषियों का यह लोक सम्वादन स्वर कितना शक्तिशाली और व्यापक हो जायगा, यह हमारी साधना पर निर्भर करेगा।

हरिश्चन्द्र का आदर सर्वत्र होता था। रईसों की मण्डली के वे बबुआ थे, पण्डितों की विज्ञमण्डली के बाबू थे और राजाओं के राजसी दरबार के रसिया थे। डुमराँव के राजा राधिका प्रसाद सिंह हरिश्चन्द्र के गुणग्राही राजाओं में अन्यतम थे। राजा साहब भोजपुराधीश होने के नाते भोजपुरी के ऐसे भक्त थे कि भारत के बड़े लाट से भी इसी में बातचीत करते थे। एक बार उन्होंने बड़े लाट को बहुत

बड़ी दावत दी। उनकी आवभगत में कुछ उठा नहीं रखा गया। दावत के अन्त में राजा साहब ने श्रोताओं को अत्यन्त आश्चर्य में डाल दिया जब उन्होंने लाट साहब से ठेठ भोजपुरी में पूछा—"कहीं सरकार, खूब कचराकूट भइल हा नू ?" यह 'कचराकूट' बहुत दिनों तक अफसरों के हृदय में हँसी के फौवारे उठाता रहा।

इन्हीं राजा साहब के दरबार में भारतेन्दु की बड़ी अभ्यर्थना हुई। इस दरबार में अनेक कविजन अपनी कला दिखला कर अपने स्वामी की अनुकम्पा और प्रसाद अर्जन किया करते थे। एक दिन अपने इन्हीं कवियों के विषय में राजा साहब भारतेन्दु जी से पूछ बैठे—'कहीं, हमरा इहाँ के कविलोग कइसन बाड़े ?' भारतेन्दु झट बोल उठे—'राउर कवि लोगन जैसन कवि संसार में ना मिलिहें। हमनी का त पिंगल के नियम से कविता करिलें, लेकिन राउर कवि लोग सूत से नापि जोखि के कविता करेला लोग, सूत से अधिका भइला पर ऊ पद के काटि देला।' सुनते हैं, राजा साहब इस उत्तर से बड़े प्रसन्न हुए।

संस्कृत के मान्य आलोचक राजशेखर की 'कविचर्या' भारतेन्दु पर इतने अच्छे ढंग से घटती है कि दोनों की तुलना आश्चर्य में डाल देती है। भारतेन्दु के जीवन का एक ही अध्यवसाय था—काव्यकला की उपासना। ऐसे सारस्वत कवि के लिए काव्योपासना का कोई नियत काल नहीं होता। भारतेन्दु जी के बाहर निकलने पर एक सेवक दावात-कलम (अभी फाउंटनपेन का समय दूर था) और कागज लेकर साथ साथ चलता था। उनका स्वभाव था कि चलते चलते रुक जाते और भरे चौक में भी अपनी नवीन सूझ कागज पर अंकित करने लगते।

हरिश्चन्द्र बड़े विनोद प्रिय थे। एक बार फर्स्ट क्लास के डिब्बे में रेल से यात्रा कर रहे थे। उसमें एक अंग्रेज अफसर भी था। एक स्टेशन पर वह किसी कार्य से बाहर गया। इतने में आया पानी और बौछार डिब्बे में भी आने लगी। अंग्रेज स्वयं भी हँसोड़ प्रकृति का था। आते ही हँसकर भारतेन्दु से पूछा—'हू हैज मेड वाटर ?' (किसने लघुशंका की ?)। हरिश्चन्द्र ने छूटते ही उत्तर दिया—'नॉट आइ, बट गॉड' (मैंने नहीं, ईश्वर ने)। इस साहित्यिक उत्तर में अंग्रेजी के 'मेक वाटर' (पानी बनाना तथा पेशाब करना) के श्लिष्ट अर्थ का भरपूर निर्वाह था। अंग्रेज हँसी से लोट-पोट हो गया और भारतेन्दु की बड़ी प्रशंसा करने लगा।

संस्कृत पण्डितों का समादर

भारतेन्दु जी संस्कृत भाषा के स्वयं विद्वान् तो थे ही, साथ ही साथ वह संस्कृत पण्डितों का बड़ा ही आदर तथा सत्कार किया करते थे। समाज के कार्यों में पण्डितों को आगे बढ़ाने में, उन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा देने में तथा सभा समितियों में उच्च सम्मान दिलाने में वे सर्वदा जागरूक रहे। १८६६ ईस्वी की बात है—महारानी विकटोरिया ने अपने प्रिय पुत्र ड्यूक आफ एडिनबरा को भारतभ्रमण को

लिए भारत में भेजने का निश्चय किया। इस शुभ समाचार को पाकर भारतेन्दु जी ने काशी में उनके आगमन पर उनके अभिनन्दन करने का दृढ़ निश्चय किया। उन्होंने काशी के मान्य पण्डितों से ड्यूक के स्वागतार्थ संस्कृत कविताओं की रचना करवाई और उन्हें संगृहीत कर 'सुमनोऽञ्जलि' नाम से प्रकाशित किया। इस काव्यसंग्रह को उन्होंने चाँदी सोने के अक्षरों में छपवा कर अपने सुसज्जित आवास स्थल पर ड्यूक को समर्पित किया। ड्यूक के काशी आगमन के दिन चन्द्रग्रहण लगा हुआ था। इस दैवी घटना के अवसर पर उन्होंने अपनी इस कविता में ड्यूक के प्रचुर गुणों का तथा चन्द्रमा से भी प्रभूततर उनकी कीर्ति का वर्णन बड़े ही मनोज्ञ शब्दों में किया—

वाको जन्म जल, याकी रानी कोख सागर तें,
वह तो कलंकी, या में छींट हूँ न आई है।
वह दिन घटे, यह बाढ़े दिन दिन,
वह विरही-दुखद यह जन सुखदाई है।
जानि अधिकाई सब भाँति राजपुत्र ही की
गहन के मिस यह मति उपजाई है।
देखि आज उदित प्रकाशमान भूमिचन्द,
नभ ससि लाज मुख कालिमा लगाई है॥

सुमनोऽञ्जलि को तथा भारतेन्दु की राजभक्ति को देख रींवानरेश श्रीमान् रघुराज सिंह जी बहुत प्रसन्न हुये थे और उन्होंने दो सहस्र मुद्रा पण्डितों के सम्मानार्थ हरिश्चन्द्र के पास भेजवाई थी जिसको भारतेन्दु ने आदर-सत्कार के साथ उन पण्डितों में बाँट दिया था। काशी के इन पण्डितों ने अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करने के लिए भारतेन्दु को मानपत्र के रूप में एक प्रशंसापत्र भी दिया था जिसमें इस घटना का वर्णन, भारतेन्दु का औदार्य तथा देववाणी के प्रति उनका सौहार्द पद्यबद्ध प्रस्तुत किया था। इस मान पत्र में काशी के प्रख्यातनामा बीस पण्डितों के हस्ताक्षर विद्यमान हैं। लेखक को इसमें अपने अजिया श्वसुर पण्डित यागेश्वर पण्डित जी का नाम देखकर आह्लादित होना नितान्त स्वाभाविक है। इस मानपत्र में पण्डितों ने 'हरिश्चन्द्र' शब्द के ऊपर बड़ा ही रमणीय श्लेष बाँधा है—

विद्वज्जन - प्रतिष्ठा - कारणमेवं हरिश्चन्द्रः।
यद्वत् स्वभावगत्या दिनरात्र्योर्वा हरिश्चन्द्रः॥

आशय है कि जिस प्रकार हरि (सूर्य) तथा चन्द्र (चन्द्रमा) अपनी स्वाभाविक गति से क्रमशः दिन तथा रात्रि की प्रतिष्ठा के कारण होते हैं, उसी पकार हरिश्चन्द्र विद्वज्जनों की प्रतिष्ठा के कारण अपने स्वभाव से ही हैं। इस

संस्कृत पद्य का भावार्थ इस दोहे में भी किसी कवि ने समुचित रीति से दिखलाया है—

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।
जिमि स्वभाव दिन रैन को कारन इक हरिचन्द ॥

इस मानपत्र के रचयिता विनायक शास्त्री जी हैं जिन्होंने काशी की अखिल पण्डित मण्डली की आज्ञा से यह पद्य मुक्तामाला बनाई थी—

दशदिग् - द्विपमौक्तिकैरिमां विरचय्याखिल - विद्वदाज्ञया।
स्रजमर्पयते विनायकः सुहरिश्चन्द्र - विशालवक्षसि ॥

मानपत्र[1] के अन्त में लिखा गया है—

इत्यस्मै परमादर पुरस्सरं मानपत्रमिदम्।
काशीस्थैर्विद्वद्भिः समर्प्यतेऽङ्गीकरोतु स श्रीमान् ॥

बलिया यात्रा की शताब्दी

आज १९८४ ई० का नवम्बर मास बीत रहा है। आज से ठीक सौ वर्ष पूर्व १८८४ ई० के ४ नवम्बर को भारतेन्दु ने बलिया के ददरी मेला में पधार कर अपने अभिनन्दनकर्ताओं के विशाल प्रयत्न को सफल बनाया था। भारतेन्दु को बलिया की यात्रा करने का एक महत्त्वपूर्ण हेतु था। इस यात्रा के प्रेरक तथा आकर्षण-बिन्दु थे महाराज कुमार रामदीन सिंह। वे बड़े आस्तिक और परम भागवत होने के अतिरिक्त हिन्दी के विज्ञ लेखक तथा भारतेन्दु जी के परम प्रशंसक थे। इनकी कर्मस्थली भी पटना जहाँ इन्होंने अपने 'खड्ग विलास प्रेस' में भारतेन्दु का ग्रन्थों का प्रकाशन किया था, परन्तु इनकी जन्मस्थली भी बलिया जिले का 'रेपुरा' गाँव, जहाँ इनका जन्म हैहयवंशी हल्दी महाराज के कुल में हुआ था और इसीलिए ये 'महाराज कुमार' की उपाधि धारण करते थे। इन्होंने ही बाबू हरिश्चन्द्र को ददरी मेला में आकर शिक्षित जनता का अभिनन्दन स्वीकारने के लिए बाध्य किया था। भारतेन्दु मेवाड़ की यात्रा से लौटने के बाद रुग्ण से थे, फिर भी वे रामदीन सिंह जी के आग्रह को टाल नहीं सके। इनके अभिनन्दन के निमित्त मेला बड़े प्रयास तथा प्रेम से सजाया गया था। इनकी कीर्ति तो यहाँ पहिले ही पहुँच चुकी थी। फलतः जनता इनका दर्शन तथा आवभगत करने के लिए टूट पड़ी। बड़ा ही सुयोग था उस वर्ष। एक तो सुन्दर मेले का सुयोग और दूसरा गुणग्राही विद्वज्जनों का सुलभ समागम। भारतेन्दु जी का ५ नवम्बर को 'बलिया इंस्टीच्यूट' तथा आर्य-देशोपकारिणी सभा में नागरिक अभिनन्दन किया गया। अभिनन्दन

---

१. पूरे मानपत्र के लिए देखिये—बाबू शिवनन्दन सहाय रचित 'हरिश्चन्द्र' पृष्ठ २७०–२७१ (प्रकाशक-हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, १९७५ ईस्वी)।

समारोह की अध्यक्षता जिलाधिकारी टी० डी० राबर्ट्स साहब ने की थी। 'बलिया इंस्टीच्यूट' के महामन्त्री मुन्शी बिहारीलाल तथा आर्य-देशोपकारिणी सभा के पण्डित इन्दिरादत्त उपाध्याय ने इनके सम्मान में अभिनन्दन पत्र पढ़ा। भारतेन्दु ने अभिनन्दन के बाद ही अपना ऐतिहासिक निबन्ध 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' पढ़ा था। ददरी के मेले नें ६ नवम्बर को 'सत्यहरिश्चन्द्र' तथा ७ नवम्बर को 'नीलदेवी' नाटक का अभिनय किया गया था। भारतेन्दु जी स्वयं राजा हरिश्चन्द्र की भूमिका में रंगमंच पर अवतीर्ण हुये। यह अभिनय बड़ा ही सफल हुआ था। भारतेन्दु के मधुर सवैयों की धूम तो सहृदय समाज में थी ही, परन्तु उनका अभिनेता के रूप में रंगमंच पर अवतरण एक नई बात थी। वे अभिनयकला के भी तो पूर्ण पारंगत पटु पण्डित थे। इस नाटक में काशी निवासी तथा बलिया कचहरी के तत्कालीन पेशकार पण्डित रविदत्त शुक्ल ने भी भाग लिया था।[1]

इस अभिनय के अवसर पर बलिया के अंग्रेज जिलाधीश राबर्ट्स साहब भी अपनी पत्नी के साथ उपस्थित थे। अन्तिम दृश्य में श्मशान पर कर उगाहने के समय भारतेन्दु का अभिनय इतना सुन्दर और करुणोत्पादक हुआ कि मेम साहिबा विचलित हो उठीं। करुणा की धार धैर्य एवं शिष्टाचार के बांध को तोड़कर आँसुओं के रूप में बह चली। भारतेन्दु के अभिनय पर राबर्ट्स की पत्नी रो पड़ी थी तथा वह इतना करुणार्द्र हो गई थी कि उसने परदा गिराने का आग्रह किया था। राबर्ट्स साहब भी बहुत प्रभावित हुये थे। उन्होंने लन्दन में अनेक अनेक अभिनय देखा था; परन्तु भारतेन्दु को बधाई देते हुए उन्होंने कहा था कि ऐसा सुन्दर अभिनय देखने का सौभाग्य हमें कभी प्राप्त नहीं हुआ था। बलिया के अनेक वृद्ध साहित्यिकों से इस अभिनय की गद्गद कण्ठ से प्रशंसा करते मैंने सुनी है। मेरे गाँव (सोनबरसा, जिला बलिया) के ही निवासी, सदर बलिया में मुख्तारी करनेवाले, मुन्शी रघुनाथलाल जी से मैंने इस घटना की बात अपने लड़कपन में सुनी थी जो इस अवसर पर उपस्थित थे और जिन्होंने इस सुन्दर अभिनय को अपनी आँखों देखा था। भारतेन्दु जी बलिया में ४ नवम्बर से लेकर ७ नवम्बर (१८८४ ई०) तक रहे। तदनन्तर वे काशी लौट आये और इस यात्रा के उपरान्त दो महीनों में ही उनका निधन हो गया!

इस अभिनय के वैशिष्टय की पुष्टि श्री गोपाल राम गहमरी के लेख से भी होती है—"बयालीस वर्ष पहिले की बात है, जब भारतेन्दु जी ने बलिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक स्वयं हरिश्चन्द्र बनकर खेला था, जिसमें हिन्दी के सुलेखक, 'दु:खिनी बाला' लेखक बाबू राधाकृष्ण दास सरीखे हिन्दी सेवक और रविदत्त

१. ऊपर निर्दिष्ट सम्मानित व्यक्तियों का उल्लेख मैंने भी धीरेन्द्रनाथ सिंह के लेख के आधार पर किया है (द्रष्टव्य—'आज' १५ अक्टूबर, १९८३ ई०)

शुक्ल जैसे कवि ने पार्ट लिया था। उस समय पर्दों और सीनों का सुन्दर जमाव नहीं था, परन्तु जो कुछ स्टेज उस समय बना था बजाज के कपड़े तानकर उसपर भारतेन्दु जी ने जो काम कर दिखाया, उसकी महिमा यूरोपियन लेडियों तक ने गाई थी। उस समय के कलक्टर साहब की मेम ने आसुओं से भरा रूमाल निचोड़ कर जब साहब के मार्फत भारतेन्दु जी से आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान-विलाप अब धीरज छुड़ा रहा है, सीन बदला जाय तो इस पर 'सत्य हरिश्चन्द्र' बने हुये भारतेन्दु ने स्वयं 'ओवर एक्ट' किया था और दर्शक मण्डली में करुणा के मारे त्राहि-त्राहि मच गई थी··· — ···पात्रों का शुद्ध उच्चारण हमने उसी समय हिन्दी में नाटक स्टेज पर सुना था।" ('आज' में प्रकाशित 'कुम्भ की यात्रा' शीर्षक लेख, २८ अप्रैल, १९२७)[1] बलिया के इस रंगमंच का नाम 'बलिया नाटय समाज' था जिसकी स्थापना तथा संस्थापक के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

भारतेन्दु की विनोदप्रियता

भारतेन्दु स्वभाव से ही विनोद-प्रिय थे। वे विनोद का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देते थे। मित्रमण्डली ही उनके विनोद की परिधि में नहीं थी, प्रत्युत वे काशी की समग्र जन-मण्डली को वे इस परिधि के बहिर्भूत नहीं मानते थे। एक से एक बिचित्र घटना की सृष्टि कर वे काशी के सामाजिक जन के लिए आनन्द-मिश्रित विस्मय का बहुत अवसर प्रदान किया करते थे। उनका स्वभाव जो तिकड़मबाजी का था। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द को भी, जो उनके आदरणीय शिक्षक थे तथा जिनके प्रति उनके हृदय में नैसर्गिक सम्मान एवं पूर्ण सत्कार की भावना विराजमान थी, इस तिकड़मबाजी का दृश्य दिखला कर छकाया करते थे। किसी अवसर पर राजा साहब ने कहा था कि हरिश्चन्द्र, तुम तो बड़े-बड़ों को छकाया करते हो, कभी मुझे भी छकावो, तो तुम्हारा कौशल देखें। भारतेन्दु ने उसी दिन निश्चित कर लिया कि राजा साहब को किसी न किसी दिन बनारसी झाँसा देकर उनके बुद्धिमान् होने का अभिमान चूर करना ही होगा। बहुत दिन बीत गये। राजा साहब के मन से वह बात भूल गई, परन्तु भारतेन्दु भूलने वाले जीव नहीं थे। अप्रैल का महीना आ रहा था। उन्होंने निश्चिय किया कि इसके प्रथम दिन को ही, जिसकी 'अप्रिल फूल' के नाम से ख्याति है, राजा साहब को कुछ करिश्मा दिखाना चाहिये। इन्होंने इश्तहार छपवा कर काशी में बँटवा दिया कि पहिले अप्रैल को बिलायत से आने वाली कोई मेम खडाऊँ पहिने हुये गंगा जी के इस पार से उस पार जायेगी। दशाश्वमेध घाट पर यह दृश्य उपस्थित होगा। समय अपराह्न चार बजे। इस विचित्र घटना की खबर पूरे शहर में फैल गई। लोग उस दिन की बड़ी उत्सुकता से प्रतिक्षा करने लगे। घटना की विलक्षणता

---

१. द्रष्टव्य धीरेन्द्रनाथ सिंह द्वारा सम्पादित 'जानकी मंगल' नाटक पृ० २९ (प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी संवत् २०२६ (१९६९ ई०)।

के कारण पूरे शहर में कोहराम मचा था। आखिर अप्रैल की पहिली तारीख आ गई। दशाश्वमेध घाट पर उत्सुक जनों का मजमा लगा हुआ था और भारतेन्दु स्वयं उपस्थित होकर सब का स्वागत कर रहे थे। इतने में उन्होंने देखा कि राजा साहब अपनी बग्गी से घाट पर उतरे। चार बजे का उद्घोषित समय बीत चुका था। इसलिए वे घबडाये हुए थे और स्वागत के लिए खड़े भारतेन्दु से पूछा— बच्चा हरिश्चन्द्र कहो ! मुझे आने में देर हो गई। मेम खड़ाऊँ से गंगा पार चली गई क्या ? मुसुकराते हुए भारतेन्दु जी ने कहा—आखिर आप भी इस झांसा-पट्टी में आ ही गये। भला यह भी घटना कभी घटने वाली है थोड़े। आज तो अप्रिल फूल है, अप्रैल की पहिली तारीख। आप जैसे व्यक्ति को अपनी तिकड़मबाजी का दृश्य दिखलाने के लिऐ ही यह नाटक रचा गया था। आप ने ही तो मुझे इसके लिए प्रेरित किया था। यह उत्तर सुनकर राजा साहब सन्न हो गये और उलटे पाँव बग्गी पर चढ़ लौट गये।

जीवन का अवसान

अपने जीवन के अंतिम दिनों में भारतेन्दु जी क्षय रोग से पीड़ित थे। उस परम-भागवत रसिक कवि की वृत्ति उन दिनों पूर्णत: भगवान् में लीन हो गई थी। वे 'पद्माकर' के इस कवित्त का करुण स्वर से पाठ करते और आँसुओं की धारा बहाते। बाबू राधाकृष्णदास ने इस घटना का उल्लेख किया है :—

ब्याधहूँ ते बेहद असाधु हौ अजामिल लौं
ग्राह ते गुनाही कैसे तिन में गिनाओगे।
स्योरी हौं न सूद्र नहिं केवट कहूँ को त्यों
न गौतमी तिया हौं जा पै पग धरि आओगे।
राम सों कहत 'पदमाकर' पुकारि तुम
मेरे महापापन को पारहू न पाओगे।
झूठे ही कलंक सुनि सीता जैसी सती तजी
हौं तो साँचो हूँ कलंकी कैसे अपनाओगे॥

रोग बढ़ गया था। हितचिंतकों का दल उन्हें देखने आता और सशंक घर लौट जाता। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' भारतेन्दु के शिक्षक रह चुके थे, अत: उनके प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा थी। अंतिम समय में हिन्दी के प्रश्न को लेकर दोनों में बहुत मतभेद हो गया था। परंतु असाध्य बीमारी का समाचार पाकर राजा साहब भारतेन्दु के यहाँ पधारे। रोगशय्या पर पड़े पड़े हरिश्चंद्र ने उनके प्रति अपना आदर प्रकट किया। पुराना वात्सल्य उमड़ पड़ा। राजा साहब ने प्रेम के साथ कष्ट का हाल पूछा तो भारतेन्दु ने धीमे स्वर में कहा—'बड़ी प्यास लगी है।' राजा साहब चाँदी की प्याली में पानी भरकर देने चले, परंतु भारतेन्दु ने कहा—'पानी नहीं घनानंद का सवैया चाहिए।' राजा साहब ने घनानंद के प्रसिद्ध सवैए का यह अंतिम चरण सुना दिया—

तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला मन लेते हौ देत छटाँक नहीं।

सुनते हैं इसके बाद भारतेंदु ने अपने नेत्र सदा के लिये बंद कर लिये और अपनी इस भविष्यवाणी को सत्य कर दिया—

कहेंगे सबैही नैन नीर भरि भरि पाछे
प्यारे हरिचंद की कहानी रही जायेगी।

भारतेन्दु जी का गोलोकवास सन् १८८५ ई० के ६ जनवरी को पौने दस बजे हुआ। उनके अनन्य प्रेमी पं० रामशंकर व्यास ने 'चन्द्रास्त' में लिखा है कि बाबू साहिब की अवस्था कुल ३४ वर्ष ३ महीना २७ दिन १७ घन्टा ७ मिनट और ४८ सेकेन्ड की थी। फलतः उनकी आयु पूरे ३५ वर्ष भी नहीं थी। हा! हन्त !!!

---

६ : २

महामना मालवीय जी के साहित्यिक संस्मरण

(१)

महामना मालवीय जी एक युगपुरुष थे जो आज की और आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रकाशस्तम्भ की भाँती दीप्ति तथा प्रकाश बिखेरते हुए देदीप्यमान हैं। उनके सम्पर्क में आना, उनके स्फूर्तिवर्धक वाग्धारामण्डित व्याख्यान को सुनना, उनकी धवल वस्त्र विभूषित मूर्ति का दर्शन करना—ये सब किसी भी दर्शक को चिरस्मरणीय रहेंगे। छात्र और अध्यापक—दोनों दशाओं में उनके सम्पर्क में आने का अवसर इस लेखक को मिला है। उनके कतिपय प्रमुख साहित्यिक संस्मरण यहाँ निबद्ध किये जा रहे हैं।

मालवीय जी महाराज आशा के जीवन्त मूर्त रूप थे। उनकी बातचीत में, उनके जीवन में नैराश्य के लिए तनिक भी स्थान न था। उनके कोश में 'निराशा' जैसा कोई शब्द ही नहीं था। फलतः वे आशावादी साहित्य के सर्जन के ऊपर सर्वदा आग्रह रखते थे। वे सदा कहा करते थे कि जो साहित्य जनता में स्फूर्ति का मंत्र न फूकें, आशावाद की ज्योति न जगावे, वह साहित्य मुर्दा है। उसे हम जीवित साहित्य के नाम से पुकार नहीं सकते। धर्म से अनुप्राणित तथा चरित्र को विशुद्ध बनाने वाले साहित्य के ही वे पक्षपाती थे।

भाषा तथा शैली के विषय में वे सर्वदा सरल भाषा तथा सुबोध शैली पर आग्रह रखते थे। उनका वेष था जैसा निर्मल, उज्जवल तथा निष्कलंक, उनकी भाषा थी वैसी ही विशुद्ध, सरस तथा सरल। अखिल भारतीय विक्रम परिषद् की स्थापना विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दी जयन्ती के अवसर पर काशी में हुई विक्रम संवत् २००० में। महाकवि कालिदास की सम्पूर्ण रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद इसकी प्रमुख योजना थी। अनुवाद की भाषा के विषय में महामना ने हम सबको बुलाकर स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं चाहता हूं कि अनुवाद की भाषा इतनी सरल हो कि हिन्दी का साधारण पाठक भी उसे मजे में समझ जाय। उसे सरस भी होनी चाहिए जिससे किसी को पढ़ने में विरक्ति न हो। वे अपने भाषण में भी उसी सुबोध हिन्दी का प्रयोग किया करते थे। तत्सम शब्दों के प्रयोग में वे विशेष अभिरुचि नहीं रखते थे। तद्भव शब्दों के वे बड़े हिमायती थे तथा विशेष पारखी भी। हिन्दी भाषण या लेख में वे अंग्रेजी शब्दों का पुट किसी भाँति भी गवारा नहीं कर सकते थे।

एक विशिष्ट प्रसंग मुझे याद है। तुलसी जयन्ती आर्टस् कालेज के हाल में मनाई जा रही थी, परन्तु दिन था बड़ा दुर्दिन—वर्षा की झड़ी तथा ठंडी हवा के झोके ने मिल कर श्रोताओं की संख्या अत्यल्प कर रखी थी। हम कतिपय अध्यापक भी घर जल्दी पहुँचने की लिप्सा से पोर्टिको में खड़ी 'बस' पर जा बैठे थे। इतने में मालवीय जी की मोटर धमक पड़ी ठीक बस के सामने। हाल बुरा हुआ। तिस पर मालवीय जी प्रत्येक अध्यापक का नाम ले लेकर उलाहना देते थे। छात्रों की तथा अध्यापकों की मण्डली जम कर बैठ गई और उस सभा में लाला जी (लाला भगवान दीन जी) तुलसी की साहित्यिक समीक्षा करने लगे। लाला जी हिन्दी के रसिक जीव थे। उर्दूदाँ होने के सिवा वे अंग्रेजी के भी जानकार थे। अपने भाषण में रोचकता तथा जीवट लाने के लिए वे हमेशा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग खुल कर किया करते थे। उस दिन भी उन्होंने उसी खिचड़ी शैली में अपना भाषण किया और रोचक भाषण किया। मालवीय जी महाराज ने अपने अध्यक्षीय भाषण में लाला जी के भाषण की आलोचना में एक बड़ा ही सुन्दर वाक्य कहा, जिससे उनकी भाषागत विशुद्धि का परिचय हमें मिलता है। मालवीय जी ने जरा नाक-भौं सिकोड़ते हुए बड़े नोकझोंक से कहा—"लाला जी का व्याख्यान तो बड़ा सुन्दर था, परन्तु हिन्दी के भाषण में अंग्रेजी शब्दों की छौंक मुझे अच्छी नहीं लगती"। महामना ने इस वाक्य को ऐसे ढंग से कहा कि श्रोतागण चौंक उठे। 'छौंक' शब्द का प्रयोग इतना सुन्दर तथा उचित था कि महामना की साहित्यिक अभिरुचि की भूयसी प्रशंसा करते श्रोता लोग लोट-पोट हो गये।

मालवीयजी एक रसिक जीव थे। संस्कृत तथा हिन्दी की अनेक सरस कविताएँ वे बड़े चाव से पढ़ते थे तथा उनका आनन्द उठाते थे। भागवत को लोकप्रिय बनाने में मालवीयजी का विशेष हाथ था। भागवत की काव्यसुषमा की प्रशस्त प्रशंसा वे संस्कृत पंडितों से बहुधा किया करते थे और आग्रहपूर्वक पूछते थे कि क्या भागवत से बढ़कर कोई संस्कृत काव्य रसपेशल तथा स्निग्ध हो सकता है? भागवत के सैकड़ों श्लोक, विशेषतः स्तुतियाँ, उनकी जिह्वा पर नाचते थे जिन्हें वे उचित अवसर पर सुनाने से पराङ्मुख नहीं होते थे। उन्होंने अपनी एक नोट बुक बना रखी थी जिसमें शतशः भिन्न भिन्न प्रसंगों के सरस श्लोक नोट कर रक्खे थे। सच यह है कि महामना के चोले में एक आनन्दविभोर भक्त की आत्मा निवास करती थी। भगवान् की स्तुति के पद्यों को कहते कहते उनके नेत्र छलक उठते थे और कंठ रुँध जाता था।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष! दिदृक्षते त्वाम्॥

इस पद्य को भक्त की मस्ती में इतने कोमल स्वरों में सुनाते थे कि श्रोता मुग्ध हो उठता था।

मालवीयजी महाराज का स्वाध्याय पर्याप्त विस्तृत था। श्रीमद्भागवत के समान रामायण और महाभारत भी उनके प्रिय ग्रन्थ थे। इन ग्रन्थों का अनुशीलन तथा नियमित पाठ वे प्रातः काल ही किया करते थे। एकादशी-कथा कालेज में कहने की प्रथा उन्ही के परामर्श से आरम्भ हुई और वे नियमित रूप से कथा में उपस्थित होते थे यदि वे काशी में वर्तमान रहते। वे स्वयं एकादशी-कथा भी सुनाया करते थे। उनको इस बात का बड़ा अभिमान था कि वे एक व्यास के पुत्र थे तथा इस अभिमान की अभिव्यक्ति वे कोरे शब्दतः प्रकट न कर कार्यतः किया करते थे। महाभारत का शान्तिपर्व उनको बहुत प्रिय था और धर्म की महत्ता पर भीष्मपितामह के प्रवचनों को वे बड़े आदर तथा श्रद्धा के साथ सुनाते थे तथा अपनी मधुर वाणी में व्याख्या करते थे। पीड़ितों के लिए आत्म-त्याग करने वाला राजा रन्तिदेव का प्रसंग उन्हें प्रिय था और प्रयाग की सेवा-समिति का यह आदर्श-वाक्य मालवीयजी के ही अनुशीलन का प्रसाद है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

इस श्लोक को ढूंढ़ निकालने और लोकप्रिय बनाने का श्रेय मालवीयजी को है। प्राचीन उपयोगी पद्यों की व्याख्या उनके मुख से सुनकर श्रोताओं के हृदय में नवीन स्फूर्ति उमड़ पड़ती थी।

हिन्दी के प्राचीन काव्यों से मालवीय जी को कम परिचय नहीं था। तुलसी; सूर, कबीर तथा मीरा की कविता से उनका परिचय उनके व्याख्यानों से भी लगता है, परन्तु बिहारी, मतिराम तथा केशवदास आदि कवियों की श्रृंगारी कविता में भी वे अभिरुचि रखते थे। मैं एक ऐसे ज्योतिषी जी को जानता हूं जिनकी अध्यापक पद पर नियुक्ति बिहारी के एक दोहे की समुचित व्याख्या के कारण हुई। मालवीय जी ने बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे की व्याख्या उनसे पूछी—

पत्रा ही तिथि पायियतु वा घर के चहुँ पास।
निसिदिन पूनो ही रहत, आनन ओप उजास॥

ज्योतिषी जी भी सुधाकर द्विवेदी के शिष्य थे और उन्हीं की कृपा से बिहारी-सतसई से पूर्णतः अभिज्ञ थे। उन्होंने इस दोहे की विशद तथा यथार्थ व्याख्या की। यह व्याख्या ही उनके लिए 'इण्टरव्यू' का काम कर गई। उसी समय वे ज्योतिष के अध्यापक नियुक्त कर दिये गए और दूसरे दिन से ही वे मालवीय जी के आदेश से अपने नये पद पर काम करने लगे।

मालवीय जी को अभिमान छू तक नहीं गया था। वे निरभिमान व्यक्ति थे। स्पष्टवादिता से वे कभी पराङ्मुख नहीं होते थे। वे अप्रिय सत्य के कहने में कभी नहीं हिचकते थे। मालवीय जी के प्रियपात्र सेवक नारायण दास बाजोरिया ने [illegible]

दिन मुझसे उनकी स्पष्टोक्ति का एक दृष्टान्त सुनाया था अपने ही जीवन के विषय में। अपनी विमल ब्राह्मण बुद्धि के विकास की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था—"मेरे पिता कभी किसी से याचना करने नहीं जाते थे; बुलाने पर, लोभ दिलाने पर भी कभी किसी के घर कथा कहने नहीं जाते थे, प्रत्युत गंगाजी के किनारे अपनी भक्तिपूर्ण कथा सुनाते। श्रोताओं के द्वारा स्वेच्छया चढ़ाये गये द्रव्य से ही मेरा भरण-पोषण हुआ। फलतः देव अन्न से पुष्ट होने पर मुझमें सात्त्विक बुद्धि का उद्गम हुआ"। इस पर बाजोरिया ने पूछा—महाराज जी आपका कोई भी पुत्र आपके समान सात्त्विक तथा दैवी सम्पद् से सम्पन्न क्यों नहीं हुआ? मालवीय जी की स्पष्ट उक्ति थी—मैं वकील था; जहाँ तक हो सकता था, मैं वकालत में इमानदारी बरतता था, परन्तु वकील की कमाई दूध की धोई थोड़ी ही होती है कि उसमें तमोगुण का स्पर्श ही न हो। वकील की कमाई में धोखाधड़ी मिली न हो, ऐसा होना बड़ा ही कठिन है। फलतः वकालत की कमाई से पालित, मेरा कोई पुत्र मेरे समान न हो सका, तो इसमें अचरज ही क्या है? महामना की इस स्पष्टवादिता की प्रशंसा किन शब्दों में की जाय? वे ऋषि नहीं, महर्षि थे जिसकी कथनी और करनी में सर्वथा साम्य विराजता था।

मालवीयजी के पिता जी ने संस्कृत में भक्ति की शास्त्रीय मीमांसा के विषय में एक बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा था—भक्तिदर्पण। ग्रन्थ लिखकर पड़ा रहा अनेक वर्षों तक। इधर उनके पिताजी अधिक रुग्ण हो चले। उनकी लालसा थी कि मेरे वर्षों के अनुशीलन का यह परिणत फल मेरे जीवन काल में ही प्रकाशित हो जाय। मालवीयजी महाराज ने इसके लिये अक्लान्त परिश्रम किया। रातभर बैठकर प्रूफ़ स्वयं देखते थे और इस प्रकार अपने पिताजी की अभिलाषा पूर्ण करने में समर्थ हुए। पिता ने जब अपनी रचना को सुन्दर छपे ग्रन्थ के रूप में देखा, तो वे आनन्द से गद्गद् हो गये और उन्होंने महामना को शुभ आशीर्वाद दिया। मालवीयजी बड़े पितृभक्त थे। अपने अन्तिम दिनों में पिता जी तथा माताजी के फोटो को 'इनलार्ज' कराकर अपनी खाट के सामने रखते थे जिससे उनके दर्शन सदा होते रहें। भागवत के व्याख्याता; पुराण के वाचक पिता का प्रभाव पुत्र के ऊपर विशेष था। मालवीयजी जब कभी अपने अँग्रेजी भाषणों में संस्कृत के श्लोक उद्धृत करते थे, तब उनके गुरु महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य जी (जिनकी स्मृति में उन्होंने विश्वविद्यालय के समीपस्थ ग्राम का नामकरण किया है—'आदित्यनगर') आनन्द से कहते थे—व्यास के पुत्र के लिए संस्कृत के श्लोकों को अपने भाषणों में उद्धृत करना नितान्त समुचित है। व्यास का पुत्र होकर यदि वह व्यासरचित पुराणों का उद्धरण नहीं दे सकता, तो वह व्यासपुत्र कैसा?

(२)

महामना मालवीय जी महाराज युगान्तरकारी पुरुष थे। ऐसे महामानव सर्वदा इस पृथ्वी पर नहीं पधारते। भगवान् की ऐसी दिव्य विभूति यदा कदा ही

इस धराधाम पर अवतीर्ण होती हैं। स्वनिर्दिष्ट कार्य का विधिवत् सम्पादन कर भूतल के मानवों के शिक्षणार्थ अपना आदर्श चरित उपन्यस्त कर पुनः विभूति के उस आधार में अपने जीवन को समर्पित कर देती है। महामना मालवीय जी ऐसे ही एक अलोकसामान्य प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे जिनकी प्रतिभा भारतीय समाज के प्रत्येक अंग को आलोकित करती थी, जिनका स्पर्श सामान्य मनुष्य को भी सुवर्ण बना देता था और जिनकी पीयूष वाणी श्रोताओं के कर्णकुहरों में प्रवेश कर हृदय को आप्यायित, आवर्जित तथा अभ्युदित कर देती थी। इन्हीं के विषय में ये कतिपय दिव्य संस्मरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं। लिखने का उद्देश्य महाकवि श्री श्रीहर्ष के शब्दों में यही है—

पवित्रमत्रातनुते जगद्-युगे
स्मृता रसक्षालनयेव यत् - कथा।
कथं न सा मद्-गिरमाविलामपि
स्वसेविनीमेव कृतार्थयिष्यति॥

महामना मालवीय जी भाषा के प्रयोग के प्रति बड़े ही जागरुक रहते थे। कोई भी भाषा हो संस्कृत, हिन्दी अथवा अंग्रेजी—वे तत्तत् शब्दों के उच्चारण में, शब्दों के चयन में, वाक्यों के रुचिर-विन्यास में बड़ी ही जागरुकता रखते थे। वे विबुधवन्दित वाग्मी थे, भाषण के अवसर पर उनकी मधुर वाणी अजस्र गति से प्रवाहित होती थी, वह कहीं अवरोध या रुकावट का नाम नहीं जानती थी। मानवों की गणना में शीर्षस्थान पर विराजमान वाग्मी के वे सद्यः प्रतीक थे, जिसके विषय में कहा गया है—वाग्मी भवति वा न वा। संस्कृत भाषा तथा साहित्य का अध्ययन उन्होंने उस युग के मूर्धन्य संस्कृतज्ञ महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य से किया था जिसके लिए महामना की श्रद्धा एवं पूज्य भावना सातिशय थी। महामना संस्कृत में धारा-प्रवाह से भाषण करते थे, परन्तु कहीं भी व्याकरणसम्बन्धी त्रुटि का दर्शन नहीं होता था। पण्डितों ने सावधानी से जागरुक होकर उनके संस्कृत भाषणों को सुना, परन्तु त्रुटि लक्षित नहीं हुई। महामना के सामने कोई संस्कृत शब्दों का अशुद्ध उच्चारण कर दे और वह उनके डाँट से बच जाय, ऐसा कभी नहीं देखा हमने। तुलसी-जयन्ती के अवसर पर उन्हें निमंत्रित करने वाले एक विज्ञ व्यक्ति के मुख से शकार-संवलित 'तुलशी' का उच्चारण कई बार सुनकर महामना से नहीं रह गया और उन्होंने उन्हें डाँट- -मीठी डाँट—बताई और उनका उच्चारण ठीक किया। अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण के प्रति भी उनका विशेष अवधान हमने देखा है। म्योर सेन्ट्रल कालेज के अंग्रेज अध्यापकों के संपर्क में विशेष आने के कारण वे Student का उच्चारण सर्वदा यकार-गर्भित किया करते थे—स्टयूडेण्ट। पूछने पर उन्होंने बताया कि इसका यही विशुद्ध उच्चारण है। एकबार मैं अपने मित्र पण्डित बटुकनाथ जी के साथ पुस्तकालय में पुस्तकें देख रहा था। मालवीय जी अकस्मात् वहाँ आ गये और

अंग्रेजी में बोल उठे—What are you doing there? जब उत्तर दिया—Looking for books on literature. तब अन्तिम शब्द का 'लिटरेचर' उच्चारण सुनकर वे तपाक से बोल उठे—Don't say लिटरेचर but 'लिटरेट्चोर'। उन्होंने शुद्ध उच्चारण ही नहीं बतलाया, बल्कि कई बार उस विशुद्ध उच्चारण की आवृत्ति भी कराई। तब कहीं उन्होंने हम लोगों को छोड़ा।

महामना स्वयं महनीय वक्ता थे। चार-चार घंटों तक बिना किसी नोट के व्यवस्थापक सभा में व्याख्यान देने में वे कथमपि श्रान्त नहीं होते थे, परन्तु वे अधिक बोलने को शक्तिक्षय करने वाला व्यापार मानते थे और कुछ समय के लिए मौन धारण करने को श्रेयस्कर बतलाते थे। संस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष पण्डित बालकृष्ण मिश्र जी राजयक्ष्मा की दवा करा कर रांची से नीरोग होकर लौटे थे। महामना जी से भेंट करने के लिए वे मालवीय भवन में आये थे। मैं भी वहाँ उपस्थित था। मालवीय जी ने उनके नैरुज्य के विषय में पूछा। मिश्रजी ने कहा कि आपकी कृपा से मैं इस समय नीरोग हो गया हूँ, परन्तु आपके ही उपदेशों की अवहेलना का फल मुझे भुगतना पड़ रहा है। आपने मुझसे कहा था कि विद्यालय बन्द हो जाने के बाद भ्रमण किया करो, घर पर शाम को या रात को छात्रों को मत पढ़ाया करो। 'शुक्रक्षयात् वाक्क्षयो बलीयान्'। शुक्र के क्षय की अपेक्षा वाक् का क्षय बलवान् होता है। इसे भूलना मत। महामना का तात्पर्य था कि बोलने से शुक्रक्षय की अपेक्षा अधिक शक्ति क्षीण होती है। इसीलिए मुनि लोग मौन धारण किया करते थे।

साहित्य एवं संगीत

महामना मालवीयजी के परिवार में साहित्य तथा संगीत की सारस्वत धारा सन्तत प्रवाहित होती आई थी। इनके पितामह प्रेमधर चतुर्वेदी संस्कृत के बड़े विद्वान थे। घर में दो फुट ऊँची साँवले रंग की श्रीकृष्ण की एक मूर्ति थी जिसकी वे नियमित रूप से प्रतिदिन पूजा किया करते थे। अपनी विद्वत्ता तथा धार्मिक निष्ठा के कारण वे 'महाभागवत' के नाम से प्रसिद्ध थे। चौरासी साल की आयु में उन्होंने गंगा तट पर स्वेच्छा से अपना शरीर छोड़ा था। इन्हीं के चार पुत्रों में से कनिष्ठ पुत्र पण्डित व्रजनाथजी चतुर्वेदी महामना के पूज्य पितृचरण थे। ये अपने पिता के समान ही धर्म-निष्ठ, संस्कृत के विद्वान् तथा राधाकृष्ण के अनन्य उपासक थे। उनका रूप रंग सुन्दर, कण्ठ मधुर तथा स्वभाव बड़ा कोमल था। भागवत के विश्रुत व्यास थे। संगीत में भी इनकी विशेष रुचि थी। वे बांसुरी बहुत अच्छी बजाते थे। इन्होंने भक्तिशास्त्र सम्बन्धी 'सिद्धान्त दर्पण' नामक संस्कृत में ग्रन्थ की रचना की थी जिसे महामना ने १९०६ इस्वी में प्रकाशित कराया था। पिता एवं पितामह की पूरी छाप महामना के ऊपर पड़ी थी जिससे वे बाल्यकाल से ही हिन्दी-संस्कृत काव्य एवं संगीत के प्रेमी व पुजारी

बन गये। मालवीय जी बचपन से ही इतने प्रसन्न एवं चैतन्य-सम्पन्न रहते थे कि उनके मुहल्ले के एक घुरहू साहू उन्हें 'मस्ता' कहा करते थे। वे बचपन में हिन्दी कविता किया करते थे। उनकी एक रचना से उनकी बाल्यकाल की भावनाओं और आकांक्षाओं का कुछ परिचय प्राप्त होता है। यह अष्टपदी कविता इस प्रकार है[1]—

गले जूही के हैं गजरे पड़ा रंगी दुपट्टा तन।
भला का पूछिये धोती तो ढाके से मँगाते हैं॥ १॥
कभी हम बारनिश पहिने कभी पंजाब का जोड़ा।
हमेशा पास डंडा है, ये फक्कड़ सिंह गाते हैं॥ २॥
न ऊधो से हमें लेना, न माधो का हमें देना।
करें पैदा जो खाते हैं व दुःखियों को खिलाते हैं॥ ३॥
नहीं डिप्टी बना चाहैं, न चाहैं हम तसिलदारी।
पड़े अलमस्त रहते हैं यूँ ही दिन को बिताते हैं॥ ४॥
न देखैं हम तरफ उनकी जो हमसे नेक मुँह फेरें।
जो दिल से हमसे मिलते हैं झुक उनको देख लेते हैं। ५॥
नहीं रहती फिकर हमकों कि लावें तेल और लकड़ी।
मिले तो हलवै छन जावैं नहीं झूरी उड़ाते हैं॥ ६॥
सुनो यारो जो सुख चाहो तो पचड़े से गृहस्थी के।
छुटो फक्कड़पना ले लो यही हम तो सिखाते हैं॥ ७॥
हमें मत भूलना यारो बसे हर पास "मनमोहन"।
हुई है देर जाते हैं, तुम्हारा शुभ मनाते हैं॥ ८॥

मालवीय जो अपने यौवन काल में "मकरन्द" उपनाम से हिन्दी की भक्तिभाव-पूरित कविता लिखा करते थे। 'राधिका रानी' की पूर्ति-परक यह कविता 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी —

इन्दु सुधा बरस्यौ नलिनीन पै वे न बिना रवि के हरखानी।
त्यों रवि तेज दिखायो तऊ बिनु इन्दु कुमोदिनी ना विकसानी॥
न्यारी कछू यह प्रीति की रीति नहीं 'मकरन्दजू' जात बखानी।
साँवरे कामरी वारे गुपाल पै रीझि लटू भई राधिका रानी॥
बे कब ते उत ठाढे अहैं इत बैठि अहो तुम नारि चुपानी।
थाकी तुम्हें सुझावत साम ते ऐसी मैं रावरी बानि न जानी॥
मोहि कहाँ पै यहै 'मकरन्द' हूँ जो कहूँ खीझी पै रूसन जानी।
आजि मनाये न मानती हो कल्ह आप मनाइहौ राधिका रानी॥

संगीत के प्रति महामना मालवीयजी का अनुराग बालकपन से ही था। वे जन्माष्टमी का उत्सव बड़े सजधज के साथ मनाया करते थे जिसमें शहर के

१ सीताराम चतुर्वेदी : महामना मालवीयजी, पृष्ठ २२-२३।

गवैये बुलाये जाते थे। घर में राधाकृष्ण का विग्रह था जिसकी पूजा-अर्चा वे विधिवत् करते थे। उन्होंने सितार का अभ्यास किया था। शास्त्रीय संगीत से उनका परिचय बड़ा घनिष्ठ था। राग-रागिनियों का पहचान उन्हें पूरे तौर से थी। विश्वविद्यालय में रहते समय काशी के गुनीजनों का उन्हें सम्पर्क प्राप्त होता रहता था। मेरे मुहल्ले भैरवनाथ के निवासी पाठक जी पखावजी से मालवीयजी का बड़ा प्रेम था। पाठक जी समय समय पर मालवीयजी के यहाँ बड़े रामदास आदि काशी के विख्यात संगीतबाजों को जुटाया करते थे और उनके आग्रह पर कुछ समय निकाल कर मालवीयजी संगीत का आनन्द लेते थे। पाठक जी हम लोगों से कहा करते थे कि मालवीयजी का राग-रागिनी का ज्ञान काफी अच्छा है और संगीत में कोई त्रुटि होने पर वे उसके सुधारने की ओर तुरन्त ध्यान दिलाते हैं। कण्ठसंगीत में उन्होंने इतनी निपुणता तो अवश्य प्राप्त कर ली थी कि विभिन्न रागों में गायकों और संगीतज्ञों की परीक्षा लेते हुये उनकी त्रुटियाँ सुधारी जा सके। त्रुटि होने पर मालवीय जी उसे स्वयं गा कर सुना दिया करते थे। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख किया है जब मल्हार गीत को वे स्वयं गाने लगे—ठीक सुन्दर स्वर में, जैसा वे कभी स्वयं सुन चुके थे[1]। इस मल्हार गीत के पद निम्नलिखित थे—

धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहू।
सैंयाँ मोरा उतरइंगे पार, धीरे बहु नदिया॥
काहेन की तोरी नैया रि काहै की करुवारि।
को तेरा नैया खेवैया रे को धन उतरहू पार॥
धरमै के मोरी नैया रे सत कै लगी करुवारि।
सैयाँ मोरा नैया खेवैया रे हम धनि उतरब पार॥
धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहू॥

महामना कार्य में इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें शास्त्रीय संगीत सुनने का अवकाश ही नहीं मिलता था। फिर भी संगीत-विशारदों की सभा जुटने पर मालवीय जी कुछ समय संगीत का आनन्द लेने के लिए निकाल ही लेते थे। हिन्दी के प्राचीन कवियों की कविता उनकी जिह्वा पर नाचती थीं। विज्ञ अध्यापक से उन कविताओं के मर्म पूछने से वे कभी नहीं चूकते थे। महाकवि केशवदास के मर्मज्ञ होने का अभिमान भरने वाले हिन्दी प्राध्यापक की बोलती ही बन्द हो गई जब मालवीय जी ने उनसे केशव की कोई सुन्दर कविता कहने का आग्रह किया। अध्यापक के मौन व्रत न तोड़ने पर महामनाजी ने ही केशव की कतिपय सूक्तियाँ स्वयं सुनाईं और अपने काव्य-पारखी होने का प्रामाण्य स्वयं उपस्थित किया।

---

१. मालवीय जी—जीवन झलकियाँ, पृष्ठ ६५-६६।

मालवीय जी बड़े रसिक थे। जहाँ वह पण्डितों को देखते, उनकी रसमयी वाणी सुनने के लिए आग्रह करते थे। वे स्वयं कमनीय सरस-सुबोध सूक्तियाँ सुनाते तथा ऐसी ही सूक्तियाँ सुनने के लिए आतुर रहते थे। एक बार का प्रसंग है जब वे बाबू शिवप्रसाद गुप्त जी की नगवा कोठी में निवास करते थे। पूर्वाह्न में ही मेरे मित्र बटुकनाथ शर्मा उनके दर्शनों के लिए वहाँ पहुँच गये। वे कवि थे—साहित्य के रसिक मर्मज्ञ। नायिका-भेद का प्रसंग उठ खड़ा हुआ। महामना 'नवोढा' की व्याख्या करने लगे। सहायक रजिस्ट्रार पं० श्यामसुन्दर शर्मा से 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत उदाहरण को पूरा करने के लिए कहा। जब बटुकनाथ जी ने नवोढ़ा का उदाहरण पढ़ सुनाया, तब मालवीय जी गद्गद हो उठे। श्लोक विश्वनाथ कविराज रचित है और इस प्रकार है—

धत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तः पुरात्
नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।
किञ्चिद् भावगभीर-वक्रिमलवस्पृष्टं मनाग् भाषते
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम्॥

रसिकगोविन्द रचित इस पद्य का अनुवाद जब सुनाया गया, तब तो आनन्द से वे भावविह्वल हो उठे और नवोढ़ा का अभिनय ही करने लगे—

आलस सौं मंद मंद धरा पै धरत पाय,
भीतर ते बाहिर न आवे चित चाय कै।
रोकति दृगनि छिन छिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसीकी दीनी बानी बिसराय कै।
बोलत बचन मृदु, मधुर बनाइ उर—
अन्तर के भाव की गभीरता जमाय कै।
बात सखी सुन्दर गोबिन्द की कहात तिन्हें
सुन्दरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै॥

इस अनुवाद को सुनकर महामना बड़े ही प्रसन्न हुये और नवोढ़ा का अभिनय स्वयं करते हुये पद्य का सरस अर्थ अभिव्यक्त किया।

मालवीयजी धर्म की साक्षात् मूर्ति थे। राजनीति में रहते हुए भी वे धर्म के साथ उसके मञ्जुल सामरस्य पर निरन्तर आस्थावान् थे। मालवीयजी पर कट्टर सनातनियों का आरोप था कि धर्म के लिए भी वे दल बदला करते थे; कभी वे सुधारवादी दल में रहते हैं, तो कभी कट्टरपंथी सनातनी दल में। इस आक्षेप का उत्तर जब महामना ने कुम्भ मेले के विशाल मंच पर खड़े होकर देना शुरू किया, तो श्रोता आश्चर्य-चकित हो गये। मालवीय जी ने गम्भीर स्वर में कहा "भाई, मैं तो कोई दूसरा दल नहीं जानता। एक ही दल जानता हूँ और वह है यह तुलसी दल"। इतना कह कर महामना ने अपने अचकन के पाकेट से तुलसीदल निकालकर

सबको दिखलाया और अपनी वैष्णवी भक्ति भावना से श्रोता लोगों को मुग्ध कर दिया।

वे भगवान् को धर्मरूप मानते थे और इस प्रसंग में 'भीष्मस्तव राग' का यह प्रख्यात पद्य सुनाया करते थे—

यं पृथग्धर्म - चरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

वे धर्म की उपमा 'लालटेन' से दिया करते थे जिसका आधार सत्य है, तप तेल है, दया बत्ती है, क्षमा शिखा (लौ) है। यदि अन्धकार में प्रवेश करने के इच्छुक हो, तो धर्म की इस लालटेन को लेकर आगे बढ़ो। तुम्हारा रास्ता प्रकाशमान हो जावेगा। लालटेन की यह उपमा महामना को बहुत ही प्रिय थी—

सत्याधारः तपः तैलं दया वर्तिः क्षमा शिखा।
अन्धकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥

(३)

महामना के जीवन की चतुःसूत्री

मालवीयजी के जीवन की चतुःसूत्री इन प्रख्यात पद्यों के द्वारा निरूपित की जा सकती है—

(क) मृदुता की तीक्ष्णता—मालवीय जी महाराज के जीवनादर्श धर्मराज युधिष्ठिर थे—पाण्डवों के अग्रज, सत्य के ऊपर एकान्त निष्ठावान् तथा अन्याय से स्वप्न में भी आक्रमण न करने वाले व्यक्ति। मालवीय जी भी मृदुता के अवतार थे, जीवन में कभी उग्रता को आश्रय नहीं दिया। परन्तु उनकी मृदुता दुर्बलता की प्रतीक न थी। वे मृदु से कोई भी वस्तु असाध्य नहीं मानते थे—चाहे राजनीति का क्षेत्र हो, चाहे धर्म का क्षेत्र हो। इस प्रसंग में वे वनपर्व में युधिष्ठिर के इस वचन को सातिशय महत्त्व देते थे तथा बारंबार इसकी चर्चा किया करते थे—

मृदुना सुमृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम्।
नासाध्यं मृदुनः किञ्चित् तस्मात् तीक्ष्णतरं मृदु ॥ —वनपर्व अ० २८

(ख) धर्म की कसौटी—मालवीय जी के लिए तुलाधार प्रसंग में दिया गया यह विश्रुत पद्य धर्म की सच्ची कसौटी को प्रकट करता है। यदि मनुष्य चाहता है कि कोई कर्म दूसरा व्यक्ति उसके साथ न करे, क्योंकि वह उसे नितान्त अप्रिय प्रतीत होता है, तो उसका भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह भी दूसरों के प्रति उसका व्यवहार न करे—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेत् आत्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥

(ग) उद्योग की निरन्तर संवर्धना—मालवीयजी उत्साह तथा उद्योग के उज्ज्वल प्रतीक थे। वे जीवन में कभी निरुत्साहित तथा निराश नहीं होते थे। एकबार वे प्रयाग में बहुत बीमार पड़ गये। जीवन की आशा क्षीण होने लगी। उनसे भेंट करने संस्कृत महाविद्यालय के पंडितगण समवेत रूप से उनके आवास पर पहुँचे। महामना ने तब कहा था कि घनघोर विपत्ति या विषम संकट में भी मैं कभी निरुत्साहित नहीं होता। जब मैं पतझड़ में पत्रहीन पीपलवृक्ष को बसन्त के आगमन पर नवीन सुकुमार पत्तों से हरा-भरा होकर लहलहाता देखता हूँ, तो मुझमें नया जोश उमड़ पड़ता है। मेरी दुर्बल देहयष्टि पुनः पुष्ट तथा सबल बन जावेगी, यही आशा मुझे जिलाती है।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं - भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥ उद्योगपर्व १३५।३०

(घ) सात्त्विक कर्ता की दृष्टि—एकबार मैंने महाराजजी से पूछा था कि इतने व्यस्त जीवन में आपने समत्व कैसे रखा, विकट परिस्थितियों में संकट के आक्रमण को श्रीमान् ने किस प्रकार प्रभावहीन बनाया ? तब मालवीयजी ने कहा था कि गीता के इस सात्त्विक कर्ता के आदर्श को अपने सामने रखा करो, जीवन कण्टक की क्यारी न होकर शिरीष की गद्दी बन जायेगा। सात्त्विक कर्ता का यह लक्षण गीता की महनीय देन है मानव समाज के लिए—

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ गीता १८। २६

गीता के इस पद्य में चार तथ्यों पर आग्रह किया गया है—आसक्तिहीन रहे (अनासक्ति-योग), 'मैं' और 'मेरा' न कहे (अहन्ता तथा ममता से हीन रहे); सिद्धि तथा असिद्धि में विकाररहित रहे और धैर्य-उत्साह के साथ कार्य का सम्पादन करे। वही सात्त्विक कर्ता कहलाता है। महामना ऐसे ही सात्त्विक कर्ता के रूप में महामानव तथा घनिष्ट कर्मयोगी थे।

उनके श्रीमुख से भिन्न-भिन्न अवसरो पर कहे इन चारों श्लोकों को मैं उनके जीवन की चतुःसूत्री मानता हूँ। भारतीयों को इस चतुःसूत्री को अपने जीवन में सम्यग् रूप से उतारना चाहिए—तभी हमारा कल्याण होगा। एवमस्तु, भगवान् मनु का यह आदर्श महामना के जीवन से पूर्णरूपेण संगत बैठता है—यह कथन तथ्यवाद है, अर्थवाद नहीं—

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

६ : ३

पण्डित रामावतार शर्मा के प्रातिभ संस्मरण

पण्डित रामावतार शर्माजी मेरे प्रातःस्मरणीय गुरु थे। जब मैं एम. ए. कक्षा का छात्र था, तब उनके चरणों के पास बैठकर संस्कृत साहित्य के नाना विषयों के अध्ययन करने का मुझे सुयोग मिला था। १९२० ई० से १९२२ ई० तक उनके सान्निध्य में रहने का तथा उनके साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने का मुझे शुभ अवसर मिला था। मेरी दृष्टि में वे अलौकिक व्यक्ति थे, जिसके प्रत्येक कार्य में, शास्त्र के पठन-पाठन में, रहन-सहन में, आचार-विचार में, सर्वत्र अलौकिकता की छाप थी। मैं किसी भी संस्कृत पण्डित को नहीं जानता जो अपने जीवनकाल में विद्वानों के बीच दन्त-कथा का विषय बन गया हो। परन्तु रामावतार जी सम्मान्य विद्वज्जनों के बीच भी कहानी बन गये थे। उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य, रसपेशल व्यक्तित्व, सूक्ष्मार्थ-ग्राही शाब्दिकता, उदात्त चरित्र— सब कुछ विद्वानों तथा आलोचकों के लिये आदर तथा आश्चर्य का भाजन बन गया था। तत्त्वों की नवीन कल्पना में, तर्कों की व्यवस्थित संरचना में तथा विपक्ष मतों के खण्डन में पण्डित जी कपिल-कणाद की कोटि के आचार्य थे। बुद्धि इतनी प्रखर थी, कल्पना-शक्ति की उड़ान इतनी ऊँची थी कि कोई भी विपक्षी उनके सामने शास्त्रार्थ में टिक नहीं सकता था। विपक्षी के मत को ध्वस्त करने में इतने पटु थे कि उनके ही स्वमत का पता लगाना कठिन होता था। शास्त्रार्थ करने में उनको बड़ा आनन्द आता था। यदि प्रतिपक्षी नास्तिक मत का प्रतिपादन करता तो वह आस्तिक पक्ष का अवलम्बन कर उसके मत को निरस्त कर देते। कालान्तर में वही यदि आस्तिक पक्ष की सिद्धि के लिये युक्तियाँ देता, तो उनका खण्डन कर वे नास्तिक पक्ष की प्रामाणिकता सिद्ध कर देते। इसीलिये उनके अपने मत का विद्वानों को भी पता नहीं चलता था। नास्तिक मत की सिद्धि के लिये इतनी अश्रुत तथा नूतन युक्तियों का वे विन्यास करते थे कि साधारण जन उन्हें नास्तिक मानने लगता था।

वस्तुतः वे खण्डन-रस के रसिक आचार्य थे। डाक्टर गंगानाथ झा के निवास पर काशी में 'वसन्त पंचमी' के अवसर पर उनके खण्डन-रस की रसिकता का दर्शन विज्ञ पण्डितों को बहुशः हुआ करता था, परन्तु थे वे वास्तव में परम आस्तिक, मारुतनंदन संकट-मोचन के श्रद्धालु भक्त, जिनके दर्शन के लिये वे प्रति मंगलवार को नियमतः जाया करते थे। पण्डित रामावतार जी की आस्तिकता का दर्शन हमें उनके विश्रुत 'मारुतिशतकम्' के पद्यों में पदे-पदे होता है जिनकी रचना उन्होंने काशी में विद्याध्ययन करते समय ही की थी। स्रग्धरा वृत्त में

विरचित यह शतक संस्कृत साहित्य का एक अनुपम काव्य है जो मयूर भट्ट के 'सूर्य शतक' तथा बाण भट्ट के 'चण्डी शतक' की परम्परा का मार्मिक ढंग से अनुसरण करता है।

विषयों के अन्तस्थल में प्रवेश करने की, नवीन ढंग से चिन्तन की तथा प्रौढ़ तर्कों के द्वारा विषय प्रतिपादन की क्षमता का दर्शन आलोचकों को पण्डित जी के 'परमार्थ दर्शन' नामक दार्शनिक ग्रन्थ में होता है। इस प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना के कारण शर्मा जी सप्तम दर्शन के रचयिता के रूप में पण्डितों में ख्याति प्राप्त करने में समर्थ हुए। सूत्र, अधिकरण, कारिका तथा भाष्य के द्वारा संवलित यह ग्रन्थ-रत्न वस्तुतः रामावतार जी की तर्क-कर्कश वैदुषी का विशद निदर्शन है, जो सूत्र-ग्रन्थों की परम्परा का अक्षरशः अनुगमन करता है। इसमें 'दर्शन' से तात्पर्य मानवमात्र के लिये उपयोगी आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक विषयों के प्रतिपादन से है।

संस्कृत भाषा के ऊपर उनका अलौकिक प्रभुत्व था। भाषा-शास्त्र के वे मर्मज्ञ विद्वान् थे। वे गिनकर बताते थे कि श्रीमद्भागवत में अन्यत्र अप्रयुक्त किन-किन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। उनका यह कथन नितान्त सत्य है कि वे वेद में प्रयुक्त 'कशिपु' (शय्या) शब्द का प्रयोग भागवत में ही मिलता है—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः —भागवत २।२।४

अन्यत्र नहीं। इस विषय का एक मार्मिक प्रसंग है— हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रश्नपत्रों के माडरेशन के लिये बुलाये जाने पर उनकी प्रक्रिया बड़ी विचित्र होती। राजघाट स्टेशन पर उतरते और दिन भर के लिये एक बग्गी किराये पर ले लेते थे। इसी पर बैठकर वे गंगा स्नान करते, विश्वनाथ और अन्नपूर्णा का दर्शन करते, कालेज जाते, कार्य समाप्त कर अपने प्रिय छात्रों के आवास पर भी पधारते और सायंकाल की गाड़ी से पटना लौट भी जाते। ऐसी ही यात्रा में एकबार अपने श्रद्धालु शिष्य साहित्याचार्य पं० बटुकनाथ शर्मा के निवास स्थान (काल-भैरव के समीप) पधारे। मैं भी वहाँ उपस्थित था। बातचीत होने के बाद मैंने ही उनसे पटना विश्वविद्यालय में संस्कृत की उन्नति के विषय में पूछा। उनका उत्तर था—जहाँ का शासक ही 'गोबर नर' है, वहाँ संस्कृत की उन्नति की बात ही क्या? उत्तर सुनते ही मेरे मन के संदेह को उन्होंने भाँप लिया। कहने लगे 'गवर्नर' का शुद्ध संस्कृत रूप 'गोबरनर' ही तो है क्योंकि इसके लैटिन विशेषण Gubernatorial (गुबर नैटोरियल) में तो 'ब' की सत्ता है, 'व' (V) की नहीं। अतएव अंग्रेजी में भले ही Governor शब्द के पेट में V (व) विद्यमान हो, परन्तु मूलतः तो वहाँ बकार ही बैठा है। यह उत्तर सुनते ही हमलोग दंग रह गये और मन ही मन पण्डित जी के भाषाविज्ञान के गंभीर ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। सचमुच पण्डित जी शब्दों के अद्भुत पारखी जौहरी थे।

अंग्रेजी शब्दों के संस्कृतीकरण करने में उनका प्रतिस्पर्धी शायद ही कोई निकले। ये संस्कृत नाम अर्थतः तथा शब्दतः मूल के नितान्त सन्निकट होते थे। औरंगजेब का 'उरंगजिह्व्', एलक्जेन्डर का 'अलीक चन्द्र' न्यूयार्क का 'नवार्क', लण्डन का 'नन्दन', आक्सफोर्ड का 'उक्षप्रतर', कैम्ब्रिज का 'कामव्रज', विक्टोरिया का 'विक्रमोर्जा'—आदि संस्कृत अभिधान पंण्डित रामावतार जी के अलौकिक शब्द ज्ञान के प्रमापक उदाहरण हैं। कोष-विद्या के वे सर्वातिशायी अद्भुत ज्ञान सम्पन्न मनीषी विद्वान् थे। वे अपनी भाषाशास्त्रीय दृष्टि से सर्वगुण-सम्पन्न संस्कृत कोष के निर्माण में सर्वदा संलग्न रहते थे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त पण्डित जी का बड़ा ही सम्मान करते थे और उनके उपयोग के लिये उन्होने रूस की राजधानी सेन्टपीटसंबर्ग में प्रकाशित तदानीम् अप्राप्य 'वोर्टरबुख (जर्मन भाषा में सर्वश्रेष्ठ संस्कृत कोष) को अपने खर्च से मँगा दिया था। इस कोष का उपयोग करते करते पण्डितजी ने जर्मन भाषा आसानी से सीख ली। प्रशंसा के साथ साथ ही वे इस कोष की आलोचना भी किया करते थे कि समस्त पदों का संग्रह कर इसे व्यर्थ ही भारी भरकम बना रखा है। 'राजपुत्र' शब्द का 'राजा का पुत्र' अर्थ देने की आवश्यकता ही क्या ? हाँ ! इसका विशिष्ट अर्थ 'कोहँड़ा (कूष्माण्ड) देना ही नितान्त आवश्यक है।

अंग्रेजी भाषा के ऊपर उन्होंने अपना प्रभुत्व तभी जमा रखा था, जब वे इन्ट्रेंस पास करने के अनन्तर काशी के गुदड़ी बाजार से, अपना लोटा बेंचकर, खरीदे गये 'चैम्बर्स डिक्शनरी' तथा शेक्सपीयर के समग्र नाटक-चक्र का गर्मी की छुट्टियों में परायण कर डाला था। उनकी अलौकिक स्मरण शक्ति का व्यापार देखिये। 'चैम्बर्स डिक्शनरी' पूरी की पूरी उन्हें याद थी। वे कहते थे कि इसके अनन्तर उन्हे कोई नवीन अंग्रेजी शब्द मिला ही नहीं। हाँ, बी० ए० में पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन करते समय दर्शन के कुछ पारिभाषिक शब्द जरूर मिले थे, जो नवीन तथा अज्ञात इसीलिये थे कि वे चैम्बर्स के अंग्रेजी कोष में उल्लिखित ही न थे।

संस्कृत कविता लिखने में वे बेजोड़ थे। छन्द अलंकार, विषय इनमें किसी का प्रतिबन्ध लगा दिया जाता, फिर भी वे हाथ में कलम लेकर बिना विलम्ब लगाये, पद्यों का निर्माण कर देते। वे संस्कृत में नवीन विषयों की रचना के बड़े पक्षपाती थे। वे 'घटिकाशतक' थे—एक घड़ी में, चौबीस क्षणों के भीतर, सौ पद्यों का निर्माण कर सकते थे। इस विषय के प्रसंग में पण्डित जी कहा करते थे कि घटिका-शतक की ख्याति से सम्पन्न पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जी चौबीस मिनटों (घटिका) में सौ अनुष्टुप लिख लिया करते थे, परन्तु अन्य लोग (अपनी ओर संकेत करते हुए) तो एक घटिका के भीतर बड़े-बड़े वृत्तों में भी सौ पद्यों की रचना कर सकते हैं। यह कथन उनके विषय में सर्वथा चरितार्थ होता है। वे सिखाया करते थे कि आरम्भ में बड़े-बड़े वृतों में शब्दाडम्बर-पूर्ण कविता करनी

चाहिये जो ओजगुण से पूर्ण हो। छोटे वृत्तों में प्रसादमयी कविता का उदय धीरे-धीरे अभ्यास दृढ़ होने पर होता है। उनके प्रिय कवि श्री हर्ष तथा कालिदास थे। नैषध के श्लोकों को वे मन्त्र कहते थे और हमने परीक्षा की कापियों के परीक्षण के संग में नैषध का क्रमशः पाठ उन्हें करते हुए देखा है। कालिदास पण्डित जी के प्रिय कवि थे। उनके प्रेम का पता इसी घटना से लग सकता है कि उन्होंने अपनी पुत्रियों का नाम रघुवंश में उल्लिखित महिला नामों के आधार पर किया है। उनकी पुत्रियों के इन्दुमती, नन्दा आदि अभिधान पण्डित जी के कालिदास के प्रति पक्षपात के सद्यः सूचक हैं।

पण्डित रामावतार जी हास्यरस के बादशाह थे। वे विदग्ध गोष्ठियों में सरस हास्योत्पादक वाक्य कहकर हँसी का फौवारा बहा देते थे। परन्तु उनके अधर के ऊपर क्या मजाल कि स्मिति की एक हलकी रेखा भी अंकित होती। वे हास्यरस को ही सब रसों का सिरताज मानते थे। कहा करते थे कि अन्य रस तो अभ्यास करने से आत्मसात् किये जा सकते हैं, परन्तु हास्य तो जन्मजात होता है, अभ्यास से वह सीखा नहीं जा सकता। इस विषय में उन्होंने एक विशिष्ट पात्र की ही साहित्य-संसार में उद्भावना की थी, जो हास्य के महनीय उपकरण थे। नाम था 'अनन्त श्री विभूषित परमहंस परिव्राजकाचार्य मुद्गरानन्द सरस्वती।' किसी विशिष्ट तथ्य की अभिव्यंजना करनी होती, तो वे मुद्गरानन्द के ही माध्यम से कहते थे। समाज की बुराइयों, की सर्वत्र व्याप्त अनर्गल रूढ़ियों की, धार्मिक जगत् में पनपने वाले अनाचारों तथा कदाचारों की, जनता को ठगने के लिये तन्त्रमन्त्र के प्रचारक साधुसन्तों की जब तीखी आलोचना करनी होती, तो वह सब व्यापार मुद्गरानन्द जी के द्वारा ही किया करते थे। 'हमारे स्वामी जी का इस विषय में यह कहना है'—इन शब्दों के द्वारा स्वामीजी की मार्मिक आलोचना वे सुनाया करते थे। इनके विषय में वे तरह तरह की विचित्र बातों का व्यूह ही खड़ा कर देते थे। वह कहते थे कि, "जरा सुनिये तो, स्वामीजी महाराज का मुख्य आश्रम हाजीपुर में था। वे तीर्थों में देवदर्शन करने न जाते थे। वे उन्हें अपना भव्य दर्शन देने के लिये ही यदा कदा जाया करते थे। वे उत्कृष्ट अद्वैतवादी थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रसिक अनुयायी थे। इसलिये रेल यात्रा के समय कभी टिकट नहीं खरीदते थे। जब विश्व ही अपना ठहरा, तो गाड़ी के लिए टिकट खरीदने की जरूरत ही क्या ? एक बार बाबा विश्वनाथ को अपना दर्शन देने के लिये स्वामीजी हाजीपुर से काशी के लिये चले, छपरा आते ही एक टी० टी० सी० (टिकट चेकर) उस डब्बे में घुस आया। अपनी प्रतिष्ठा पर सभ्य लोगों के सामने आँच आते देखकर स्वामी जी शौचालय में प्रविष्ट हो गये। टी० टी० दरवाजे पर उनके आने की प्रतीक्षा करता रहा। देखता क्या है कि स्वामी जी के शरीर से जो मल ज्योतिपुञ्ज के रूप में निकला उससे डब्बे में आग लग गई है। जोरों से चिल्लाया, महाराज ! हमें बचाइये, आप से हम टिकट नहीं लेंगे। तब स्वामीजी ने अपना रोष निवारण

किया और डब्बे को जलने से बचा लिया। ऐसी अनेक विचित्र बातें सुनाकर पण्डित जी श्रोताओं को मनोरंजन के साथ ही साथ अपनी मार्मिक बातें भी सुना डालते थे। इन स्वामी जी को ''मुद्गरदूत'' का प्रधान पात्र बनाकर पण्डित जी ने इन्हें संस्कृत जगत् में अमर बना दिया। गुरु जी का यह मुद्गरदूत संस्कृत-सन्देश-काव्यों की दीर्घ परम्परा में पैरोडी (हास्य-प्रधान अनुकरण) का एक अभिनव प्रयास है जो नितान्त सफल है, अपूर्व है। 'न भूतो न भविष्यति' की उक्ति इस पर चरितार्थ होती है। काशी में रहने वाले, नाना प्रकार की योगक्रियाओं के संपादन से जनता में चमत्कार दिखानेवाले 'काने ब्रह्मचारी' भी पण्डित जी के चोखे चुटकुलों के पात्र थे। पं० रामावतार जी नितान्त सात्विक पुरुष थे। वे किसी प्रकार का दम्भ सह नहीं सकते थे। सामाजिक तथा धार्मिक जगत में व्याप्त कुटिलता एवं दम्भ के निराकरण के लिये ही इन्होंने हास्यरस को जो उपकरण बनाया, वह सर्वथा सफल रहा—यह कथन एकदम सत्य है।

आदरणीय शर्माजी की सूझबूझ अनोखी थी। इतनी अनोखी कि दर्शकों के हृदय में गुदगुदी पैदा कर देती थी। दो घटनाओं का उल्लेख करना इस विषय में पर्याप्त होगा। १९२१ ई० में शर्माजी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य थे। साथ ही साथ वे आर्ट्स कालेज के एम० ए० के छात्रों का अध्यापन भी करते थे। दोनों विद्यालयों में कक्षायें प्रात.काल में ही लगती थीं। अतः किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती थी। पण्डितजी प्रातः भ्रमण के अनन्तर सीधे कालेज चले आते थे। कभी-कभी बाहर के मैदान में वे हजामत भी बनवाने जाते थे तथा साथ में एम० ए० के छात्रों को 'शारीरक भाष्य' जैसे उच्चकोटि का वेदान्त ग्रन्थ भी पढ़ाते जाते थे। पण्डित जी को इस विरुद्ध तथा विपरीत कार्यों में किसी प्रकार का आयास नहीं होता था। हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोवाइस चान्सलर प्रोफेसर आनन्द शंकर बापू भाई ध्रुव (जो संस्कृत के महनीय विद्वान् थे) ऊपर खण्ड के अपने बरामदे से यह दृश्य देख रहे थे। इस विसंगति को देखकर वे अवाक् रह गये और हठात् उनके मुँह से निकल पड़ा—Panditji can do any thing (पण्डितजी कुछ भी कर सकते हैं)।

दूसरा दृश्य तो इससे भी बढ़कर पण्डितजी की अनोखी सूझ का उज्जवल दृष्टान्त है। १९२२ ई० की बात होगी। संकटमोचन के पास ही उनका आवास था। बबुआ (अपने पुत्र नलिन विलोचन शर्मा) के लिये एक टट्टू खरीद रखा था जिस पर उसे बैठा कर सायंकाल गगा की ओर घुमाने ले जाते थे। उस दिन का दृश्य अपूर्व था। टट्टू के ऊपर काठी रखी थी जिसमें बबुआ को बैठा रखा था। आगे आगे स्वयं हाथ के फाउन्टेन पेन से कागज पर कुछ लिखते चले जाते थे। धोती के ऊपर नियमानुसार सिर पर हैट लगा रखा था। उस टट्टू का लगाम पण्डितजीने अपनी कमर में बाँध रखी थी जिससे खाली हाथ से लेखन का काम

कर रहे थे। टट्टू बालक को लेकर पीछे पीछे चला जाता था। पण्डितजी के कमर में टट्टू की लगाम बँधी थी। वे मस्ती से हैट लगाए बेफिक्र कुछ लिखते चले जाते थे। हमने विस्मय-विस्फारित लोचनों से इस अनोखे दृश्य को देखा और शर्माजी की इस नवीन व्यवस्था को साक्षात्कार कर तो अवाक् रह गये। झटपट ध्रुवजी का वह अनोखा रिमार्क याद आ गया—Panditji can do any thing.

काव्य प्रतिभा

पण्डित रामावतारजी विद्वद्-गोष्ठी में प्रातिभ मधुर कवि के रूप में चिर-स्मरणीय रहेंगे। वैदर्भी रीति के सिद्धहस्त कवि होने के अतिरिक्त गौड़ी रीति के भी वे निष्णात कवयिता थे। लोकातीत कल्पना के सामञ्जस्य में, नूतन वर्णन के विशद विन्यास में तथा पाश्चात्य वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत अभिनव पदार्थों के विवरण में शर्माजी अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखते थे। वे कहा करते थे कि काव्य-रचना के लिये नैसर्गिक प्रतिभा की अपेक्षा होती है, वर्ण्य विषयों की इयत्ता नहीं है। केवल अठारह दिनों तक चलने वाले महाभारतीय युद्ध के सम्यक् विवेचन के लिये जब वेदव्यासजी विशालकाय लक्ष्य श्लोकात्मक 'महाभारत' का प्रणयन कर सकते हैं, तब अठारह महीनों से अधिक चलनेवाले, नाना स्थलों में विभक्त, अनेक वायुयान, तारपीड़ो आदि सामरिक उपकरणों से युक्त यूरोपीय महायुद्ध (१९१४ ई०) के यथार्थ वर्णन के लिये तो अनेक महाभारतों की रचना की जा सकती है। लेखनी के धनी रचयिता में केवल अलौकिक प्रतिभा की आवश्यकता है। पण्डित रामावतार जी में यह प्रतिभा अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी, परन्तु बड़े ही दुःख की बात है कि अल्पवय में ही कालकवलित होने के कारण पण्डितजी 'वाङ्मयार्णव' के महाभारतीय काण्ड की रचना नहीं कर पाये। इसके इतिहास-काण्ड के अन्तर्गत 'भारतीयमितिवृत्तम्' तथा 'देशान्तरीयेतिवृत्तम्' का प्रणयन कर शर्माजी ने उस अभीष्ट ग्रन्थ की एक झाँकी अवश्य प्रस्तुत कर दी है जो भव्य,रोचक तथा ज्ञानवर्धक है।

अपनी छात्रावस्था में ही इनकी प्रतिभा कोमलकान्त पदावली से समन्वित शब्द की रचना की ओर स्वतः आकृष्ट हुई। तभी तो केवल पन्द्रह वर्ष के वय में ही अपने साहित्यिक साथियों के आग्रह पर उन्होंने 'धीर नैषध'' जैसे सप्ताङ्की रूपक की रचना कर डाली थी जिसके कारण अपने गुरुवर्य गंगाधर शास्त्री जी के द्वारा इन्हें 'महाकवि' होने का गौरवमय शुभाशीर्वाद प्राप्त हो गया था। बात यों हुई। शर्मा जी ने अपने अनुज और शिष्य श्रीकान्त जी को इस स्वनिर्मित नाटक का अध्ययन करा दिया था। एकदिन उन्हें अपने गुरु गंगाधर शास्त्री जी के पास ले जाकर उनका परिचय दिया। शास्त्री जी ने श्रीकान्तजी से कोई पद्य सुनाने का आदेश दिया, तब उन्होंने यह पद्य सुना कर शास्त्री जी को चमत्कृत कर दिया था—

श्रीकृष्णोरसि कौस्तुभच्छविरिव ध्वान्तावृते व्योमनि
प्रत्यग्रा शशिनः कलेव निकषे रेखेव जाम्बूनदी।
प्रावृड्-वारिधरेऽचिरद्युतिरिव श्रीकण्ठकण्ठे भृशं
ससंक्ता गिरजाभुज - व्रततिका दूरीक्रियात् दुष्कृतम् ।।

श्लोक के रचयिता तथा ग्रन्थ का परिचय पूछने पर श्रीकान्त जी ने शर्मा जी की और संकेत किया और इसे 'धीरनैषध' नाटक की नान्दी होने की बात बताई। इस पर शास्त्री जी ने पूरे नाटक को पढ़कर दूसरे दिन अपनी सम्मति कह सुनाई 'सत्यं महाकविरसि'। गुरु की यह सम्मति वरदान सिद्ध हुई। पण्डित रामावतार जी महाकवि के रूप में सचमुच विख्यात हो गये।

स्रग्धरा छन्द में देवस्तुति प्रणयन की परम्परा आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व इसी काशी-मण्डल के महाकवि मयूर कवि ने चलायी थी। 'सूर्यशतक' के निर्माण के फलस्वरुप वे कुष्ठ जैसे दुष्ट रोग से मुक्त हो गये थे। मारुतिशतक[1] भी उसी परम्परा का आधुनिक प्रतिनिधि गीतिकाव्य है। इसमें हनुमान जी के विकट-रूप, गर्जन-तर्जन, विकटाकार लाङ्गूल, पत्थर पर पटकने पर लांगूल से जायमान घोर-प्रचण्ड निनाद, स्वर्ण पुरी लंका के उदात्त प्रासादों का प्रज्वालन आदि विषयों का बड़ी प्रौढ़ि के साथ गौड़ी रीति में वर्णन अलौकिक कल्पना की सद्यः स्फूर्ति का जाज्वल्यमान दृष्टान्त है। पूरा काव्य उदात्त शैली में निबद्ध है, अलंकारों की सुषमा अवलोकनीय है, अनुप्रासों की विकट छटा नितान्त आकर्षक है।

हनुमानजी की एक अन्य प्रशस्ति का अवलोकन द्रष्टव्य है :—

घोणाघोरान् घनाभान् घनकरटि-घटा-घस्मरान् घोट-घोषान्
रक्षोव्याघ्रान् घृणाद्रो घटितघुणनिभान् घूर्णयित्वेव शीघ्रम्।
जङ्घादघ्नासृगोघान् पविसमभुजगान् द्राग् जघन्यान् जिघांसु-
र्द्राघिष्ठं विघ्ननिघ्ने लघयतु लघु वः साध्वसं गान्धवाहिः ॥

अमेरिका अथवा इग्लैंड की किसी श्वेताङ्गना का यह वर्णन कितना रोचक नवीन तथा आवर्जक है। देखिए तो सही। कितना उपहास से सान्द्र तथा रसाभावमय है :—

स्थूला श्वेता परुषरसना शोणकन्दाधरोष्ठी
मध्ये स्फारा स्तिमितशुनकप्रेक्षणा तुङ्गनाभिः।
श्रोणीकार्श्यात् प्रखरगमना दूरनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्यान्नरविकसनात् पूर्वजा वानरीव ॥

---

१. खड्गविलास प्रेस, पटना से प्रथम प्रकाशित १९१४ ई०। 'रामावतार गाथा' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित पृ० १५३-२६७। प्रकाशक-भारतीय शास्त्र सचावर समिति—छपरा १९७८ ई०।

शर्माजी ने आज से अस्सी वर्ष पहले संस्कृत में राष्ट्रीय तथा देश प्रेम से संवलित कविताओं की रचना की थी जो 'भारत गीतिका' के नाम से प्रसिद्ध है। इस कविता के पढ़ने से शर्माजी का राष्ट्र-प्रेम प्रकट होता है। इस गीतिका की भाषा बड़ी सरल तथा सरस है जिसमें भारतीय लोगों को अपने भेद-भावों को भुला कर संगठित होने का आह्वान किया गया है :—

अलं भारतीया मतानां विभेदैः,
अलं देशभेदेन वैरेण चालम्।
अयं शाश्वतो धर्म एको धरायां,
न सम्भाव्यते धर्मतत्त्वेषुभेदः॥ १॥

दया भूतसंघे · मतिर्देवदेवे,
चतुर्वर्ग-चिन्ता-विरोधात् विरामः।
मनः-काय-वाक्-शोधने चैव बुद्धिः,
परं धर्मतत्त्वं विरोधोऽत्र केषाम्॥ २॥

गिरं संस्कृतां राजकीयां च वाणीं,
समभ्यस्य लोकद्वयस्यापि सौख्यम्।
वशे स्थापयध्वं स्वधर्मं स्वदेशं,
तथा प्रापयध्वं पुनर्गौरवं तत्॥ ३॥

शर्माजी के द्वारा विरचित सरस्वती की उपासना में प्रयुक्त ये श्लोक कितने अभिराम तथा आकर्षक हैं। इनके अध्ययन से यह बात तुरन्त प्रतीत होती है। पद्य नीचे दिये जाते हैं :—

मातः सरस्वति ! सरस्वति ! पारशून्ये !
संसार नामानि निकाममुपप्लुतस्य।
रागादिभिर्जलचरैस्तमसावृतस्य
नौकेव मेऽस्ति शरणं भवदङ्घ्रिसेवा॥१॥

मातर्भवातपहां भवतीमवाप्य
क्षुद्रे गुणान् कति दधे मनसि त्वदीयान्।
स्वादूदकाम्बुधितटीं मरुवासिपान्थः
प्राप्याददीत कियदम्बु दृतौ स्वकीये॥२॥

मोहाम्बुधावलितरां तमसा निगूढा
अन्विष्य तत्त्वकणिकाः किल जीवतो मे।
सारस्वतन्त्र - कवितामृतदान - शौण्डे
सारस्वतं स्फुरतु धाम सदा प्रकामम्॥३॥

त्वत्सेवनान्न परमो मम कोऽपि धर्मः
स्वाराज्यमप्यतुलमेकमिदं तदेव।
भक्ते चिराय तदयाचितमेव धत्से
वत्से मयीति वृणवै परमम्ब! किं वा ॥४॥

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पण्डितजी अपने अगाध पाण्डित्य को एवं भारी भरकम विद्वत्ता को, बोझ की तरह ढोते नहीं थे। वे दानी थे। अपने गुरु-गंभीर भाषणों के द्वारा, नानाविषयक लेखों के द्वारा और संस्कृत में इतः पूर्व अनिबद्ध नूतन विषयों पर तथ्य-संवलित अनुपम रचनाओं के द्वारा मुक्त-हस्त से अपने विद्या-वैभव को लुटाया करते थे। जो उनके पास जाता था वह उस विद्यादान के एक अंश को भी प्राप्त कर अपने को धन्य मानता। वे अनोखी सूझबूझ के अलौकिक प्रतिभाशाली प्रकाण्ड तार्किक थे, साथ ही कोमलकान्त पदावली से सम्पन्न रसपेशल काव्यों के रचयिता क्रान्तदर्शी कवि भी थे। सबसे तो विशेष यह है कि वे महामानव थे। उनका हृदय विपत्ति से प्रताडित मानवों के लिये सतत आर्द्र था। उनके स्निग्ध हृदय से बहता हुआ करुणा का प्रवाह विपन्न जनों के दुःख-दारिद्र्य को बहा कर आश्वस्त करता तथा मंगलमय बनाता। मेरी दृष्टि में पण्डितराज जगन्नाथ के बाद पण्डितजी को छोड़कर उस कोटि का दूसरा मनीषी विद्वान् हुआ ही नहीं। पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों को ही हम पण्डित रामावतारजी के लिये भी निःसन्देह कह सकते हैं :—

सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाद्भुतम्।

---

६ : ४

पण्डित गोपीनाथ कविराज के आध्यात्मिक संस्मरण

मेरे जीवन की वह परम मंगलमयी घड़ी, जब पूज्य कविराज जी से मेरा प्रथम परिचय हुआ। १९२१ ई० के अगस्त मास की यह घटना है। उस समय मैं हिन्दू विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा (संस्कृत) के प्रथम वर्ष में अध्ययन कर रहा था। प्रथम परिचय में ही कविराज जी के सौम्य स्वभाव एवं विनय-मधुर व्यवहार ने मेरे ऊपर विशेष प्रभाव डाला। और तब से यह परिचय निरन्तर रससान्द्र होता चला गया। कविराज जी ने संभवतः किसी उच्च कक्षा के छात्रों का नियमतः अध्यापन नहीं किया था। परन्तु आदर्श अध्यापक के जितने सद्गुण होते हैं, वे इनमें विशिष्ट मात्रा में विद्यमान थे। किसी विषय की व्याख्या करते समय, वे उस विषय के साथ इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें अपने शरीर की भी सुध-बुध नहीं रहती। कठिन से कठिन विषयों को सरल-सुबोध भाषा में हृदयंगम करा देना उनकी व्याख्यान-शैली का चूडान्त उत्कर्ष था। कविराज जी तुलनात्मक शैली से किसी विषय के विवेचन में विशेष अभिरुचि रखते थे। शास्त्रों में उनकी अबाधित गति थी। दर्शन तथा धर्म, योग तथा तन्त्र, वैदिक तथा बौद्ध, एवं जैन आदि नाना संप्रदायों के भक्ति तथा रसशास्त्र आदि दुर्बोध विषयों के अन्तस्तल में पहुँचना और उनकी तद्रूप व्याख्या करना, कविराज जी की विशिष्टता थी। नाना धर्मों के तत्वों की व्याख्या करते समय ये तद्भिन्न धर्मों में तदनुरूप तत्वों की जब व्याख्या करने लगते थे, तब प्रतीत होता था कि अनेक सन्देह की ग्रन्थियाँ स्वतः खुली चलती जाती हैं। इतना ही था कि व्याख्यान का स्तर सर्वदा बहुत ही ऊँचा रहता था। इतना ऊँचा, कि उस विषय का बहुश्रुत विद्वान् ही उसे यथावत् समझने में कृतकार्य होता था। कविराजजी से किसी ग्रन्थ को पंक्तिबद्ध अध्ययन कठिन ही होता था। उनकी अलौकिक प्रतिभा अपने को पंक्तियों के भीतर बन्द न कर उन्मुक्त भाव से समस्त विषय का आलोड़न करती थी और अन्त में ज्ञान के नवनीत प्रस्तुत करने में समर्थ होती थी।

'भारतीय दर्शन' नामक मेरे ग्रन्थ का संशोधन कविराज जी ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया था। उनके ही आदेश से मैंने उसके अन्तिम परिच्छेद में तन्त्रों का संक्षिप्त परिचय दिया है जो उस ग्रन्थ का अपना एक वैशिष्ट्य आज भी माना जाता है। इसी प्रकार मेरे ग्रन्थ 'बौद्ध दर्शन मीमांसा' में आप का उपदेश सर्वथा जागरूक रहा है। उसको इन्होंने एक विशिष्ट प्रस्तावना से भी अलंकृत किया है जो बौद्ध दर्शन के, विशेषतः बौद्ध तन्त्र के, अनेक नूतन तथ्यों का आविष्कार करती है।

बहुतों को यह पता न होगा कि वे बंगला के मार्मिक आलोचक थे। इतनी गम्भीर आलोचना लिखी थी कि लेखक महाशय भी आश्चर्यचकित रह जाते थे। उन्होंने रवि बाबू के किसी विशिष्ट काव्य के रहस्य का उद्‌घाटन ऐसे ही एक निबन्ध में किया था, जिसे पढ़कर वे भी चकित हो उठे थे। इसी प्रकार चितरंजन दास के 'सागर संगीत' की आलोचना भी उतनी ही मार्मिक, महत्त्वपूर्ण तथा प्रौढ़ थी। एक बार आशुतोष मुकर्जी ने शारद नवरात्र का पर्व काशी में ही बिताया। उस समय कविराज जी उनके सम्पर्क में आये। इनकी सार्वभौम विद्वत्ता से आशुतोष बाबू इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कविराज जी को कलकत्ता विश्व-विद्यालय के संस्कृत विभाग का अध्यक्ष बनने के लिये विशेष आग्रह किया, परन्तु वे काशी छोड़ कर कलकत्ता जाने के लिये कथमपि तैयार नहीं हुए। रुपयों का तथा ख्याति का प्रलोभन पूर्णतः आकर्षक था, परन्तु अपने गुरु डा० वेनिस की परम्परा छोड़ना इन्हें कथयपि स्वीकार्य नहीं था। डा० वेनिस कविराज के गुणों से इतने आकृष्ट थे कि वे उन्हें पुत्रवत् स्नेह करते थे। नाना शास्त्रों तथा अनेक भाषाओं (जर्मन, फ्रेंच, पालि, प्राकृत आदि) में प्रवीणता प्राप्त करने के कारण ये वेनिस साहब को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उन्हें पितृवत् मानते थे और उनके उपदेशों के अनुसार चलते थे। शास्त्र में ही नहीं, लोक-व्यवहार के जीवन में भी उनका सदुपदेश बड़े आदर एवं आग्रह से मानते थे।

कविराज जी साहित्य के रसिक मर्मज्ञ ही नहीं थे, प्रत्युत वे रस-सिक्त तथा अध्यात्म-पेशल कविता के प्रतिभाशाली रचयिता भी थे। बँगला, संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषाओं में उन्होंने अनेक कविता की रचना की थी, जो पद-शय्या तथा भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से नितान्त अविराम तथा हृदयावर्जक है। ऐसी सुन्दर कविताओं में से कतिपय मौलिक कविताओं का संकलन उनके जीवन चरित-'मनीषी की लोक-यात्रा' के अनेक पृष्ठों में उद्धृत है। मध्यकालीन बँगला पदावली के तो वे रसिक पाठक एवं मार्मिक आलोचक थे। रविन्द्रनाथ की कविता भी उन्हें विशेष रूप से प्रिय थी। रविबाबू की कतिपय गीतियों की उन्होंने इतनी गम्भीरता से तथा विद्वत्ता से आलोचना की थी, कि जिन्हें पढ़कर रविबाबू भी बड़े चमत्कृत हुए थे और इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। रविबाबू के कविता में जो आध्यात्मिकता है, हृदय को स्पर्श करने की जो क्षमता है, मानवता के गूढ़ भावों को सुबोध शब्दों में प्रकट करने की जो विलक्षण कला है—इनके वे वास्तव में प्रशंसक थे। कविराज जी के द्वारा बहुशः चर्चित तथा प्रशंसित रविबाबू की कुछ कवितायें यहाँ दी जाती है।

सेजे पाशे एसे बसे - छिलो
तबु जागि नि।
की घुम तोरे पेयेछिलो,
हतभागिनी।

एसे छिलो नीरव राते,
बीणाखानि छिलो हाते,
स्वपन-माझे बाजिये गेलो
गभीर रागिणी।

जेगे देखि, दखिन हावा
पागल करिया।
गन्ध ताहार भेसे बेड़ाय
आँधार भरिया।

केनो आमार रजनी जाय,
काछे पेये काछे ना पाय,
केनो गो तार मालार परश
बुके लागे नि।

यह गीत उदासीन वृत्ति से ईश्वर से प्रेम करने के कारण साधक का गम्भीर उपालम्भ है। कवि कहता है कि अरे हतभागिनी, तू कैसी गाद निद्रा में मग्न थी कि वह प्रियतम सेज पर आकर बैठा भी रहा, परन्तु तू जागी नहीं। वह नीरव रात में आया था। उसके हाथ में बीणा थी। वह स्वप्न के मध्य ही गंभीर रागिनी बजा गया।

जगकर मैं क्या देखती हूँ—मानवों को पागल करने वाली मलय वायु बह रही थी और समग्र अन्धकार को भर कर उसका गन्ध चारों ओर प्रवाहित हो रहा था। मुझे इसी की चिन्ता है अपने प्रियतम को अपने पास न पाकर यह काली भींगी रात क्यों कर बीतेगी? हाय! उनके गले की माला का स्पर्श मेरी छाती को प्राप्त न हो सका। ऐसी दशा में मेरा जीवन हतभाग्य है कि प्रियतम का स्वागत कर उसका आलिंगन नहीं कर सकी।

संसारेते आर-जाहारा आमाय भालोबासे,
तारा आमाय धरे राखे बेंधें कठिन पाशे।
तोमार प्रेम जे सबार बाड़ा ताइ तोमारि नूतन धारा,
बांधो नाको लूकिये थाको, छेड़ेइ राखो दासे॥
आर सकले, भूलि पाछे, ताइ राखे ना एका,
दिनेर परे काटे जे दिन, तोमारि नेइ देखा।
तोमाय डाकि नाइ वा डाकि, जा खुशि ताइ निये थाकि,
तोमार खुशि चेये आछे आमार खुशीर आशे॥

भावार्थ—संसार में और जो लोग मुझे से प्यार करते हैं; वे मुझे कठिन पाशों में बाँधकर पकड़े रखते हैं। तुम्हारा प्रेम सबसे बढ़कर जो है, इसलिये तुम्हारी रीति नयी हैं। तुम बाँधते नहीं; छिपे रहते हो, दास को भी खुला छोड़े रखते हो।

और सब लोग—'पीछे भूल न जाऊँ, इसलिये अकेला नहीं छोड़ते, (पर) दिन के बाद दिन बीत जाते हैं, तुम दिखाई ही नहीं देते। तुम्हें पुकारूँ या न पुकारूँ ? जो खुशी आये, उसी को लिये रहूँ, (पर) तुम्हारी खुशी, मेरी खुशी की आशा में बाट ही देख रही है।'

जीवन जखन शुकाये जाय
करुणा - धाराय एसो।
सकल माधुरी लुकाये जाय,
गीत - सुधा - रसे एसो।
कर्म जखन प्रबल - आकार
गरजि उठिया ढाके चारि धार
हृदय - प्रान्ते हे नीरव नाथ,
शान्त - चरणे एसो।
आपना रे जबे करिया कृपण
कोणे पड़े थाके दीन-हीन मन
दुवार खुलिया हे उदार नाथ,
राज - समारोहे एसो।
वासना जखन विपुल धुलाय
अन्ध करिया अबोधे भुलाय
ओहे पवित्र, ओहे अनिद्र,
रुद्र आलोके एसो।

भगवान से भक्त की विनम्र प्रार्थना है—हे भगवन्, जब मेरा जीवन शुष्क हो जाय, तब करुणा की धारा के रूप में आवो। समस्त माधुरी जब छिप जाय, तब गीत के अमृत रस रूप में मेरे जीवन में पधारो। हे नाथ ! शान्त चरणों से नीरव रूप में मेरे हृदय के प्रान्त में पधारो।

अपने मन को कृपण बनाकर दीन हीन भाव से जब मेरा मन किसी कोने में पड़ा रहे, तब हे दयालु स्वामी दरवाजा खोलकर राजसी ठाटबाट के साथ मेरे हृदय में कृपया पधारिये। वासना जब अपनी विपुल धुलि के द्वारा मुझे अन्धा बना दे और मैं अज्ञान के अन्धकार में अपने को भूल जाऊँ, तब हे पवित्र, हे अनिद्र, हे रुद्र, चारों ओर प्रकाश फैलाते हुये मेरे जीवन में पधारो। जीवन के दुःखों से प्रताडित इस दीन-हीन जन का आपके चरणों के सामने यही नम्र निवेदन है।

आध्यात्मिक साधना की ओर कविराज जी की अभिरुचि बाल्यकाल से ही थी। इन्होंने काशी में रहनेवाले अनेक साधु-सन्तों को खोज निकाला था तथा उनके सद्गुणों का परिचय जिज्ञासु जनों को कराया था। 'आनन्दमयी माँ' की जबो इसी प्रकार की खोज का परिणाम था। अपने पतिदेव के साथ काशी में यात्रा के निमित्त आनेवाली इस आध्यात्मिक विभूति को कविराज जी ने बहुत पहले ही पहचान लिया था। ऐसे सन्तों के पास उनके साथ जाने का अनेक अवसर मुझे तथा मेरे दिवंगत मित्र पं० बटुकनाथ शर्मा जी को प्राप्त हुआ था। सन्तों के प्रथम दर्शन तथा स्वल्प वार्तालाप से ही उनके अन्तस्तत्त्व को समझ लेना कविराज जी का निजी वैशिष्ट्य था। तथ्य तो यह है कि सन्त ही सन्त के स्वरूप को पहचान सकता है और कविराज जी स्वयं पहुँचे हुए सन्त तो ठहरे। फलतः सन्तों के यथार्थरूप को समझना जैसे उनके लिये अनायास साध्य था, वैसे ही उनके पास जाना तथा जिज्ञासु बन कर उनकी बातें सुनना भी उनके लिये सहज था। उनके संग उनके गुरुदेव स्वामी विशुद्धानन्द जी के पास मुझे अनेक बार जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय उनकी जिज्ञासुवृत्ति, भावुकता तथा वार्तालाप के अन्तस्तल में पहुँचने की योग्यता देखकर दंग रह जाना पड़ता था। विशुद्धानन्द जी अलौकिक शक्ति-सम्पन्न योगी थे जिन्हें 'सूर्य विज्ञान' का मर्म प्राप्त था। मैंने स्वयं उन्हें किसी भी फूल के नैसर्गिक गन्ध को अपहृत कर नवीन गन्ध का संचरण करते हुए बहुशः देखा है। वे इसे सूर्य की रश्मियों की सहायता से करते थे जो किसी विशिष्ट शीशे के द्वारा फोकस (केन्द्रित) की जाती थी। यह प्रयोग कविराज जी के सान्निध्य में किया जाता था। गुरुदेव के इन कार्यकलापों तथा उपदेशों को कविराज जी ने 'विशुद्धानन्द प्रसंग' नामक बँगला ग्रन्थ के अनेक खण्डों में वर्णित किया है।

कविराज जी स्वयं उच्चकोटि के साधक थे। वे प्रति सप्ताह सोमवार तथा गुरुवार को मौन धारण करते थे। उनके यहाँ अध्यात्मतत्त्व के जिज्ञासुओं का ताँता बँधा रहता था, जिसमें मैंने अनेक बार यूरोपियन तथा अमेरिकन लोगों को भी देखा था। कविराज जी को हम लोगों से शिकायत रहती थी कि हम लोग केवल शासन की ही बातें पूछते थे, साधना की बातें नहीं पूछते, जिनको उन्होंने स्वानुभूत किया था। वे 'सस्ती प्रशंसा' से सर्वदा हमें दूर रहने का उपदेश देते थे तथा किसी भी वस्तु के अन्तरंग में प्रवेश करने की सदा शिक्षा दिया करते थे। तंत्र शास्त्र के ऊपर उनका अबाधित अधिकार आश्चर्य में डालने वाला थे। बहुत से जानकारों की दृष्टि में वे तन्त्रशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी विद्वान थे। तंत्र के साधन पक्ष की चर्चा वे बहुत काम करते थे, क्यों कि उसके लिये अधिकारी पात्रों का अभाव मुख्य हेतु था। तंत्र के सिद्धान्तविषयक उनके हिन्दी निबन्धों का संग्रह हाल ही में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद (पटना) से तथा अंग्रेजी बंगला के निबन्ध पुस्तक के रूप में कलकत्ता तथा बर्दवान विश्वविद्यालय से

प्रकाशित हुए हैं और हो भी रहे हैं। परन्तु इन निबन्धों की उनकी व्याख्या सुनकर ही कोई व्यक्ति तन्त्रों के मर्म समझने में कृतकार्य हो सकता है। ऐसी उनकी विशद व्याख्यानशैली थी।

साहित्य तथा साधना के अधिकारी विद्वान् पण्डित गोपीनाथ कविराज शील तथा सौजन्य की मूर्ति थे। अभिमान तो उन्हें छू नहीं गया था। निरभिमान सौम्यमूर्ति का भव्य दर्शन दर्शक के चित्त में एक विचित्र पवित्रता का उदय कराता था। वे ऋषिवत् पूजनीय थे। संसार के छलछद्मों से अपरिचित यह विद्वान् आज के इस कुटिल कलिकाल में सत्ययुग का दृश्य उपस्थित करता था। गत ४४ वर्षों से उनके साथ मेरा गाढ़ परिचय रहा है। फलतः नाना संस्मरणों में से एक दो संस्मरण ऊपर निर्दिष्ट हैं। इन पंक्तियों के द्वारा मैं अपनी हार्दिक भावना उनके पूज्य चरणों में अर्पित करता हूँ :—

एइ तो तोमार प्रेम, ओगो
हृदय - हरण,
एइ जे पाताय आलो नाचे
सोनार बरन।

एइ जे मधुर आलस भरे
मेघे भेसे जाय आकाश-परे,
एइ - जे बातास देहे करे
अमृत - क्षरण
एइ तो तोमार प्रेम, ओगो
हृदय - हरण।
प्रभात - आलोक धाराय आमार
नयन - भेसेछे।
एइ तोमारि प्रेमेर वाणी
प्राणे एसेछे।
तोमारि मुख ऐ नुयेछे,
मुखे आमार चोख थुयेछे,
आमार हृदय आज छुँयेछे
तोमारि चरण।

६ : ५

आत्म-संस्मरण

मेरा जन्म बलियामण्डल के पूर्वी छोर पर वर्तमान सोनबर्सा गाँव में आज से छियासी वर्ष पूर्व सम्वत् १९५६ वि० के शारदीय नवरात्र की द्वितीया (१० अक्टूबर सन् १८९९ ई०) को हुआ था। उत्तर प्रदेश के सबसे पूर्वी भाग में वर्तमान बलिया-मण्डल प्राचीन काल से ही अपनी अनेक विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसके उत्तर में सरयू तथा दक्षिण में गंगा—इन दोनों नदियों के द्वारा आप्लावित तथा पवित्रित इस भूखण्ड में पण्डितों, संन्यासियों तथा सन्तों का आविर्भाव होता रहा है। यहाँ संस्कृत भाषा तथा साहित्य के आराधक अनेक विद्वान् हो गये हैं जिन्होंने काशी में आकर मान्य विद्वज्जनों के सामने अपने पाण्डित्य के प्रकर्ष का प्रदर्शन किया। गंगा और सरयू (जिसे घाघरा भी कहते हैं) दोनों पवित्र नदियों के मध्य में अवस्थित होने के कारण इस क्षेत्र को 'द्वाबा' कहा जाता है।

हमारे ही परिवार के पं० अम्बिकादत्त उपाध्याय, पं० गोपीवल्लभ उपाध्याय तथा पं० रामयत्न उपाध्याय—आदि ऐसे ही मान्य विद्वान् थे जिन्होंने काशी में विधिवत् संस्कृत विद्या का अध्ययन किया था और अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता से वहाँ के विद्वानों को चमत्कृत किया था। इस पूर्वांचल में साधु-सन्तों का प्राचुर्य तथा प्रभाव विशेष रूप से था। कतिपय प्रधान सन्तों का परिचय दिया जा रहा है।

महाराज गोंसाई

बलिया जनपद के 'बघांव' गाँव के निवासी बाबा चैन रामजी के शिष्य महाराज गोंसाई बलिया जिले के मिल्की गाँव के निवासी ब्राह्मण थे। १२५ वर्ष की आयु में आपका परलोक-वास हुआ था। आप गृहस्थ ब्राह्मण थे। किसी के यहाँ आते-जाते नहीं थे। घर में किसी वस्तु का अभाव नहीं था।

आप अपने गाँव से बाहर कुटिया बना कर रहा करते थे। यह कुटिया जमीन से दस-पन्द्रह फुट ऊँचे चतूबरे पर मिट्टी की बनी हुई है। किसी निलहा (नील की खेती करने वाले) अंग्रेज साहब ने कुटिया को ईंटों से पक्का बनवा देने का गोंसाई जी से बड़ा आग्रह किया परन्तु इन्होंने स्वीकार नहीं किया और कहा कि मेरी मिट्टी की कुटिया ही अच्छी है। पक्की कुटिया भला कितने दिनों तक टिक सकती है? गोंसाई जी सदा अपने भक्तों को यही उपदेश देते थे कि "जो कोई इस कुटिया को झाड़े-बुहारेगा, साफ करेगा, इसे गोबर और मिट्टी से लीपे-पोतेगा उसके पाप सब धुल जायेगे।" अतः आज भी भक्तजन इस कुटिया को गोबर और मिट्टी से सदा लीपते रहते हैं। इस कारण यह ऊँची कुटिया अत्यन्त पवित्र और स्वच्छ दिखाई पड़ती है।

महाराज गोंसाई की गद्दी के इधर के उत्तराधिकारी बाबा लक्ष्मण दासजी सन्त थे जो सन्त होने के साथ ही देश-भक्त और राष्ट्र-सेवी भी थे। अतः इन्होंने इस कुटिया के पास मिल्की गाँव में अनेक ग्रामीण उद्योगों को भी चालू कर रखा था। इनके व्यक्तित्व में सन्त और समाज सेवी का समन्वय पाया जाता था।

सुदिष्ठ गोंसाईं

बाबा सुदिष्ठ गोंसाई अपने समय के एक प्रसिद्ध सन्त थे। आप बलिया जिले के दुआबा परगना के गोन्हिया छपरा गाँव के निवासी, राजपूत गृहस्थ थे। आप महाराज गोंसाई के प्रमुख शिष्यों में थे। सुदिष्ठ गोंसाई पढ़े-लिखे तो बहुत कम थे परन्तु अपने गुरु महाराज गोंसाई के सम्पर्क में आने के कारण शास्त्रों का तत्व-ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ये महाराज गोंसाई की मिल्की गाँव वाली मठिया में नित्य पधारते थे, दिनभर गुरुजी की सेवा करते, उनका उपदेश सुनते और रात को अपने घर लौट जाते थे। कुछ वर्षों के पश्चात्, जब भगवान् की भक्ति का प्रबल वेग बढ़ा, इन्होंने अपना गाँव छोड़ दिया और उसी के समीप बाग में अपनी कुटिया बना कर रहने लगे तथा एकान्त भजन भाव में अपना समय व्यतीत करने लगे।

बाबा सुदिष्ठ गोंसाई को रामलीला से बड़ा प्रेम था। ये प्रतिवर्ष अपनी कुटिया पर रामलीला कराते थे। धनुष यज्ञ के अवसर पर आस-पास के गाँवों से हजारों लोग इस लीला को देखने के लिए आते थे। उस समय यहाँ मेला लगता था जो आज भी 'धनुष-यज्ञ के मेला' के नाम से प्रसिद्ध है। सुदिष्ठ गोंसाई बहुत बड़े सन्त थे। किसी व्यक्ति के विषय में भविष्य वाणी करना, उसके जीवन की समग्र घटनायें बतला देना, आदि बातें उनके लिए सामान्य बातें थी। सचमुच ही ये बड़े ही सिद्ध सन्त थे जिनका नाम आज भी इस मण्डल में प्रसिद्ध है। इनके नाम को चिरस्थायी बनाने के लिए इनके भक्तों ने एक इण्टर कालेज की स्थापना की है जो इन्हीं के नाम से विख्यात है।

बाबा कपिलदेव गोंसाईं

बाबा कपिलदेव गोंसाईं मेरे गाँव के निकट बैरिया गाँव के गृहस्थ ब्राह्मण थे। आप करन गोंसाईं के पुत्र थे। आप गृहस्थ होने के कारण घर पर ही रहते थे। पिता के संसर्ग में आने के कारण आप के हृदय में भक्ति का संचार हुआ। ये जन्म से ही संसार से विमुख रहते थे। ये अपने पिताजी की ही कुटिया पर रहते थे। अपने पिता की आज्ञा से इन्होंने 'कुटीर संन्यास' ले लिया। अपनी कुटिया को छोड़कर अन्यत्र जाने की बात तो दूर रही, कुटिया से नीचे भी नहीं उतरते थे। भक्तजनों की सहायता से सब काम-काज सिद्ध हो जाता था। भगवान् की पूजा में ही अपना जीवन व्यतीत कर दिया।

बाबा कपिलदेव गोंसाई जी संस्कृत के विद्वान् थे। आप के उपदेश करने की शैली बड़ी अनूठी थी। दृष्टान्त देकर अपने विषय का प्रतिपादन बड़ी सुन्दर रीति से किया करते थे। ये भगवान् की शरणागति को ही मुक्ति का परम साधन समझते थे।

आप निःस्पृहता की मूर्ति थे। एक बार डुमराँव के राजा ने आप के दर्शन की इच्छा से आप को बुलवाया परन्तु बाबा ने राजा के निमन्त्रण को ठुकरा दिया। पुनः राजा ने इन्हें धन का प्रलोभन दिया। इसपर बाबा ने उन्हें यह सन्देश भिजवाया कि "जिसने तुम्हें राजा बनाया है उसी के दरबार में मैं बैठा हूँ। अतः तुम्हारे जैसे राजा को कौन पूछे?" ऐसी थी बाबा जी की निःस्पृहता। सच तो यह है कि ऐसे सन्त लोग भगवान् की देदीप्यमान दिव्य विभूति ही होते हैं।

दिन में तो वहाँ भक्तों का जमघट लगा रहता था परन्तु रात के समय वे अपने आश्रम में किसी को भी टिकने नहीं देते थे। वे कहा करते थे कि रात्रि साधु और सर्प दोनों के विचरण की बेला है जो एकान्त में अपनी मस्ती का जीवन बिताते हैं। उस समय उनसे छेड़खानी करना अच्छा नहीं होता। ये सन्त महान् योगी थे। इनको भविष्य की घटनाओं की जानकारी स्वतः हो जाया करती थी। एक बार की घटना है कि स्वामी जी रात को लेटे हुए थे और कोई शिष्य उनका पैर दबा रहा था। लेते ही लेटे एक समय उन्होंने अपना शरीर पाषाण की तरह कठोर कर दिया। तब शिष्य को यह सन्देह हो गया कि गुरु जी सम्भवतः निष्प्राण हो गये और उसने कुछ उत्सुकता-वश और कुछ धृष्टतावश उनकी नाड़ी पर हाथ रखकर उसकी जाँच करनी शुरू की। थोड़े ही देर में गुरु जी जब चेतन-दशा में आ गये तब उन्होंने शिष्य को डाँटते हुए कहा कि "मेरी नाड़ी क्या देख रहा है बच्चा, अपनी नाड़ी देख।" इसके बाद वह अपने घर के लिए चला परन्तु अपने गाँव पहुँचने के पहिले रास्ते में ही उसकी नाड़ी छूट गई और वह जमीन पर गिरकर मर गया। इन सन्त के इस चमत्कार को हमारी दादी सुनाया करती थी जो उनके यहाँ आशीर्वाद तथा औषध लेने के लिए प्रायः जाया करती थी।

हरेराम ब्रह्मचारी

हरेराम ब्रह्मचारी बलिया जिले में अपनी तपस्या तथा सिद्धियों के लिए प्रसिद्ध थे। ये बलियामण्डल के ही एक गाँव में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। ब्रह्मचर्य के पालन पर ये अत्यधिक बल दिया करते थे। ये गंगा जी के किनारे फूस का छप्पर डाल कर रहा करते थे। केवल स्नान तथा सन्ध्या-वन्दन के लिए ही ये अपनी कुटिया से निकला करते थे। गंगा जी के भीतर इनके लिए ऊँची मचान बनी रहती थी। उसी पर ये ब्राह्म मुहूर्त से आसन मार कर सूर्याभिमुख होकर बैठते थे और घण्टों गायत्री मन्त्र का जप किया करते थे। ये केवल फलाहार करते थे।

इनकी तपस्या और सिद्धियों से आकृष्ट होकर हजारों लोग इनके दर्शन के लिए प्रतिदिन जाया करते थे। परन्तु ब्रह्मचारी को जनता की भीड़ कुछ विशेष पसन्द नहीं थी। अतः बलिया में इन्होंने गंगा तट पर निवास करना छोड़ दिया और छपरा जिला में सिसवन घाट पर सरयू के किनारे अपनी कुटिया बना कर रहने लगे।

स्त्रियों से इन्हें बड़ी चिढ़ थी। स्त्रियों को आप दर्शन देना नहीं चाहते थे। यदि कोई स्त्री भूल से दर्शन के लिए चली जाती, तब गालियों के बौछार से उनका स्वागत करते। इनका स्वभाव बड़ा ही रुक्ष था। साधुजनोचित सरलता, कोमलता तथा साधुता का अभाव उनमें नहीं था परन्तु जनसम्पर्क को दूर हटाने के लिए कड़वी भाषा के प्रयोग करने में ये चूकते नहीं थे।

ग्रामीण चटशाला की पढ़ाई

भोजपुर मण्डल के बालकों को अक्षरारम्भ किसी शुभ मुहूर्त में सम्पन्न कराया जाता था। इस अवसर पर मंगलाचरण किया जाता था एक प्रार्थना-गर्भित वाक्य के द्वारा और वह वाक्य होता था—राम गति देहु सुमति। इसके आदिम शब्दों का उच्चारण ओकार-बहुल किया जाता था। फलतः 'रामो गोती' पठन के आरम्भ का सूचक माना जाता था। बड़े बालकों की अध्ययनशाला—पाठशाला-से पार्थक्य दिखलाने के लिए छोटे बालकों की पाठशाला 'चटशाला' के नाम से अभिहित की जाती थी। प्रत्येक जनबहुल ग्राम में अनेक चटशालाओं का अस्तित्व रहता था।

मेरा अक्षरारम्भ अपने मुहल्ले के ही मुन्शी माधो लाल को चटशाला में किया गया था। कक्षा एक ही थी जिसमें पन्द्रह-बीस समानवयस्क पाँच साल से लेकर आठ साल के वय वाले बालकों का अध्यापन होता था। उस युग में जमीन के ऊपर बैठ कर और जमीन पर ही खड़िया से लिखने की चाल थी। चटशाला दालान में चला करती। प्रत्येक छात्र अपने सामने वाली जमीन पर नयी मिट्टी का चार-पाँच ऊँचा-ऊँचा पाट बनाता था, उसके ऊपर कोयला का चूर्ण बिछाकर पत्थर के चिकने टुकड़ों से खूब माँजा जाता था जिससे वह चमकने लगता था। इसी पाट पर खड़िया के टुकड़ों से मोटे-मोटे अक्षर लिखे जाते थे। अक्षर अभ्यस्त हो जाने पर काठ की पटिया तथा स्लेट का भी उपयोग किया जाता था जिस पर अंक तथा पहाड़ा लिखा जाता था। शाम को सब बालक एक पंक्ति में खड़े होते थे और सबको एक वयस्क तथा सुबुद्ध बालक अक्षर, गिनती, पहाड़ा तथा ककहरा की बाराखड़ी को दोहराता था। इस प्रक्रिया को 'बरतौनी' कहा जाता था। भोजपुरी का 'बरतौनी' संस्कृत के वर्तनी शब्द का ही अपभ्रंश है जिसका अर्थ उर्दू का 'हिज्जे' तथा अंग्रेजी का स्पेलिंग है। बरतौनी के बाद सब बालक अपने पाट पर माथा नवाते थे और माधो लालजी प्रत्येक की पीठ पर अपनी पतली बाँस की छड़ी रखकर विधिवत् पूछा करते थे कि 'गुड़ मीठ की छड़ी मीठ।' 'छड़ी मीठ' कहने पर वे छड़ी का हलका सुखद स्पर्श पीठ पर कर देते थे, परन्तु शरारती लड़कों के द्वारा जान बूझ कर 'गुड़ मीठ' कहने पर वे उनकी कोमल पीठ पर एक कड़ी छड़ी जमा ही देते थे। इसके अनन्तर छुट्टी हो जाती थी। सप्ताह में एक दिन पाट की पूजा भी की जाती थी। पूजा का प्रधान साधन होता था पानी में भिगोया चावल (तिन चौरी) और गुड़। यही सबको प्रसादी के रूप में बाँटा जाता था। उस युग की चटशालाओं की यही शिक्षण व्यवस्था थी।

गाँव की चटशालीय पद्धति से मुझे अधिक पढ़ने का अवसर ही न मिल सका। केवल २१ के पहाड़े तक ही गणित सीख सका। ४० तक पहाड़ा पढ़ाने की चाल थी। तदनन्तर पौना, सवैया, डेढ़ा, धौंचा आदि के अध्ययन को पूरा करने पर बालकों की गणित शिक्षा नियमतः बड़ी श्लाघनीय हो जाती थी। स्कूल की पद्धति ने इस उपयोगी प्राचीन पद्धति को नष्ट ही कर दिया है। केवल महाजनी पाठशालाओं में यत्र-तत्र इस उपादेय प्रणाली का आजकल दर्शन हो जाता है, परन्तु उनमें भी यह पद्धति नाम-मात्र ही अवशिष्ट बताई जाती है। नई रोशनी का प्रभाव जो ठहरा।

हिन्दी स्कूल में अध्ययन

डुमराँव राज की ओर से स्थापित स्थानीय प्राइमरी स्कूल में भी पढ़ने का अवसर मुझे मिला। इस स्कूल के हेड पण्डित का काम पण्डित दीनदयाल तिवारी जी करते थे। ये संस्कृत के विशिष्ट विद्वान् तथा खासकर पुराणों के गम्भीर जानकार तथा धार्मिक व्यक्ति थे। मेरे गाव से थोड़ी दूर पर स्थित गोन्हिया छपरा गाव के तिवारी जी अपने द्वार पर प्रति सायं-काल को पुराण प्रवचन किया करते थे और इस प्रकार से अनेक बार अठारहों पुराणों के प्रवचन करने, धार्मिक तत्वों को समझाने तथा स्थानीय जनता के आध्यात्मिक स्वास्थ्य सुधारने में पण्डित दीनदयालु जी ने जो अलौकिक कार्य किया है उसकी शतशः प्रशंसा करनी चहिए। उनके सम्पर्क में आने से मुझे हिन्दी भाषा तथा गणित सीखने का ही लाभ नहीं हुआ, प्रत्युत संस्कृत के प्रति तथा धार्मिक आचरण के प्रति सहज अनुराग उत्पन्न हुआ। उन दिनों में कोर्ट आफ वार्डस के अन्तर्गत एक अंग्रेज महाशय मैनेजर का काम करते थे। उन्होंने इस स्कूल में अंग्रेजी पढ़ने की भी व्यवस्था डुमराँव राज्य की ओर से ही करा दी। फलतः अंग्रेजी की कक्षा में और मेरे गाँव के बहुज्ञ विद्वान् मुन्शी रघुनाथ लाल जी को अंग्रेजी पढ़ाने का कार्य सौपा गया। मैने यहाँ अंग्रेजी का भी ज्ञान प्राप्त किया और मुन्शी जी के सतत सम्पर्क में आने से देश-विदेश, धर्म कर्म, अचार-विचार के भी उपादेय तथ्यों को जान सका। इसी समय मुझे लल्लू-लाल जी द्वारा 'रचित प्रेमसागर' की प्रति पिता जी की कृपा से प्राप्त हो गई जिसको मैंने अनेक बार बिधिवत् पढ़ डाला। फलतः मुझे हिन्दी भाषा का ही समुचित ज्ञान न प्राप्त हो गया प्रत्युत कृष्ण की ललित लीलाओं की भी सरस जानकारी प्राप्त हो गई। काव्यपुट से संपुटित ब्रजभाषा में निबद्ध 'प्रेमसागर' कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज में अंग्रेजी अधिकारियों को हिन्दी सिखाने के लिए नियमतः पाठ्यग्रन्थ ही था। फलतः प्राइमरी स्कूल की शिक्षा से मेरे हृदय में हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा के सीखने के लिए जो नैसर्गिक अभिरुचि जागरित हुई, उसके लिए मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ। दस-बारहसाल के वय में ही मुझे 'सरस्वती' पत्रिका के आदरणीय अभिधान से परिचय प्राप्त हुआ। मेरे मुहल्ले के ही एक पटवारी (लेखपाल) कायस्थ सज्जन इसके नियमितः ग्राहक थे। उन्हीं से सरस्वती के अनेक अंकों के देखने का सौभाग्य मुझे मिला। कुछ बड़े होने पर

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा पाक्षिक रूप में प्रकाश्यमान 'शिवराज भूषण' का वह अंश मिला जिसमें 'ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी ऊँचे घोर मन्दरके अन्दर रहाती है' पद्य की पदावली ने मुझे आकृष्ट किया। अर्थ तो बिना गुरु के नहीं जान सका, परन्तु यमक के शाब्दिक चमत्कार ने मेरे बालक मनके ऊपर आलंकारिक सौन्दर्य का आकर्षण निश्चयेन उत्पन्न कर दिया।

इस प्रकार पुण्यसलिला सरयू और अमृततोया गंगा की ललित लहरियों से लालित-पालित, संस्कृतभाषा के मर्मज्ञ व्याकरणज्ञाता, साहित्य-रसिक और पुराणवेत्ता पण्डितों की उपस्थिति से मण्डित, अध्यात्मिकता की वेदी पर अपना जीवन समर्पण करने वाले एवं जनता-जनार्दन की वास्तविक उन्नति के निमित्त अपने दिव्य उपदेशों का प्रवचन करने वाले सन्त-महात्माओं के दिव्य सान्निध्य से सुगन्धित बलिया के इस पूर्वाञ्चल में जन्म लेने को मैं अपने प्राक्तन पुण्यों के पूर्ण परिपाक का सद्यः परिणाम मानता हूँ।

विशिष्ट व्यक्तियों का सम्पर्क

जीवन के आरम्भिक काल में दो व्यक्तियों ने मुझे विशेष प्रभावित किया जिनमें एक थे अष्टादश पुराणों के अनेकशः प्रवचनकर्ता पण्डित दीनदयालु तिवारी जी और दूसरे थे बहुश्रुत नानाशास्त्रों में अनुपम अभिज्ञता रखने वाले मुन्शी रघुनाथ लाल, जिन्हें अध्यापक होने के नाते सब लोग 'मास्टर साहब' के नाम से पुकारते थे। पण्डित दीनदयालु जी के अध्यापन से मुझे हिन्दी भाषा का ज्ञान, संस्कृत भाषा में अभिरुचि, पुराण के स्वरूप तथा तत्त्व की जिज्ञासा एकसाथ उत्पन्न हुई जो आगे चलकर शिक्षण की अभिवृद्धि के काल में चरितार्थ हुई। इन सब के लिए मैं पण्डित जी का कृतज्ञ हूँ। मास्टर साहब बहुश्रुत थे। वे ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, सन्तसाहित्य तथा उर्दूफारसी के प्रौढ़ विद्वान् थे जिन्होंने अपनी बुद्धि की प्रखरता के कारण इन विषयों का गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया था। शास्त्रीय संगीत के वे इतने मर्मज्ञ थे और सितार इतनी शुद्धता से बजाते थे कि तत्तत् राग के बादन से उत्पन्न प्रभाव की झलक सद्यः श्रोताओं को मिलती थी। मलार राग के बजाने पर निरभ्र आकाश में काले बादलों का आविर्भाव ही नहीं हो जाता था, प्रत्युत बूँदाबूँदी भी होने लगती थी। सन्त साहित्य के मर्म तथा आध्यात्मिक तत्त्व का उनका ज्ञान नितान्त अभिनन्दनीय था। उर्दू की बात क्या कही जाय? फारसी के, प्राचीन फारसी के भी, वे पूरे जानकार थे। इसके विषय में वे अपना अनुभव सुनाते थे। पटना में उनके एक उर्दूदाँ दोस्त अपने फारसीदाँ मित्र के द्वारा फारसी में लिखे गये पत्रों के कारण बड़े संकट में थे। फारसी न जानने से वे मास्टर साहब के पास चिट्ठी पढ़ाने के लिए लाया करते थे। दुःखित होकर उन्होंने अपना संकट कह सुनाया कि मुझे हर बार चिट्ठी के मजमून पढ़ाने के लिए फारसी जानने वाले की खोज करनी पड़ती है। मुन्शी रघुनाथ लाल ने 'शाहनामा' में प्रयुक्त पुरानी फारसी के शब्दों का बहुल प्रयोग कर ऐसी चिट्ठी लिखी कि उस अभिमानी फारसीदाँ का गर्व चूर हो गया और बाध्य होकर उसे अपनी आदत छोड़ देनी पड़ी।

क्योंकि पुरानी फारसी में लिखी चिट्ठी का मजमून वह स्वयं ही समझ न सके और आदत छोड़ उर्दू में ही पत्र लिखने का अब नियम बना लिया। ये हमारे गाँव के समीपस्थ बैरिया गाँव के धनाढ्य रईस बाबू पद्मदेव नारायण पाण्डेय जी के दीवान का काम करते थे और उनके साथ उन्हीं के सम्बन्धी काशीनरेश महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह के दरबार में अनेक बार आया करते थे। मास्टर साहब के सम्पर्क में आने से उसी समय मैंने काशिराज के धार्मिक, साहित्यिक महत्त्व के तथा संगीत से संम्बद्ध विषयों की जानकारी प्राप्त की तथा मेरा दृष्टि-कोण पर्याप्तरूपेण विस्तृत एवं विशद बन गया।

मेरे पूज्य पिता पण्डित रामसुचित उपाध्याय पुराणों के प्रवचन-कर्ता व्यास थे, परन्तु साधारण कोटि के प्रवक्ता न होकर वे साहित्य-मर्मवेत्ता रसिक व्यास थे। उनके सम्पर्क में आने पर मेरा ज्ञान पुराणकथा तथा धर्मवार्ता के विषय में विशेष विस्तृत हो गया। इनके प्रवचनों में मैं उनके साथ जाया करता था। उनके उपदेशों, कथाओं तथा विवेचनों का मैं मूक श्रोता न था, प्रत्युत उनकी जानकारी प्राप्त कर एक मुखर श्रोता था जो अन्य लोगों से उनकी चर्चा कर अपने ज्ञान को बढ़ाया करता था। वे श्रीमद्भागवत तथा अध्यात्म रामायण की कथा बाँचते थे। इन ग्रन्थों में उपदिष्ट तथ्यों की विशद पुष्टि के लिए वे प्राचीन कथाएँ एवं सरस कवितायें सुनाया करते थे। इन्हीं प्रवचनों को सुनकर मुझे साहित्य में विशेष अभिरुचि जागी और संस्कृत पढ़ने से पूर्व ही भागवत की कमनीय कथाओं का प्रायः पूरा परिचय प्राप्त हो गया। उस वय में यह विशिष्ट ज्ञान विशेष उपलब्धि माना जाना चाहिए। मेरी माता जी पढ़ी लिखी नहीं थी। उस युग में स्त्रीशिक्षा के प्रचार का नितान्त अभाव था और वह भी इस सुदूर ग्रामीण अंचल में। परन्तु वे बुद्धिमती थीं और गृहस्थी के कार्यों की देखभाल में वे नितान्त दक्ष थी। भोजपुरमण्डल में बालक के जन्म, जनेऊ, विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर गाये जाने वाली गीतों की विशाल राशि उनकी जिह्वा पर नाचा करती थी। इनका उपभोग तत्तत् शुभ अवसरों पर वे करती थीं। आस्तिकता उनमें खूब थी। अतः देवी देवताओं के पूजन में, गंगाजी के स्नान में एवं दरिद्रजनों की सहायता करने में उनका मन स्वभाव से ही लगता था। उन्हीं की कृपा से उनकी सन्तान में आस्तिकता के प्रति स्वाभाविक अनुराग उत्पन्न हुआ जो उनके जीवन को सरल तथा सात्त्विक बनाये हुये हैं।

स्कूली पढ़ाई का आरम्भ

सन् १९११-१२ के सत्र में मैंने बलिया के गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में कक्षा ७ में प्रवेश प्राप्त किया। उस समय मेरा वय केवल १२ वर्ष का था। उसी साल मेरा यज्ञोपवीत संस्कार भी हुआ था। उन दिनों में समस्त बलिया जिले में अंग्रेजी पढ़ने वालों के लिए केवल यही एक अंग्रेजी स्कूल था। अतः उस समय इसमें प्रवेश प्राप्त करना बड़ा कठिन व्यापार था।

उस समय इस स्कूल के हेडमास्टर श्री तारा प्रसाद भट्टाचार्य थे जो शिक्षण तथा अनुशासन दोनों क्षेत्रों में बड़े ही निपुण व्यक्ति थे। ये कक्षा १० को अंग्रेजी तथा गणित पढ़ाते थे। ये बड़े ही अनुशासन-प्रिय व्यक्ति थे। समय का पालन वे बड़ी कठोरता से किया करते थे। दस का घण्टा बजते ही वे स्कूल में 'राउण्ड' लगाने के लिए निकल पड़ते और जिस अध्यापक की कक्षा खाली रहती उसकी बड़ी मुसीबत हो जाती थी। अतः इनसे छात्र ही नहीं, अध्यापक भी थरथर काँपा करते थे। बलिया में उन दिनों अंग्रेजी की केवल यही एक शिक्षा-संस्था थी। अतः इन दिनों के प्रधान बुद्धिजीवी विद्वान् इन ताराप्रसाद भट्टाचार्य के ही शिष्य हैं। ये अपने शिष्यों का बड़ा ध्यान रखते थे और सदा उनकी खोज-खबर लिया करते थे।

इस स्कूल में एक सहायक अध्यापक के अध्यापन का मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इनका नाम राजेन्द्रनाथ मैत्र था। उत्तर प्रदेश में सरकारी नौकरी में आने के पूर्व ये कलकत्ता से प्रकाशित सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पत्र "बंगाली" के सम्पादकीय मण्डल में थे। इसीलिए इनके हृदय में भारतीय राष्ट्र के प्रति प्रेम तथा इसे स्वतन्त्र करने की भावना पूर्णरूप से विद्यमान थी। भूगोल पढ़ाते समय वे अपने छात्रों को डाँट कर कहा करते थे कि तुम लोग अपने देश का भौगोलिक वृत्तान्त भले न जानो, परन्तु जिस देश (ब्रिटेन) के तुम लात खाते हो उस देश का तो भूगोल जानो। बलिया में चूँकि सत्तू खाने की अधिक प्रथा है, अतः वे कभी कभी छात्रों को 'सत्तू खोर' भी कह दिया करते थे। उनके हृदय में स्वदेश-प्रेम का अभिमान कूट कूटकर भरा हुआ था जिसका प्रत्यक्षीकरण उनके भूगोल तथा इतिहास की कक्षाओं में प्रत्यक्ष हो जाता था।

यह समय १९१४ ई० था जब यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा हुआ था। उन दिनों में बलिया जैसे पिछड़े क्षेत्र में कोई अच्छा अखबार आता नहीं था जिससे हम लोगों को युद्ध के कुछ समाचार मिल सके। परन्तु मैत्र महोदय कलकत्ता से "अमृत बाजार पत्रिका" मँगाया करते थे। इसे पढ़कर ये अपने छात्रों को भी सुनाया करते और विस्तारपूर्वक युद्ध की भीषण घटनाओं का वर्णन किया करते थे। इस प्रकार हम छात्र युद्ध की इस विभीषिका से पूर्णतया परिचित हो गये। उन दिनों में तारपिडा, सबमेरिन आदि विध्वंसक नवीन यन्त्रों का आविष्कार हुआ था जिनका सचित्र वर्णन मैत्र बाबू हम छाशों के सामने प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार बलिया जैसे पिछड़े क्षेत्र के संकुचित ज्ञानवाले हम छात्र लोगों का ज्ञान अत्यन्त विस्तृत हो गया। यह मैत्र महाशय के अध्यापन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

बलिया के विशिष्ट नागरिक

उन दिनों बलिया नगर के प्रमुख नागरिकों में पं० राधाकृष्ण आचारी (आचार्य) का नाम बहुत प्रसिद्ध था। ये भागवत कथा के बड़े ही सुन्दर वाचक थे और उनके कथावाचन की शैली बड़ी ही प्रभावोत्पादक थी जिसे सुनकर जनता मन्त्रमुग्ध हो जाती थी। इनकी कथा-शैली में नाटकीयता का पुट भी

था जिसका प्रयोग ये कथा के श्रोताओं को हृदयंगम कराने के लिए प्रायः किया करते थे। इन्होंने भागवत की कथा बांचकर प्रभूत यश ही नहीं कमाया, प्रत्युत प्रचुर धन भी अर्जित किया।

इनके ज्येष्ठ पुत्र पं० लक्ष्मीनारायणाचार्य बड़े ही विद्वान् तथा विशिष्ट व्यक्ति थे जिनका जनता तथा सरकार में समान रूप से आदर-सत्कार था। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने इन्हें 'रायबहादुर' की पदवी से विभूषित किया था तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट का भी पद प्रदान कर इनकी राजप्रियता को सम्मानित किया था; परन्तु ये जनता के भी प्रिय थे और सभी लोगों को सहायता पहुँचाया करते थे।

नगर के दूसरे महनीय व्यक्ति शासन तथा शासित दोनों के आदर पात्र, महामहोपाध्याय पं० शिवानन्द मिश्र तीव्र बुद्धि के धनी, आकर्षक व्यक्तित्व के आगार और प्रतिभा के साक्षात् विग्रह थे। राजनीति के दाँव-पेच को समझने में, किसी गुप्त रहस्य के उद्घाटन में तथा प्रबुद्ध बुद्धिजीविवर्ग को आकृष्ट करने में ये साक्षात् चाणक्य थे। तभी तो अपने बुद्धिवैभव से सन् १९०८ ई० में लोकमान्य तिलक की जेलयात्रा के अवसर पर शेरिया ग्राम के निवासी तथा स्कूल के छात्र बाबू जगन्नाथ सिंह—जो आगे चलकर लब्धप्रतिष्ठ स्वतन्त्रता-सेनानी हुए—के द्वारा गुप्तरूप से की गई राजनैतिक गतिविधियों का पता इन्होंने ही लगाया था। उस समय बलिया के कलक्टर ड्यूहर्स्ट साहब थे जिन्हें पं० शिवानन्द मिश्र ने हिन्दी का अध्यापन किया था। यह अंग्रेज अधिकारी इनकी विद्वत्ता से इतना प्रभावित था कि उसने शिक्षाविभाग के तत्कालीन डाइरेक्टर को पत्र में लिखा कि मुझे बड़ा दुःख है आजतक शिक्षाविभाग ने इस वरेण्य अध्यापक तथा विद्वान् का उचित मूल्यांकन ही नहीं किया। इन्हीं अधिकारियों की प्रसन्नता, मिश्रजी का बुद्धिकौशल तथा राजभक्ति का यह फल मिला कि मिश्र जी को सरकार ने महामहोपाध्याय की महनीय पदवी से विभूषित किया। पं० शिवानन्द मिश्र सभाचतुर तथा वचनपटु भी थे और अपनी वाणी से सबको प्रभावित कर लेते थे। बलिया के शिक्षाजगत् तथा राजनीति में ये ही लोग छाये हुए थे।

विश्वविद्यालय में प्रवेश

१९१६ ई० में मैंने इन्ट्रेन्स परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर काशी के सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में प्रवेश लेने का निश्चय किया। १९१६ ईस्वी की जुलाई में नवीन शैक्षणिक सत्र के आरम्भ होने पर सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में इन्टर क्लास में मैंने प्रवेश किया। इस कालेज की स्थापना १८९८ ई० में थियासोफिकल सोसायटी की अध्यक्ष डा० एनीबेसेन्ट ने हिन्दूत्व के हिमायती और भारतीयता के भव्य उपासक बाबू गोविन्ददास, बाबू भगवानदास, बाबू उपेन्द्रनाथ बसु आदि जैसे गण्यमान्य व्यक्तियों की सक्रिय सहायता तथा अदम्य उत्साह के बल पर इस कालेज की स्थापना की थी। उद्देश्य बड़ा ही सात्त्विक तथा राष्ट्रीय था। भारतीय युवकों को नवीन वैज्ञानिक शिक्षा के साथ प्राचीन धर्म-प्रधान शिक्षा प्रदान करना मुख्य लक्ष्य था। इधर महामना मालवीय जी के द्वारा प्रचारित शिक्षा पद्धति का भी

यह परम पावन लक्ष्य था। फलतः एनीबेसेन्ट की अध्यक्षता में हिन्दू स्कूल का पूरा प्रबन्ध मालवीय जी को सौंप दिया गया। १६१६ ई० के आसपास कालेज के हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में परिणत होने का संक्रमण काल था।

थिआसोफिकल सोसाइटी (ब्रह्मविद्या सभा) के अनुयायी अखिल भारतीय स्तर के विद्वानों ने इस कालेज को अपने राष्ट्रीय तथा धार्मिक विचारों के प्रचार के लिए उपयुक्त माध्यम बनाया। 'सादा जीवन और उच्च विचार' उनके जीवन का मोटो (आदर्श वाक्य) था। मद्रास तथा बम्बई में उच्च शिक्षा से सम्पन्न विद्वानों ने इस विद्यालय की सेवा में अपने जीवन को बड़े प्रेम तथा गाढ़ निष्ठा के द्वारा समर्पित कर दिया था। फलतः कालेज का शैक्षिणक वातावरण नितान्त उदात्त, पवित्र तथा सात्त्विक था। इन विद्वानों को पद की कोई लिप्सा नहीं थी। लिप्सा थी तो छात्रों के नैतिक स्तर के उत्थान की, धार्मिक शिक्षण के प्रचार की तथा राष्ट्रीय भावना के प्रसार की। प्रो० ऊनवाला अपने जीवन के अन्तिम वर्षों को शान्त धार्मिक वातावरण में बिताने के लिए ही बम्बई से काशी आये थे। वे १८ देशी तथा विदेशी भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे। कक्षा में वे साहित्य तथा दर्शन पढ़ाने के साथ ही साथ अपने निर्मल दीर्घकालीन अनुभव को संपुटित कर ऐसा सुन्दर व्याख्यान देते थे कि छात्रों की बुद्धि विकसित तथा चित्त प्रफुल्ल हो उठता था। यही दशा थी तैलंग साहब की कक्षा की। श्री पाण्डुरंग काशीनाथ तैलंग (पी० के० तैलंग) बम्बई हाइकोर्ट के न्यायमूर्ति श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग के ज्येष्ठ आत्मज थे। दोनों जन पिता-पुत्र ब्रह्मविद्या समिति के सच्चे अनुयायी थे। पी० के० तैलंग भारतीय इतिहास का अध्यापन करते थे, परन्तु वह व्याख्यान इतना पाण्डित्यपूर्ण एवं शोधबहुल होता था कि पूरे विश्व के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में भारतीय इतिहास का स्वरूप खिल उठता था। डा० तारापुरवाला ने जर्मनी में संस्कृत तथा अवेस्ता का गम्भीर अनुशीलन किया था। वे यहाँ हिन्दू स्कूल के हेडमास्टर थे, परन्तु वे उच्च कक्षा के छात्रों को संस्कृत पढ़ाया करते थे। आगे चलकर ये कलकत्ता विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान विभाग के अध्यक्ष बनाये गये और उनका ग्रन्थ 'साइन्स आफ लैंग्वेज़' अपने विषय का नितान्त प्रामाणिक एवं उपादेय ग्रन्थ है। डा० रिचर्डसन रसायन विज्ञान के मर्मज्ञ विद्वान् थे जो छात्रों को रसायन विज्ञान पढ़ाते थे। हिन्दू धर्म में उनकी इतनी निष्ठा थी कि काशी में निधन होने पर उनका शरीर दग्ध किया गया था। ऐसी उनकी इच्छा थी। ये विद्वान् कालेज के गौरव थे जिनके नाम तथा यश की कथा पूरे प्रान्त क्या, पूरे भारतवर्ष में स्वतः प्रसृत हो गई थी।

मेरे प्रवेश के पूर्व ही प्रो० ऊनवाला, डा० रिचर्डसन दोनों का निधन हो गया था। तैलंग साहब तथा तारापुरवाला अध्यापन करते अवश्य थे, परन्तु विषय की भिन्नता के कारण मुझे इनसे साक्षात् पढ़ने का सुयोग नहीं मिला। कक्षा के बाहर दिये गये व्याख्यानों को सुनने तथा मनन करने से लाभान्वित होने का मुझे अवसर अवश्य मिला। और इसके लिए मैं इनका कृतज्ञ हूँ।

मेरे प्रवेशकाल में यह विद्यालय हिन्दू विश्व विद्यालय के अन्तर्गत समाविष्ट हो चुका था। चार सालों तक तो यह कालेज कमच्छा मुहल्ले में ही था। १९२१ ई० जुलाई के सत्र में यह कालेज नगवा में नवनिर्मित मकानों में आ गया जहाँ जा कर मैंने उच्च शिक्षा का विधिवत् समापन किया।

हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापक

महामना मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रशासन एवं अध्यापन के लिए पूरे भारतवर्ष से चुन चुनकर विद्वानों को यहाँ बड़े उत्साह एवं सम्मान के साथ एकत्र किया था। इस युग में योग्य विद्वानों का जो जमघट यहाँ देखने में आया, वैसा फिर यहाँ दिखाई नहीं पड़ा। महामना के द्वारा चुने गये विद्वान् अपने अपने विषय के लब्धप्रतिष्ठ, अखिल भारतीय कीर्ति से मण्डित तथा शिक्षाक्षेत्र के वरिष्ठ व्यक्ति माने जाते थे। कतिपय प्रख्यात विद्वज्जनों का नाम निदश करना विषय की पूर्णता के लिए समुचित प्रतीत होता है।

डा० गणेश प्रसाद—गणित विभाग के अध्यक्ष होने के साथ ही साथ हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आर्ट्स कालेज के प्रिन्सिपल भी थे। समय के इतने पाबन्द थे कि उनको देखकर अनेक लोग अपनी घड़ी ठीक किया करते थे। हिन्दू विश्वविद्यालय के नियम एवं अधिनियम उनकी जिह्वा पर नाचा करते थे। फलतः कार्यकारिणी द्वारा पारित प्रस्ताव के औचित्य के वे ही अन्तिम कसौटी थे।

प्रो० पुण्डि शेषाद्रि (पी० शेषाद्रि) अंग्रेजी भाषा के प्रौढ़ विद्वान्, अंग्रेजी भाषा में वावदूक एवं सहानुभूतिपूर्ण अध्यापक थे। वे रामानुजी थे। फलतः उनका ललाट रक्तवर्ण के 'श्री' चिन्ह से विभूषित रहता था। पाश्चात्य साहित्य एवं समीक्षाशास्त्र के वे मार्मिक वेत्ता थे। कक्षा में अध्यापन काल में वे पठनीय विषय को समझाने के लिए नाना स्थलों से समुचित कथा-कहानियाँ सुनाया करते थे। उनकी तुलनात्मक अनुशीलन की शैली से उपकृत होने वाले छात्रों में लेखक भी अपने को अन्यतम मानता है।

प्रो० श्रीकृष्ण पुणताम्बेकर साहब यूरोप तथा भारत के इतिहास के प्राचार्य थे। इतिहास की शिक्षा दीक्षा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में इन्होंने इंगलैण्ड के गण्यमान इतिहासज्ञों से प्राप्त की थी। प्राचीन भारत तथा यूरोप के इतिहास, तथा राजनीतिशास्त्र के वे विज्ञ अध्यापक थे। भारतीय नागरिक शास्त्र (सिविक्स) का नवीन पाठ्य विषय इन्होंने ही आरम्भ किया था और इसके लिए समुचित ग्रन्थों का भी प्रणयन कर विषय को प्रतिष्ठित किया।

डा० अनन्त सदाशिव अलटेकर (ए० एस० अलटेकर) प्राचीन भारत के राजनीति, सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास के लब्धख्याति प्राध्यापक थे। इन्डोलाजी, मुद्राशास्त्र आदि के मर्मज्ञाता के रूप में उनकी ख्याति खूब थी। यहाँ से वे पटना विश्वविद्यालय में गये थे जहाँ इस नये विषय का संचालन तथा प्रचारण बड़ी योग्यता से किया था।

उन दिनों में (१६१६ ई० में) विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम हिन्दीभाषा का चञ्चु प्रवेश एक प्रश्न-पत्र में निबन्ध के रूप में हुआ था। इस प्रश्न पत्र को पढ़ाने के लिए लाला भगवानदीन की नियुक्ति हुई थी। लाला जी हिन्दी के परम प्रवीण पारखी थे। हिन्दी में गोस्वामी जी का रामचरितमानस और बिहारी की सतसई दो प्रधान काव्यग्रन्थ माने जाते हैं जिनमें अवधी में रचित मानस भारतीय आध्यात्मिक उपदेशों तथा शास्त्रीय तत्त्वों का सद्य: प्रकाशक है तथा ब्रजभाषा में निर्मित बिहारी-सतसई उत्कृष्ट शृंगाररस का काव्यग्रन्थ माना जाता है। लालाजी इनके मर्मज्ञ आलोचक माने जाते थे। इनकी सूझ-बूझ भी बड़ी गहरी थी और कविता के मर्मस्थल में पैठने में इन्होंने अद्भुत क्षमता प्राप्त की थी। अत: इनका अध्यापन बड़ा ही सरस तथा सुन्दर होता था।

इसके कुछ वर्षों के पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल की नियुक्ति इसी विषय के अध्यापन के लिए हुई। शुक्ल जी की विद्वत्ता अगाध थी। विशेषकर आलोचना के क्षेत्र में ये अद्वितीय पण्डित थे। परन्तु कालेज की आरम्भिक कक्षाओं में अध्यापन में ये विशेष रूप से सफल नहीं थे। इनकी कक्षा में वह जिन्दादिली तथा सरसता नहीं पायी जाती थी जो लाला जी की कक्षा में थी। शुक्ल जी का अध्यापन एम० ए० कक्षा के छात्रों में बड़ा ही ओजस्वी तथा सारगर्भित होता था। आगे चलकर शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास, जायसी ग्रन्थावली आदि मानक ग्रन्थों का लेखन तथा सम्पादन किया जिससे इनकी विद्वत्ता का सिक्का हिन्दी संसार में जम गया। हिन्दी आलोचना को जन्म देने तथा उसे प्रतिष्ठापित करने का श्रेय शुक्ल जी को ही प्राप्त है।

हिन्दू विश्वविद्यालय में स्वतंत्र रूप से हिन्दी विभाग को स्थापित करने का श्रेय बाबू श्यामसुन्दर दास को प्राप्त है। अपनी छात्रावस्था में ही नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना कर इन्होंने अपने हिन्दी अनुराग का पूर्ण परिचय दिया था। अध्यापन के अतिरिक्त इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये हिन्दी के नवीन लेखकों को बहुत प्रोत्साहित किया करते थे। इन्होंने हिन्दी की हस्तलिखित प्रतियों का विवरण खोज-रिपोर्टों में प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य के विस्तृत क्षेत्र का प्रथम परिचय प्रदान किया। 'हिन्दी शब्दसागर' का सम्पादन तथा प्रकाशन कर इन्होंने हिन्दी को अन्य समृद्ध भाषाओं के स्तर पर प्रतिष्ठापित किया। हिन्दू विश्व-विद्यालय में आने के पूर्व ये लखनऊ में एक स्कूल के हेडमास्टर भी रह चुके थे। अत: इनमें अध्यापन के साथ ही अनुशासन का भी गुण विशेष रूप में विद्यमान था। उस समय उच्च श्रेणी के छात्रों के लिए पाठ्य ग्रंथों का नितान्त अभाव था। बाबू साहब ने आवश्यक नये विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन कर हिन्दी के भण्डार की भी वृद्धि की। इन्हीं ग्रन्थों के सहारे साहित्य के नये विषयों का हिन्दी में प्रचार-प्रसार हुआ।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल स्वभाव से ही विनोदी प्रकृति के व्यक्ति थे और इस बात में वे बाबू श्यामसुन्दरदास से नितान्त भिन्न ठहरते थे। सब रसों में हास्य-रस का उन्मीलन प्रयत्नसाध्य न होकर जन्मसाध्य होता है। अन्य रस की उद्भावना प्रयत्न से साध्य हो सकती है, परन्तु हास्य की नहीं। हास्य रस का उन्मीलन-कर्ता कवि जन्मना होता है, कर्मणा नहीं। शुक्ल जी नितान्त गम्भीर व्यक्ति दीख पड़ते थे और अन्तःकरण से थे भी वे वैसे ही, परन्तु अपनी गम्भीरता के भीतर से वे ऐसा रिमार्क कर देते थे जिससे श्रोतागण हँसी से लोट-पोट हो जायँ, परन्तु क्या मजाल कि उनके अधर पर स्मित की एक फीकी रेखा भी उभर सके। एक बार शुक्ल जी और लेखक दोनों ही वेतन लेने के लिए खजानची के पास गये, तब उसने बताया कि खजाने से रुपैया आने में अभी देरी है, आप लोग दुबारा आइये। इस पर मैंने ही कहा कि हम लोग अपनी कक्षा छोड़ कर आये हैं। वेतन लेकर ही लौटेंगे। हम लोग यहाँ से टलने वाले नहीं हैं और दाग़ का यह शेर भी हमरे अपने कथन की पुष्टि में कह सुनाया—

हजरते दाग जहाँ बैठ गये बैठ गये।
और होंगे कोई तेरी महफिल से उभरने वाले ॥

शेर सुनते ही शुक्ल जी तपाक से बोल उठे—उपाध्याय जी, दाग साहब को किसी अच्छे धोबी से काम नहीं पड़ा था, नहीं तो वह नये निकाले गये वैज्ञानिक रोगन की सहायता से दाग को उड़ा दिये रहता। उनका रिमार्क इतना उपयुक्त था कि सब लोग हँसने लगे।

हमलोग—बटुक नाथ शर्मा, शुक्ल जी महाराज और लेखक—सवारी न मिलने पर साथ ही साथ कालेज से पैदल ही लौटते थे। संकटमोचन जी के कुएँ पर जलपान कर दुर्गाजी आते थे। वहाँ से हम लोग साथ ही इक्के पर चढ़ते थे और शुक्ल जी को गुरुधाम के सामने सड़क पर उतार कर सीधे चौक चले जाते थे। रास्ते में साहित्यचर्चा होती रहती थी। शुक्ल जी ने मेरे गुरुवर रामावतार जी की एक मनोरंजक घटना सुनाई थी। नागरी प्रचारिणी सभा में व्याख्यान देकर पं० रामावतार जी शुक्ल जी के साथ ही लौट रहे थे। उस समय वे दोनों विद्वान् आस-पास ही सोसाइटी के पास रहते थे। चौक पहुँच कर शुक्ल जी ने पूछा कि अब किस रास्ते चला जाय ? पण्डित जी ने कहा—आइये, इसी गन्धर्ववीथिका से हम लोग निकल चलें। शुक्ल जी ने जरा सोच में पड़ कर पूछा कि आखिर, वह वीथिका है किधर ? शर्मा जी ने दाल की मण्डी की ओर इशारा करते हुए कहा—यही तो वह वीथिका है। शुक्ल जी कहते थे कि यह सुनकर चित्त प्रसन्न हो गया और सोचने लगा कि सचमुच इस मण्डी का गन्धर्ववीथिका से बढ़कर अधिक सार्थक नाम कोई हो ही क्या सकता है ? और शर्मा जी के नामकरण की प्रशंसा करने लगे।

एक बार शुक्ल जी ने कहा था कि वे मिर्जापुर के ही किसी स्कूल में पढ़ाते थे। मिर्जापुर के ही प्रसिद्ध साहित्यसेवी 'प्रेमघनजी' उनके पिता से मिलने के लिए आये। आते ही देखा कि एक लड़का एक आँख पर पट्टी बाँधे बैठा हुआ है। पूछा क्या है ? शुक्ल जी ने कहा कि मेरा अनुज है। इसकी आँख उठी है। अतः पट्टी बाँधी है। प्रेमघन जी ने तुरन्त कहा—"भाई, यह संसार भी क्या विचित्र है। यहाँ किसी का आना अच्छा होता है, तो किसी का जाना। किसी का उठना अच्छा होता है, तो किसी का बैठना। लेकिन बुरा हो इस निगोड़ी आँख का, न इसका आना अच्छा, न जाना अच्छा। न उठना अच्छा, न बैठना अच्छा।" शुक्ल जी की इस पर टिप्पणी थी कि प्रेमघन जी ने एक ही वाक्य में आँख से सम्बद्ध एक नहीं चार महावरों का इतनी खूबी के साथ प्रयोग किया कि सुनकर चित्त लोट-पोट हो गया।

संस्कृत विभाग के अध्यापक

मेरे जीवन के अभ्युदय में, अध्ययन की समृद्धि में एवं व्यक्तित्व के सार्वत्रिक विकास में मेरे पूज्यपाद पितृव्यचरण पण्डित रामउदित उपाध्याय का विशेष प्रभाव पड़ा। वे व्याकरण एवं साहित्य के पारंगत विद्वान् होने के अतिरिक्त लोक-व्यवहार के निर्वाह में श्लाघनीय योग्यता रखते थे। तभी तो उनकी देख-रेख में बलिया नगर में स्थापित साधारण 'जुबिली संस्कृत पाठशाला' उन्नति के सोपान पर चढ़ते-चढ़ते महनीय महाविद्यालय के रूप में परिणत हो गयी। संस्कृत भाषा के ये ही मेरे आद्य गुरु हैं जिन्होंने मुझे व्याकरण एवं साहित्य का विधिवत् अध्यापन कर इन शास्त्रों में मेरी बुद्धि का विकास सम्पन्न किया। सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में मेरे प्रविष्ट होने में उन्हीं का सहयोग सर्वथा जागरूक रहा। मेरे पिताजी के अल्पायु में ही दिवंगत होनेपर वे ही कुटुम्ब के भरण-पोषण करने वाले कर्ता पुरुष भी थे। मेरे ऊपर उनका इतना विशाल ऋण है कि जिससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। मेरे एक दूसरे पितृव्य पण्डित रमानाथ उपाध्याय जी ने मुझे छात्रावस्था में अंग्रेजी तथा गणित का अध्यापन कर मुझे इन विषयों में अधिक अभिरुचि उत्पन्न की। वे इस समय सौ वर्ष के हो गये हैं और आज भी मेरे योगक्षेम के लिए आशीर्वाद देते रहते हैं। इन्हीं गुरुजनों का आशीर्वाद अध्यापन के संग में मेरे सार्वभौम बौद्धिक विकास का प्रधान साधन बना—यह कहते हुये मुझे परम हर्ष हो रहा है। अपने पितृव्यचरण के उद्योग से ही मैं सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में प्रवेश पा सका।

हिन्दू कालेज के संस्कृत विभाग में (१९१६ ई०—१९२० ई०) संस्कृत के दो ही अध्यापक थे—पण्डित नीलकमल भट्टाचार्य तथा पण्डित गुरुप्रसन्न भट्टाचार्य (गुरुबाबू)। पहिले सज्जन संस्कृत व्याकरण के बड़े ही मार्मिक अध्यापक थे तथा दूसरे सज्जन साहित्य शास्त्र के रसिक शिक्षक थे। दोनों एक दूसरे के पूरक

थे। नीलकमल बाबू काशी के ही थे और डा० वेनिस से संस्कृत का शिक्षण प्राप्त कर एम० ए० हुए थे। गुरु बाबू ढाका के निवासी थे और संस्कृत के मर्मज्ञ, साहित्य एवं प्राचीन इतिहास के प्रौढ़ पण्डित महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के पट्ट शिष्य थे और कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० उपाधि प्राप्त की थी। बी० ए० कक्षा तक तो मैं इन्हीं का छात्र था। एम० ए० कक्षा में महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा एवं आचार्य आनन्द शंकर ध्रुव से मैंने कालेज में शिक्षा प्राप्त की और महामहोपाध्याय पद्मविभूषण पं० गोपीनाथ कविराज से कालेज से बाहर दर्शन का अध्ययन किया। जीवन के शैक्षणिक उत्थान में, शोध की नयी दिशा प्रदान करने में एवं संस्कृत साहित्य के नाना विषयों में सार्वभौम अभिरुचि उत्पन्न में मैं इस 'आचार्यत्रयी' का सर्वदा कृतज्ञ रहूँगा। पण्डित रामावतार जी अलौकिक प्रतिभा के धनी मनीषी थे। आचार्य ध्रुव जी संस्कृत शास्त्रों के पाश्चात्य विद्याओं के साथ गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन के मर्मज्ञ विद्वान् थे। कविराजजी में एक ही स्तर पर भारतीय धर्म तथा दर्शन के संग में पश्चिमी धर्म एवं तर्क की तुलनात्मक समालोचना का अपूर्व वैदुष्य विराजता था। तन्त्रशास्त्र के तो वे प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ ही साथ अध्यात्म-साधना के विचारशील साधक भी थे। इन तीनों गुरुजनों के वैदुष्यपूर्ण अध्यापन की, सात्त्विक आचरण की एवं अन्तः प्रविष्ट होकर ग्रन्थ-निर्माण की कला सीख कर मैंने उसे अपने जीवन में उतारने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

अध्यापकों की अध्यापन-शैली : एक विवेचन

मुझे संस्कृत के बड़े ही धुरन्धर तथा अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न इन तीन दिग्गज विद्वानों से पढ़ने का तथा उनके गम्भीर व्याख्यानों को मनोयोग से सुनने-समझने का सुयोग प्राप्त हुआ है। अतएव मैं अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर उनकी अध्यापन शैली की विशिष्टता का निरूपण संक्षेप में यहाँ करना चाहूँगा। ये तीनों ही कुछ समय तक एक साथ काशी में निवास करते थे तथा हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे। पूर्व-निर्दिष्ट ये तीनों थे—(१) महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा (२) आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव तथा (३) महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज। इन तीनों की संस्कृत-वैदुषी अनेक दृष्टियों से विभिन्न एवं विलक्षण थी। अध्ययनशैली की विभिन्नता के कारण इनकी अध्यापन-शैली में विभेद होना अनिवार्य था।

इन तीनों विद्वानों में पण्डित रामावतार शर्मा जी विलक्षण प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे—उस प्रतिभा के, जिसके विषय में शास्त्र का विश्रुत वचन है—

'प्रज्ञा नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा मता।'

जो नव-नव उन्मेष रखने वाली प्रज्ञा की ही अपर संज्ञा है। नया-से-नया ग्रन्थ क्यों न हो? वे उसका अध्यापन पूर्व-चिन्तन तथा मनन के बिना ही किया करते

थे। 'व्यक्ति-विवेक' का इसी समय १६२० ई० के आस-पास अनन्त-शयन-ग्रन्थावली में प्रथम बार प्रकाशन हुआ था। पटियाले के निवासी साहित्यकार माधव शास्त्री नामक एक सुयोग्य छात्र को पण्डित जी समयाभाव के कारण प्रातःकाल टहलने के समय ही पढ़ाते थे। कश्मीर के मर्मज्ञ साहित्यवेत्ता महिम भट्ट ने इस दुरूह ग्रन्थ में ध्वन्यालोक के तथ्यों का बड़ी नृशंसता से खण्डन किया है। रामावतार जी ध्वन्यालोक के सिद्धान्तों को प्रथमतः बतला कर 'व्यक्तिविवेक' की आलोचना समझाते थे। इतना ही नहीं, महिमभट्ट के कथन का वे स्वयं खण्डन कर आनन्द-वर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का मण्डन भी करते जाते थे। इसी प्रकार उन्होंने पूरे ग्रन्थ का गम्भीर अध्यापन इसी शैली से किया। खण्डनात्मक प्राचीन ग्रन्थ पूर्ण-चिन्तन-मनन की अपेक्षा रखता था, परन्तु शर्मा जी को इसकी आवश्यकता ही नहीं थी। एक बार सुनते ही समग्र खण्डन-प्रक्रिया सामने खड़ी हो जाती थी। हम लोगों को ऋग्वेद का अध्यापन भी इसी शैली में करते थे। पूरा मंत्र छात्रों से सुनकर उसका प्रथमतः सारांश बताना, तदनन्तर एक-एक शब्द को लेकर उसके अर्थ का विवेचन करना उनकी शैली की विशिष्टता थी। तदनन्तर सायण के भाष्य को सुन कर यदि उनकी अरुचि होती थी, तो उसे भी वे बतलाते थे। फलतः शास्त्र के अन्तराल में पैठने की उनकी सूझ इतनी अपूर्व थी कि अपनी विशदता तथा उर्वरता के कारण वह छात्रों के हृदय में सद्यः प्रवेश कर जाती थी। जिस ग्रन्थ के सिद्धान्त पर उनकी आस्था थी, तथा तर्क-वितर्क की कसौटी पर कसने से जो प्रामाणिक उतरता था उसे ही पढ़ाते थे, अन्य को नहीं। तभी तो प्रिन्सिपल ध्रुव जी द्वारा श्रीभाष्य को पढ़ाने के लिए आग्रह करने पर भी उन्होंने उसे कभी नहीं पढ़ाया, क्योंकि उनकी दृष्टि में उसके सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत नहीं होते थे। शारीरक भाष्य को ही वे एम० ए० की कक्षा में पढ़ाते थे। ग्रन्थों की आनुपूर्वी उनकी जिह्वा पर जो नाचती थी।

आचार्य ध्रुव जी की अध्यापन शैली इससे भिन्न ही थी। वे आधुनिक पाश्चात्य शैली से शिक्षित विद्वान् के समान उस तथ्य के विषय में विद्वानों की टीका-टिप्पणी को प्रथमतः बतलाते थे। तदनन्तर उनकी आलोचना कर विरुद्ध अंश को त्याज्य बतला कर अपना व्यक्तिगत मत प्रकट करते थे। बी० ए० में शतपथ ब्राह्मण का 'मनोरथसर्पण' वाला अंश पाठ्यक्रम में था जिसे पढ़ाते समय ध्रुव जी पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की व्याख्या का प्रथमतः उल्लेख करते, अनन्तर उसकी आलोचना करते और अन्त में अपना निःसृष्टार्थ मत बतलाते थे। वे तुलनात्मक शैली के पुरस्कर्त्ता थे सब विषयों के अध्यापन में। साहित्य-शास्त्र का अध्यापन तब तक पूरा नहीं होता था, जब तक 'वर्सफोर्ड' के 'प्रिन्सिपुल्स आफ क्रिटिसिज्म' तथा अरस्तू का 'पोइटिक्स' में व्याख्यात तत्तत् सिद्धान्तों का परिचय तथा तुलना वे कक्षा में पूरी तरह बता नहीं देते थे। पाश्चात्यों के 'ड्रेमेटिक लाइन्स' का दशरूपक की 'पञ्चसन्धि' के साथ बिना तुलना किये उनका अध्यापन पूर्ण नहीं होता था।

फलतः उनके द्वारा व्याख्यात 'काव्य-प्रकाश' का काव्य-लक्षण एक सीमित पौरस्त्य सिद्धान्त न होकर एक विश्वजनीन सिद्धान्त के रूप में उभर जाता था। क्यों न हो ? वे गंभीर 'तुलनात्मक आलोचना' के एक प्रवीण पारखी मनस्वी जो थे।

पण्डित-प्रवर गोपीनाथ कविराज जी की अध्यापन-शैली अपने में विलक्षणता लिये हुये थी। धर्म तथा दर्शन का वे पृथक्-पृथक् अध्यापन नहीं करते थे। धर्म व्यवहार-पक्ष को अग्रसर करता है, तो दर्शन सिद्धान्त-पक्ष की आलोचना का पक्षपाती होता है। ऐसी मान्यता रखने वाले कविराज जी, शास्त्र के अन्तस्तल में प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। 'तुलनात्मक धर्मविज्ञान' के पुरस्कर्ता विद्वानों में वे अग्रगण्य थे। विश्व के धार्मिक सम्प्रदायों को वे असंपृक्त, बन्द कमरों में विभक्त होकर पृथक् सत्ताशील स्वीकार नहीं करते थे। प्रत्युत एक ही महत्तम धर्म-कल्पतरु की उन्हें विभिन्न शाखाएँ एवं टहनियाँ मानते थे। फलतः किसी धार्मिक तत्त्व की विवेचना में समग्र सम्प्रदायों के दृष्टिकोण को सामने रख कर वे व्याख्या करते थे। 'तन्त्र' धर्म-कल्पद्रुम का सारतम भाग उपस्थित करता है। वे इस तन्त्र के माने-जाने मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनके व्याख्यान देने की शैली तुलनात्मक तथा सरल सुबोध थी। उसे सुनकर दुरूह तथ्यों की अवगति अनायासेन हो जाती थी। परन्तु उनका उसी विषय का प्रतिपादक लेख बड़ा ही ठोस, कसावदार तथा नितान्त तथ्य-संवलित होता था जिसे समझने के लिये पुनः-पुनः मनन की अपेक्षा होती थी। कहा जा सकता है कि कविराज जी का लेख सूत्र-शैली में निबद्ध होने से दुरूह हो जाता था, परन्तु उनका व्याख्यान भाष्यशैली में होने से बड़ा ही आकर्षक एवं रोचक होता था जो लौकिक दृष्टान्तों के सहारे हृदय में सद्यः प्रवेश कर जाता था। कविराज जी की किसी भी ग्रन्थ का पंक्तिशः अध्यापन नहीं कर सकते थे। सिद्धान्त के प्रति अत्यधिक आग्रह होने से वे किसी ग्रन्थपंक्ति के भीतर अपने को बाँध नहीं सकते थे।

मेरी दृष्टि में ये तीनों दिग्गज विद्वान् अपनी-अपनी दिशा में अलौकिक थे। दुरूह विषय को सुबोध बनाने में इन तीनों का अध्यापन-वैदुष्य अप्रतिम था।

हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक

१९२२ ई० को २७ जुलाई—मेरे जीवन में एक स्मरणीय तिथि रही है क्योंकि उसी दिन प्रथम श्रेणी में एम० ए० पासकर प्रथम स्थान प्राप्त करने का मुझे श्रेय प्राप्त हुआ और अपनी मातृसंस्था हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में नियुक्त होने का भी सौभाग्य मुझे उपलब्ध हुआ। तब से लेकर लगातार ३८ वर्षों तक विश्वविद्यालय की अटूट सेवा करने का मुझे गौरव प्राप्त हुआ और ३१ मार्च १९६० ई० में मैं इस सेवा से आदर के साथ निवृत्त हुआ। शिक्षा कार्य के ही लिए काशी के बाहर जाने के अनेक अवसर मुझे प्राप्त हुये, परन्तु काशी की ममता, विश्वविद्यालय का शान्त शैक्षणिक वातावरण एवं ग्रन्थनिर्माण की आवश्यक

सुलभता—इन कारणों से मैं कभी अपने स्थान को छोड़ने के लिए उद्यत नहीं हुआ। उस युग के सहयोगियों में पण्डित नीलकमल भट्टाचार्य एवं पण्डित बटुक नाथ शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। हमारी ही त्रिमूर्ति, आचार्य ध्रुवजी के साथ मिल कर पूरे संस्कृत विभाग का शैक्षणिक कार्य इतने लगन से संभालती थी कि विभाग की ख्याति चारों ओर फैलने लगी और दूर-दूर से छात्र संस्कृत पढ़ने आते थे, विद्या सीखते थे और कृतमनोरथ होकर सुयोग्य विद्वान् के रूप में अपने देश लौटते थे। उत्तर भारत के विभिन्न प्रान्तों के छात्रों के साथ कश्मीर और केरल, आन्ध्र तथा तमिलनाडू के भी छात्रों की संख्या अंगुलिगणनीय नहीं होती थी। हम लोग एकजुट होकर पढ़ाते थे और एम० ए० कक्षा के अन्तिम वर्ष में साहित्य शास्त्र, वेद, न्याय-वैशेषिक एवं वेदान्त की कक्षायें सामान्यत: प्रतिवर्ष चला करती थीं। मेरे जीवन का यही सबसे अभिराम तथा सौख्यपूर्ण समय था, जब अध्यापन के संग में उन विषयों के ग्रन्थों का प्रणयन भी करता था।

१६३५ ई०—१६४५ ई० के कालखण्ड में मुझे अनेक वरेण्य पण्डितों के सम्पर्क में आने का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ। बात यह थी कि महाराष्ट्र के विद्वान् पण्डित परशुराम पाटणकर जी को, पर्वतीय विद्वान् पण्डित हरिराम पाण्डेय जी को एवं पण्डित श्रीकृष्ण जोशी जी को उन दिनों कालेज के छात्रों को धर्म की शिक्षा देने के लिए मालवीय जी ने बड़े आग्रह से बुला कर विश्वविद्यालय में नियुक्त किया था। ये तीनों ही विद्वान् धर्म के सिद्धान्त पक्ष के ज्ञाता होने के साथ ही साथ व्यवहार पक्ष के भी पूर्ण मर्मज्ञ एवं दृढ़ निष्ठावान् साधक थे। ये तीनों ही संस्कृत के ही विभागीय कमरे में बैठते थे। अत: इनसे वार्तालाप करने का सुयोग मुझे नियत रूप से प्राप्त होता था। ये तीनों सज्जन वृद्ध थे, और अपने नियमित कार्यों का उपराम कर धार्मिक शिक्षण के लिए समर्पित जीवन बिता रहे थे। फलत: वे जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों के पूर्ण ज्ञाता थे और अपने अनुभव की बातें सुना कर हम लोगों को लाभान्वित किया करते थे।

पण्डित पाटणकर जी कभी सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के आरम्भिक दिनों में संस्कृत के प्रवक्ता थे। फिर यह पद छोड़कर इन्दौर और उज्जैन के भी कालेजों में संस्कृत पढ़ाते थे। ये पूना में उस युग के सर्वश्रेष्ठ संस्कृतज्ञ डा० रामकृष्ण भंडारकर के पट्ट शिष्यों में अन्यतम थे। भंडारकरजी पाठन शैली के विषय में ये बतलाते थे कि वे कक्षा में पाठ्य ग्रन्थ की मुद्रित पुस्तक के स्थान पर अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ एक साथ लाया करते थे। उन प्रतियों में निर्दिष्ट पाठों को मिलाया करते थे और उनमें से जो सबसे अधिक युक्ति-युक्त पाठ मिलता था उसको आदर देने की शिक्षा देते थे। उस समय वे भवभूति के 'मालतीमाधव' का संस्करण तैयार कर रहे थे। प्रतियों में उपलब्ध विभिन्न पाठों के अर्थ का तारतम्य बतलाते थे और प्रकरण से पुष्ट पाठ को ही रखते थे। इस शिक्षा से छात्रों में हस्तलेखों के पढ़ने, समझने तथा मिलाकर पाठनिर्धारण की क्षमता उत्पन्न हो जाती थी। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

के वे पड़ोसी थे और पास ही रहते थे। उनके अनेक श्रद्धेय संस्मरण सुनाते थे। कहते थे कि तिलक जी छात्रावस्था से ही पढ़ने में विशेष तीव्र एवं निर्भीक छात्र थे। उनके गुरुजनों में प्रो० छत्रे गणितके बड़े ही सुयोग्य अध्यापक थे, परन्तु अंग्रेज अध्यापकों की तुलना में उनकी उपेक्षा छात्रों को विशेष खलती थी। एक बार श्याम पट्ट पर सवाल हल करते करते अंग्रेज अध्यापक विषय की विषमता के कारण आगे नहीं बढ़ सका। आधा हल करके उसने दूसरे दिन उसे पूरा करने का आश्वासन देकर कक्षा को बन्द कर दिया। अध्यापक के चले जाने पर तिलकजी ने साथियों को रोक रखा और उन्होंने वह सवाल स्वयं हल कर दिया, परन्तु उसके अन्त में अपना नाम न देकर 'ए स्टयूडेन्ट आफ प्रोफेसर छत्रे' (प्रो० छत्रे का छात्र) लिख देना ही उचित समझा। श्यामपट्ट उलट दिया गया। दूसरे दिन अंग्रेज अध्यापक सवाल का उचित समाधान देखकर पहिले तो बड़ा प्रसन्न हुआ परन्तु अन्त में निर्दिष्ट संकेत से वह जलभुन गया। पूछने पर तिलक जी ने अपना नाम निर्भीकता से बतलाया। इस धृष्टता के लिए तिलक जी को कालेज ही छोड़ना पड़ा। वे गणित में एम० ए० नहीं हो सके जो उनके जीवन की महनीय आकांक्षा थी। उनके संस्मरण बड़े ही मार्मिक तथा उपदेशप्रद होते थे।

पण्डित हरिराम पाण्डेय जी महामना मालवीय जी के म्यूरसेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद में सतीर्थ्य थे। पीछे वकालत पासकर अलमोड़ा में वकालत करने लगे थे। वृद्ध होने पर महामना ने उन्हें आग्रहपूर्वक काशी आने और विश्वविद्यालय के धर्म विभाग सँभालने के लिए बुलाया। वे अवैतनिक रूप से अध्यापन करते थे। बड़े निर्मल आचरण के व्यक्ति थे। इन्होंने उपयोगी पाठ्य ग्रंथ भी प्रकाशित किया जिसमें धर्मशास्त्र तथा दर्शन ग्रंथों से बड़े परिश्रम और छानबीन से धर्म के मूल सिद्धान्त एकत्र किये गये थे। इन्हीं को आधार मानकर धार्मिक व्याख्यान दिये जाते थे। उन्होंने 'सप्तसिन्धु' के वैदिक काल में प्रख्यात सातों नदियों को खोज खोज कर स्नान तथा तर्पण किया था जिसका रोचक वर्णन वे विस्तार से सुनाया करते थे।

पण्डित श्रीकृष्ण जोशी—पाटणकर जी के सेवानिर्मुक्त होने के बाद नियुक्त हुये थे। नाना तर्क-वितर्क में नितान्त निपुण अच्छे वकील थे, परन्तु साथ ही साथ संस्कृत के व्युत्पन्न विद्वान् भी थे। काशी में कुछ वर्षों तक धर्म का अध्यापन करते रहे और पाश्चात्य दार्शनिकों के मतों के निर्देशक ग्रन्थ की संस्कृत में रचना की जो चौखम्भा कार्यालय (वाराणसी) से प्रकाशित है।

पण्डित बटुकनाथ शर्मा

पण्डित बटुकनाथ जी मेरे घनिष्ठ सुहृद थे। वे बालब्रह्मचारी होने के नाते गृहस्थी के झंझटों से अपने को दूर रखते थे, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर संकट की स्थिति में वे हमारे जैसे गृहस्थ मित्रों को सामयिक समुचित उपदेश देने से कभी नहीं चूकते थे। बाल्यकाल से दरिद्रता में आकण्ठ मग्न होने के कारण वे निर्धनता के दुर्दमनीय कष्टों से तथा आर्थिक कठिनाइयों से पूरे परिचित थे। फलतः अध्यापक

होने पर वेतन का कुछ अंश दीनदुखियों को तथा निर्धन छात्रों को वे अवश्य बाँट देते थे। वे बड़े ही सात्त्विक, आचरणशील एवं योगाभ्यासी विद्वान् थे जो अपने ब्राह्मणोचित षट्कर्मों को द्विकर्मों के भीतर समेटे रहते थे। कहा करते थे कि अध्ययन-अध्यापनकर्ता मैं द्विकर्मा ब्राह्मण हूँ और थे भी वे ऐसे ही अध्ययन तथा अध्यापन के प्रति समर्पित सात्त्विक जीवन बीताने वाले निःस्पृह ब्राह्मण। संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी, अंग्रेजी, लैटिन, जर्मन भाषाओं के वेत्ता होने के नाते उन्होंने इन भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संग्रह अपने विशाल पुस्तकालय में जमा रखा था। साहित्य उनका अपना विषय था। संस्कृत काव्य साहित्य के अनुशीलन के संग में अंग्रेजी साहित्य का भी विधिवत् अभ्यास तथा मनन किया था। वे बड़े रसिक, साहित्य-मर्मज्ञ एवं प्रतिभाशाली कवि थे। पूजाअर्चा के अनन्तर वे नियमतः पाँच-दस संस्कृत पद्यों की रचना करने के बाद ही अन्य कार्य करते थे। शास्त्रमर्मज्ञ होने के संग में वे सफल अध्यापक थे। बी० ए० कक्षा में प्रतिसत्र वे ही 'उत्तररामचरित' नाटक का अध्यापन करते थे और कहा करते थे कि प्रतिबार मुझे नये-नये अर्थ सूझते हैं, नये-नये तथ्य उन्मीलित होते हैं। 'भवभूति' उनके प्रिय कवि थे जिनके नाटकों के अध्ययन में उन्होंने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया था। कालभैरव के मन्दिर के पास ही उनके आवासस्थल पर विद्वज्जनों की गोष्ठी जमा होती थी जिसमें सरस साहित्यचर्चा, गाढ़ अध्यात्मचिन्तन तथा सुखद संगीत कीर्तन हुआ करते थे। दिव्य पुरुष थे—सरस लेखनी के धनी तथा साहित्य के अन्तरंगवेत्ता। उनका तथा मेरा दोनों जनों का आना-जाना, उठना-बैठना, कालेज में अध्ययन-अध्यापन प्रायः साथ ही साथ होता था।

मेरे सहाध्यायियों में महामहोपाध्याय उमेशमिश्र, पं० चिम्मनलाल गोस्वामी, पं० सत्यांशुमोहन मुखोपाध्याय तथा डा० हरदत्त शर्मा थे। सबने साथ ही अध्ययन किया था और १६२२ ई० में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की और प्रायः सब सज्जनों ने संस्कृत-शिक्षण तथा धर्म-शिक्षण में अपना जीवन व्यतीत किया।

मेरे परिचितों में पण्डित चुन्नीलाल वैद्य जी विशिष्ट कोटि के पुरुष थे। वे बड़े ही योग्य चिकित्सक थे। चिकित्सा-जगत् के महनीय व्यक्तित्व के धनी पण्डित त्र्यम्बक शास्त्री जी के वे पट्ट शिष्य थे—नितान्त गुरुभक्त, तथा गुरुचरण-सेवा-पारायण। दीन दुखियों की वे औषध द्वारा ही सेवा नहीं करते थे, प्रत्युत भोजन-छाजन की भी सुव्यवस्था कर देते थे। उनके घर पर दरबार सा लगा रहता था जिसमें उनके आश्रित व्यक्तियों के अतिरिक्त विद्वज्जन भी उपस्थित हुआ करते थे। संगीत के वे मर्मवेत्ता विद्वान् थे। बाहर से अनेक गुणीजन तथा कलावन्त उनके पास आते थे जिनका वे समुचित आदर-सत्कार करते थे और काशी के धनाढ्यों के द्वारा भी करवाते थे। उनकी गुणग्राहिता श्लाघनीय थी। उस युग के मान्य हिन्दी कवि दम्पति किशोर जी से उन्होंने साहित्य की शिक्षा पाई थी। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, गुजराती, आदि भाषाओं के सैकड़ों सरस कमनीय पद्य उनकी जिह्वा पर नाचा

करते थे। हस्तलेखों को तैयार करने का उन्हें व्यसन ही था। अवकाश के समय में वे प्राचीन अलभ्य ग्रन्थ की अपने हाथों से लिखकर नई प्रति तैयार किया करते। हस्तलेखों का उनका संग्रह आज भी अलभ्य ग्रन्थों को अपने में सँजोये हुये हैं। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि वे जिन्दादिली के जीते-जागते पुतले थे। उन्हीं के आवास पर दक्षिण के अनेक वीणावादकों की मधुर वीणा सुनने का मुझे सुयोग मिला है।

चुन्नीलालजी अपने यौवनकाल में नामी-गिरामी कवियों की बड़ी ललित कविता सुनाया करते थे। दम्पति कशोर जी भारतेन्दु युग के एक विशिष्ट कवि थे। उनके सम्पर्क में आने का चुन्नीलालजी को बड़ा ही सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ। उनके द्वारा निर्दिष्ट एक गम्भीर अर्थ की व्याख्या वे बहुश: सुनाया करते थे। घनानन्द की एक लोकप्रिय सवैया का अन्तिम चरण है—तुम कौन धौ पाटी पढ़े हो लला, मन लेत हो देत छटाँक नहीं। राधा का श्रीकृष्ण के प्रति यह कथन है। तुमने कौन सा गणित पढ़ा है कि मन तो लेते हो, परन्तु छटाँक भी नहीं देते। लेनदेन-विनियम की यह रीति है कि मूल्य में अथवा तौल में जो पदार्थ जितना है, उसका विनियम उतने ही मूल्य वाले अथवा उतने ही तौल वाले पदार्थ के साथ होता है। तुमने इस नियम का सर्वथा उल्लंघन ही कर दिया है। लेते तो हो सेर से चालीस गुना अधिक तौल वाली चीज (मन) परन्तु सेर का सोलहवाँ हिस्सा वाली भी चीज (छटाँक) नहीं देते हो। दोनों में कितना वैषम्य है। यह अर्थ तो स्पष्ट है अब इसके गम्भीर अर्थ पर विचार करें। तुम हमारा मन (चित्त, अन्तःकरण) लेते हो, और उसके बदले में छटाँक भी नहीं देते। 'छटाँक नहीं' में ही काव्य का रहस्य छिपा है। ली हुई चीज जब लौटाई जाती है, तब उसकी दिशा बदल जाती है, उलटी हो जाती है। 'छटाँक' जब लौटाया जायगा, तो वह बन जायगा 'कटाँछ' (कटाक्ष)। 'छटाँक' शब्द का उलटा ही तो 'कटाँछ' शब्द है। तात्पर्य यह है कि तुमने मेरा मन तो ले लिया, परन्तु उसके बदले में अपना कटाक्ष भी नहीं दिया। यह कैसा लेन-देन है। सामान्य लेन-देन की यह उलटी गंगा बहती है। अत: राधा जी का यही हृदयगत अर्थ है कि तुमने तो मेरा मन ही ले लिया है, परन्तु उसके स्थान पर अपना एक कटाक्ष भी नहीं दे रहे हो। यह कहाँ की गणितीय विनिमय रीति सीखी है? इस चरण की यह चमत्कारी व्याख्या सुना कर चुन्नीलालजी पूरी विद्वन्मण्डली को आह्लाद से उल्लसित कर दिया करते थे।

द्विवेदी जी से साक्षात्कार

समय १९३२ ईस्वी। स्थान काशी। इस वत्सर के आसपास पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का बड़े स्तर पर अभिनन्दन करने का निश्चय काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने किया। तदनुसार 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' को द्विवेदी जी को समर्पित करने की योजना बनाई गई। यह अभिनन्दन ग्रन्थ बड़े विज्ञ एवं प्रख्यात लेखकों के शोधपूर्ण निबन्धों से संवलित होकर एवं प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रवीण चित्रकारों

के रंगीन चित्रों से मण्डित होकर नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित किया गया था। एक विशाल सभा भी आयोजित की गई थी जिसमें द्विवेदी युग के संभ्रान्त लेखक तथा कवियों को विशेषरूप से आमन्त्रित किया गया था। सभा के उत्तरी छोर पर विशाल प्राङ्गण में संयोजित इस भव्य समारोह में उस युग के हिन्दी मण्डलों के वरिष्ठ लेखक तथा विद्वानों ने उपस्थित होकर द्विवेदी जी की सम्पादन कला, साधु-भाषा प्रयोग के ऊपर दृढ़ आस्था एवं चलती खड़ी बोली में काव्यरचना के प्रोत्साहन की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। डा० के० पी० जायसवाल ('सरस्वती' के बाबू काशीप्रसाद) को प्रत्यक्ष देखने का मेरा वही पहला अवसर था। वे ही इस सभा के प्रधान वक्ता थे। उन्होंने अपने विशुद्ध हिन्दी भाषण में बड़ी उल्लासमयी वाणी में कहा था "हम लोग द्विवेदी जी के आज्ञाकारी सिपाही हैं। उन्होंने हम लोगों को विशुद्ध हिन्दी में लिखने का प्रशस्त मार्ग दिखलाया जिसका अनुसरण कर हम लोगों ने अपने मनोगत भावों को जनता-जनार्दन के सामने प्रस्तुत करने में सफलता पाई है। द्विवेदी जी ने अपने अध्यवसाय से एवं अपनी ललित लेखनी से 'सरस्वती' के माध्यम से राष्ट्रभाषा हिन्दी को उस स्थान पर लाकर प्रतिष्ठित कर दिया है जिसे हमारे कनौजिया भाई 'बीस विस्वा' के नाम से पुकारते हैं"। उपस्थित विद्वानों ने इस भाषण को खूब पसन्द किया। अनेक विद्वानों ने भी द्विवेदी की लेखनी, हिन्दी भाषा पर पूर्ण आधिपत्य एवं नये सुयोग्य लेखकों तथा कवियों को तैयार करने की अद्भुत क्षमता तथा सहृदयता की विपुल प्रशस्ति सुनाई।

द्विवेदी जी इस समारोह से प्रभावित हुये थे और अपने लिखित भाषण में उन्होंने अपने लेखन एवं सम्पादन कला के रहस्य का उद्घाटन किया था। उन्होंने कहा था कि वे 'सरस्वती' के पाँच मास के अंक पूर्व से सम्पादित कर तैयार कर देते थे जिससे अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर भी 'सरस्वती' ठीक समय पर प्रकाशित होती थी। हिन्दी के सम्पादक लोग पत्र पत्रिका के अनिश्चित प्रकाशन के लिए थोथा बहाना बनाया करते हैं। वे कहते हैं कि क्या करूँ? लाचार हूँ। मेरी चाची के मौसी के बेटे की पतोहू के पेट में अकस्मात् दर्द होने लगा। अतः सम्पादक जी अन्यमनस्क हो गये। पत्रिका ठीक समय पर नहीं प्रकाशित हो सकी। द्विवेदी जी का कहना था कि हिन्दी पत्र पत्रिकाओं के अधिकांश सम्पादक ऐसा ही बेतुका बहाना बनाकर ग्राहकों को ठगते हैं और अपनी आत्मा को कलुषित करते हैं। सरस्वती के सम्पादन में मैंने अपने जीवन को समर्पित कर दिया था। किसी मूल्य पर न तो सरस्वती के लेखों का स्तर नीचा किया गया और न वह अनिश्चित समय पर प्रकाशित ही कभी की गई"।

श्रोताओं ने बड़ी निष्ठा से इस व्याख्यान को सुना और द्विवेदीजी के सम्पादन कला की प्रशंसा करते रहे।

दूसरे दिन मैं उनसे भेंट करने गया। वे रामघाट पर राय कृष्णदास जी की कोठी में ठहराये गये थे जहाँ उनके पट्ट सेवक मैथिलीशरण गुप्तजी उपस्थित थे। मैंने अपनी 'सुक्तिमुक्तावली' नामक सूक्तिसंग्रह उन्हें उपहार में दिया। इस ग्रन्थ में संस्कृत की प्राचीन सूक्तियों का संग्रह तथा उनकी चटकदार भाषा अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया था। द्विवेदीजी ने ग्रन्थ यत्रतत्र देखा और संस्कृत के विशाल साहित्य को हिन्दी जगत के सामने रखने के शुभ कार्य में मुझे अपना हार्दिक आशीर्वाद दिया। उससमय मैथिली शरणजी तथा राय कृष्णदास जी को मेरे सामने बुला कर बड़े तीव्र स्वरों में डाँट कर कहा—'कल मालवीयजी महाराज अभिनन्दन सभा में देर से उपस्थित हुए थे। परन्तु सभा वालों ने उन्हें बोलने का अवसर ही नहीं दिया। मैं मालवीयजी को देवता मानता हूँ। ऐसा देवता मेरी सभा में उपस्थित हो और उसे आशीर्वाद देने का अवसर न दिया जाय। इसे मैं अक्षम्य जघन्य अपराध मानता हूँ और सभावालों पर मेरा प्रखर रोष है। तुम जाकर उन्हें कह आना'। राय कृष्णदास जी ने समयाभाव के कारण ऐसे दुर्व्यवस्था के लिए क्षमा माँगी। तब कही जाकर द्विवेदी जी का रोष कम हुआ और वे प्रसन्न मुद्रा में आ गये। इसीलिए मालवीय महाराज को प्रयाग के 'द्विवेदी मेला' में उपस्थित होने के लिए आग्रहपूर्वक पूर्व से ही आमन्त्रित किया गया। वहाँ उन्होने पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के साहित्यिक कार्य की बहुत प्रशंसा की।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की वह घटना

स्थान—हरिद्वार। समय—१७ मई १९४३ ईस्वी। हरिद्वार में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ३१ वाँ अधिवेशन हिन्दी के महाकवि पण्डित माखन लाल चतुर्वेदी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ था। हरिद्वार के श्रवणनाथ मन्दिर के साहित्यप्रेमी उत्साही महन्त शान्तानन्द के निमन्त्रण पर यह बृहत् आयोजन उन्हीं के द्वारा स्थापित श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर के विशाल 'हाल' मे हुआ था। दूर-दूर से हिन्दी प्रेमी पधारे थे। निवर्तमान सभापति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ कुलपति डा० अमरनाथ झा भी उपस्थित थे। १७ मई से आरम्भ होकर यह अधिवेशन तीन दिनों तक चलता रहा। बड़ा शानदार अधिवेशन था यह। महन्थ जी ने बड़े उत्साह तथा लगन के साथ अतिथि लोगों के आवास तथा भोजन आदि की उचित व्यवस्था की थी। अधिवेशन की पूर्व सन्ध्या १६ मई को एक शानदार जुलूस निकाला गया था जिसमें रंगीन झूल तथा कीमती अंबारी के साथ अनेक हाथी जुलूस के आगे-आगे मन्द गति से चल रहे थे। इन हाथियों पर सभा के अध्यक्ष पं० माखनलालजी एवं निवर्तमान अध्यक्ष डा० अमरनाथ झा जी के साथ ही साथ सम्मेलन के द्वारा विभिन्न पारितोषिकों से संत्कृत विद्वान् भी सवार होकर आगे-आगे चल रहे थे। सबसे आगे बैंड अपनी उल्लासमय धुन में बजता हुआ चल रहा था और पीछे-पीछे हिन्दी साहित्य के सेवक 'हिन्दी हमारी अमर

है' का जोरदार नारा लगाते हुए चल रहे थे। हरिद्वार के प्रधान सड़क से घूम कर यह जुलूस स्टेशन के पास ही धर्मशाला पर पहुँच कर समाप्त हुआ था। इसी वर्ष 'भारतीय दर्शन' के ऊपर दर्शनविषयक मंगला प्रसाद पुरस्कार से इन पंक्तियों के लेखक को भी सम्मेलन द्वारा पुरस्कृत होने का गौरव प्राप्त हुआ था। वह भी इस समारोह में अगली पंक्ति के एक हाथी पर सवार होकर चल रहा था। इस जुलूस में सबसे आगे महन्त शान्तानन्द जी अपने दलबल के साथ पैदल ही चल रहे थे और 'हर हर महादेव', 'हमारी राष्ट्र भाषा हिन्दी अमर है' का नारा लगा रहे थे। उनका अदम्य उत्साह तथा आकर्षक व्यक्तित्व देखने ही लायक था।

ता० १७ मई तथा १८ मई को दो दिनों तक अधिवेशन चलता रहा जिसमें दर्शन, राष्ट्रभाषा आदि विभागों के अध्यक्षों के भाषण तथा लेखकों के सम्बद्ध लेख पढ़े जाते थे तथा उन पर विमर्श-परामर्श भी चलता रहा। १९ मई का समारोह का समापन दिवस था। उस दिन प्रातःकालीन सत्र के बीच में ही एक आश्चर्यजनक घटना का सूत्रपात होने लगा। व्याख्यानों के बीच में ही हम लोगों ने देखा कि बड़े सामान तौलने वाली तराजू ज्ञान मन्दिर के बाहर फर्श पर रखी जा रही है। बड़ा आश्चर्य हुआ सबको कि क्या होने जा रहा है। इसी समय महन्त जी ने उच्च स्वर से घोषणा की कि 'सज्जनों, हमारे दुबले-पतले अध्यक्ष जी अनेक बिमारियों से रुग्ण हो गये हैं। हम उनका तुलादान करना चाहते हैं। हरिद्वार का पवित्र तीर्थ, तिस पर वेग से बहती हुई भागीरथी का पावन सान्निध्य। इससे बढ़कर तुलादान के लिए पवित्र स्थल हो ही क्या सकता है? अभी आप लोग बाहर चलें। और अध्यक्ष जी की चाँदी के सिक्कों से होने वाले तुलादान के दृश्य को देखें।' सब लोग हाल के बाहर निकल आये और वेद मन्त्रों की गम्भीर ध्वनि के साथ माखनलालजी तराजू के एक पलड़े पर बैठे और दूसरे पलड़े पर खन-खन बजने वाले सिक्के रखे गये। बड़ा ही भावोत्पादक दृश्य था यह। स्थान दर्शकों से खचाखच भर गया। छत्तीस सौ रूपैयों की राशि से अध्यक्षजी का तुलादान किया गया और महन्थजी ने चार सौ रूपैये ऊपरी दक्षिणा देकर उसे चार हजार बना दिया था। मोटे ताजे अमरनाथ झा जी ने कहा कि मेरे निवर्तमान हो जाने से सम्मेलन को बड़ा घाटा लगा। यदि मेरा तुलादान हुआ रहता तो यह द्रव्य राशि बढ़कर दुगुनी नहीं, तो डेढ़ गुनी अवश्य हो गई होती।

बड़े उल्लासमय वातावरण में यह अध्यक्षीय तुलादान सम्पन्न हुआ। यह तुलादान 'न भूतो न भविष्यति' ही था। मेरी जानकारी में न तो इससे पहिले और न इसके बाद ही सम्मेलन के किसी अध्यक्ष का इस प्रकार तुलादान के द्वारा सत्कार किया गया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इतिहास में यह घटना अपूर्व थी।

भक्त अन्तेवासी

लगभग अर्धशताब्दी तक विस्तृत अध्यापन काल में अनेक प्रतिभाशाली छात्रों से मेरा सम्पर्क होता रहा जिन्होंने संस्कृत का विधिवत् अध्ययन कर शैक्षणिक संसार में विपुल कीर्ति एवं विमल यश का अर्जन कर अपनी योग्यता का पूरा परिचय दिया है। प्रशासन तथा अध्यापन—दोनों क्षेत्रों में ऐसे लब्धकीर्ति प्रमुख छात्रों का स्वल्प परिचय देना असामयिक नहीं होगा। प्रशासनिक क्षेत्र में दो छात्रों ने विशेष यश अर्जन किया। केन्द्रीय सरकार के भूतपूर्व शिक्षामन्त्री तथा मैसूर एवं हिन्दू-विश्वविद्यालय के कुलपति डा० कालूलाल श्रीमाली का नाम ऐसे छात्रों में सर्वोपरि है जिन्होंने अध्ययन काल में विशेष योग्यता का परिचय न देकर भी कार्यकाल में अपने अलौकिक प्रतिभा का समुज्ज्वल निदर्शन प्रस्तुत किया। ये बड़े सुशील तथा मनोयोग से अध्ययनशील छात्र थे जो अपने सद्-व्यवहार से तथा अनुशासन-प्रियता से गुरुजनों के ध्यान को आकृष्ट करने में सर्वथा कृतकार्य थे। प्रयाग उच्चन्यायालय के सेवा-निर्मुक्त न्यायमूर्ति पण्डित हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठी अपनी छात्रावस्था में बड़े ही साहित्यरसिक वावदूक छात्र थे। वे गोरखपुर मण्डल के प्रकाण्ड विद्वान् पण्डित उमापति द्विवेदी (पण्डित नकछेद राम द्विवेदी जी) के दौहित्र हैं। इनकी पूरी शिक्षा-दीक्षा हिन्दूविश्वविद्यालय में ही सम्पन्न हुई है। त्रिपाठी जी बड़े ही तेज तर्रार थे, उनकी छरहरो गौरवर्ण की देहयष्टि पर रेशमी कुर्ता बड़ा ही फबता था। परम्परा से प्राप्त संस्कृत विद्या को उन्होंने काशी में अध्ययन से और भी पुष्ट किया। आज भी कानून के, विशेषतः हिन्दू कानून के, मर्मज्ञ के रूप में प्रतिष्ठा पानेवाले हरिश्चन्द्रपति जी संस्कृत साहित्य के जीवन्त मूर्ति हैं।

मेरे छात्रों में से तीन प्रकार के छात्र दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ व्यक्तियों ने संस्कृत के अध्ययन के अनन्तर हिन्दी-साहित्य में विशेष योग्यता प्राप्त की; कुछ व्यक्तियों ने प्राचीन भारतीय इतिहास को अपने विशिष्ट अध्ययन का विषय बनाया और अधिकांश ने संस्कृत के विभिन्न विभागों के अध्ययन-अध्यापन में अपने को संलग्न किया। हिन्दी में विशेष कीर्ति प्राप्त करने वाले छात्रों में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। हजारी प्रसाद जी ने संस्कृत महाविद्यालय से आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर इण्टर कक्षा में प्रवेश किया था। वे बड़े शान्त स्वभाव के मितभाषी छात्र थे। आचार्य परीक्षोत्तीर्ण होने से संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। वे प्रथम वर्ष समाप्त भी न कर पाये थे कि उन्हें विश्वभारती में हिन्दी तथा संस्कृत पढ़ाने का सुयोग प्राप्त हो गया। हिन्दू-विश्वविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष प्रोफेसर फणिभूषण अधिकारी के सदुद्योग से एवं हम लोग की संस्तुति पर अल्पवेतन पर उन्हें स्थान मिल गया। विश्वभारती में बंगाल के गण्यमान्य प्राध्यापकों के सम्पर्क में आने पर उन्होने बड़े परिश्रम एवं

लगन से साहित्य की विशिष्ट योग्यता प्राप्त की, परन्तु काशी में प्राप्त मौलिक संस्कृत शिक्षा के लिए यहाँ के शिक्षकों के लिए बड़ा सम्मान रखते थे। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इण्टर से लेकर एम. ए. तक पूरे छः वर्षों तक मेरे छात्र थे। पढ़ने में बड़े तीव्र, शास्त्रों के अन्तराल में पहुँचने में नितान्त दक्ष तथा गुरुजनों के प्रति विनम्र भावना से मण्डित होने के कारण वे शिक्षकों के बड़े स्नेहभाजन थे। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् और गम्भीर आलोचक थे। संस्कृत के अलंकारशास्त्र से पूर्ण परिचित होने के कारण हिन्दी साहित्य की समीक्षा में उनकी गहरी पैठ थी तथा भक्तिकालीन काव्यग्रन्थों के गम्भीर अर्थ समझने-समझाने में उनका प्रामाण्य सर्वोपरि माना जाता था।

अनेक विषयों के मर्मज्ञ आचार्य सीताराम चतुर्वेदी साहित्य के तलस्पर्शी विद्वान् एवं नाटच के सिद्धान्ततः एवं प्रयोगतः ज्ञाता होने के अतिरिक्त स्वयं विशिष्ट रूपक-निर्माता हैं। उनके एकांकी नाटकों की संख्या, सुनते हैं, माला के मनियों की संख्या को स्पर्श करने वाली है। कालिदास के ग्रन्थों का सरस-सुबोध अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत कर हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। 'समीक्षा शास्त्र' प्राच्य एवं प्रतीच्य उभय समीक्षा शास्त्रों का पूरा परिचयात्मक विवरण हिन्दी साहित्य का निःसन्देह गौरव ग्रन्थ है।

प्राचीन भारतीय विद्या में विशेष ख्याति प्राप्त करने वाले छात्रों में डा० राजबली पाण्डेय, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एवं डा० कृष्णदत्त वाजपेयी का साहित्यकार्य सर्वथा उल्लेखनीय तथा प्रशंसनीय है। डा० राजबली पाण्डेय बी. ए. कक्षा में मेरे छात्र थे। बड़े परिश्रमी तथा बोल-चाल में नितान्त पटु छात्र थे। भारतीय धार्मिक साहित्य—विशेषतः पुराण एवं धर्मशास्त्र—के प्रति उनकी जिज्ञासु वृत्ति विशेष जागरूक थी। पुराणों में निर्दिष्ट प्राचीन इतिहास की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करने में उन्होंने विशेष यश अर्जन किया। भारतीय संस्कार-विषयक ग्रन्थ उनकी योग्यता का पूरा परिचायक है। प्रशासन कार्य में भी वे विशेष दक्ष थे— प्रथमतः भारती विद्यालय में प्राचार्य के रूप में और आगे चलकर जबलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधान मन्त्री के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य के बृहत् 'इतिहास' की रूप-रेखा के निर्धारण में एवं हिन्दी साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि के प्रतिपादन में बड़ा ही उपादेय कार्य किया है। डा० कृष्णदत्त वाजपेयी भी मेरे बी. ए. कक्षा के छात्र थे। वे पढ़ने में बड़े परिश्रमी, विषय के अन्तरंग के मननशील एवं व्यवहारकुशल छात्र थे। मथुरा संग्रहालय के अध्यक्ष तथा सागर विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विषय के प्रवीण प्राध्यापक के रूप में उन्होंने विशेष वैदुष्य का प्रदर्शन किया है। परन्तु वेद की मीमांसा, प्राचीन भारतीय कलाओं के परिज्ञान, पौराणिक भूगोल एवं इतिहास

के मार्मिक ज्ञाता के रूप में डा० वासुदेव शरण जी ने जो कीर्ति विद्वत्-समाज में प्राप्त की है, वह नितान्त स्पृहणीय है। उनके अध्ययन का क्षेत्र बड़ा विशाल था और उन्होंने इन विषयों में पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण कर अपनी लोकातीत वैदुष्य का, गम्भीर अनुशीलन का एवं अध्यात्मचिन्तन का परिचय दिया है।

संस्कृत साहित्य की सेवा करने वाले मेरे छात्रों की एक लम्बी परम्परा है। हिन्दू विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग अखिल भारतीत कीर्ति से मण्डित था। फलतः उसके अध्ययन करने के लिए छात्र भारत के विभिन्न प्रान्तों से आते थे, संस्कृत का अध्ययन करते थे और संस्कृत का श्लाघनीय वैदुष्य प्राप्त कर अपने देश लौट जाते थे। ऐसे छात्रों में से कतिपय व्यक्तियों का ही संकेत यहां समुचित होगा। उत्कल से आने वाले छात्रों में डा० अनामचरण स्वाई, डा० कृष्णचन्द्र आचार्य तथा डा० सत्य स्वरूप मिश्र के नाम उल्लेख्य है। डा० अनामचरण स्वाई ने वेद तथा साहित्य दोनों विषयों में विशेष योग्यता प्राप्त की है तथा इस समय उत्कल विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। डा० कृष्णचन्द्र आचार्य ने प्राकृत भाषा की छानबीन में विशेष कार्य किया है। ये भी उत्कल विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हैं। डा० एस एस० मिश्र ने भाषा विज्ञान में विशेष व्युत्पत्ति तथा योग्यता प्राप्त की है। अनेक प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन उनके गम्भीर ज्ञान का पूर्ण निदर्शन है। इस समय हिन्दू विश्व विद्यालय में भाषा शास्त्र विभाग के अध्यक्ष हैं। अलमोडा से सम्बद्ध मेरे छात्रों में पण्डित गोपालदत्त पान्डेय तथा डा० देवीदत्त शर्मा विशेष महनीय हैं। गोपालदत्त जी ने अनेकत्र अपनी संस्कृतज्ञता का परिचय दिया है और प्रवीण वैयाकरण होने के अतिरिक्त प्रशासनिक कार्योंमें भी अपनी दक्षता प्रदर्शित कीं है। सिद्धान्त कौमुदीं का बड़ा विस्तृत अनुशीलन हिन्दी में प्रस्तुत किया है। डा० देवदत्त शर्मा ने कालिदास के विषय में विशेष अध्ययन किया है तथा पर्वतीय-तिब्बतीय भाषाओं के अनुसन्धान में बड़ी दक्षता प्राप्त की है। इस समय पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष है, पर्वतीय भाषाओं के विशेष अनुसन्धान के लिए जवाहिर लाल नेहरू विश्वविद्यालय (दिल्ली) द्वारा नेहरू छात्र वृत्ति से पुरस्कृत हैं।

बंगाल से संबद्ध छात्रों में डा० एस० भट्टाचार्य (डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य) शान्तिनिकेतन में संस्कृत विभागाध्यक्ष रहने के बाद अनेक वर्षों तक हिन्दू विश्वद्यालय में विभागीय अध्यक्ष रहे है। श्रीमद्भागवत पुराण के दार्शनिक विचारों की गम्भीर मीमांसा करने वाला उनका महानिबन्ध (थीसिस) अपने विषय की अनुपम रचना है। दूसरे बंगीय छात्र डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य काशी के ही निवासी हैं। संस्कृत साहित्य के सफल अध्यापक हैं। संस्कृत नाटकों की अन्तरंग प्रक्रिया एवं रचना प्रदर्शित करने वाला उनका निबन्ध गम्भीर विवेचनामूलक है। इस समय ये हिन्दू विश्व विद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं।

इस क्षेत्र के छात्रों में दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान हैं। इनकी अनेक रचनायें साहित्य के मर्म की उद्घाटिका हैं। महिमभट्ट के सिद्धान्तों का इनका गम्भीर विवरण विशेष उल्लेखनीय है। विश्वेश्वरानन्द संस्थान के प्राध्यापक डा० ब्रजबिहारी चौबे वेद के विशेष ज्ञाता तथा अनुसन्धाता हैं। कल्प सूत्रों के गम्भीर विवेचक हैं। इस विषय में एक प्राचीन कल्पसूत्र का वैज्ञानिक सम्पादन तथा गम्भीर समीक्षण अभी प्रकाशित हुआ है। डा० गंगासागर राय पुराणों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं जो काशीनरेश द्वारा संचालित पुराण पत्रिका के सहयोगी सम्पादक हैं। पुराण अनुसन्धान विभाग (रामनगर) द्वारा प्रकाशित वामन पुराण, बराह पुराण तथा प्रकाश्यमान गरुड पुराण के सम्पादन कार्य में वरिष्ठ अनुसन्धाता के रूप में लब्धकीर्ति हैं। मैसूर विश्वविद्यामय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० एच० देवमल्लरू तथा केरल के डा० वारियर भी काशी में ही संस्कृत का अभ्यास किया था और मेरे छात्र रहे हैं। अन्त में, अपने योग्यतम अन्तेवासी पण्डित करुणापति त्रिपाठी का उल्लेख करना उचित समझा हूँ। १७ वीं शती के दाराशिकोह के संस्कृत-शिक्षक पण्डित रामानन्दपति त्रिपाठी के वंशज करुणापति जी संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विचक्षण, गम्भीर अनुसन्धान के विधाता, चिन्तन द्वारा नवीन साहित्यिक तथ्यों के उद्भावक के रूप में सदा विख्यात रहेंगे। विद्वत्ता के साथ अध्यात्म-साधना का मणिकाञ्चनयोग इनके विविध आयामी व्यक्तित्व का निदर्शन है। प्रान्तीय शासन द्वारा स्थापित संस्कृत अकादमी के सभापति के रूप में इन्होंने संस्कृत साहित्य की संवर्धना में अपने आपको समर्पित ही कर दिया है।

इस प्रकार संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन में लगभग अर्ध शताब्दी का दीर्घकाल बिता कर अब श्रीमन्नारायण से मेरी यही प्रार्थना है कि मेरा शेष जीवन शास्त्रों चिन्तन-मनन में और भगवान् के अर्चन-पूजन में निर्विघ्न व्यतीत हो। तथास्तु।

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्नम्
अमृतमसुरवर्यान् आशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीन्
तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥

भागवत ८।१२।४७।

परिशिष्ट

उपयोगी ग्रन्थ

वैदिक साहित्य

मैक्डानल तथा कीथ —वैदिक इन्डेक्स भाग १-२

मैक्डानल —वेदिक ग्रामर

" —ए वैदिक ग्रामर फार स्टुडेण्ट्स

" —वेदिक रीडर

" —वेदिक माइथोलोजी

कीथ —रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ वेद एण्ड उपनिषद् भाग १-२

" —इण्डियन एण्ड इरेनियन माइथोलोजी

बलदेव उपाध्याय —वैदिक साहित्य और संस्कृति

डा०ए०सी० (अविनाशचन्द्र) दास —ऋग्वेदिक इण्डिया

" " ऋग्वेदिक कल्चर

लोकमान्य तिलक —"ओरायन" आर दि स्टडी इन एन्टीक्वीटीज आफ वेदाज़

" आर्कटिक होम इन दि वेदाज़

डा० रामगोपाल —इण्डिया आफ दि वैदिक कल्पसूत्राज़

डा० रामगोपाल —वैदिक व्याकरण भाग १-२

डा० भगवत् शरण उपाध्याय —वीमेन इन दि ऋग्वेद

डायसन —दि फिलासफी आफ उपनिषद्स

प्रो० रानाडे —ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी

डा० दासगुप्त —हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग १-५

डा० हिरियन्ना —हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी

" —एलिमेण्ट्स आफ इण्डियन फिलासफी

हिलेब्रान्ट —वेदिशे मेथोलोगी (जर्मन) भाग १-३

केगी (ए) —दी ऋग्वेद

पिशल और गेल्डनर —वेदिशे स्टुडियन

वैलिस —कास्मोलाजी आफ दि ऋग्वेद

दाण्डेकर —वेदिक बिब्लियोग्राफी भाग १-३

कोवेन —ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर

क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय —वेदिक रिलिजन (हिन्दू वि० विद्या० काशी)

श्रीपाद सातवलेकर —ऋग्वेद का तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन

डाक्टर वेबर —हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर प्रथम प्रकाशन १८५२, द्वितीय सं० १८७५, अंग्रेजी अनुवाद १८७८। नवीन संस्करण चौखम्भा संस्कृत सीरीज काशी १९६१।

डा० मैक्समूलर —हिस्ट्री आफ ऐनशन्ट संस्कृत लिटरेचर (लण्डन १८८०, पुनर्मुद्रण पाणिनि आफिस, प्रयाग) १९१४।

डा० मैक्डानेल —हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (लण्डन १८९९ में प्रथम सं०। हिन्दी में अनूदित प्र० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६०)

डा० ए० वी० कीथ —ए हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम प्रकाशन १९२०, हिन्दी अनुवाद डा० मंगलदेव शास्त्री द्वारा, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९६०)

,, —संस्कृत ड्रामा (प्रकाशक पूर्ववत् १९२४। हिन्दी रूपान्तर चन्द्रभानु द्वारा, प्रकाशन पूर्ववत् १९६३)

,, —क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (हेरिटेज आफ इण्डिया सीरीज़ कलकत्ता)

डा० एम० विन्टरनित्स —हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर (तीन भागों में मूल जर्मन प्रथम भाग का अंग्रेजी अनुवाद १९३३, द्वितीय भाग का १९४०,

श्री कृष्णमाचार्य —ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (मद्रास १९३५)

डा० एस० एन० दासगुप्त तथा डा० एस० के० डे० —हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १९४७)

कृष्ण चैतन्य —ए न्यू हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (प्र० एशिया पबलिशिंग हाउस बम्बई १९६०। हिन्दी अनुवाद प्र० चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी १९६५)

डा० एस० के० डे० —एस्पेक्ट्स आफ संस्कृत लिटरेचर (प्र० फर्मा मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९५९)

वी० वरदाचारी —ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (रामनारायण लाल एण्ड सन्स इलाहाबाद प्रथम सं० १९५२, द्वितीय सं० १९ ०, हिन्दी अनुवाद भी वहीं से प्रकाशित)

डा० जे० बी० चौधुरी —मुसलिम पट्रोनेज टू दि संस्कृत लर्निंग (कलकत्ता १९४२)

" बंगीय दूत-काव्येतिहास: (कलकत्ता १९५३)

" संस्कृत पोयटेसेज (कलकत्ता १९३९)

डा० वी० राघवन् —माडर्न संस्कृत राइटिंग्स (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास १९५६)

के चन्द्रशेखरन् तथा सुब्रह्मण्यम शास्त्री —संस्कृत लिटरेचर (पी० इ० एन० बुक्स बम्बई १९५१)

अण्णाशास्त्री वारे —याज्ञवल्क्य चरित (नासिक, शक १८५७)

के० एम० मुन्शी —गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर (द्वितीय सं० १९५४, बम्बई, विद्या-भवन)

आचार्य द्विजेन्द्रनाथ —संस्कृत-साहित्य-विमर्श: (प्र० भारतीय प्रतिष्ठान, मेरठ १९५६)

पी० पी० एस० शास्त्री तथा के० एल० शास्त्री —वैदिक-साहित्य-चरित्रम् (पालघाट, कोचीन, १९२७)

श्री हंसराज अग्रवाल —संस्कृत साहित्येतिहास:

पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा शा० ना० व्यास —संस्कृत साहित्य की रूपरेखा (प्र० साहित्य निकेतन, कानपुर)

श्री वाचस्पति गैरोला —संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास (प्र० चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी)

" " संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (प्र० पूर्ववत्)

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय —वैदिक साहित्य और संस्कृति (प्र० शारदा संस्थान, वाराणसी तृतीय परिवर्तित सं० १९८२)

" " —भारतीय वाङ्मय में श्री राधा (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद—पटना)

" " —पुराण विमर्श (प्र० चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी १९६५)

" " —संस्कृत सुकवि समीक्षा (प्र० पूर्ववत् १९६४)
" " संस्कृत साहित्य का इतिहास, १९८४
" " वैष्णव धर्मों का सिद्धान्त तथा साहित्य १९८०

डा० परमानन्द शास्त्री —संस्कृत गीतिकाव्य का विकास (प्र० प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ सं० २०२२)

श्री शिवप्रसाद भट्टाचार्य —दी स्तोत्र लिटरेचर आफ ओल्ड इण्डिया, (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, प्रथमखण्ड १९२५, कलकत्ता, पृ० ३४०–६०)

डा० छविनाथ त्रिपाठी —चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन (प्र० चौखम्भा–प्रकाशन, वाराणसी १९६५)

डा० आर वी जागिरदार —ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर (बम्बई १९४७)

डी० आर० मङ्कड —टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा (कराची १९३६)

बी० के० भट —दी विदूषक (अहमदाबाद, १९५९)

डा० चन्द्रभानु गुप्त —दी इण्डियन थियेटर (प्र० मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९५३)

हेनरी डब्लू वेल्स —क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया,
" " क्लासिकल ड्रामा आफ दि ओरियन्ट १९६५,
—सिक्स संस्कृत प्लेज (१९६४), (प्र० एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई)

डा० वी० एस० पाठक —एन्शेन्ट हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया (लेखक प्रकाशक वही १९६६)

डा० पी० वी० काणे —हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयेटिक्स

डा० एस० के० डे —हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयेटिक्स (परिवर्धित द्वितीय सं०, कलकत्ता १९६०)

डा० जे गोण्ड —रिमार्क्स आन सिमिलीज़ इन संस्कृत लिटरेचर (ब्रिल लाइदेन, १९४९)

डी० एस० शर्मा —लिटररी क्रिटिसिज़्म इन संस्कृत एण्ड इंगलिश (मद्रास १९५०)

डा० राघवन् —भोजज श्रृङ्गार प्रकाश (प्र० पुनर्वसु; मद्रास १९६३)

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य शास्त्र (दोभाग) प्र० नन्दकिशोर एण्ड सन्स, काशी प्रथम भाग का द्वि० सं० १९६४, द्वितीय भाग का तृ० सं० १९६६)

शा० ना० व्यास —रामायणकालीन संस्कृति
—रामायण कालीन समाज
(प्र० सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली १९६०)

डा० रामकुमार राय —रामायण कोश
(प्र० चौखम्भा विद्याभवन काशी, १९६०)

डा० सत्यव्रत शास्त्री —रामायण ए लिंग्विष्टिक स्टडी
(दिल्ली १९६४)

हीरानन्द शास्त्री —भास एण्ड दी आकरशिप आफ दी ट्रिवेन्ड्रम प्लेज़ (= भास और ट्रिवेन्ड्रम नाटकों का कर्तृत्व) (प्र० भारत के पुरातत्व ग्रन्थमाला में प्रकाशित; ग्रन्थ संख्या २८, कलकत्ता १९२८)

डा० पुसालकर —भास: ए स्टडी (लाहौर १९४०)

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय —महाकवि भास (चौखम्भा विद्या-भवन वाराणसी १९६५)

डा० हरदत्त शर्मा —कालिदास ऐण्ड दी पद्मपुराण (कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज, कलकत्ता १९२५)

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर —प्राचीन साहित्य (बँगला)

श्री अरविन्द —कालिदास (इण्डियन हेरिटेज प्रथम भाग में प्रकाशित, भारतीय विद्या-भवन बम्बई)

मार्क कालिन्स —दी ज़ियोग्राफिकल डेटा आफ दी रघुवंश एण्ड दशकुमार चरित (लाइपजिग, १९०७)

डा० कुन्हन राजा —कालिदास : ए कलचरल स्टडी (आन्ध्र विश्व-विद्यालय, वाल्टेयर (१९५६)

रामस्वामी शास्त्री —कालिदास (दो भाग, श्री वाणीविलास प्रेस श्रीरंगम्)

डा० भगवत शरण उपाध्याय —इण्डिया इन कालिदास (हिन्दी अनुवाद 'कालिदास का भारतवर्ष'—दो खण्डों में; प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी)

जी० सी० झाला —कालिदास ए स्टडी (बम्बई १९४३)

दत्तात्रेय व्यंकटेश केतकर —महाकवि कालिदास काल (बीजापुर १९५६)

एस० ए० सबनीस —कालिदास : हिज़् स्टाइल एण्ड हिज़् टाईमस एन० एम० त्रिपाठी एण्ड कम्पनी बम्बई १९६६)

चन्द्रबली पाण्डेय —कालिदास (मोतीलाल बनारसीदास, काशी)

चन्द्रबली पाण्डेय —महाकवि शूद्रक (प्रकाशक पूर्ववत्)
रमाशंकर त्रिपाठी —कालिदास
(प्र० चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी १९६३)
;; —महाकवि शूद्रक (प्र० पूर्ववत् १९६७)
डा० आर० पी हर्षे —भवभूति (फ्रेंच भाषा में)
(पेरिस १९३८)
डा० गंगासागर राय —महाकवि भवभूति
(प्र० चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी १९६५)
डा० मनोहर लाल गौड़ —आचार्य क्षेमेन्द्र (अलीगढ़ १९६०)
डा० सूर्यकान्त शास्त्री —क्षेमेन्द्र स्टडीज़ (पूना)
रामस्वामी शास्त्री —जगन्नाथ पण्डित
(अन्नमलै विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज़ १९४२ नम्बर ८, अन्नमलैनगर)
डा० श्रीमती सरोज अग्रवाल —प्रबोध-चन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा १९६२
(प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग)
डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल —नैषध-परिशीलन
(प्र० हिन्दुस्तानी ऐकेडमी इलाहाबाद १९६०)
डा० ए० आनी —ए लिटररी स्टडी आफ नैषध-काव्य
डा० भोलाशंकर व्यास —संस्कृत कविदर्शन
(प्र० चौखम्भा विद्याभवन काशी द्वि० सं० १९६५)
डा० विमल चरण ला —अश्वघोष (अं०)
(प्र० एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता १९४६)

३—पुराण साहित्य

पार्जिटर —एन्शेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन
;; —ड इनिस्टिज़ आफ दि कलि एज
;; —मार्कण्डेय पुराण (सम्पादित)
विल्सन —विष्णु पुराण (सम्पादित)
वासुदेव शरण अग्रवाल —मार्कण्डेय पुराण—ए स्टडी
डा० पुसालकर —एपिक्स एण्ड पुराणाज़ (विद्याभवन, बम्बई)
डा० काणे —हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग १-५ (हिन्दी अनुवाद, हिन्दी समिति, लखनऊ)

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी —पुराण-परिशीलन (पटना)
आनन्द प्रकाश गुप्त —वामन पुराण (सम्पादित)
(अंग्रेजी तथा हिन्दी अनुवाद)
आचार्य बलदेव उपाध्याय —अग्नि पुराण तथा कालिका पुराण (सम्पादित)
दीक्षितार (वी० आर० आर०)—मत्स्य पुराण-ए स्टडी।
सम आस्पेक्ट्स आफ वायु-पुराण।
हाजरा (आर० सी०) —स्टडीज इन दि पौराणिक रेकर्ड्स आफ हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स।
डा० हाजरा आर० सी० —उप पुराणाज़ (दो खण्ड, कलकत्ता)
डा० पाटिल (डी० आर०) —कलचर हिस्ट्री फ्राम दि वायुपुराण १९४६
डा० शिवशंकर उपाध्याय —फिलासफी आफ नारद पुराण(१९८४)

४—हिन्दी साहित्य

गार्सा दि तासी —हिस्ट्री दि ला हिन्दुई एण्ड हिन्दुस्तानी
ग्रियर्सन —दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान १८८९
ग्रेहम बेली —दि हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर
कैलाग —ए ग्रामर आफ हिन्दी
केई —हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर
शिव सिंह —शिवसिंहसरोज
मिश्र बन्धु —मिश्र बन्धु विनोद (भाग १-४)
रामचन्द्र शुक्ल —हिन्दी साहित्य का इतिहास
सम्पादक मण्डल —हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग १-१६) (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)
श्यामसुन्दरदास —हिन्दी भाषा और साहित्य
डा० धीरेन्द्र वर्मा —हिन्दी भाषा और साहित्य
डा० उदय नारायण तिवारी —भोजपुरी भाषा और साहित्य
,, ,, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
डा० सुनीति कुमार चटर्जी —भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी
डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी —हिन्दी साहित्य की भूमिका
,, ,, हिन्दी साहित्य का इतिहास
डा० रामकुमार वर्मा —हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय —हिन्दी साहित्य (१७५० से १८५० तक)

डा० श्रीकृष्णलाल	—हिन्दी साहित्य (१९५०-१९५०)
प्रो० नन्द दुलारे वाजपेयी	—बीसवीं सदी (हिन्दी साहित्य)

५—भोजपुरी साहित्य

डा० कृष्णदेव उपाध्याय	—भोजपुरी लोकगीत भाग १, २ और ३
,, ,,	भोजपुरी और उसका साहित्य
,, ,,	भोजपुरी साहित्य का इतिहास
,, ,,	भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन
,, ,,	भोजपुरी लोक-संस्कृति
,, ,,	भोजपुरी लोक-संगीत
,, ,,	हिन्दी प्रदेश के लोक-गीत
आर्चर (डब्लू० जी०)	—भोजपुरी ग्राम्य-गीत
दुर्गाप्रसाद सिंह	—भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस
,, ,,	भोजपुरी के कवि और काव्य
डा० सत्यव्रत सिनहा	—भोजपुरी लोक गाथा
राधावल्लभ शर्मा	—भोजपुरी संस्कार गीत
डा० रसिक बिहारी ओझा निर्भीक	—भोजपुरी नीति-गाथा
डा० शशिशेखर तिवारी	—भोजपुरी लोकोक्तियाँ
डा० श्रीधर मिश्र	—भोजपुरी लोकगीतों के विविध रूप
,, ,,	भोजपुरी लोकसाहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन
डा० रविशंकर उपाध्याय	—भोजपुरी लोक-गीतों का सांस्कृतिक अध्ययन
डा० मुक्तेश्वर तिवारी	—भोजपुरी मुहावरे और कहावतें
डा० उदय नारायण तिवारी	—भोजपुरी भाषा और साहित्य
सर्वेन्द्रपति त्रिपाठी	—भोजपुरी शब्दसागर
डा० कुबेर मिश्र	—मोरिशस के भोजपुरी लोकगीतों का विवेचनात्मक अध्ययन (प्र० संजय प्रकाशन, वाराणसी १९८१)